हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—५६

इतिहास-दर्शन

लेखक
डॉ० बुद्धप्रकाश
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास और संस्कृति विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश

प्रकाशकीय

प्रत्येक भाषा के साहित्य में इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थों का भी विशेष स्थान होता है। बड़े बड़े इतिहास-लेखक प्रायः अपने अपने दृष्टिकोण से इतिहास लिखते हैं। घटनाएँ और तथ्य वही होते हुए भी कोई उनके आर्थिक पहलू पर जोर देता है, कोई भौगोलिक या राजनीतिक दृष्टि से उन पर विचार करता है। कोई उनका दार्शनिक विवेचन करता है तो कोई देश-विशेष या जाति-विशेष की सांस्कृतिक अथवा सामाजिक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न करता है। यद्यपि कुछ इतिहासकारों ने दृढ़तापूर्वक इस मत का प्रतिपादन किया है कि इतिहास का लक्ष्य "घटनाओं को मात्र उसी रूप में प्रस्तुत करना है, जिस रूप में वे घटित हुई हों", फिर भी वे स्वयं इस सिद्धान्त का पालन नही कर सके। इस पुस्तक के विद्वान् लेखक ने ससार के पचासों सुविख्यात इतिहासकारों—फिशर, सोरोकिन, स्पेंगलर, ट्वायनबी, टर्नर, इब्न खलदून आदि—के विचारों और कृतियों का परिचय देते हुए उनकी तुलनात्मक समीक्षा और विद्वत्तापूर्ण आलोचना करते हुए दिखलाया है कि "किस-किस युग में किस-किस समाज का कैसा-कैसा इतिहास-दर्शन रहा।"

पुस्तक जिस ढग से और जैसी अच्छी भाषा मे लिखी गयी है, और अधिक विस्तार में न जाते हुए भी विचारों, तथ्यों तथा सिद्धान्तों की जो विशद व्याख्या की गयी है, उससे लेखक के गंभीर अध्ययन-मनन की ही झाँकी हमें नही मिलती वरन् अपना अभिप्राय और अपने भाव पाठक के हृदय एवं मस्तिष्क तक पहुँचा देने की उनकी विलक्षण योग्यता का भी आभास मिल जाता है। आशा है, डॉ० बुद्ध प्रकाश की यह कृति हिन्दी जगत् में प्रशंसा और गौरव की वस्तु प्रमाणित होगी।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

अध्याय	पृष्ठ
प्रस्तावना	– ९ –
१—प्राच्य इतिहास-दर्शन	१
२—यूनान और रोमन इतिहास-दर्शन	६५
३—ईसाई इतिहास-दर्शन	९०
४—मध्यकालीन इतिहास-दर्शन	१०१
५—आधुनिक यूरोपीय इतिहास-दर्शन का श्रीगणेश	१२३
६—बुद्धिवाद का युग	१३०
७—रोमान्तिक युग	१६२
८—इतिवृत्तात्मक युग	१७६
९—वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया	२१९
१०—आधुनिक इतिहास-दर्शन की मुख्य धाराएँ	२३१
११—प्रमुख आधुनिक इतिहास-विचारक	२८०
१२—उपसंहार	३७०

प्रस्तावना

१. इतिहास-दर्शन की परिभाषा

'इतिहास-दर्शन' शब्द का आविष्कार और प्रयोग सर्वप्रथम वोल्तेर ने अठारहवी शताब्दी में किया। इस शब्द से उनका अभिप्राय केवल आलोचनात्मक या वैज्ञानिक इतिहास था। उस शताब्दी के अन्त में हेगल और अन्य लेखकों ने इस शब्द को विश्व-इतिहास के अर्थ में व्यवहृत किया। उन्नीसवीं शताब्दी में परीक्षणात्मक यथार्थवाद के प्रचलन के फलस्वरूप इतिहास को परीक्षणात्मक विज्ञानों की तालिका में सम्मिलित किया गया। इस दृष्टिकोण से इतिहास-दर्शन ऐतिहासिक घटनाचक्र में प्रच्छन्न सामान्य नियमों का अनुसंधान समझा जाने लगा। बीसवीं शताब्दी में कुछ विचारकों ने इस परीक्षणात्मक दृष्टिकोण का विरोध किया और प्राकृतिक विज्ञानो की चिन्तन-पद्धति से इतिहास के अध्ययन को भ्रान्तिमूलक समझा। इतिहास-दर्शन के विषय में हम कोई भी दृष्टिकोण ग्रहण करें यह तो मानना ही पड़ेगा कि मानवता के अतीत के अनुसंधान के अपरिमित विस्तार को किसी नियमित आधार पर सज्जित करके मानव कार्य-कलाप के विशाल क्षितिज को एक समन्वयात्मक दृष्टि से देखना आवश्यक है। इस विचारधारा के अनुसार अध्ययन की दिशा वैयक्तिक तथ्यों के स्थान पर सार्वजनिक प्रवृत्तियों की ओर बदल जाती है। घटनाएँ आन्दोलनों की शृखलाओं की कड़ियों का महत्त्व ग्रहण कर लेती है। वस्तुतः मानव कार्य-कलाप में अगणित जटिल सामाजिक सम्बन्ध-भावनाएँ सन्निहित रहती है। अतः उन पर आधारित ऐतिहासिक घटनाएँ सूक्ष्म तथा अपरिमित सम्बन्ध-परम्पराओं से परिबद्ध होती है। जैसे-जैसे उनके विषय में हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है और उनका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट होता जाता है वैसे-वैसे उनके सम्बन्ध-सूत्र दृष्टिपथ पर आने लगते हैं। ऐतिहासिक गवेषणा के उन्नतिशील विस्तार और गम्भीरता के साथ-साथ घटनाएँ जीवन के जटिल, दुरूह और अक्षुण्ण प्रवाह में विलीन होती जाती हैं। आज का इतिहासकार ऐतिहासिक घटनाओं के चक्र और क्रम की असंख्य प्रक्रियाओं और परस्पराश्रित परम्पराओं से इतना अभिभूत है कि उसके लिए इनका स्वतन्त्र अस्तित्व कोई महत्त्व नहीं रखता। वह मानव-विकास की मुख्य

प्रवृत्तियों और दिशाओं के निर्धारण में दत्तचित्त है। उसका दृष्टिकोण निर्वाचनात्मक, समन्वय-प्रधान और व्याख्यापरक है और उसका ध्यान घटनाओं की प्रक्रिया, प्रवृत्ति तथा परम्परा पर केन्द्रित है।

२. फिशर द्वारा इतिहास-दर्शन का खण्डन—

कुछ इतिहासकार इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं और यह समझते हैं कि घटनाओ का अन्वेषण और प्रदर्शन ही उनका एकमात्र कर्त्तव्य है। प्रसिद्ध जर्मन इतिहासकार रांके के शब्दों में इनका लक्ष्य घटनाओं को उसी रूप में प्रस्तुत करना है जिसमें वे वस्तुतः घटित हुई हों (वी एस आइगेन्तलिशगेवेजन)।[1] यूरोप के लब्धप्रतिष्ठ इतिहासकार फिशर ने इस मतवाद को एक आदर्श का रूप देते हुए अपनी ललित शैली में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :—

"मैं एक बौद्धिक उल्लास से वंचित रह गया हूँ। मुझसे अधिक बुद्धिमान् और विद्वान् पुरुषों ने इतिहास में एक पृष्ठकथा, एक स्वर, एक पूर्वनिर्धारित विधान का साक्षात्कार किया है। ये समन्वित स्वरलहरियां मुझसे छिपी हुई है। मैं तो केवल यह देख पाता हूँ कि एक अवस्था दूसरी के बाद इस प्रकार आती है जैसे एक लहर दूसरी के बाद उमड़ जाती है। मुझे केवल एक तथ्य दिखाई देता है जिसके विषय में कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता क्योंकि यह एकदम विशिष्ट और अनुपम है। इतिहासकार का स्वस्थ सिद्धान्त यही है कि वह मानव भाग्यचक्र के आवर्तन में अदृश्य और आकस्मिक तत्वों की क्रीड़ा का दर्शन करे।[2]

३. फिशर के मत की आलोचना

उक्त मत का प्रतिपादन करने पर भी व्यवहार मे स्वयं फिशर महाशय ने इसका पालन नहीं किया है। उनकी कृति का प्रथम वाक्य कि हम यूरोपीय लोग हेलास की सन्तान हैं (वी यूरोपियन्स आर दि चिल्ड्रन ऑव हेलास)

१. लियोपोल्द रान्के, गेशिश्तेन देयर रोमानिशेन उन्द गेरमानिशेन प्योल्केर (प्रस्तावना), वेर्के, भाग ३३–३४ (लाइप्तसिक् १८७४) पृ० ७।

२. एच० ए० एल० फिशर, ए हिस्ट्री ऑव यूरोप (लन्दन १९३५) भाग १, प० ७।

इतिहास की एक प्रमुख प्रवृत्ति को मुखरित करता है। मानव इतिहास के दृष्टिकोण से स्वयं यूरोप शब्द भ्रान्तिमूलक है। भौगोलिक सीमाएँ सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को परिवद्ध रखने में कभी भी पूर्णतः सफल नहीं हो पायीं। अतः इतिहास और संस्कृति की विचारधारा मे यूरोप शब्द का प्रयोग उस चिन्तनशैली का द्योतक है जिसके अनुसार यूरोप के पश्चिमी प्रदेशों के लोग अपने आप को संसार से पृथक् और समुन्नत समझ कर स्वाभिमान के नीड़ में सिकुड़ने लगे थे। बीसवीं शताब्दी के उस तुर्क व्यापारी या मजदूर के लिए जो दिन में तो पेरा में काम करता है और रात को स्कुतारी में जाकर सोता है और जिसे स्टीमर करीव एक आने में एशिया से यूरोप ले जाता है यह परिभाषा कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती। इसी प्रकार जुंगारिया से हंग्री तक के घास के मैदानों मे घूमते हुए तुखार, हूण, मगियार और मंगोल इस विभाजन से अपरिचित रहे हैं। बाटू खां के मंगोल साम्राज्य मे समस्त रूस और पूर्वी यूरोप के कुछ भाग सम्मिलित रहे और आजकल सोवियत शासन ब्लादिवास्तक तथ पामीर तक फैल कर एशिया की क्रोड मे घुस गया है। एक रूसी नागरिक के लिए यूरोपीय रूस और एशियाई रूस की धारणा निरर्थक है। आजकल ही नहीं प्राचीन काल में भी, जब पूर्वी ईसाइयत का एक केन्द्र अंतियोक मे था और दूसरा सिकन्द्रिया में और तीसरा कुस्तुनतुनिया तथा मास्को में, यह विभाजन भ्रान्तिमूलक ही नहीं, वरन् अपराधजनक-सा था। रोम की पूर्वी सीमा शुरू से ही फरात नदी मानी गयी थी। दायोक्लीशियन और कोंस्तेन्ताइन के समय से रोमन साम्राज्य का केन्द्र निकोमिडिया और कुस्तुनतुनिया की ओर सरकने लगा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि यूरोप की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कल्पना पाश्चात्य सभ्यता के उत्कर्ष का एक पक्ष है जिसे फिशर महाशय ने अनायास ही अपनी कृति के शीर्षक में व्यक्त कर दिया है। अतः इस सिद्धान्त-विरोधी इतिहासकार ने अज्ञात रूप से एक विशिष्ट सिद्धान्त का बन्धन स्वीकार कर लिया है। इस तरह यह घटनावादी लेखक प्रवृत्तिवाद के फंदे में फँस गया है। जैसा कि ट्वायनबी ने अपनी अद्भुत हास्यमयी शैली मे लिखा है 'यदि यह इतिहासकार अपने विचार पर अटल रहता तो अपनी कृति को 'यूरोप का इतिहास न कह कर कुछ मानव कार्यों की कुछ अवस्थाओं का इतिहास' नाम से अभिहित करता'।[३] इस प्रकार

३. आर्नोल्ड जे० ट्वायनबी, ए स्टडी ऑव हिस्ट्री, भाग ९, पृ० १९५।

हम देखते हैं कि फिशर महाशय और उनके समान और इतिवृत्तात्मक इतिहासकार भी प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं की विचारधारा में विनिमज्जित रहते हैं। वस्तुतः मानव मस्तिष्क की चिन्तनशैली समानताओं, आवर्तनों, सम्बन्धों, नियमों और स्वरों पर आधारित है। यह घटनाओं और तथ्यों को बिना नियमित और संतुलित किए हुए ग्रहण करने में असमर्थ है। अतः इतिहास का अध्ययन करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से इतिहासकार के मन में उसके युग की प्रवृत्ति के अनुसार एक दर्शन समाविष्ट हो जाता है। यही इतिहास-दर्शन कहलाता है। अब हमें देखना है कि किस-किस युग में किस-किस समाज का कैसा-कैसा इतिहास-दर्शन रहा।

लेखक

परिच्छेद १

प्राच्य इतिहास-दर्शन

अनुच्छेद १—प्राचीन शाम का इतिहास-दर्शन

१. प्राचीन शाम की इतिहास-विषयक सतर्कता—दजला और फ़रात नदियों की उपत्यका में जिस संस्कृति का विकास हुआ वह इतिहास के प्रति जागरूक थी। धार्मिक परम्परा की अक्षुण्णता के कारण लोगों की अतीत में विशेष रुचि थी। तेरहवीं शताब्दी के असुरी सम्राट् शालमानेसर प्रथम ने लिखा है कि असुर के मन्दिर को उशपिया ने बनवाया। फिर इरशुम प्रथम ने इसका पुर्नानिर्माण कराया। उससे १५९ वर्ष बाद शम्सी-अदद ने इसका जीर्णोद्धार कराया और फिर उसने ५८० वर्ष के बाद उसे ठीक-ठाक कराया। ५८० वर्ष बाद इसरहद्दन ने फिर उसकी मरम्मत करायी। इसी प्रकार असुरबेनीपाल ने लिखा है कि शूषा की विजय के पश्चात् उसने नना देवी की प्रतिमा प्राप्त की जिसे १६३५ वर्ष पहले इलामी शासक कुदुर-नहुन्दी उरूक से उठा ले गया था। प्राचीन साम में देव-मन्दिर देवताओं और मनुष्यों के मुहादों के प्रतीक समझे जाते थे। इन मुहादों के चिह्न वे कीलें [सिक्कतुम] होती थीं जो मन्दिरों में ठोकी जाती थीं और जिन्हें अपने मौलिक स्थान से हटाना जघन्य अपराध समझा जाता था। इन मुहादों को क़ायम रखने के लिए मन्दिरों का इतिहास जानना आवश्यक था। अतः अतीत के ज्ञान की एक व्यावहारिक आवश्यकता थी।

२. "मितलुकु" अर्थात् परामर्शात्मिक सामूहिकता की विचारधारा—शाम में मिस्र की तरह राजा न देवता समझा जाता था और न उसकी सत्ता स्वतंत्र मानी जाती थी, बल्कि वह देवता का नायब [इशाक्कु] कहलाता था। देवता के प्रसाद से वह शासन-कार्य में सफल हो सकता था और उसके रोष से वह पतन की ओर चलने लगता था। जब राजा देवता को रुष्ट कर देता था और सामी परिभाषा के अनुसार "क़ुत्लुलु" का अपराधी होता था तो देवता उसे संरक्षण देना बन्द कर देता था और वह तुरन्त विनाश के पथ पर चल पड़ता था। ऐसा अपराधी राजा अपनी राज-

शपथ के विपरीत [ममीतएतेक़ु] आचरण करता हुआ देवता द्वारा निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन [इते इलि एतेक़ु] करने का अपराधी घोषित किया जाता था। अतः राजा के लिए यह घोषित करना आवश्यक था कि उसने देवता के विरुद्ध कोई ऐसा आचरण नहीं किया है जिससे वह रुष्ट हो जाय। हम्मुराबी के समकालीन यस्माह-अद्दू ने शपथपूर्वक यह घोषणा की थी कि उसके परिवार के किसी सदस्य ने भी देवता के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया [श अन इलिम उक़ल्लिलु उल इबश्शी] देवता की इच्छा के अतिरिक्त सभा [सुमेरी "उक्किन" अक्कद "पुहरुम"] की सद्भावना भी राजा के लिए आवश्यक थी। राज्य का आदर्श परामर्शात्मक सामूहिकता [मितलुक़ु] के सिद्धांत पर आधारित था। एतना के महाकाव्य में लिखा है कि बर्बर काल की समाप्ति पर मितुलुक़ु का आविर्भाव हुआ। गिलगामेश के काव्य से भी प्रतीत होता है कि अपने प्रतिद्वन्द्वी अग्गा पर आक्रमण करते समय इस वीर ने उरूक के नागरिकों और वृद्ध पुरुषों की सम्मति प्राप्त की। देवताओं की सभा भी राजाओं की सभा के अनुसार कल्पित की गयी थी। देवता भी राजा की तरह सर्वसम्मति और सामूहिक भावना के अनुकूल कार्य करते थे। उतन-पिश्तीम को अमरता प्रदान करने के लिए उन्हें देवसभा की स्वीकृति और सम्मति की आवश्यकता पड़ी। वस्तुतः सामी संस्कृति एक विशिष्ट सामाजिकता और सामूहिकता के आदर्श से अनुप्राणित थी जो इस्लामी काल में "इज्मा' और 'अस्बिया' की भाव-शैलियों में संक्रान्त हो गया।

३. मानव और दैवी शक्तियों का घनिष्ठ सम्बन्ध—शामी जगत् में मनुष्यों और देवताओं का सतत सम्पर्क और सहयोग जीवन का अभिन्न अंग था। अतः राज्य के सामयिक उत्थान, पतन और इतिहास के अनवरत घटनाचक्र को दैवी हर्ष-रोष के साथ संबंधित किया जाता था। तथापि जीवन की गतिशीलता सदैव सामी लोगों के समक्ष थी। संस्कृति का अभ्युदय, महाप्रलय, एतना के युग का संकट, किश और उरुक का द्वन्द्व और फलतः अग्गा तथा गिलगामेश का संघर्ष और सारगौन तथा नरमसिन का युग सामियों की दैनिक चर्चा के विषय थे। इस प्रकार वे इतिहास के प्रति सतर्क थे। असंख्य अभिलेख, राजप्रासाद, मन्दिरों के भग्नाव-शेष, मुद्राएँ और प्रतिमाएँ पृथ्वी के गर्भ से निकल-निकल कर सामी लोगों के बहुविध जीवन का साक्ष्य दे रही हैं।[४]

४. ई० ए० स्पीज़र 'एंशेण्ट मेसोपोटेमिया,' राबर्ट सी० डेन्टन द्वारा

अनुच्छेद २—प्राचीन मिस्र का इतिहास-दर्शन

१. **मिस्री समाज की इतिहास-चेतना**—प्राचीन शामियों की तरह प्राचीन मिस्रियों की भी ऐतिहासिक चेतना काफ़ी बढ़ी हुई थी। वे अतीत के प्रति बड़े सतर्क थे। तेरहवीं शताब्दी पू० ख्री० के प्रसिद्ध "ट्यूरिन पेपिरिस" में सोलहवीं शताब्दी पू० ख्री० तक के तीन सौ से अधिक राजाओं के नाम सुरक्षित हैं। इसी प्रकार तीसरी शताब्दी पू० ख्री० के इतिहासकार मानेथो ने मिस्र के तीस राजवंशों का वृत्तान्त लिपिबद्ध किया। इसके अतिरिक्त थीबी में कारनाक के मन्दिर के छोटे कमरे में ठुठमोस तृतीय द्वारा उत्कीर्ण राजाओं की तालिका [पन्द्रहवीं शताब्दी पू० ख्री०] अबिदों के मन्दिर की भित्तियों पर सेठी प्रथम द्वारा खुदवायी हुई ७६ राजाओं की सूची [१३०० पू० ख्री०] सक्क़ारा [मेम्फी] के एक मक़बरे से प्राप्त रामेसु द्वितीय द्वारा लिखवायी हुई ५८ राजाओं की नामावली [तेरहवीं शताब्दी पू० ख्री०] और अबीदो के मन्दिर में इसी राजा द्वारा तैयार करायी हुई एक अन्य अनुक्रमणिका तथा असंख्य वंशावलियाँ, अभिलेख, प्रासाद, मन्दिर प्रतिमाएँ, पिरामिड आदि प्राचीन मिस्रियों की ऐतिहासिक चेतना का साक्ष्य देते हैं। प्राचीन मिस्री संस्कृति अमरता के केन्द्र-बिन्दु पर आश्रित थी। इसका प्रत्येक पक्ष काल की कराल प्रक्रिया को चुनौती देता था। उसके लिए वर्तमान, भूत और भविष्य के असीम विस्तारों का संगम था। अतः अतीत को सुरक्षित रखना और भविष्य से सुरक्षित रहना उसका चरम लक्ष्य था। फलतः आरम्भ से ही मिस्री कलाकारों ने पाषाण के माध्यम द्वारा अपनी भावनाओं को व्यक्त किया। उनके मन्दिरों के महान् प्रांगणों से उठी हुई विशाल स्तम्भमालाएँ अपरिमित ओज, भार और स्थायित्व को वहन करने वाले नभचुम्बी पिरामिड, काल की कराल संहार-लीला को परास्त करने वाली बृहदाकार प्रतिमाएँ, प्रकृति की अठखेलियों और अट्टहास को नीचा दिखाने वाले सिंचाई के जटिल तंत्र और अशांति का उपहास करने वाली अटूट शासन-व्यवस्था उनके अमरता प्राप्त करने के भगीरथ प्रयत्न का प्रमाण

सम्पादित "दि आइडिया ऑव हिस्ट्री इन दि एंशेण्ट नियर ईस्ट"। येल यूनीविसटी प्रेस १९५५ : पृ० ३७–७६, ऑथोरिटी एण्ड ला इन दि एंशेण्ट ओरियण्ट। अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी १९५४: पृ० ८–१६, रेल्फ टर्नर, दि ग्रेट कल्चरल ट्रेडिशन्स, भाग १, पृ० १३१–१६७।

प्रस्तुत करते हैं। उनकी विचारधारा के सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक पिरामिड हैं जिनके चारों ओर शताब्दियां और सहस्राब्दियां परिक्रमा लगा रही हैं। नेपोलियन की सेना जब उनके नीचे से निकली तो यह महान् तत्त्वद्रष्टा चिल्ला उठा, "सैनिको! चालीस शताब्दियां हमारी ओर देख रही हैं [सोलदा! काराँत सिएवल नू रगार्द]। इन पिरामिडों के भीतर सोये हुए राजाओं के सुरक्षित शरीर आज इस प्राचीन संस्कृति का मूक संदेश दे रहे हैं। इन शवों को दफनाने की विधि से प्रतीत होता है कि उसमें परलोक के जीवन की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी इस जीवन से चिपटे रहने की।[५] शरीर "खत" कहलाता था, उसका दूसरा रूप "क" था। मृत्यु के बाद यह "क" पाषाण-प्रतिमा में प्रविष्ट हो जाता था। आत्मा का नाम "बाइ" था और जीवन शक्ति की संज्ञा "इख" थी। इनके प्रतीक पक्षी थे। इनकी प्रतिच्छाया "खैबित" थी। "क" कब्रों की कोठरियों में निवास करती थी या स्वर्ग [पेत], पृथ्वी [त] या निम्नलोक [त्वात] में विचरण करती थी। प्रत्येक मिस्री नगर में एक लम्बी तंग गली होती थी जिसे "त्वात" माना जाता था।[६] तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० की क्रान्ति के बाद प्रत्येक मिस्री फारोआ की भाँति अमरता का अधिकारी हो गया था। अमरता की देवी ओसिरी कुछ साधारण पेपिरी के बदले मुक्त हस्त से अमरता का प्रसाद बाँटती थी।[७] दिवंगतों की पुस्तक इस धर्म का आकर-ग्रन्थ थी और अबीदो इसका प्रसिद्ध तीर्थस्थान था जहाँ असंख्य मिस्री इसी प्रकार जमा होते थे जिस प्रकार मक्का में मुसलमान या येरूसलम में ईसाई। बाद में अठारहवें वंश के समय "अमोन-री" के धर्म के प्रचलन के पश्चात् यह देवता प्रत्येक मिस्री नगर के निम्न लोकों [त्वात] को उद्भासित करता हुआ प्रत्येक प्राणी को अमर जीवन की ज्योति प्रदान करने लगा था।

५. फारोवा जेर के साथ ६८ स्त्री-पुरुष दफनाये गये थे और जेत के साथ १२३ प्राणी कब्र में पहुंचाये गये थे, राइजनर, डेवेलपमेण्ट ऑव दि इजिपशियन टूम (१९३६), पृ० १२१।

६. जे० एच० ब्रेसटेड, रिलिजन एण्ड थॉट इन एंशेण्ट इजिप्ट (१९१२)।

७. ई० ए० वालिस बज, ओसीरीस एण्ड दि इजिप्शियन रिसरकशन। (१९११)।

२. **मानव और दैवी शक्तियों का एकीकरण**—मानव-अमरता का आदर्श ग्रहण करने के फलस्वरूप मिस्री लोग देवता और मनुष्य के एकीकरण के सिद्धान्त पर पहुँच गये थे। सामियों की तरह वे यह नहीं मानते थे कि राजा देवता का 'इशाक्कु' है। वे समझते थे कि राजा स्वयं देवता है। प्रथम वंश के अभिलेखों में भी फारोआ को होरस बताया गया है। देवता होने के नाते उसके भीतर 'हु' [अज्ञा], 'सिया' [प्रज्ञा] और 'मात' [न्याय] की शक्तियां सन्निहित थीं। इनमें से "हु" और "सिया" भी देवता माने गये हैं और "मात" देवी मानी गयी है जो सदैव आँखों पर पट्टी बाँधे रहती है। यह "मात" केवल सामाजिक न्याय की ही प्रतीक नहीं है, वरन् सकल विश्व का विधान और प्रकृति का नियमन इसके कार्यक्षेत्र में सम्मिलित हैं।[८] इस प्रकार "मात" का स्रोत फारोआ समस्त जगत् का नियन्ता परमेश्वर है। मनुष्य और देवता का यह एकीकरण उस भावधारा का परिणाम है जिससे अमरता की खोज और मृत्यु की पराजय के महान् प्रयत्न का श्रीगणेश हुआ।

केवल फारोआ ही देवता नहीं समझे गये वरन् और महापुरुष भी इस उपाधि से विभूषित हुए। स्नेफ्रू और खुफु की तरह पिरामिडों का महान् निर्माता इमहोतप भी देवता मान लिया गया। तोलेमी युग में वह मेम्फी के प्रधान देवता प्ताह का पुत्र माना गया और उसके लिए मन्दिर बनवाये जाने लगे। अस्कलेपियो का देवालय, जिसका वर्णन यूनानी लेखकों की कृतियों में मिलता है, वस्तुतः इम-होतप का मन्दिर था। ऐसे ही अठारहवें राजवंश के फारोआ अमुन-होतप तृतीय के समकालीन एक साधारण व्यक्ति हपु का पुत्र इस फारोआ के प्रेम के कारण देवता माना जाने लगा और उसके लिए देश भर में कई मन्दिर बन गये।[९]

३. **"मात" की भावना**—यद्यपि फारोआ और उसका शासन दैवी शक्तियों से ओतप्रोत था तथापि उसकी नृशंसता को सीमित रखने के लिए "मात" को एक नैतिक आवरण प्रदान किया गया था। "प्ताहहोतप के आज्ञापन", "कागेम्मी के कथन" और "द्वाफ की कहावतें" इस विषय पर प्रकाश डालती हैं। मध्य काल

८. जे० ए० विल्सन "इजिप्ट" आँथोरिटी एण्ड ला इन दि एंशेण्ट ओरियण्ट, पृ० २।

९. लुडलो बुल "एंशेण्ट इजिप्ट" दि आइडिया आॅव हिस्ट्री इन दि एंशिएण्ट नियर ईस्ट, पृ० १९।

के "वाग्मी-कृषक" शीर्षक उपन्यास में फारोआ के शासन और कर्मचारियों के भ्रष्टाचार की खुली आलोचना की गयी है। तथापि मिस्रियों का दृष्टिकोण स्थावर था। वे प्राचीन काल को सामान्यत: अच्छा समझते थे और कोई नया काम करते भी थे तो पुराने काम से उसकी तुलना अवश्य कर देते थे। समाज की एकता, अक्षुण्णता और स्थायित्व उनका चरम लक्ष्य था। गति और परिवर्तन उनकी विचारधारा से मेल नहीं खाते थे। अत: सहस्रों वर्षों तक उनके जीवन की शैली और व्यवस्था एक-जैसी रही। यहाँ तक कि उनकी भाषा से क्रिया का प्रयोग भी लुप्त हो गया।[१०]

४. अमरता की खोज—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मिस्री समाज और संस्कृति का चरम लक्ष्य काल की प्रक्रिया को पराजित करना था। इसके लिए उन्हें काल के स्वरूप और क्रम को समझना अनिवार्य था। अत: ४२२६ पू० ख्री० में सौर तिथिक्रम का प्रचलन हुआ। ३६०+५ दिन का एक वर्ष माना गया। उसे १२ महीनों में और प्रत्येक महीने को ३ दशाहों में विभक्त किया गया। दिन और रात के बारह-बारह घण्टे निर्धारित किये गये जिनकी कमी-बेशी ऋतुओं के अनुसार होती रहती थी। १ घण्टे को १/२, १/४ और १/८ भागों में बाँटा गया। जल-घड़ियों और सौर घटिकाओं द्वारा समय को नापने के यंत्र बनाये गये।[११] इस प्रकार काल की गति को पूर्णत: बाँधने की चेष्टा की गयी। यह उनकी ऐतिहासिक चेतना का सर्वोत्तम प्रतीक है।[१२]

अनुच्छेद ३—यहूदियों का इतिहास-दर्शन

१. यहूदी समाज की इतिहास-संबंधी जागरूकता—प्राचीन यहूदियों ने

१०. एलेन एच० गार्डिनर, सम ऐस्पेक्ट्स ऑव दि इजिप्शियन लैंग्वेज सिस्टम (१९३७)।

११. रेल्फ टर्नर, दि ग्रेट कल्चरल ट्रेडिशन्स भाग १, पृ० २०७।

१२. ओसवाल्ड स्पेंगलर, दि डिक्लाइन आफ दि वेस्ट, भाग १, पृ० १३। इन्हीं तथ्यों के आधार पर हेनरी फ्रेंकफोर्ट का विचार है कि मिस्री इतिहास की प्रक्रिया से बिलकुल अनभिज्ञ थे। देखिए, हेनरी फ्रेंकफोर्ट, एंशेण्ट इजिप्शियन रिलिजन (१९४८), किंगशिप एण्ड दि गॉड्स (१९४८), दि बर्थ ऑव सिविलिजेशन इन दि नियर ईस्ट (१९५१), पृ० २१।

इतिहास के बड़े उतार-चढ़ाव देखे थे। अतः अतीत के प्रति उनका एक विशेष दृष्टिकोण बन गया था। पुरानी इंजील में तथ्यों के प्रतिपादन के लिए प्रायः अतीत की घटनाओं का आश्रय लिया गया है। वृक्षों के प्रथम फलों का उपहार प्रस्तुत करते हुए प्रत्येक यहूदी जो सूत्रत पढ़ता है उसमें उसका इतिहास-दर्शन सन्निहित है। वह इस प्रकार है—

"मेरा पिता एक घुमक्कड़ आरामी था; वह मिस्र में गया और वहाँ रहने लगा। वहाँ वह एक महान् शक्तिशाली और बहुसंख्यक जाति बन गया। मिस्रियों ने हमारे साथ दुर्व्यवहार किया, हमें सताया और हमें कड़े बन्धनों से लाद दिया। तब हम अपने पूर्वजों के देवता यहवेह की ओर चिल्लाये। यहवेह ने हमारी वाणी सुनी, हमारा कष्ट देखा, हमारा क्लेश समझा, हमारा संताप अनुभव किया। यहवेह हमें सशक्त हाथों और विस्तृत भुजाओं से अत्यन्त आतंक के साथ, संकेतों और आश्चर्यों के साथ, मिस्र से निकाल लाया। उसने हमें इस स्थान पर प्रतिष्ठित किया, हमें यह देश दिया—यह देश जो दूध और मधु से आप्लावित है।"[१३]

२. **यहवेह की लीला द्वारा जातियों का उत्थान-पतन**—इस प्रार्थना में जिस दैवी क्रिया द्वारा जाति को मिस्र से मुक्त करने का उल्लेख है वह समस्त प्राचीन इंजील की ललाट-लिपि है। जिस लेख में उक्त स्थापना पायी जाती है वह "जेनी-सिस" के दूसरे अध्याय से चौथे अध्याय तक मिलता हैं। इसका लेखक दसवीं शताब्दी पू० ख्री० के लगभग सोलोमोन का समकालीन था। इस लेखक को "जे" [या] नाम से पुकारा गया है। इसने यहवेह की मंगल-कारिता और मनुष्य की दुष्टता की अन्तः प्रक्रिया को सुन्दर शैली से अभिव्यक्त किया है। मनुष्य की नीचता के कारण यहवेह ने महाप्रलय का अभिशाप भेजा, भाषाओं को अस्पष्ट कर दिया, सोडोम और गोमोरोह को अभिभूत किया। किन्तु कुछ दया दिखलाते हुए सृष्टि के कुछ तत्त्वों की नोह द्वारा रक्षा की। तदनन्तर मिस्र से यहूदियों को मुक्त किया। उन्होंने मूसा के द्वारा सिनाई पर्वत पर यहवेह से मुहादा किया कि केवल वही उनका देवता रहेगा और वे उसके सेवक रहेंगे तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करेंगे। अतः देविद के समय में जाति सुरक्षित रूप से अपने देश में बस गयी और सोलोमोन के राज्यकाल में जूदा और इसराइल दान से बीररोबा तक सुखपूर्वक

१३ **दयत्रोनोमी** २६, ५–९।

रहने लगे, प्रत्येक मनुष्य अपनी अंगूर की बेल और अंजीर के पेड़ के नीचे आराम से रहने लगा।"[१४]

उसके बाद राज्य दो भागों में बँट गया। असुरिया के लोगों ने देश पर अधिकार कर लिया। जाति में भयंकर आतंक फैल गया। पैगम्बरों की परम्परा आरम्भ हो गयी। सब यह्वेह् की सर्वतोमुखी प्रभुता के सामने नतमस्तक हुए। उन्होंने अपने पराभव का कारण जाति द्वारा सिनाई के मुहादे का तोड़ना सिद्ध किया। इसराइल ने कनान को जीत कर वहाँ के देवी-देवताओं की उपासना आरम्भ कर दी। उनका नैतिक आदर्श गिर गया। उन्होंने मरुभूमि के घुमन्तू जीवन की सरलता छोड़ कर कनानी रीति-नीति ग्रहण कर ली। सोलोमोन के काल से व्यापार की उन्नति के फलस्वरूप धनिक वर्ग का प्रभुत्व बढ़ने लगा। निर्धन लोगों का भी क्लेश बढ़ गया। राजतंत्र में भ्रष्टाचार का बोलबाला हो गया। सर्वत्र पाप, हिंसा और विलासिता फैल गयी। अतः यह्वेह् ने इसराइल को फिर दण्ड दिया। यह व्याख्या होसिया, जेरेमियाह्, अमोस, इसाइयाह् आदि के प्रवचनों में पायी जाती है। दयत्रोनोमी में यह भाव सर्वत्र व्याप्त है।

३. ब्रीथ; इसराइल और यह्वेह् का मुहादा—इस आपत्ति में भी यहूदियों को पुनः यह्वेह् का प्रसाद पाने की आशा बनी रही। द्वितीय इसाइयाह् की कविताओं में यह आशा फूट पड़ती है।[१५] यहाँ इतिहास का एक नया दर्शन सामने आता है। अतीत के आलोक में भविष्य का अनुसंधान दृष्टिगत होता है। जिस प्रकार यह्वेह् ने इसराइल को मिस्र से मुक्त करके स्वदेश का सुख प्रदान किया, इसी प्रकार वह भविष्य में भी अपने विशिष्ट प्रिय जनों का कष्ट दूर करके उन्हें शान्ति का प्रसाद देगा। इसराइल का संताप, उनके राज्य का विनाश और देश का विध्वंस न केवल उनके भूत और वर्तमान कुकर्मों का दण्ड है, अपितु विश्व के कल्याण और परित्राण की एक दैवी व्यवस्था का श्रीगणेश है।

४. इतिहास की रेखात्मक व्याख्या—फारसी युग में एक और इतिहासकार ने, जिसे "पी' कहा जाता है, एक अन्य लेख लिखा जो पेन्तातूख में संगृहीत है और जिसमें यह्वेह् और इसराइल के मुहादे को अटल बतलाकर प्रकृति और इतिहास

१४. किंगस् ४, २५।

१५. सी० सी० टोरी "दि सेकेण्ड इसाइयाह्" (न्यूयार्क, १९२८)।

को पूर्णतः भगवान् की लीला बताया गया है। इस युग के एक अन्य लेखक "क्रोनि-क्लर" ने यह सिद्ध किया है कि सब ऐतिहासिक कार्य-कलाप एकमात्र भगवान् का कार्य है। युद्ध भी बिना लड़े ही भगवान् की कृपा से जीते जाते हैं। मनुष्य का काम केवल प्रार्थना करना और भजन गाना है। भगवान् ने भूतकाल के साम्राज्य अपनी इच्छा से उत्पन्न किये और अपनी इच्छा से ही उनका विध्वंस किया। उसका उद्देश्य अन्त में अपना एक अमर साम्राज्य स्थापित करना है। दानियल की पुस्तक में यह दर्शन बहुत विशद रूप से प्रस्तुत किया गया है। इसका मुख्य लक्षण काल की एक रेखात्मक [लीनियर] व्याख्या है जो सामी और यूनानी लोगों की चक्रात्मक [साइक्लीकल] व्याख्या से नितान्त भिन्न है। काल एक रेखा के समान एक प्रारम्भिक बिन्दु से चल कर ऊपर-नीचे सरकता हुआ एक लक्ष्य की ओर जा रहा है। यह ईश्वरीय चमत्कार है। उसकी इच्छा और उद्देश्य की पूर्ति है।[16] इस प्रक्रिया का स्वरूप नैतिक है। सिद्क़ [न्याय] की प्रगति इसकी प्रमुख प्रवृत्ति है। अतः राजा का कार्य सिद्क़ की साधना है। उसके और जनता के संबंध मुहादे ["ब्रीथ"] पर आधारित हैं। तोरोथ और मिशपातीम में संगृहीत कानूनों के अनुसार न्याय करना कर्तव्य है। जन-सभा और देश के वृद्ध पुरुषों [क़ाहाल], [एदाह्] की सम्मति उसके लिए आवश्यक है। अपने कर्तव्य-पथ से च्युत होने पर उसका हटाना अनिवार्य है। पैग़म्बरों के प्रवचनों में बहुत-से राजाओं का विरोध मिलता है।[17]

५. यहूदी और जरथुस्त्री इतिहास-दर्शन—यहूदी धर्म और संस्कृति का प्रभाव ज़रथुस्त्र द्वारा प्रतिपादित ईरानी धर्म पर भी परिलक्षित होता है।[18] यहवेह और बीलजीबूब अहुर्मज़्दा और अहरीमान के रूप में प्रकट होते है। विश्व-इतिहास की व्याख्या इन दो शक्तियों के द्वन्द्व द्वारा की जाती है। साम्राज्यों का उत्थान-पतन अहुर्मज़्दा का चमत्कार है। इस चमत्कारवाद का प्राधान्य ज़रथुस्त्री विचारधारा का

१६. मिलर बरोज, "एंशेण्ट इसराइल" दि आइडिया ऑव हिस्ट्री इन दि एंशेण्ट नियर ईस्ट पृ० १२६–१३०।

१७. आर्ई० मेण्डलसीन, "इसराइल", ऑथोरिटी एण्ड लॉ इन दि एंशेण्ट ओरियण्ट, पृ० २७–३३।

१८. एडवर्ड मेयर, गेशिश्ते देज आल्तेरतुम्स, भाग १, ५९०; ओसवाल्ड स्पेंगलर, दि डिक्लाइन ऑव दि वेस्ट, भाग २, पृ० १६८।

मुख्य लक्षण है। इस दृष्टिकोण से संसार की गति भगवान् की लीला ["करिश्मा", तजल्ली"] है।

अनुच्छेद ४—भारतीय इतिहास-दर्शन

१. प्रकृति और विश्व का अवयवित्व; समष्टि और व्यष्टि का एकीकरण— हिन्दू-दर्शन के अनुसार विश्व और प्रकृति एक प्रकार के अवयवी हैं। इनके समस्त कार्य-कलाप इस प्रकार परस्पराश्रित हैं कि उनका प्रत्येक पक्ष उनके संपूर्ण विधान की क्रिया पर निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ जब एक बीज वृक्ष बनता है तो उसमें प्रकृति का सकल तंत्र सक्रिय हो जाता है। उसका विकास जलवायु के प्रभाव, भूमि की प्रक्रिया और अनुकूल वातावरण पर आधारित है। ये कारण इतने ही प्रबल हैं जितनी बीज की शक्ति। सांख्य-योग में इस विचारधारा का सफल प्रतिपादन हुआ है। इसके अनुसार कार्यकारण की प्रक्रिया अवयवित्वमय संपूर्ण तत्त्व का प्रत्यक्षीकरण है। यह सम्पूर्ण तत्त्व का प्रत्यक्षीकरण अवयवों का भी प्रत्यक्षीकरण है। किसी वस्तु के विकास और निर्माण की प्रवृत्ति एक ओर इसकी अन्तर्निहित शक्ति का प्रत्यक्षीकरण है और दूसरी ओर अन्य वस्तुओं के विकास और निर्माण के इतिहास की कड़ी है।[१९]

इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि का विकास अन्योऽन्य-संबंधी और परस्पराश्रित है। योग की तरह वेदान्त में भी कारणत्व [हेतुत्व] का अर्थ माया और अध्यास द्वारा ब्रह्म के विविध रूपों का विस्तार है। देश, काल और कारणत्व को ब्रह्म में विलीन करने का अर्थ अहंकार और व्यक्तित्व की कारणात्मक सत्ता का निषेध है।[२०] न्याय-वैशेषिक के यथार्थवादी दर्शन में भी जहाँ परमाणुओं के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है वहाँ एक सर्वोपरि क्रियात्मक सत्ता को उपादान कारण के रूप में ग्रहण किया गया है।[२१] बौद्ध दर्शन में कारणत्व की परिभाषा "पच्चय-

१९. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, "योग थियरी ऑव दि रिलेशन ऑव माइण्ड एण्ड बॉडी," कल्चरल हेरिट्रेज ऑव इण्डिया, भाग १, पृ० ३८६।

२०. सुब्रह्मण्य अय्यर, "दि एसेन्शल्स ऑव वेदान्त" कल्चरल हेरिटेज ऑव इण्डिया, भाग १, पृ० ५२७।

२१. सतकारी मुकर्जी, 'दि न्याय-वैशेषिक सिस्टम ऑव फिलोसोफी,

सामग्गी' है। कारण [हेतु] के वैयक्तिक अस्तित्व का खण्डन किया गया है। इस दृष्टि से किसी वस्तु का भी स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। आत्मा-जैसी कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ भी वर्तमान है या दृष्टिगोचर है वह अक्षुण्ण प्रगति का स्वरूप है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ समग्र सृष्टि के संविधान की परस्पराश्रितता को प्रतिबिम्बित करता है। व्यक्ति केवल संस्कारों की रचना है या स्कन्धों का समूह है। वह न कारक है, न वेदक।[२२]

२. **'आदि पुरुष' और 'विराट्-रूप'**—भारतीय दर्शन में निहित प्रकृति के इस अवयवी दृष्टिकोण के प्रतीक ऋग्वेद [१०, ९०] का आदि पुरुष और भगवद्गीता [११, ३२-३४] का विराट् रूप है। इनमें समस्त चराचर जगत् की एकता प्रतिपादित की गयी है। एक सर्वव्यापी अवयवी के माध्यम से प्राकृतिक शक्तियों और सामाजिक तत्त्वों का समन्वय किया गया है। जिस आदि पुरुष के मुख, बाहु, उरु और पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति होती है, उसी के मन, नेत्र, मुख और श्वास से चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र और अग्नि तथा वायु की सृष्टि होती है तथा उसकी नाभि, शिर, चरण और कान से देश, आकाश, पृथ्वी और दिशाओं का विस्तार होता है।[२३] इसी प्रकार गीता का विराट् रूप सूर्य में चमकता है, मेघों

कल्चरल हेरिटेज ऑव इण्डिया, भाग १, पृ० ४०९, भगवद्गीता ३।२७।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥

२२. अश्वघोष, सौन्दरानन्दकाव्य १७। २०–२१

यतश्च संस्कारगतं विविक्तं न कारकः कश्चन वेदको वा।
सामग्र्यतः सम्भवति प्रवृत्तिः शून्यं ततो लोकमिमं ददर्श॥
यस्मान्निरीहं जगदस्वतन्त्रं नैश्वर्यमेकः कुरुते क्रियासु ।
तत्तत्प्रतीत्य प्रभवन्ति भावा निरात्मकं तेन विवेद लोकम्॥

२३. ऋग्वेद १०।९०।१२–१४

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥

में गरजता है, समीर में संचरण करता है और झंझाओं में प्रवाहित होता है। वह जन्म, मृत्यु और काल है। उसके इंगित पर योद्धा युद्ध में लड़ते है और एक दूसरे का संहार करते हैं। व्यक्ति केवल उसकी इच्छा का साधन है, निमित्तमात्र है।[२४]

३. **कालवाद और अहोरात्रवाद**—उपर्युक्त विवरण में विराट् रूप को काल कहा गया है। काल गति का परिचायक है। अथर्ववेद [१८, ५३-५४] में काल को एक घोड़ा वताया गया है जो सात रासों द्वारा सब को खींचे ले जा रहा है। आगे चल कर सब वस्तुएँ उसके पहिये बतायी गयी हैं। उससे आकाश और पृथ्वी की सृष्टि हुई है। मन, प्राण और नाम का काल के साथ अभिन्न संबंध है। [काले मनः, काले प्राणः काले नाम समाहितम्] समस्त प्रकृति की क्रीड़ा में काल की गति सन्निहित है अर्थात् समस्त विश्व गतिमान् है, जगत् है [कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः अथर्व० १९-५४-१]। काल के तीन रूप हैं, १—अनन्त काल या अव्यय निरपेक्ष भूत काल, २—कराल काल या सापेक्ष काल और ३—कुटिल काल या गणन काल। वर्तमान विज्ञान के सापेक्षतावादी दर्शन ने भी देश और काल की मौलिक एकता को स्वीकार किया है। प्राचीन काल में काल प्रजापति को सृष्टि का कारण मानने वाले दार्शनिक "अहोरात्रविद्" कहलाते थे। नासदीयसूक्त में सृष्टि के दश वादों में अहोरात्रवाद का भी उल्लेख मिलता है।

४. **पाणिनि, पतंजलि और भर्तृहरि का काल-चिन्तन**—पाणिनिसूक्त (३, २, १२३) "वर्तमाने लट्" की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने कुछ काल-विपयक मत प्रस्तुत किये हैं जो बड़े रोचक हैं। भत, वर्तमान और भविष्य सापेक्ष व्यंजनाएँ हैं। वर्तमान का कोई अर्थ ही नहीं है क्योंकि जिन वस्तुओं का अस्तित्व हम स्वीकार

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौ समवर्तत:
पद्भ्यां भूमिर्दिश: श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन् ॥

२४. **भगवद्गीता ११, ३२–३४**

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त:।
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ॥
मयैवैते निहता: पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्धस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

करते हैं वे तो सदा से रही हैं। वर्तमान का अस्तित्व इसलिए भी असम्भव है कि जो क्रिया पूर्ण हो चुकी हैं वह भूत है और जो पूर्ण होनी है वह भविष्य है। ऐसी किसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती जो एक साथ ही पूर्ण और अपूर्ण दोनों हो। इसके अतिरिक्त पदार्थों का अस्तित्व क्षणिक है। वे प्रतिक्षण उत्पन्न होते हैं और विनष्ट हो जाते हैं। अतः भूत, वर्तमान और भविष्य का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। यहाँ पतंजलि का विवेचन आध्यमिक दर्शन से मेल खाता है।[२५] किन्तु पतंजलि उत्तर देते हैं कि वर्तमान का अर्थ वह क्रिया है जो संपूर्ण और समाप्त नहीं हुई है। काल भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया है। सुगमता के लिए हम इसे दिन, मास और वर्ष में विभक्त कर देते हैं।

भर्तृहरि ने वैशेषिक दर्शन की तरह काल को अद्वैत, शाश्वत और व्यापक घोषित किया है। यह विश्व-यंत्र का यांत्रिक है। काल सूत्रधार के समान विश्व के समस्त कार्य-कलाप का नियंत्रण करता है। भावों का स्थगन और उन्मज्जन काल का कार्य है। इस प्रकार काल वस्तु-जगत् का उपकरण है।[२६] यह सार्वभौम क्रिया है। यह विकास [अनुग्रह] और विनाश [विनश्यत्ता] का मूल है। यह अरघट्ट की तरह घूमता रहता है। इसका प्रमुख रूप वस्तुओं, भावों और स्वरूपों का क्षय और लोप है। इसे भर्तृहरि ने "जराख्या-कालशक्ति" कहा है।

काल सृष्टि की मौलिक प्रक्रिया है। नियति की प्रेरणा से जब परमाणु प्रकम्पित होने लगते हैं और उनकी सुषुप्त क्रिया जाग्रत हो जाती है तो गति आरम्भ होती है और सृष्टि शुरू हो जाती है।[२७] इस गति और क्रिया से जो स्वरूप निष्पन्न होते हैं वे काल शक्तियों द्वारा नियंत्रित होते हैं। कारण और कार्य के बीच की प्रक्रिया "समवाय" है जिसके द्वारा कार्य वैयक्तिक इकाइयों के रूप में दृष्टिगत होता है।

२५. माध्यमिकवृत्ति की प्रसन्नपदा टीका, पृ० ३८३–३८५।
वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोश ५।१२४।

२६. भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय ३।९।५।

२७. वाक्यपदीय ३।९।२० पर हेलाराज की टीका—
इह अदृष्टवशात् परमाणुषु क्रियोत्पन्ना पूर्वदेशसंयोग-विनाशपूर्वकं परस्परोपश्लेषेण द्व्यणुकादिप्रक्रमेण भोगसाधनान् पदार्थानुत्पादयतीति पिण्डार्थः।

इससे क्रम और रूपता प्रकट होती है।[२८] चूंकि काल शाश्वत है, इसलिए वस्तुओं का अन्त कभी नहीं होता, केवल परिवर्तन होता है।[२९]

५. काल की गति का चक्रात्मक रूप; यांत्रिक और नैतिक दृष्टियों का संतुलन—उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि हिन्दू दर्शन की मुख्य धाराओं के अनुसार विश्व के अवयवी संविधान और संतुलन में गति और क्रिया है जिसे काल कहते हैं। यह एक ओर शाश्वत है तो दूसरी ओर क्षणिक। इसकी गति यांत्रिक और चक्रात्मक है। इसके दो पक्ष ब्रह्मा के दिन और रात हैं। जैन ग्रन्थों में इन्हें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नामक दो कल्प कहा गया है। पहले में धर्म गिरता हुआ निम्नतम बिन्दु पर पहुँच जाता है और दूसरे में वह उन्नति करता हुआ चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इन कल्पों को छः युगों में बाँटा गया है—१—सुसमासुसमा [महासुख का युग], २—सुसमा [सुख का युग], ३—सुसमा-दुसमा [सुख-दुःख का युग], ४—दुसमा-सुसमा [दुःख और सुख का युग], ५—दुसमा [दुःख का युग] और ६—दुसमा-दुसमा [महादुःख का युग][३०] इस युग-परिवर्तन में धर्म का उत्थान और पतन सन्निहित है। इसी प्रकार पुराणों के चार युगों—कृत, त्रेता, द्वापर, कलि—में धर्म की उन्नति और अवनति सन्निविष्ट है। एतरेय ब्राह्मण के एक सारगर्भित उल्लेख के अनुसार इन युगों का क्रम मनुष्य की क्रिया सुषुप्ति और जाग्रति के अनुरूप है। जब मनुष्य अर्थात् मनुष्यों के समूह या समाज सक्रिय रहते हैं तो कृतयुग रहता है, जब वे आलस्य और निद्रा के कारण निष्क्रिय होने लगते हैं तो त्रेता और द्वापर आ जाते हैं और जब वे एकदम सुषुप्त हो जाते हैं तो कलियुग छा जाता है।[३१] अतः युगों के परिवर्तन में मनुष्यों की क्रिया-शक्ति प्रच्छन्न रहती है। इस

२८. वाक्यपदीय ३।९।४८ अवश्यैवानुसंधत्ते यथा गतिमतां गतिः।
वायुस्तथैव कालात्मा विधत्ते क्रमरूपताम्॥

२९. वाक्यपदीय ३।९।७४ पर हेलाराज—

क्रिया व्युपरमादेव वसन्तादिकालः परमंव्यवह्रियते परम्। न तु वस्तुतः काल उपेति नित्यत्वात्।

३०. जम्बुदीपपण्णति (बम्बई १९२०) १८।४०

३१. एतरेय ब्राह्मण ३३।३, कलिश्शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥

प्रकार इस यांत्रिक प्रक्रिया का मूलरूप नैतिक है। इसमें मनुष्य की इच्छा भी कुछ कार्य करती है। इसीलिए विराट् रूप के दर्शन का प्रतिपादन करने के पश्चात् और मनुष्य को प्रकृति का निमित्तमात्र सिद्ध करने के बाद भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्म की पूर्ण स्वतंत्रता दी है।[३२] बौद्ध, जैन और हिन्दुत्व के कुछ सम्प्रदायों में इस कर्म-स्वातंत्र्य की सुन्दर स्थापना की गयी है।

६. **नियतिवाद और परिणामवाद**—कुछ भारतीय दर्शन और सम्प्रदाय ऐसे भी हैं जिनमें प्रकृति की प्रक्रिया की एकदम यांत्रिक परिभाषा पायी जाती है। सांख्य के अनुसार विकास एक निश्चित नियम के अधीन है जिसका उल्लंघन सम्भव नहीं है। यह परिणाम-क्रम-नियम है। अतः विकास की प्रक्रिया को ऐसा पथ ढूंढ़ना पड़ता है जो इस नियम के विपरीत न हो।[३३] आजीविक दर्शन में इस परिणामवाद को पूर्णतः यांत्रिक, अटल और अमानवीय बना दिया गया है। इसके अनुसार समस्त प्रकृति नियति, संगति और भाव के नियंत्रण में अग्रसर होती है [नियति-संगति-भाव परिणता]।[३४] नियति जीवन की अटल गति है, संगति आकस्मिकता की क्रिया है और भाव प्रकृति का निजी स्वरूप है। इस दर्शन की चर्चा करते हुए जैन टीकाकार गुणरत्न ने यह वाक्य उद्धृत किया है "काँटों की तीव्रता और पशु-पक्षियों की विचित्रता को कौन बनाता है? यह सब स्वभाव से होता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इच्छानुसार कार्य करती है? प्रयत्न का क्या अर्थ है?[३५] अतः कारणों

चरन् वै मधु विन्दति चरन् याति उदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेयाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥

३२. भगवद्गीता १८।६३
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥

३३. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलोसोफी, भाग १, पृ० २५६।

३४. दिघ्घनिकाय; पाली टेक्स्ट सोसायटी का संस्करण, भाग १, पृ० ५३।

३५. षड्दर्शन-समुच्चय पर गुणरत्न की "तर्क-रहस्य-दीपिका" टीका पृ० १३।
कः कण्टकानां प्रकारोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च। स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः।
भगवद्गीता ५।१४

की खोज व्यर्थ है। इसीलिए आजीविक दर्शन अहेतुवादी कहलाता है।[३६] जीव एक प्राकृतिक प्रक्रिया से जन्मों और कल्पों की वीथियों से गुजरता हुआ संसार-शुद्धि की ओर चल रहा है। इस दृष्टिकोण से विश्व और प्रकृति को क्रियाशील [डाइनेमिक] माना गया है, किन्तु इसी का एक पक्ष यह भी है कि प्रकृति एकदम स्थावर [स्टेटिक] है। यह "अविचलित-नित्यत्वम्" का सिद्धान्त बाद में आजीविक दर्शन में प्रचलित हो गया था।

आजीवक दर्शन के अनुसार नियति से काल की उत्पत्ति होती है। अत: काल के विशाल और अपरिमित विस्तार की काफी चर्चा मिलती है। गंगा का विस्तार २५० योजन है। यह अर्धयोजन चौड़ी है। सात गंगा मिलकर एक महागंगा बनती है। सात महागंगा एक सादीणगंगा के बराबर है। सात सादीणगंगा मच्चुगंगा कहलाती है। सात मच्चुगंगा का समूह लोहियगंगा होता है। सात लोहियगंगा एक आवतीगंगा होती है और सात आवतीगंगा एक परमावती बनती है। इस प्रकार एक परमावती ११७, ६४९ गंगाओं के तुल्य होती है। यदि इस काल्पनिक परमावती से प्रति शताब्दी एक रेत का कण निकाला जाय तो इस पूरी नदी को खाली करने में जितना समय लगेगा वह एक "सर" है। ऐसे ३००, ००० सर महाकप्प के बराबर होते हैं और ऐसे ८, ४००, ००० महाकप्पों का नाम महामाणस है जो जीव के संचरण की अवधि है।[३७] इस विशाल, अचिन्त्य और असंख्य काल-क्रम में जो नितान्त यांत्रिक है ऐतिहासिक युगों की क्या गणना या कल्पना हो सकती है?

७. **व्यक्ति के स्थान पर प्रवृत्ति का महत्त्व**—उपर्युक्त विवेचन से भारतीय दर्शन की विभिन्न दृष्टियों पर कुछ प्रकाश पड़ा है। यद्यपि कुछ दर्शन स्पेंगलर की विचारधारा की तरह पूर्णत: नियतिवादी हैं और ऐतिहासिक क्रम को यांत्रिक मानते हैं, कुछ दर्शन इसमें नैतिकता का समावेश करके मानव स्वतंत्रता और सृजनात्मकता को भी कुछ स्थान देते हैं। किन्तु इस बात पर सब सहमत हैं कि व्यक्ति समष्टि के अधीन है। इतिहास में व्यक्तियों का इतना महत्त्व नहीं है जितना प्रवृत्तियों का है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न गुणकर्मसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

३६. जातक; फौसबाल का संस्करण, भाग ५, पृ० २२८।

३७. भगवतीसूत्र (आगमोदय समिति का संस्करण) १५।५५०।

घटनाएँ इतनी सारगर्भित नहीं हैं जितने आंदोलन हैं। महापुरुष ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के निमित्तमात्र हैं। इतिहास का विषय मानवता के दृष्टिकोण से धर्म का उत्थान-पतन है। मानव जीवन की कालक्रमात्मक घटनाएँ मानवता के जीवन की युगपरक व्यवस्था के अधीन हैं। अतः हिन्दुओं में जीवन-चरितात्मक इतिहास का प्रचलन नहीं हुआ। पुराणों में राम, रावण, मान्धाता, भगीरथ, सगर, ककुस्थ, युधिष्ठिर, अर्जुन, कार्तवीर्य आदि प्रसिद्ध पुरुषों तक के अस्तित्व को संदेह की दृष्टि से देखा गया और यहाँ तक कहा गया कि हम नहीं कह सकते कि वे कभी हुए भी या नहीं।[३८] कुछ थोड़े ही इतिहासकार ऐसे हुए जिन्होंने इस प्रवृत्ति के अपवाद-स्वरूप वैज्ञानिक दृष्टि से इतिहास का अध्ययन किया।

८. भारतीय इतिहास दर्शन का अभ्युदय—वस्तुतः भारतीय इतिहास-लेखन का श्रीगणेश वैदिक साहित्य की वंश और गोत्र-प्रवर तालिकाओं में मिलता है। सामवेद शाखा के वंश ब्राह्मण में वैश्रव से लगाकर ६० आचार्यों की परम्परा का उल्लेख मिलता है। इनमें प्रारम्भिक आचार्य तो अग्नि, इन्द्र, वायु, मृत्यु, प्रजापति, ब्रह्म, देवता ही हैं। शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यकोपनिषत् में भी ऐसी ही ५८ आचार्यों की एक सूची है। कुछ प्राचीन और सामयिक घटनाओं के उल्लेख वैदिक साहित्य में संगृहीत नाराशंसी गाथाओं में मिलते हैं। इनमें जनमेजय परीक्षित पर आटणार मरुत आविक्षित और भरत दौष्यन्ति की चर्चाएँ मिलती हैं। इन उल्लेखों में आख्यानिक तत्त्वों का योग रहता है। मानव कार्य-कलाप में देवताओं का हस्तक्षेप सहज में ही स्वीकार कर लिया जाता है। कालक्रम और भौगोलिक तथ्यों का तो पूर्ण अभाव-सा है।

३८. **विष्णुपुराण**—

यः कार्तवीर्यो बभुजे समस्तान् द्वीपान् समाक्रम्य हतारिचक्रः।
कथाप्रसंगे त्वभिधीयमानः स एव संकल्पविकल्पहेतुः॥
दशाननावीक्षितराघवाणामैश्वर्यमुद्भासितदिङ्मुखानाम् ।
भस्मापि जातं न कथं क्षणेन? भ्रूभंगपातेन धिगन्तकस्य॥
कथाशरीरत्वमवाप यद्वै मान्धातृनामा भुवि चक्रवर्ती।
श्रुत्वापि तं कोऽपि करोति साधु ममत्वमात्मन्यपि मन्दचेतः॥
भगीरथाद्याः सगरः ककुस्थो दशाननो राघवलक्ष्मणौ च।
युधिष्ठिराद्याश्च बभूवुरेते सत्यं न मिथ्या क्व नु ते न विद्मः॥

बौद्ध त्रिपिटक में बुद्ध का क्रमबद्ध जीवन चरित्र नहीं मिलता। कहीं-कहीं उनके जीवन की घटनाओं के असम्बद्ध उल्लेख मिल जाते हैं। इनके तुलनात्मक अध्ययन से धर्मानन्द कौसम्वी ने 'भगवान् बुद्ध' शीर्षक ग्रन्थ में उनके जीवन का क्रमबद्ध वृत्त तैयार करने की चेष्टा की। दीर्घनिकाय के महायान-सुत्त में बुद्धावतार को कल्प-क्रम में प्रतिष्ठित किया गया है। इन कल्पों में क्रमशः विपस्सि, सिखि, वेस्समू, कुकसन्ध, कोनागमन, कस्सप और गौतम बुद्धों के अवतार हुए। इन बुद्धों के जीवन-चरित्रों में एक मूलभूत समानता थी। इन समानताओं में ऐतिहासिक गौतम बुद्ध का चरित्र भी खो गया है। खुद्दक निकाय के बुद्धवंस में बुद्धों की संख्या चौबीस हो गयी है। इसी के अनुरूप जैनियों के चौबीस तीर्थकरों की मान्यता है। पाली त्रिपिटक लंका में प्रथम शती पू० ख्री० में सम्राट् वट्ठगामणी के राज्यकाल में लिपिबद्ध हुआ। अतः इसमें अनेक प्रक्षेप आ गये। लंका के "दीपवंस" और "महावंस" में बौद्ध-संघ से संबंधित अनुश्रुतियों का अच्छा संकलन है। इन में इस द्वीप के इतिहास का भी सुन्दर पर्यवेक्षण है।

पुराणों में प्राचीन वंशों और वशानुचरितों का संग्रह मिलता है। महाभारत के समकालीन व्यास ने कलियुग के प्रारम्भ में इन पुराणों का सम्पादन और संग्रह किया था—ऐसी मान्यता है। किन्तु महाभारत के युद्ध का पुराणों में कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। न हि पाण्डव वीरों का उल्लेख मिलता है। मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, भविष्य, भागवत और गरुड पुराणों में भविष्यवाणियों के रूप में गुप्तकाल तक का इतिवृत्त मिलता है। गुप्तकाल के प्रारम्भ में जब उनका राज्य प्रयाग, साकेत और गंगा के तटवर्ती प्रदेश तक सीमित था ये राजतालिकाएं अपना अन्तिम रूप ग्रहण कर चुकी थीं। पुराण विषयक प्राचीन सामग्री का एफ० ई० पार्जीटर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "एंशेण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन" (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक परम्परा) में, सीतानाथ प्रधान ने अपने ग्रन्थ "क्रोनोलाजी ऑव एंशेण्ट इण्डिया" [प्राचीन भारतीय कालक्रम] में तथा गिरीन्द्र शेखर बसु ने अपने "पुराण प्रवेश" में विस्तृत विवेचन किया है। किन्तु इन तथा अन्य लेखकों में कोई मतैक्य नहीं है। यद्यपि इसमें संदेह नहीं है कि पुराणों में संगृहीत परम्पराओं और अनुश्रुतियों में बहुत ऐतिहासिक सार हैं तथापि कालक्रम की दृष्टि से उनमें अत्यन्त अव्यवस्था है। वंशों और घटनाओं के क्रम में बहुत गड़बड़ है। बहुत-से प्राचीन राजाओं का वर्णन तो काल्पनिक-सा प्रतीत होता है।

९. **बाण**—भारतीय साहित्य की प्रमुख इतिहास–कृतियों में बाणभट्ट

के हर्षचरित का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है। वे प्राचीन भारत के प्रसिद्ध जीवन-चरितकार थे और स्थाण्वीश्वर-नरेश हर्ष [६०६-६४८ ख्री०] के राजकवि थे। बाण ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ हर्षचरित में अपने जीवन का भी कुछ परिचय दिया है। उनके अनुसार उनका वात्स्यायन गोत्र विद्या-प्रेम के लिए बहुत प्रसिद्ध था। बाण की माता का देहान्त बाल्यावस्था में ही हो गया था,अत: उनके पिता ने माता के समान उनका लालन-पालन किया। १४ वर्ष की अवस्था से पहले ही वे विद्या में प्रवीण हो गये थे। उन्होंने आचार्य भर्वु के श्री-चरणों में विद्याध्ययन किया था। वे घर लौटे ही थे कि उनके पिता का निधन हो गया। अत: धनधान्य, सम्पत्ति, शालीनता और प्रतिभा-पाण्डित्य के होते हुए भी वे कुचक्र में फंस कर घुमन्तू जीवन बिताने लगे। इस आवारा जीवन पर उन्हें सदा खेद रहा और जब उनकी बुराई सुनकर सम्राट् हर्ष ने उन्हें "भुजंगम" कहा तो उन्हें अनुभव हुआ कि इस शब्द में सत्य की अभिव्यक्ति है। किन्तु बाण को थोड़े ही समय बाद अकल आ गयी और वे इस आवारा जीवन को छोड़कर शीघ्र ही अपने घर लौट आये। उनकी बिरादरी ने उनका बड़ा स्वागत किया। विशेष रूप में उनके भाई जगत्पति और चचेरे भाई श्यामल ने उनके प्रति विशेष प्रीति प्रकट की। घर आकर वे शान्त और स्वच्छ जीवन बिताने लगे। उनके मित्र और हितैषी राजकुमार कृष्ण ने सम्राट् हर्ष की सभा में उनका परिचय कराया और उनके प्रति जो भ्रान्ति थी उसे दूर किथा। फलत: वे सम्राट् हर्ष की सभा के राजकवि नियुक्त हो गये। उनकी रचनाओं में हर्षचरित और कादम्बरी लोक-प्रसिद्ध हैं। हर्षचरित एक आख्यायिका है और कादम्बरी कथा है। आख्यायिका का वर्ण-विषय ऐतिहासिक होता है और कथा का काल्पनिक। प्राचीन साहित्य में वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और मैमरथी आख्यायिकाएँ प्रसिद्ध हैं। बाण ने उनकी पद्धति का अनुसरण किया है। कादम्बरी को अधूरा छोड़कर ही बाण स्वर्ग सिधार गये। उनके पुत्र ने उसे पूरा किया।

बाण ने हर्षचरित्र में सम्राट् हर्षवर्धन के जीवन की कुछ घटनाओं का वर्णन किया है। उनके पुरखे पुष्पभूति के विषय में उन्होंने लक्ष्मी के वरदान का एक लोक-प्रचलित आख्यान लिपिबद्ध किया है। सम्राट् हर्ष के विषय में भी उन्होंने इस किंवदन्ती का उल्लेख किया है कि सूर्यमण्डल से दो राजकुमार उतर कर गर्भ में प्रविष्ट होते हुए उनकी माता यशोवती को स्वप्न में दिखाई दिये। बाण ने हर्षवर्धन और राज्यवर्धन के बचपन, उनके पिता प्रभाकरवर्धन की भयंकर बीमारी, राज्यवर्धन के हूणों को पराजित करके वापस आने, मालवनरेश द्वारा हर्ष के बहनोई मौखरी

ग्रहवर्मन् के वध, राज्यवर्धन द्वारा मालवनरेश की पराजय, गौडनरेश शशांक द्वारा राज्यवर्धन की छल से हत्या, हर्ष के गौड के विरुद्ध अभियान और बीच में ही विन्ध्याटवी में राज्यश्री की खोज का मार्मिक वर्णन किया है। उसके बाद उनका हर्षचरित सहसा समाप्त हो जाता है। इस कथा-परिधि में बाण ने अनुपम शब्द-शिल्प द्वारा तात्कालिक संस्कृति का सर्वांगीण चित्र खींचा है। बाण के वर्णन अनूठे हैं। उन्होंने राजा-रानियों, सन्यासियों, कापालिकों, तांत्रिकों आदि की सम्पूर्ण प्रतिभाएँ प्रस्तुत की हैं। उनके ग्रन्थ समाज के दर्पण हैं। यद्यपि उन्होंने हर्ष के जीवन-चरित से संबंधित समस्त घटनाओं का उल्लेख नहीं किया है और बीच में ही अपने वृत्त को समाप्त कर दिया है, फिर भी जो कुछ घटनाएँ उनके ग्रन्थ में उपलब्ध हैं उनकी अन्य ऐतिहासिक सामग्री से पर्याप्त पुष्टि हो चुकी है। फिर भी उनके ग्रन्थ में इतना शब्द-जाल और वाग्विलास है कि उसने घटनाओं की ऐतिहासिकता को आवृत कर लिया है। कहीं-कहीं श्लेषों के आवेश में लेखक की गति मन्द हो गयी है और वर्णन रूढिबद्ध तथा अप्राकृतिक से लगने लगते हैं। लेखक अलौकिक तत्त्वों के समावेश से भी नहीं हिचकता।

१० **कल्हण**—कश्मीर में इतिहास-लेखन की बड़ी उन्नति हुई। कल्हण ने अपने से पहले ११ इतिहासकारों में से पांच के नाम लिये हैं—सुव्रत, क्षेमेन्द्र, हेलाराज, पद्ममिहिर और छविल्लाकर। इनमें से हेलाराज वही प्रतीत होते हैं जिन्होंने भर्तृहरि के "वाक्यपदीय" पर एक टीका लिखी हैं। यह हाल में ही प्रकाशित हुई है और ऊपर हमने इसके कुछ अंशों को उद्धृत भी किया है। कल्हण के अनुसार इन्होंने एक पार्थिवावली भी लिखी थी जो अब लुप्त हो चुकी है। क्षमेन्द्र तो बहुत ही प्रसिद्ध साहित्यकार हैं। इनकी बृहत्कथा, रामायण और महाभारत की मंजरियां बहुत विख्यात हैं। इनके अतिरिक्त उनकी समयमातृका, देशोपदेश और नर्ममाला तात्कालिक समाज का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती हैं। कल्हण ने शंकुक के ऐतिहासिक काव्य भुवनाम्युदय का भी उल्लेख किया है। ये कृतियाँ बड़ी विशालकाय थीं। अकेले हेलाराज का इतिवृत्त १२००० श्लोकों का था। स्यात् विस्तार के कारण ही ये कालकवलित हो गयीं। इन लेखकों ने समसामयिक घटनाओं के संकलन के अतिरिक्त प्राचीन अनुश्रुतियों का भी उल्लेख किया। किन्तु इनकी काव्यशैली ने बहुत कुछ ऐतिहासिक सत्य पर प्रहार किये।

कल्हण की "राजतरंगिणी" ने प्राचीन इतिवृत्तों के महत्त्व को अभिभूत कर दिया। इस ग्रन्थ की रचना ११४८-४९—११४९–५० ईसवी में हुई। कल्हण

का जन्म बारहवीं शती के प्रारम्भ में कश्मीर के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। इनके पिता चम्पक एक उच्चस्तरीय राज्याधिकारी [काश्मीरक-महामात्र] थे। कल्हण ने संस्कृत की उच्च शिक्षा पायी और काव्य-रचना में अद्‌भुत कुशलता प्राप्त की। बाण का 'हर्षचरित' और बिल्हण का 'विक्रमांक देवचरित' उन्हें बहुत प्रिय थे। श्रीकण्ठचरित के रचयिता कवि मंख ने एक कल्याण नामक लेखक के काव्यकौशल और इतिहास-प्रेम की बड़ी प्रशंसा की है। स्टाइन ने इस कल्याण को कल्हण सिद्ध किया है। कल्हण ने अपने ग्रन्थ को तैयार करने में प्राचीन इतिवृत्तों के अतिरिक्त मन्दिरों के शिलालेखों [प्रतिष्ठा-शासन] भूदान के प्रमाणपत्रों [वास्तुशासन], प्रशंसात्मक लेख [प्रशस्तिपट्ट] और लिखित शास्त्रों का आश्रय लिया। इनके अतिरिक्त इन्होंने नगरों, विहारों, स्तूपों, मन्दिरों और अग्रहारों का अध्ययन किया और उनसे प्रचुर ऐतिहासिक साक्ष्य ग्रहण किया। मुद्राओं, मौखिक परम्पराओं और जनश्रुतियों से भी उन्हें बहुत सामग्री मिली। इस प्रकार कल्हण की शोधपद्धति वैज्ञानिक और तथ्यात्मक थी। उन्होंने अपनी पद्धति को स्पष्ट करते हुए लिखा है।

"वही कवि स्तुत्य है जो राग-द्वेष से पृथक् रहकर केवल तथ्यों के निरूपण के लिए अपनी भाषा का प्रयोग करे" [राजतरंगिणी १।७]

राजतरंगिणी का सुन्दर सम्पादन और अनुवाद सर ऑरल स्टाइन की प्रसिद्ध कृतियों में से है।

कल्हण का इतिहास सहजैव दो भागों में बाँटा जा सकता है (१) प्राचीन युग जो महाभारत काल से गोनन्दीय वंश के अन्त तक रहा और (२) अर्वाचीन युग जो कार्कोट वंश के प्रादुर्भाव से कल्हण के समय तक रहा। प्राचीन युग का कल्हण का कालक्रम भ्रान्तिमूलक है। स्टाइन ने सिद्ध किया है कि कल्हण की कालगणना के अनुसार अशोक [तीसरी शती ई० पू०], कनिष्क [दूसरी शती ख्री०] मिहिरकुल [छठीं शती ख्री०] तोरमाण [पांचवी शती ख्री०] खिंगिल और लहखपा [पांचवीं छठी शती ख्री०] का काल क्रमश: ११८२ पू० ख्री०, ७०४–६३४ पू० ख्री०, प्रथम शती ख्री० और २०९-२२२ ख्री० ठहरता है। तथापि कल्हण द्वारा दिया गया इन राजाओं का इतिहास ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कुछ शुद्ध है। इनके विषय में कुछ ऐसी सूचनाएं मिल जाती हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं।

सातवीं शती ख्री० से कल्हण का इतिवृत्त वैज्ञानिक इतिहास का रूप धारण करने लगता है। उत्पल वंश [८५५-५६ ख्री०] तक आते-आते तो उनकी कृति में अत्यन्त सूक्ष्मता, शुद्धता और तर्कपरता आ जाती है। कल्हण की सत्यप्रियता

का इससे अच्छा और क्या प्रमाण हो सकता है कि उन्होंने चक्रवर्मा क्षेमगुप्त और कलश के दुराचारों का खुलकर वर्णन किया और साम्राज्ञी दिद्दा तथा राजा यशस्कर जैसे योग्य शासकों की कुनीति पर भी पर्दा नही डाला। कल्हणने कश्मीर के राज्यविधान का सजीव वर्णन किया है। उन्होंने जयापीड के कायस्थ कर्मचारियों के अत्याचारों पर प्रचुर प्रकाश डाला है। शंकरवर्मा के मन्दिरों की सम्पत्ति जब्त करने और बेगार लेने का उनका वर्णन मार्मिक है। पर्वगुप्त, संग्रामराज, अनन्त कलश और हर्ष की कुनीतियों का उनका वर्णन पढ़कर तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। साथ ही उन्होंने अवन्तिवर्मा के सुधारों, मंत्री सुय्य की बाढ़ों को रोकने की नीति और अन्न के भावों को कम करने की योजना की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कल्हण ने बाढ़ों, अग्निकाण्डों और दुर्भिक्षों का ज्वलन्त वर्णन किया है। उन्होंने डामरों की सामन्तशाही और उनके उत्पातों पर भी काफी प्रकाश डाला है। हर्ष के समय से ये डामर सामन्त कश्मीर के लिए आंतक बन गये थे। भिक्षाचर के राज्यकाल में उन्होंने बहुत लूट-खसोट मचायी थी। कल्हण ने उन्हें "दस्यु" कहा है। उनके अतिरिक्त कायस्थों का अत्याचार भी चरम सीमा पर पहुँच गया था। कल्हण ने राजतरंगिणी [८।८५] में उनकी जिघृक्षा और नृशंसता का नग्न चित्र खींचा है। भद्रेश्वर और चन्द्रमुख [७–३८; ७–१११] का अन्याय चरम सीमा पर पहुँच गया था। आरम्भ में उनके पास कौड़ी भी नहीं थी, किन्तु थोड़े ही समय में वे करोड़पति हो गये थे। व्यापारी वर्ग की छीना-झपटी भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। कल्हण ने लिखा है कि भद्रमुख होते हुए भी वे व्याघ्र के समान भयानक थे। उन्होंने उनका व्यंगचित्र प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "उनके ललाट, कर्ण और वक्ष चन्दनर्चाचित होते थे, उनके मुख सुई के समान बारीक होते थे, उनके उदर बहुत विशाल थे और वे क्षणमात्र में रक्त-मांस सहित जीवन का शोषण करने में कुशल थे" [८।१२८-१३४] कल्हण ने धोखेबाजों और गुण्डों का भी सजीव चित्रण किया है। ऐसे लोग कलश के साथियों में थे [७।२७७]। कल्हण ने विवाहित तपस्वियों, मत्स्य की आहुति देने वाले मद्यप ब्राह्मण गुरुओं और तांत्रिकों, स्त्रियों की भी भर्त्संना की है। प्रायः ब्राह्मण घूस लेते थे [६।३३९]। इस प्रकार हम देखते हैं कि कल्हण की राजतरंगिणी ग्यारहवीं-बारहवीं शती के समाज का सुन्दर और सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करती है। लेखक की शैली में अपूर्व प्रवाह और लालित्य है। उनकी कृति ऐतिहासिक दृष्टि से बाण की रचना से अधिक उत्कृष्ट है।

११. जोनराज, श्रीवर, प्राज्यभट्ट और शुक—कल्हण की राजतरंगिणी को

जोनराज ने और आगे बढ़ाया। वे सुल्तान ज़ैनुलआबदीन [१४११-१४६३] के समकालीन थे। उनके बाबा लौलराज ने अपनी भूमि के दस प्रस्थों में से एक का विक्रयपत्र एक व्यक्ति के नाम लिख दिया था। लौलराज के निधन के बाद उनका पुत्र नौनराज दुर्बल था। अतः क्रेता ने समस्त दस प्रस्थों पर अधिकार कर लिया था। साथ ही विक्रयपत्र में भी जालसाजी करके एक का दस बना दिया था। जोनराज ने सुल्तान के यहाँ इस विषय का अभियोग प्रस्तुत किया। सुल्तान ने जोनराज की भूमि उसे वापस करा दी। तब से सुल्तान और जोनराज का परिचय बढ़ गया और उन्होंने द्वितीय राजतरंगिणी की रचना की। यह ११५० से १४५९ तक का इतिहास है।

जोनराज की अपूर्ण कृति को उनके शिष्य श्रीवर पण्डित ने पूरा किया। श्रीवर को सुल्तान जैनुलआबदीन उनके पुत्र हैदरशाह और पौत्र हसनशाह [१४६४-१४७६] का आश्रय प्राप्त हुआ। वे हैदरशाह को बृहत्कथा, धर्मशास्त्र और पुराण सुनाया करते थे। हसनशाह तो उनका बड़ा सम्मान करता था। श्रीवर की "तृतीय राजतरंगिणी" ज़ैनुलआबदीन के राज्य के मध्य से प्रारम्भ होती है। इसके अन्तिम श्लोक में फतेहशाह का उल्लेख है। इस प्रकार वे इस इतिहास को १४७९ तक पहुँचाते हैं।

राजतरंगिणी की परम्परा को आगे ले जाने का कार्य प्राज्यभट्ट ने किया। उन्होंने कश्मीर के इतिहास को १४८६ ख्री० तक पूरा किया। उस समय फतेह-शाह का राज्य चल रहा था। किन्तु उसके बाद यह क्रम कुछ रुक-सा गया। इसका कारण कश्मीर की राजनीतिक अव्यवस्था थी। किन्तु बुद्धयाश्रय के पुत्र शुक ने "चतुर्थी राजतरंगिणी" में इस इतिहास को कश्मीर में आसफखां के आगमन तक पूरा किया। आसफखाँ को अकबर ने कश्मीर के राज्यपाल के पद पर १५९७ ख्री० में नियुक्त किया था। किन्तु अबुलफज्ल ने आइने अकबरी [ब्लौचमैन का अनुवाद पृ० ४५२] में लिखा है कि १५८८ ख्री० में जब सम्राट् अकबर कश्मीर गये तो उन्हें राजतरंगिणी की एक प्रति भेंट की गयी। इससे सिद्ध होता है कि सम्भवतः इस ग्रन्थ का अन्तिम भाग बाद का प्रक्षेप हो। कुछ ऐसा अनुमान होता है कि शुक का इतिहास मिर्जा हैदर दुग़लात के १५४० के द्वितीय आक्रमण पर समाप्त हो गया था।

उक्त राजतरंगिणियों में राजकीय वृतान्त के साथ-साथ जन-जीवन की भी सुन्दर झाँकी मिलती है। श्रीवर ने सर्वप्रथम गोला-बारूद का जिक्र किया है जिसे ज़ैनुल-

आबदीन के राज्यकाल में हबीब खां नामक एक व्यक्ति ने प्रचलित किया था। किन्तु यह केवल खेल-तमाशों के काम में आता था। इनके एक तमाशे का रोमांचकारी वर्णन स्वयं श्रीवर ने किया है। उस समय युद्ध में इसका प्रयोग नहीं होता था। चतुर्थी राजतरंगिणी [श्लोक ४६०-४६३] में सबसे पहिले सोलहवीं शती के एक युद्ध के वर्णन में नागरन्ध्रक [बन्दूक] और तोपक [तोप] का उल्लेख आया है। इन लेखकों ने तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण किया है। विशेष रूप से जौनराज का यह उल्लेख कि ज़ैनुलआबदीन ने बौद्ध धर्मावलम्बी सोगत तिलकाचार्य को महत्तम के उच्च पद पर नियुक्त किया था [तृतीय राज-तरंगिणी, श्लोक १०९६] अत्यन्त महत्त्व रखता है। पन्द्रहवीं शती में बौद्धों का उल्लेख मिलना अत्यन्त रोचक है।

उक्त राजतरंगिणियों को विद्वानों ने बड़े महत्त्व की दृष्टि से देखा है। ज़ैनुल आबदीन के युग में राजतरंगिणी का जो सम्भवतः कल्हण द्वारा प्रणीत थी, फारसी में अनुवाद किया गया था। उसके बाद अकबर की आज्ञा से सम्पूर्ण राजतरंगिणी का फारसी अनुवाद शाहाबाद के मुल्ला शाह मुहम्मद ने तैयार किया था। अब्दुल-कादिर बदायूनी ने इसका संशोधन किया था। इस अनुवाद की हस्तलिखित प्रति ब्रिटिश म्युजियम के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इस सब सामग्री का वैज्ञानिक अध्ययन अभी अपेक्षित है।

१२. अन्य लेखक—कश्मीर की तरह गुजरात में भी ऐतिहासिक साहित्य का सृजन हुआ। इसमें सोमेश्वर की कीर्तिकौमुदी, अरिसिंह का सुकृतसंकीर्तन, मेरुतुंग की प्रबन्धचिन्तामणी, राजशेखर का प्रबन्धकोश, जयसिंह का हम्मीरमद-मर्दन और वस्तुपाल-तेजपाल-प्रशस्ति, उदयप्रभ की सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी, बालचन्द्र का बसन्तविलास, हेमचन्द्र का कुमारपालचरित और जयसिंह आदि अन्य कई लेखकों की कुमारपाल संबंधी रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त वाक्पति का गौडवहो, बिल्हण का विक्रमांकदेवचरित", सन्ध्याकर नन्दी का रामचरित, नयचन्द्र का हम्मीर काव्य, पद्मगुप्त का नवसाहसांकचरित, बल्लाल का भोजप्रबन्ध और एक अज्ञात लेखक का पृथ्वीराज-विजय ऐतिहासिक घटनाओं की महत्त्वपूर्ण और महार्घ सूचनाएँ प्रस्तुत करते हैं। किन्तु इन ग्रन्थों का वास्तविक महत्त्व ऐति-हासिक दृष्टि से कम और साहित्यिक दृष्टि से अधिक है। वास्तव में इनका विस्तृत विवेचन संस्कृत साहित्य के इतिवृत्त का विषय है।

भारत में मुसलमान सत्ता स्थापित होने के बाद फारसी इतिहास-लेखन को बड़ा

प्रोत्साहन मिला। किन्तु उसकी मुख्य धारा और प्रवृत्ति इस्लामी और ईरानी इतिहास-दर्शन से निस्सृत हुई। उसका विस्तृत विवेचन यहां अपेक्षित नहीं है।

वर्तमान काल में गत शताब्दी से भारत में जो पुनरुत्थान हो रहा है उसमें प्राचीन इतिहास के अन्वेषण और अनुसंधान का भी पर्याप्त योग रहा है। पाश्चात्य विद्वानों से प्रेरणा लेकर अनेक भारतीय विद्वानों ने भारतीय इतिहास को वैज्ञानिक धरातल पर समासीन किया है। इन युग-प्रवर्तक विद्वानों और इतिहासकारों में श्री रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर, उनके सुपुत्र देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर, सर जदुनाथ सरकार, प्रो० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री, डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर, डा० रमेशचन्द्र मजूमदार, डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, डा० राधाकुमुद मुकर्जी, डा० ईश्वरीप्रसाद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इतिहास पर दार्शनिक दृष्टि से भी विचार किया गया है। इन विचारकों में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, प्रोफेसर विनय-कुमार सरकार, डा० रामप्रसाद त्रिपाठी और प्रोफेसर धूर्जटीप्रसाद मुकर्जी के नाम अग्रगण्य हैं। अब भारत में इतिहास का अध्ययन उन्नति पर है।

अनुच्छेद ५—चीनी इतिहास-दर्शन

१. चीनी विचारधारा की ऐहिकता और उपयोगितावाद—चीनी विचारधारा और दृष्टिकोण के दो प्रमुख लक्षण हैं; १—वह ऐहिक है अर्थात् पृथ्वीतल पर मनुष्य के कार्य-कलाप से संबंधित है। २—वह उपयोगितापरक है अर्थात् दर्शन और सिद्धान्त के व्यावहारिक पक्ष की ओर आकर्षित है। अतः व्यक्ति और समाज के मंगल और संतुलन को दृष्टि में रखकर चीनी संस्कृति अग्रसर हुई। आरम्भ से ही यह सामाजिक विकास की अक्षुण्णता के प्रति जागरूक थी। पूर्वज-पूजा इस प्रवृत्ति का महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। प्रत्येक अभिजात वर्ग का व्यक्ति अपनी वंशपरम्परा से पूर्णतः परिचित होता था और अपने को प्राचीन वीरों से सहजैव संबन्धित कर सकता था। इन पूर्वजों की आत्मा के लिए वह निश्चित क्रम से श्राद्ध और बलि दिया करता था। विभिन्न कुलों के व्यक्ति केवल अपने ही पूर्वजों का श्राद्ध कर सकते थे और अपने ही हाथ से वे इस श्राद्ध को सम्पन्न कर सकते थे। किसी स्थानापन्न पुरोहित द्वारा समर्पित श्राद्ध ग्राह्य नहीं था। अतः चीन में एक ओर किसी पुरोहित वर्ग या सुसंग-ठित धर्म-सम्प्रदाय [चर्च] का विकास न हो सका और दूसरी ओर अतीत के प्रति सतर्कता बहुत बढ़ गयी।

२. "थ्यान्" और थ्यान्-मिङ"—चीन के सबसे बड़े देवता "थ्यान" का

आदिम रूप एक मानव पूर्वज था। एक मत के अनुसार "थ्यान" का अर्थ "महापुरुष" है। यह लक्ष्य करने की बात है कि चीनी लिपि में थ्यान् के लिए जो चिह्न है वह एक मनुष्य का है जिसकी भुजा और टाँगें फैली हुई हैं।[३९] चू राजवंश के काल में "थ्यान" भूतकालीन सब महापुरुषों की अर्थात् चू राजाओं के सब पूर्वजों की सामूहिक संज्ञा मानी जाने लगी और "थ्यान्-मिङ" का अर्थ "पूर्वजों की अनुमति" माना जाने लगा। अन्त में यह शब्द उस क्षेत्र का अभिधान बन गया जहाँ पूर्वज निवास करते हैं। इस प्रकार यह आकाश का पर्याय हो गया। इसको एक मानव रूप भी प्रदान कर दिया गया। किन्तु सामान्यतः यह गगन-वाची बना रहा। थ्यान का समकक्ष [शाङ्-ती] सार्वभौम आदिम सम्राट् था। उसके द्वारा थ्यान् की मिङ अर्थात् अनुमति राजाओं को प्राप्त होती थी। उसका वंशज होने के कारण चीनी सम्राट् थ्यान-त्जू "देवपुत्र" कहलाता था। किन्तु वह स्वयं देवता नहीं था। वह एक मानव मात्र था। परन्तु थ्यान् की ओर से 'ली' [प्राकृतिक शासन] के अनुसार राज्य करने की 'मिङ' [अनुमति] उसे प्राप्त होती थी। इसका अर्थ यह है कि जब तक वह शासन को सुचारु रूप से संचालित रखता था तब तक वह सम्मान और सेवा का पात्र था। किन्तु जब वह व्यवस्था को सुरक्षित रखने में असमर्थ हो जाता था, जब उसका आचार औचित्य की सीमा का उल्लंघन करने लगता था, जब उसके राज्य में बाढ़, भूकम्प, अग्नि-प्रकोप आदि प्राकृतिक आपत्तियों का बाहुल्य हो जाता था तो थ्यान् अपनी मिङ उससे वापिस ले लेते थे। इस प्रक्रिया को 'कोमिङ' कहते थे। यह लक्ष्य करने की बात है कि अब तक क्रान्ति को चीनी भाषा में 'को-मिङ' कहते हैं।[४०]

३. **पितृपूजा**—चीनी विश्वास के अनुसार मनुष्य के भीतर दो आत्माएँ होती हैं, "पो' जो कब्र में शव के साथ रहती है और उसका क्षय होने पर निम्नलोक में विलीन हो जाती है और "हुन" जो थ्यान् के प्रासाद की ओर अग्रसर हो जाती है

३९. एच० जी० क्रील, 'दि बर्थ ऑव चाइना, ए स्टडी ऑव दि फोरमेटिव पीरियड ऑव चाइनीज सिविलिजेशन' (न्यूयार्क १९३७) पृ० ३४२–३४४।

४०. डर्क बोडे, 'ऑथोरिटी एण्ड ला इन एंशेण्ट चाइना' अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी द्वारा प्रकाशित ऑथोरिटी एण्ड ला इन दि एंशेण्ट ओरियण्ट पृ० ४९।

और सदा अपने वंशजों का नियंत्रण और नियमन करती है। पूजा और श्राद्ध द्वारा इस "हुन" का आवाहन किया जाता है। अतः वंशावलियों का ज्ञान बड़ा आवश्यक है। राजा और प्रजा दोनों के लिए यह ज्ञान अनिवार्य है। इससे इतिहास को बड़ी प्रेरणा मिली क्योंकि पूर्वजों की अक्षुण्ण परम्परा द्वारा ही 'हुन' और 'ध्यान्' का प्रसाद और आदेश प्राप्त हो सकता है।

४. यिन-याङ् की विकासशील व्यवस्था—चीनी लोग सामाजिक व्यवस्था और प्राकृतिक विधान दोनों को विकासशील मानते हैं। इस विकास में गति है। इसके दो पक्ष यिन और याङ कहलाते हैं। यिन स्थिति का परिचायक है और याङ गति का। इन दोनों तत्त्वों की प्रक्रिया से विश्व की जीवन-चर्या चलती है। 'यिन' स्थावर शान्त संतुलन है; 'याङ' गतिशील अतृप्त विक्षेप है। सैद्धान्तिक दृष्टि से वे विरोधी हैं किन्तु तात्त्विक दृष्टि से वे सहयोगी हैं। उनमें से प्रत्येक प्रतिक्षण दूसरे में संक्रान्त होता रहता है। इस प्रकार उनकी पारस्परिक प्रक्रिया सर्वत्र और सर्वदा अक्षुण्ण रहती है।[४१] चीनी भाषा के प्राचीनतम ग्रन्थ ई-चिङ [परिवर्तन-पुस्तक] में इन दोनों तत्त्वों का विशद विवेचन है। विश्व के आठ विभाग विविध मात्राओं में इन तत्वों के सम्मिलित और संतुलन द्वारा निर्मित होते हैं। जल से जीवन की उत्पत्ति हुई और विभिन्न रूपों द्वारा विकसित होता हुआ यह जीवन मनुष्य के रूप तक पहुंचा। मृत्यु के पश्चात् मानव शरीर पांच तत्त्वों में विकीर्ण हो जाता है। यह सिद्धान्त वर्तमान वैज्ञानिक विकासवाद से मेल खाता है। इसके अनुसार सब चराचर प्रकृति गतिमान है।[४२]

५. अवनति–उन्नति का क्रम; जापानी बौद्ध दर्शन की इतिहास-चेतना—उपर्युक्त 'यिन' और 'याङ' के सिद्धान्त के आधार पर जो चिन्तन-पद्धति पल्लवित हुई उसका स्वरूप वस्तुतः ऐतिहासिक था। इससे इतिहास के कालक्रम को अवनति और उन्नति के दृष्टिकोण से वर्गीकृत करने की प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ। जापान

४१. आर्नोल जे० ट्वायनबी, ए जर्नी टु चाइना, पृ० २१७। चीनी लिपि में 'यिन' के लिए जो चिह्न है उसमें काले मण्डराते मेघों को सूर्य के चारों ओर घिरा हुआ दिखाया गया है और याङ् के चिह्न में मेघरहित जाज्वल्यमान सूर्य अपनी किरणें बिखेरता हुआ प्रकट किया गया है।

४२. रेल्फ टर्नर, दि ग्रेट कल्चरल ट्रेडिशन्स, भाग २, पृ० ८४५।

के बौद्ध सम्प्रदायों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से परिलक्षित होती है। बारहवीं शताब्दी में जापान में बौद्ध धर्म का बड़ा बोलबाला था। अनेक शिक्षक और प्रचारक इसे फैलाने में लगे हुए थे। ११७५ में होनेन शोनीन [११३३-१२१२] ने जोदो [पवित्र देश] नामक बौद्ध सम्प्रदाय स्थापित किया और उनके शिष्य शिनरान [११७३-१२६२] ने जोदो शिन्शु [जोदो का सच्चा सम्प्रदाय] का श्रीगणेश किया। इसी समय इसाई [११४१-१२१५] और दोगेन [१२००-१२५३] ने चीनी 'छान' सम्प्रदाय के अनुसार 'जैन' सम्प्रदाय का सूत्रपात किया और निचिरेन (१२२२-८२) ने होक्के [पद्मदल] सम्प्रदाय की आधार-शिला रखी। इन सब धार्मिक नेताओं और विचारकों ने बौद्ध-धर्म की अवनति-उन्नति के दृष्टिकोण से इतिहास की व्याख्या की। निचिरेन ने इतिहास को तीन भागों में विभक्त किया—१. शोबो-युग जो इनके मतानुसार ६४७ पू० ख्री० से अर्थात् बुद्ध के निर्वाण से प्रारम्भ होता है और जिसमें हीनयान का सच्चा धर्म प्रचलित था। २. जोबो युग जो प्रथम युग से एक सहस्राब्दी बाद आरम्भ हुआ और जिसमें महायान का मूर्ति-धर्म प्रचलित रहा और ३. माप्पो-युग जो लगभग १०५३ ख्री० से आरम्भ हुआ और जिसमें धर्म की ग्लानि और सदाचार का ह्रास होने लगा।[४३] इस अवनति काल को दूर करने के लिए उपर्युक्त बौद्ध सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। इतिहास की यह जापानी बौद्ध व्याख्या धर्म के उत्थान-पतन के दृष्टिकोण से हिन्दुओं की चतुर्युगीन व्याख्या और दीके की उन्नति-अवनति के विचार से यूनानियों की स्वर्णयुग और लोहयुग वाली व्याख्या से मिलती-जुलती है।

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है, चीनियों का प्रकृति और समाज विषयक दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। 'ध्यान्' के आदेश और उनके अनुसार 'यिन' और 'याङ' की प्रक्रियाएँ इतिहास में गतिमान होती हैं। कुङ-चिऊ [कनफ्यूशियस] [५५१-४७८ पू० ख्री०] ने अपनी विचारधारा को इतिहास की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया। उनके मतानुसार प्रकृति और समाज की विकासशील व्यवस्था इतिहास में प्रतिबिम्बित होती है। पुरातन ऋषियों ने प्रकृति से 'विचार'

४३. सर चार्ल्स ईलियट, जापानीज बुद्धिज्म; लन्दन १९३५, पृ० २७७-७८, ४२४–४२५।

ग्रहण किये और उन्हें समाज में प्रसारित किया। सभ्यता का इतिहास इन 'विचारों' को सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न स्वरूपों में अनूदित करने की प्रक्रिया है। इन 'विचारों' के अनुकूल मनुष्यों ने समय-समय पर कानून बनाये और ये कानून राज्य-शासनों के रूप में प्रकट हुए। यह बौद्धिक विकास सामाजिक व्यवस्था की आधार-शिला के रूप में अतीत काल में सम्पन्न हुआ। अतः कुङ-चिङ ने चू काल की लिखित सामग्री को संकलित किया और उसे इतिहास का व्यवस्थित रूप प्रदान किया। इस सामग्री के आधार पर बाद के लेखकों ने विस्तृत इतिहास तैयार किये। इस महान् विचारक ने ७२२ से ४८१ पू० ख्री० तक के अपने राज्य के इतिहास का भी प्रणयन किया। यह ग्रन्थ 'चुन-चिङ' (बसन्त और शिशिर का वृतान्त) कहलाता है।

६. कुङ-चिऊ का सामाजिक दर्शन—कुङ-चिऊ के सामाजिक दर्शन का मेरुदण्ड 'ली' की विचारधारा है। इसका अर्थ संतुलन और औचित्य का भाव है। यह सभ्यता के विकास से उत्पन्न होता है। असभ्य जाति की कोई 'ली' नहीं होती। अभिजात वर्गों को 'ली' का ज्ञान होता है। वह इसके अनुसार जीवन निर्वाह करते हैं और कानून बनाते हैं जो सामान्य पुरुषों के जीवन को नियंत्रित रखता है। 'ली' का लक्षण व्यक्ति का संस्कार और परिष्कार है। अतः समाज का कार्य व्यक्ति का शिक्षण और संयमन है। राज्य एक विश्वविद्यालय है और इसके अधिकारी अपने आदर्श चरित्र द्वारा जनता को संस्कृत जीवन बिताने की प्रेरणा देते हैं। राज्य का इतिहास आदर्श जीवन का सुस्पष्ट दर्पण है।[४४]

७. नव-कन्फ्यूशियसी दर्शन—सुङ वंश के राज्यकाल में जो नव-कनफ्यूशियसी दर्शन का अभ्युत्थान हुआ उसके कर्णधार चेङ-हाओं (१०३२-१०८५), उनका भाई चेङ-ई (१०३३-११०७), उनका चचा चाङत्साई (१०२०-१०७६) और शाओ-युङ (१०११-१०७७) थे। चू-तुन-ई (१०१७-१०७३) और चू-ही (११२०-१२००) इस दर्शन के प्रमुख व्याख्याता थे। विशेषतः चू-ही जो पूर्व के

४४. फुंग यू-लान्. "दि प्लेस आव कन्फ्यूशियस इन चाइनीज् हिस्ट्री,' दि चाइनीज, सोशल एण्ड पोलटिकिल साइन्स रिव्यू, भाग १६ (१९३२), पृ० १—१०, जेम्स लेग 'दि लाइफ एण्ड टीचिंग्स आव कन्फ्यूशियस, पृ० १०० आदि।

अरस्तू कहलाते हैं, इस मतवाद के सबसे महान् प्रतिपादक थे।[४५] इन्होंने नवीन परि-स्थिति के आलोक में कन्फ्यूशियस के दर्शन की व्याख्या की और बौद्ध तथा ताओ धर्मों के मूल सिद्धान्तों को उसमें सन्निविष्ट कर दिया। चू-ही पर 'छान्' सम्प्रदाय का बड़ा प्रभाव था और उन्होंने इसके नैतिक दृष्टिकोण को कन्फ्यूशियस के कर्म-काण्डवाद पर आरोपित किया था।[४६] चू-तुन-ई-ने ताइ-की के सिद्धान्त को प्रमुखता प्रदान की। यह ताओ की तरह सृष्टि का मूल कारण और चरम तत्त्व है जिससे 'यिन' और 'याङ' का संतुलन और समीकरण सम्पन्न होता है और फलस्वरूप पंच महाभूतों—भूमि, अग्नि, काष्ठ, धातु और जल की सृष्टि होती है। यह शक्ति या तत्त्व एक नियम, धर्म या व्यवस्था के रूप में कार्य करता है। अतः चू-ही के अनुसार 'थ्यान्' एक नियम है। उसके द्वारा एक नैतिक व्यवस्था का आविर्भाव होता है जो 'यिन' और 'याङ' की प्रक्रिया द्वारा विश्व में परिणत हो जाती है। पंच-महाभूत पांच नैतिक भावों के द्योतक हैं—काष्ठ प्रेम (जेन) का, धातु सदाचार (ज़ैन) का, अग्नि श्रद्धा (चुङ) की, जल बुद्धिमत्ता (चिह्) का और भूमि, हार्दिकता (सिन) की।[४७] विश्व का यह नैतिक विधान एक प्रकार की मध्यमा-प्रतिपदा (चुङ-युङ) द्वारा अग्रसर है। इस प्रकार चू-ही ने कुङ चिऊ के दर्शन को एक नैतिक आधार देकर इतिहास की भावना को भी एक नैतिक पुट दे दिया।

८. **चू-ही का विकासवाद**—चू-ही हर्बर्ट स्पैन्सर की तरह एक प्रकार के गतिमान विकासवाद में विश्वास करते थे। उनके मतानुसार 'ताई की' 'ली' की गति से चलायमान रहती है। 'ली' से 'की' (शक्ति') निष्पन्न होती है। 'की' 'यिन'- 'याङ' द्वारा सृष्टि का सूत्रपात करती है। यह आन्तरिक शक्ति चक्रवत् भ्रमण करती है। आकाश और पृथ्वी भ्रमणशील पुद्गल का पिण्ड था। यह एक चक्की की तरह घूम रहा था। इसकी गति बढ़ने से भारी भाग केन्द्र की ओर घनीभूत होकर पृथ्वी बन गये और हलके भाग परिधि की ओर सरक कर आकाश

४५. पॉल पेलिओ, ला ऑंत आजी।

४६. फुङ, यू-लान, ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव चाइनीज फिलॉसॉफी, न्यूयार्क १९४८ पृ० २५५–२६७ एच० हाकमान् चीनेसिशे फिलोजोफी (म्यूनिख १९२७) पृ० ३४६–४७।

४७. सी० पी० फिट्ज़गेरल्ड, चाइना, ए शॉर्ट कल्चरल हिस्ट्री, पृ० ४१४।

हो गये। समय बीतने पर इस पुद्गल-पुंज का विघटन और विकेन्द्रीकरण होता है जिससे इसकी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और शक्ति अपना मूलरूप धारण कर लेती है। इसके बाद फिर पहले-जैसा सृष्टिचक्र चल पड़ता है। इस प्रक्रिया में 'ताइ-की' सदा अक्षुण्ण रहती है। चू-ही के शब्दों में 'ली' गृहपति के समान है जो सदा घर में बना रहता है और प्रकृति के रूप अतिथियों-जैसे हैं, जो आते-जाते रहते हैं।[४८] इस 'ली' का रूप नैतिक है जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है।

९. **चीनी संस्कृति और प्रकृति**—इस प्रकार प्रकृति और मनुष्य में निरन्तर तारतम्य है। यह लक्ष्य करने की बात है कि चीनी संस्कृति प्राकृतिक दृश्यों के प्रति बड़ी जागरूक है। चीनी चित्रकारों ने प्रकृति-चित्रण में अद्भुत सफलता प्राप्त की है और चीनी कवियों की भावधारा प्रकृति के माध्यम से शतधा होकर फूट पड़ी है। वास्तु-कला में भी प्रकृति का प्रमुख स्थान है। चीनी मन्दिर केवल एक पाषाण गृह ही नहीं हैं, वरन् एक प्राकृतिक क्षितिज की प्रतिकृति है जिसमे पर्वत, जल, वृक्ष, पुष्प और पाषाणों के रूप और विन्यास का इतना ही महत्त्व है जितना द्वार, तोरण, भित्ति, सेतु और प्रासाद का। इनकी उद्यान-कला एक अद्भुद् धार्मिक व्यंजना से अनुप्राणित है।[४९] चीनी प्रासादों की घुमावदार कैंचियों पर टिकी और उर्मिल इष्टिका पंक्तियों से पटी छतें क्षितिज की विविधता और व्यवस्था की परिचायक हैं। इस प्रकार प्रकृति और मनुष्य के जीवन का एकीकरण और समीकरण चीनी संस्कृति के प्रत्येक पक्ष में व्याप्त हो गया है। चू-ही के दर्शन में यह विशेषता वाचाल हो उठी है।

१०. **चीनी इतिहास-लेखन**—उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि चीनी दृष्टि-कोण से इतिहास एक नैतिक प्रक्रिया है। इसका ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि यह 'थ्यान्' ताई-की 'या' 'ताओं' की क्रिया को व्यक्त करता है। अतः प्रत्येक राजवंश ने अपना पूर्ण वृत्त सुरुचिपूर्वक सुचारुरूप से सुरक्षित रखा है। हान युग के १३ धर्मग्रन्थों में जिन्हें कन्फ्यूशियस के धर्मावलम्बियों ने मान्यता प्रदान की "शू-चिङ" [इतिहास की पुस्तक] भी एक थी। ताओवादियों और कन्फ्यूशियस के मता-वलम्बियों की इस समान मान्यता के अनुसार कि थ्यान् की गतिविधि प्राचीन

४८. रने ग्रूसे, बिलां द् लिस्तवार, पृ० १४३।

४९. ओसवार्ड स्पेंगलर, दि डिक्लाईन आव दि वेस्ट, भाग १, पृ० १९०।

अनुमान से जानी जाती है, हान युग में इतिहास-लेखन को बड़ा प्रोत्साहन मिला। शू मा च्यान [१३५-८५ पू० ख्री०] ने इतिहास लेखन की उस परम्परा का सूत्रपात किया जिसका अनुसरण चौबीस चीनी राजवंशों के इतिहासकारों ने किया। प्रत्येक राजा या सम्राट् एक इतिहासकार को अपना वृत्त लिपि-बद्ध करने के लिए अवश्य नियुक्त करता था। शू-मा-च्यान का महान् ग्रन्थ 'शिह्-ची' चीनी जगत् का एक संबद्ध इतिहास है। यह प्राचीन अभिलेखों, सरकारी मिसलों और तात्कालिक सामग्री के आधार पर तैयार किया गया था। इसमें केवल राजाओं का कालक्रम ही नहीं मिलता, वरन् सिंचाई, संगीत, कर्मकाण्ड और यंत्र-मंत्र की भी चर्चा है। यह लेखक प्रसिद्ध पुरुषों के जीवन-चरित लिखने में बड़ा कुशल था और विविध प्रदेशों की यात्रा करके उनके भूगोल का वर्णन करने में बड़ा निपुण था। उन्होंने सबसे पहले उत्तरी और दक्षिणी चीन के कुछ मौलिक भेदों की ओर संकेत किया। उनकी कृति में एक आश्चर्यजनक तटस्थता मिलती है। इसी युग में पान-कू [९० ख्री०] ने प्रारम्भिक हान वंश का सुन्दर इतिहास लिखा जो उस काल की जातियों के वृत्तान्तों से परिपूर्ण है। इसके बाद प्रत्येक राजवंश के इतिहासकार अपने अपने युग के इतिहास लिखते रहे।[५०] इस तरह हमें चीन का लम्बा इतिहास अच्छी तरह ज्ञात है।

११. चीन के प्रसिद्ध इतिहासकार—शू-मा-च्यान ने समस्त चीन का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करके देश की एकता के प्रतिपादन में बड़ा सहयोग दिया। इस दृष्टिकोण से उन्होंने चौथी शती पू० ख्री० की "कुओ-यू' शीर्षक रचना का अनुकरण किया। उनके बाद के लेखकों ने भी इसी पद्धति को अपनाया। इनकी कृतियाँ सामान्यतः पांच भागों में विभक्त होती है— सम्राटों की जीवनियाँ, घटनाओं का कालक्रमात्मक निरूपण्,अभिजात वर्गों का इतिवृत्त,कला और विज्ञान संबंधी सूचनाएँ और प्रसिद्ध स्त्री-पुरुषों के जीवन-वृत्त। इस विषय-विभाजन से पाठक को अभिप्रेत प्रसंग टटोलने में सुविधा तो रहती है, किन्तु बहुत-सी अनावश्यक पुनरावृत्ति भी हो जाती है। अतः लिउ चिह्-ची [६६१-७२१ ख्री] ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ शिह्-तुङ [इतिहास का विस्तृत अध्ययन] में तथा चेङ-च्याओं [११०४-११६२] ने अपनी महनीय कृति 'तुङ-चिह' [सामान्य इतिहास] की प्रस्तावना में उपर्युक्त विषय-

५०. चार्ल्स एस० गार्डनर, चाइनीज ट्रेडीशनल हिस्टोरियोग्राफी" (१९३८)

विभाजन की आलोचना की। इन दोषों को सर्वप्रथम युवान-शू [११३१-१२०५] ने अपने ग्रन्थ 'तुङ च्यान-चि-शिह्-पेन-मो' [सम्पूर्ण इतिहास] में दूर किया। उन्होंने घटनाओं के कार्य-कारणात्मक संबंधों को स्पष्ट किया और सामान्य प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं पर विशेष जोर दिया। सत्रहवीं और अठारहवीं शतियों में प्राचीन ग्रन्थों, साक्ष्यों और प्रमाणों के अनुसन्धान की प्रवृत्ति बहुत बढ़ी। हू-वेई [१६३३-१७१४], येन-जो-चू [१६३७-१७०४], त्सुई-शू [१७४०-१८१६] और चाङ-हुएह्-चेङ [१७३८-१८०१] की कृतियों में यह विचारधारा दृष्टिगत होती है। चीन के आधुनिक सांस्कृतिक पुनरुत्थान के फलस्वरूप वैज्ञानिक दृष्टिकोण उन्नति कर रहा है। चीनी परम्पराओं के स्वर्णयुग का खण्डन-सा हो गया है। काङ-यू-वेइ और ल्याङ-ची-चाओ इस नवीन पद्धति के प्रतिनिधि हैं। इनकी रचनाओं में विकास और उन्नति का क्रम दिखाई देता है। १०८४ में सू-मा-क्वाङ ने अपने "त्जू-चिह्-तुङ च्यान" [राज्य की सहायता का दर्पण] में और चू-ही ने "तुङ-च्यान-काङ-यू" [इतिहास का दर्पण] शीर्षक इसके लघु संस्करण में इतिहास के नैतिक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल देकर इसे नैतिक आदर्शों का स्थावर संग्रहालय समझ लिया था। अतः गति और परिवर्तन का भाव बहुत क्षीण हो गया था। वर्तमान लेखकों ने इस प्रवृत्ति के विपरीत घटनाओं की गतिप्रधान और विकासमयी प्रक्रिया पर अधिक ज़ोर दिया है।

१२. जापान के प्रसिद्ध इतिहासकार—इस प्रसंग में जापान के इतिहास पर दो चार शब्द लिखना भी आवश्यक-सा प्रतीत होता है। जापान के प्राचीन इतिहास "कोजिकी" और "निहोंगी" में संगृहीत मिलते हैं। इनके अतिरिक्त "सनदाई-जितसुरोकू" में ८५९ से ८८७ तक की घटनाओं का विवरण और "इजदुमो-फुदोकी" में इजदुमो प्रान्त का वृत्तान्त मिलता है। सातवीं और सोलहवीं शताब्दियों के बीच सामन्तशाही व्यवस्था के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय चेतना मन्द हो गयी और इतिहास को कोई विशेष प्रेरणा नहीं मिली। तथापि समय-समय पर सामन्त-वंशों के इतिवृत्त युद्ध-संबंधी अर्ध-ऐतिहासिक उपन्यास और "मानयोशू" और "मोनोगातारी" जैसे काव्य-संग्रह छपते रहे जिनसे तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। सत्रहवीं शती में जापान में चीनी प्रभाव से मुक्त होने का एक महान् आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इससे जापानी इतिहास और साहित्य में भी नूतन अभिरुचि जाग्रत हुई। अराई हाकुसेकी (१६५७-१७२५), कादा अत्सुमामारो (१६६८-१७३६), कामो माबूची (१६९७-१७६९) मोतोओरी

नोरीनागा (१७३०-१८०१) और हीराता अत्सुताने (१७४६-१८४२) ने राष्ट्रीय भाव के उद्बोधन में महत्त्वपूर्ण योग दिया। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से मिती के राजकुमार मित्सुकुनी के आदेश से बहुत-से विद्वानों ने "दायनीहोन्शी" शीर्षक बृहद् इतिहास की रचना की। यह १७१५ में २४३ भागों में तैयार किया गया, किन्तु १८५१ में प्रकाशित हो पाया। इसमें शोगूनों की बुराई और मिकादो की प्रशंसा मिलती है। इस प्रकार यह इतिहास १८६८ की क्रान्ति का अग्रदूत माना जाता है। इस क्रान्ति के पश्चात् विशुद्ध वैज्ञानिक पद्धति से इतिहास लिखने की प्रवृत्ति को अत्यधिक प्रेरणा मिली। १८९७ में मेइजी युग के सामाजिक और संस्थागत इतिहास के "कोजीरूइएन" शीर्षक विशाल विश्वकोष का श्रीगणेश हुआ और १९०१ में ऐतिहासिक सामग्री के बृहत् संकलन "दैनीहोनशिर्यो" का सूत्रपात हुआ। "मेइजी शिगाकुकवेई" जैसी इतिहास संबंधी संस्थाओं ने "शिगाकु जास्शी" जैसी पत्रिकाओं द्वारा मौलिक सामग्री के संग्रह और अध्ययन में बड़ा हाथ बँटाया।

अनुच्छेद ६—इस्लामी इतिहास-दर्शन

१. इस्लाम पर पूर्ववर्ती अरब जगत् का प्रभाव—इस्लाम का अभ्युदय एक ऐतिहासिक घटना है। १५ जुलाई ६२२ ख्री० बृहस्पतिवार को इस धर्म का सूत्रपात हुआ। विश्व के जीवन का यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन था। अतः मुसलमान इतिहास के प्रति विशेषरूप से जागरूक रहे। अरबी के ग्रन्थ "मफातिह -अल-उलूम" में इतिहास की गणना उन विद्याओं में की गयी है जो मुस्लिम प्रकृति और प्रतिभा में स्वभावतः बद्धमूल हैं।[५१]

इस्लाम पर उसके पूर्ववर्ती अरब जगत् और जीवन का गम्भीर प्रभाव पड़ा। हजरत मुहम्मद से पहले अरब लोगों के घुमन्तू कबीले परस्पर विरोधी थे। इनमें युद्ध, हिंसा और प्रतिकार का भाव व्याप्त था। साथ ही प्रत्येक कबीला अपनी एकता और अक्षुण्णता के प्रति बड़ा सतर्क था। अतः उसके सामूहिक जीवन में वंशावली का बहुत महत्त्व था। कवि और चारण इन्हें सुरक्षित रखने में दत्तचित थे। इन कवियों में इमरूलक़ैस, अम्र-बिन-कुलतूम अल-हारित-बिन-हिल्लिजा

५१. मफातिह-उल-उलूम, फॉन फ्लोतन का संस्करण, पृ० ५—७ ।

जुहैर, आमिर-बिन-अत्तुफैल अन्नाबिगह्, अल-अशा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उनकी कविताओं में घोर निराशा, अटल नियतिवाद (दह्र) और अनियंत्रित दैवी प्रकोप (ह्वादिस) का वातावरण व्याप्त है। वे सामूहिक चेतना (असबिया) के भाव से ओत-प्रोत हैं। किन्तु हिंसा, संघर्ष और वैमनस्य के इस युग (अय्याम-अल-अरब) में अरब जगत् की भाषात्मक एकता स्थापित हो चुकी थी। मक्का के निकट उकाज् का मेला जो वार्षिक तीर्थयात्रा के अवसर पर आयोजित किया जाता था एक प्रकार का राष्ट्रीय सम्मेलन होता था। इस अवसर पर सब कबीले अपना बैर भूल कर शान्ति के सूत्र में बँध जाते थे। उस समय अरब जगत् के विभिन्न भागों के कवि सात मुअल्लकात सुनाते थे जिन्हें सब लोग समझते थे। उन्हें मिस्र के महार्घ क्षौम पर अंकित करके मक्का में काबा पर लटकाया जाता था। इस प्रकार अरब जातीयता के भाव का श्रीगणेश हो रहा था। यह भाव इस्लाम में अवतीर्ण होकर एक सार्वभौमिक आदर्श में परिणत हो गया।

२. हज़रत मुहम्मद के चरित्र में यहूदी एकेश्वरवाद और अरब वंशपरक एकता—हज़रत मुहम्मद के चरित्र में यहूदी-ईसाई एकेश्वरवाद और प्रचारवाद तथा अरबों की वंश-परक एकता और वैमनस्य का समन्वय हुआ। मदीना पहुँच कर उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया कि निर्णय-दिवस पर मनुष्य के पार्थिव सम्बन्धों और भौतिक परिस्थितियों पर ध्यान नहीं दिया जायगा। अतः उन्होंने मक्के से आये हुए कुरैश मुजाहिरा और मदीना के अपने अनुयायी अन्सारों को मिला कर एक कर दिया। यहूदी पूजागृह और ईसाई गिरजा की तरह उन्होंने अपने मुहल्ले में मस्जिद बनायी। प्रातः और सन्ध्याकालीन प्रार्थना के बीच में एक मध्याह्नकालीन प्रार्थना का विधान किया। शुक्रवार को सार्वजनिक प्रार्थना की व्यवस्था की। प्रार्थना से पहले स्नान का नियम बनाया। प्रार्थना के समय येरोशिलम की ओर मुख करने का आदेश दिया। मुहर्रम मास की दशमी को उपवास करने की अनुमति दी। यह तिथि यहूदी संवत्सर के प्रथम मास तिशरी की दशमी के समकक्ष थी। किन्तु मदीना में मुहम्मद साहिब को बहुत-से युद्ध करने पड़े। उन्होंने अपने शिविर से ७४ आक्रमण किये। इनमें प्राचीन अरबों की जातीय युद्ध-प्रियता प्रस्फुटित हो उठी। बद्र के युद्ध में कुरैश औस और खजराज अपनी अपनी जातीय पताकाओं को साथ लेकर लड़े। अपनी मृत्युशय्या पर मुहम्मद साहिब ने उसामबिन-जैद को आदेश दिया कि वह मुता के अरबों की बस्ती पर

आक्रमण करे और उन्हें पूर्णतः नष्ट-भ्रष्ट कर दे। वस्तुतः धीरे-धीरे उनके जीवन पर अरब प्रभाव इतनी गम्भीरता से पड़ा कि उन्होंने इसके अनुसार अपनी प्रारम्भिक मान्यताओं का भी परित्याग कर दिया। येरोशिलम की ओर मुख करके प्रार्थना करने के स्थान पर अब उन्होंने मक्का की ओर मुख करके प्रार्थना करने का आदेश दिया। मुहर्रम की दशमी को उपवास करने के बजाए रमजान में उपवास करने का नियम बनाया। मक्के के काबा नामक पूजास्थान की पवित्रता को स्वीकार किया और उसी के समान मदीना के बाहर मुसल्ला नामक स्थान बनाया।[५२] इस प्रकार इस्लाम में अरबों की वंशपरक संकीर्णता और यहूदी-ईसाईयों की धार्मिक विस्तीर्णता का समावेश हो गया।[५३]

३. **द्वैत और द्वन्द्व**—इस्लाम में पश्चिमी एशिया की शामी धार्मिक भावनाओं की संगठित शक्ति प्रस्फुटित हो गयी। स्पेंगलर की सारगर्भित कल्पना के अनुसार इस भावना के अनुकूल देश और काल को एक गुफा के रूप में माना गया है, जिसके आदि और अन्त निश्चित हैं और जिसके नियमित विस्तार में प्रकाश की ज्योति अन्धकार की गहनता से निरन्तर संघर्ष करती रहती है।[५४] यह प्रकाश और अन्धकार का द्वन्द्व स्वर्ग और नरक, पुण्य और पाप तथा फरिश्ता और शैतान के द्वैत का प्रतीक है। ईश्वर अपनी इच्छा से मनुष्य की सृष्टि करता है और मनुष्य का कर्त्तव्य उसकी इच्छा के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण (इस्लाम) करना है। अतः अहंकार और व्यक्तित्व संभ्रान्त भावनाएँ हैं। समष्टि (इजमा) ही जीवन का केन्द्र है। "ला इस्लाम इल्ला-ब-जमइय्यत हू"-खलीफा उमर का यह वचन इस संस्कृति की अन्तरात्मा को मुखरित करता है। यह जमइय्यत भौगोलिक सीमाओं में परिबद्ध नहीं है। यह समस्त विश्वासी मनुष्यों का समूह है। इसमें अतीत के मृत मुसलमान भी सम्मिलित हैं और इस्लाम से पहले के पुण्यवान् पुरुष भी आ जाते हैं। फरिश्ते, परियां और रूह भी इसके सदस्य हैं। समस्त विश्व इसका क्षेत्र है। इनमें धर्म, राष्ट्र, जाति का भेद नहीं है। राज्य केवल इसका

५२. जे० वेलहाउज़न, मुहम्मद इन मदीना, पृ० ३४–३७।

५३. जूलियन ओबरमान, "अर्ली इस्लाम", दि आइडिया ऑव हिस्ट्री इन दि एंशेण्ट नियर ईस्ट, पृ० २६९–२८०।

५४. ओस्वाल्ड स्पेंगलर, दि डिक्लाइन ऑव दि वेस्ट, भाग २, पृ० २३३।

प्रत्यक्ष और गौण प्रतीक हैं। ईश्वर का शाश्वत शब्द अर्थात शब्द-रूपी ब्रह्म मनुष्य में प्रविष्ट होकर उसकी वाणी द्वारा भाषा का रूप धारण करके जगत् का नियंत्रण करता है। यह "कलाम" शाश्वत, अमर, अपरिवर्तनीय है।

४. इस्लामी जमइय्यत की प्रसरण-शीलता—इस्लामी जमइय्यत निरन्तर प्रगतिशील है। यह प्रगति शान्तिपूर्ण धर्मग्रहण और हिंसापूर्ण संघर्ष दोनों साधनों द्वारा होती है। अतः यहूदियों, ईसाइयों, मज्दाइयों और मानिवादियों की तरह इस्लाम भी धर्म के प्रसार और प्रचार का माध्यम है। जिहाद इसका प्रभावशाली शस्त्र है। तबलीग़ इसका प्रधान उपकरण है। अतः मुहम्मद साहिब के जीवन-काल में ही इस्लाम का अभूतपूर्व प्रसार प्रारम्भ हो गया। उनकी मृत्यु से चार वर्ष पूर्व ६२८ में उनके एक सम्बन्धी ने चीनी सम्राट् ताइ-त्सुङ् की सभा में उपहार प्रस्तुत करके अपना धर्मकेन्द्र स्थापित करने की अनुमति माँगी।[५५] इनकी मृत्यु के ९ वर्ष बाद ६५१ में मोनोफ़िजाइट नेस्टोरी धर्मों का पूर्ण क्षेत्र इस्लाम की परिधि में आगया। ७१७ में इस्लाम कुस्तुनतुनिया के द्वार पर पहुँच कर यूनानी चर्च को चुनौती दे रहा था। ७२० में चीन के शानतुङ प्रान्त में मस्जिदें बन गयी थीं और ७२० में दक्षिणी फ्रान्स के अरबों को दमिश्क से फिरंगियों के देश को जीतने का आदेश मिल गया था। इस प्रकार पैगम्बर की मृत्यु से एक शताब्दी बीतने तक ही इस्लाम प्रशान्त से एतलान्तिक तक फैल चुका था।

५. इस्लामी इतिहास-चेतना—उक्त स्थापनाओं से इस्लाम के इतिहास-दर्शन का विकास हुआ। मुहम्मद साहब को साक्षात्कार के क्षणों में जिस चिरन्तन सत्ता का आभास हुआ उससे पूरे इतिहास का क्रम चमक उठा। काल का प्रारम्भ, स्वर्ग और पृथ्वी का निर्माण, स्त्री-पुरुष की सृष्टि, भगवान् की इच्छा के विरुद्ध आचरण करने के कारण दैवी दण्ड और परिणामस्वरूप कष्ट-यातना, पतन के युग का आगमन, पैगम्बरों के रूप में भगवत्संदेश का पुनः प्रतिपादन और फलस्वरूप समृद्धि, प्रसार, शक्ति और सुख का सम्पादन, ये सब घटनाएं और प्रक्रियाएं उन्हें हस्तामलकवत् हो गयीं। कुरान में इन प्राचीन घटनाओं के बारम्बार संकेत और उल्लेख मिलते हैं। प्रलय का वृत्तान्त, सोदोम और गोमोर्हि के लोगों की कथाएं, निष्कासन के समय मिस्रियों की भाग्यावस्था, आद और तमूद के विध्वंस के कथानक,

५५. वही, भाग २, पृ० २६१।

नोह, मूसा, हूद, सालिह आदि के अवतरण की चर्चा कुरान में विभिन्न स्थानों पर मिलती है। यही नहीं इसमें सृष्टि के अन्त (मशहर) और दैवी निर्णय (शुमार) के भी ज्वलन्त चित्र मिलते हैं। इस प्रकार इसमें सृष्टि का समूचा इतिहास सुरक्षित है। किन्तु इसमें इतिहास के इस एकेश्वरवादी सार्वभौम दृष्टिकोण के साथ-साथ अरब जातियों के असबियाह को सुरक्षित रखने वाली वंशावलियों की भावना भी सम्मिश्रित हो गयी है।[५६] दान-कर (ज़कात) व्यक्तियों से नहीं, जातियों से वसूल किया जाता था। समर्पण और धर्म-परिवर्तन का वार्तालाप (वुफूद) 'शिष्टमण्डल' करते थे। खलीफा उमर के समय जब मुहम्मद साहब के पारिवारिकों और सहचरों के वंशजों को वृत्तियां देने के लिए और मुसलिम वीरों में युद्ध और लूट में मिली सामग्री बाँटने के लिए तालिकाएं (दवावीन) तैय्यार की गयीं तो उन्हें प्राचीन वंशावलियों के आधार पर बनाया गया। इससे प्राचीन वंशों के इतिहास के अध्ययन को बड़ी प्रेरणा मिली। उमर के वक्त दार-उल-इस्लाम (इसलामी जगत्) दारउल-हर्ब (युद्ध-जगत्) बन गया और उमैय्या खलीफाओं के समय इसने एक विशाल साम्राज्य का रूप धारण कर लिया। अतः अरब बंशावलियों की परम्परा सार्वभौम भावना की पृष्ठभूमि में इस्लामी जगत् के इतिहास में परिणत हो गयी।

६. उमैय्या खलीफाओं के समय का इतिहास-लेखन—कुरान शरीफ के अपरिवर्तनीय होने के कारण उसकी टीकाओं का प्रचलन बढ़ा। पुरातन परम्पराओं का संग्रह आवश्यक हो गया। प्रारम्भिक खलीफाओं को अपने से पहले के शासकों के कृत्यों और वृत्तों में बड़ी रुचि थी। विश्वासी लोग पैग़म्बर और उनके साथियों के जीवन-चरित्र में अपार श्रद्धा रखते थे। दवावीन के तैय्यार करने के लिए अरबों का वंशगत इतिहास जानना आवश्यक था। दिग्विजय (मगाज़ी) की आश्चर्यजनक प्रगति ने मुसलिम जगत् में इतिहास की चेतना फूंक दी थी। विजित देश अपनी सांस्कृतिक महानता से अरब जातीयता को नीचा दिखाने की फिक्र में थे। इससे इतिहास को बड़ी प्रेरणा मिली। दक्षिणी

५६. कुरान शरीफ का आदेश है कि अपनी वंशावली को याद रखो। खलीफा उमर ने भी कहा था "अपनी वंशावली को याद रखो, ऐसा न हो कि बाबुल के नाबातियों की तरह आत्मविस्मृत हो जाओ।"

अरब लेखक आबिद-इब्न-शरयह् ने मुवाविया के निमंत्रण पर दमिश्क जाकर अरब की जातियों और राजाओं का इतिहास लिखा। उनकी एक कृति "किताब-अल-मुलूक" व "अखबार-अल-माजीन" मसूदी के समय तक प्रचलित थी। इसी समय यमन-निवासी एक फारसी यहूदी वाहब-इब्न-मुनब्बिह् ने जो इल्म-अल-अवायल (उत्पत्ति-विज्ञान) का माहिर था "अल-तीजान-फी-मुलूक-हिमयार" नामक ग्रन्थ लिखा। इस काल में कब-अल-अह्बार नामक यमन के एक और यहूदी ने भी ग्रन्थ-रचना की।

७. अब्बासी खलीफाओं के समय का इतिहास-लेखन—धीरे-धीरे इस्लामी जगत् में खुरासानी मवालियों का जोर बढ़ गया। ये लोग अरबवाद के विरुद्ध थे। इनके आन्दोलन के फलस्वरूप उमैय्या वंश का अन्त हो गया और अब्बासी खलीफाओं के युग का आरम्भ हुआ।[५७] दमिश्क के स्थान पर बगदाद राजधानी बन गया। यह एक सार्वजनिक नगर था जहाँ सब देशों के लोग मिलते थे। अतः सांस्कृतिक आदान-प्रदान बहुत बढ़ा। इससे इतिहास को एक नवीन प्रेरणा मिली। कूफा के हिशाम-अल-कल्बी ने इस्लाम से पहले के अरब जगत् का इतिहास लिखा। मदीने के इब्न-इशाक ने जिनके बाबा यसार को खालिद बिन वलीद ने इराक में पकड़ कर ईसाई से मुसलमान बनाया था, हजरत मुहम्मद का प्रसिद्ध जीवनचरित "सीरात रसूल-अल्लाह्" लिखा। यह कृति इब्न-हिशाम के संस्करण में हमारे सामने उपलब्ध है। इसी समय मूसा-इब्न-उक़बाह् (७५८) और अल-वाक़िदी (८२२-२३) ने इस्लामी दिग्विजय (मगाजी) और पैगम्बर व उनके साथियों के इतिहास लिखे। ८७० में मिस्र के लेखक इब्न-अब्द-अल-हकम ने "फुतूह-मिस्र व-अखबारूह" में मिस्र, उत्तरी अफ्रीका और स्पेन की विजय का इतिहास लिखा और ८९२ में फारस के लेखक अहमद-इब्न-यला-अल-बलाजुरी ने "फुतूह-अल-बुलदानु" और "अन्साब-अल-अशराफ" में विभिन्न नगरों और देशों की विजय के विकीर्ण वृत्तान्तों को एकत्रित और समन्वित किया। धीरे-धीरे इतिहास-लेखन की शैली में विकास हुआ। क्रमबद्ध इतिहास का श्रेष्ठ निदर्शन मुहम्मद-इब्न-मुसलिम-अल-दिनावरी (८८९) की किताब-अल-मारिफ है।

५७. जे० वेलहाउजन दास अरबीशे राइश उन्द जाइन स्तूर्त्ज, पृ० ४५, ३३३, ३३४, ३४८-५०।

उनके समकालीन अबू हनीफा-अहमद-इब्न-दाऊद-अल-दिनावरी (८९५) का ग्रन्थ "अल-अखबार अल-तिवाल" फारसी दृष्टिकोण से लिखा हुआ एक प्रकार का विश्व इतिहास है। ८७२ में प्रसिद्ध भौगोलिक और इतिहासकार इब्न-वाजीह-अल याकूबी ने शिया सम्प्रदाय के आकर-ग्रन्थ "तारीख" की रचना की। ६९१ के लगभग हमज़ाह-अल-इस्फाहानी ने "तारीख-सिनि-मुलूक-अल-अर्ज़-व-अल-अनबिया" लिखा जो आलोचनात्मक दृष्टि से लिखा हुआ श्रेष्ठ इतिहास ग्रन्थ है। १०३० में मिस्कवियाह ने ९८० तक का सम्पूर्ण इतिहास अपने ग्रन्थ "तजारिब-अल-उमाम" में प्रस्तुत किया। इस युग का सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार अबू-जाफर-मुहम्मद-इब्न-जरीर-अल-तबरी (८३८-९२३) है। इसका प्रसिद्ध इतिहास "तारीख -अल-रसूल-वल-मुलूक" एक उत्कृष्ट कृति है। इसमें काल-क्रमात्मक पद्धति से परम्पराओं की अक्षुण्णता (इसनाद) के आधार पर ९१५ तक का पूर्ण इतिहास लिपिबद्ध है। तबरी ने प्राचीन इतिहास-ग्रन्थों के अतिरिक्त शेखों की मौखिक परम्पराओं और अपनी यात्राओं द्वारा उपलब्ध किंवदन्तियों और सूचनाओं का भी प्रयोग किया। तबरी ने घटनाओं को तिथिक्रम से संगृहीत किया। एक तिथि से सम्बन्धित समस्त घटनाओं को एक ही जगह एकत्रित कर दिया। इस प्रकार उन्होंने प्राचीन पद्धति के साथ-साथ फारसी के "खुदाये-नामे" की शैली का भी अनुसरण किया जिसका अरबी अनुवाद इब्न-अल-मुकफ्फा ने "सियार-मुलूक-अल-अजम" के नाम से प्रकाशित किया था। उनकी कृति में "सीराह" (जीवनी), मगाजी (विजय) "अन्साब" (वंशावली) और "तबकात" (वर्गीकृत-चरित्र चित्रण) की चारों शैलियों का समन्वय मिलता है। साक्ष्य के निर्धारण की पुरानी "इसनाद" की पद्धति भी है। इसी समय अबुलहसन-अली-अल-मसूदी (९५६ ई०) ने अपने ग्रन्थ "मुरूज-अल-जहाब-व-मादीन-अल-जौहार" में इतिहास-लेखन की एक नयी शैली का सूत्रपात किया। उन्होंने तिथियों के अनुसार घटनाओं का संकलन न करके वंशों, राजाओं और जातियों के दृष्टिकोण से उनका निबन्धन किया। यह शैली तबरी की शैली से भिन्न थी। यह लेखक मुतजिला सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता था जिसमें "बद्र" के इस्लामी सिद्धान्त को चरम सीमा तक ले जाकर मनुष्य की इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया गया था। इस लेखक ने प्रकृति, मनुष्य, वनस्पति, पशु, धातु आदि के विषय में अपने सिद्धान्त अपने ग्रन्थ "अल-तनबीह-वल-इशराफ" में संगृहीत और लेखबद्ध किये । उनके अनुसार जलवायु, भौगोलिक परिस्थिति और

प्राकृतिक अवस्था का मनुष्य और जाति के जीवन पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। उन्होंने धर्म (दीन) और राज्य (मुल्क) के पारस्परिक सम्बन्ध की भी गम्भीर गवेषणा की और इनके पतन की प्रक्रिया पर अपने विचार प्रकट किये। उनके मतानुसार किसी देश या जाति की शासन-व्यवस्था धार्मिक विश्वास, आर्थिक परिस्थिति, सहजात स्वभाव और पड़ोसियों के प्रभाव, इन चार तत्त्वों पर आधारित होती है।[५८] इस युग का एक और प्रसिद्ध इतिहासकार इज्ज-अल-दीन इब्न-अल-असीर (११६०-१२३४ ई०) है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ "अल-कामिल-फि-अल-तारीख" तबरी के ग्रन्थ का संक्षेपमात्र है। इसमें घटनाओं का क्रम १२३१ तक आ गया है। ईसाई धर्म-युद्धों से सम्बन्ध रखने वाले भाग इब्न-अल-असीर की मौलिक रचना है। इब्न-अल-असीर मंगोल आक्रमणकारियों के आतंक से परिचित थे और उन्होंने इसका रोमांचकारी चित्रण किया है। वे घटनाओं के पारस्परिक कार्य-कारण-सम्बन्ध में विश्वास रखते थे। अतः उन्होंने मंगोल आक्रमण की सफलता को अलाउद्दीन ख्वारज्मशाह की भूलों पर आरोपित किया। ब्राउन के शब्दों में वे एक शान्त और गम्भीर निरीक्षक थे।[५९]

८. फारसी सांस्कृतिक उत्थान और इतिहास-लेखन— अरबों की ईरान-विजय के पश्चात् ईरान में एक सांस्कृतिक पुनरुत्थान की लहर दौड़ गयी। इसी समय फारसी भाषा साहित्य का माध्यम बनी।[६०] कहा जाता है कि अब्बास नामक एक कवि ने ८०८-९ में खलीफा अल-मामून के मर्व आने के अवसर पर फारसी में एक क़सीदा लिखा। ८७५-७६ में एक कवि ने फारसी में एक पद्य लिखकर अहमद-अल-खुजिस्तानी को सफ्फारी वंश के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया। बुवई, सामानी जियारी वंश ईरानी थे। उनके राज्यकाल में खुरासान,

५८. गुस्ताफ ई० फॉन ग्रानेबाउम्, 'मिडीवल इस्लाम,' (शिकागो १९४६) पृ० ३९९ या० टि० ३९।

५९. ई० जी० ब्राउन, ए लिटररी हिस्ट्री आव पर्शिया फ्राम फिरदौसी टू सादी, पृ० ४२७।

६०. ई० जी ब्राउन, उपर्युक्त पृ० १३, रिचार्ड एन० फ्रीए, नोट्स आन दि रिनेसांस ऑव दि टेन्थ एण्ड इलेविन्थ सेन्चुरीज इन ईस्टर्न ईरान, सेण्ट्रल एशियाटिक जर्नल (१९५५) पृ० १३७।

तबरिस्तान और दक्षिणी फारस संस्कृति के केन्द्र थे। सुल्तान महमूद ने फारसी को बड़ा प्रोत्साहन दिया। फिरदौसी का शाहनामा इस फारसी उत्थान का सर्व-श्रेष्ठ प्रतीक है। निज़ामुलमुल्क (१०१७-१०९२) का "सियासतनामा" फारसी-गद्य का उत्कृष्ट नमूना है। मंगोल आक्रमण के बाद फारसी का महत्त्व और भी बढ़ गया और यह इतिहास का माध्यम भी बन गयी। इन फारसी इतिहासकारों का दृष्टिकोण बड़ा विस्तृत और गम्भीर था।

९. मंगोल आक्रमण और साम्राज्य—मंगोल आक्रमण से इतिहास के अध्ययन और लेखन की दिशा बदल गयी। १३ फरवरी, १२५८ को हुलाकू ने बगदाद का घेरा डाल दिया जो एक सप्ताह तक रहा। ८००,००० निवासी मौत के घाट उतारे गये और कला, साहित्य और संस्कृति के अगणित कोश नष्ट-भ्रष्ट किये गये। खलीफा अल मुसतसीम बिल्ला को एक दरी में लपेट कर दण्डों से पीट-पीट कर मार डाला गया। अतः इस्लाम की अजेयता का स्वप्न भंग हो गया और मुसलिम जगत् में एक भयंकर आतंक छा गया। सब लोग आश्चर्य से भर गये कि अरबी घोड़ों पर चढ़े हुए कवचधारी प्रशिक्षित सैनिक गधों जैसे टट्टुओं पर चढ़े हुए और तकली-जैसे भाले घुमाते हुए वस्त्र-कवच-हीन मंगोलों के सामने परास्त होकर क्षण भर में कालकवलित हो गये। फलकुद्दीन मुहम्मद बिन एदीमिर ने जब यह वृतात्त अपने मित्रों को सुनाया तो वे आश्चर्य से भर गये। इस वृतान्त को जलालुद्दीन अबू जाफर मुहम्मद बिन ताजिद्दीन अबिलहसन अली इब्न-अल-तिक़तिक़ा ने अपनी किताबुल-फखरी में उद्धृत किया है।[६१] इस लेखक के सामने और इसके समाज के सामने यह प्रश्न था कि इस्लामी खिलाफत जो सिर-दरया और कॉकेशस से एतलान्तिक और अरब और हिन्द सागर तक के विशाल प्रदेश का आधिपत्य लिये हुए थी, कैसे असभ्य बर्बर मंगोलों के हाथों नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने ६२२ से १२५८ तक इस्लाम का संपूर्ण इतिहास लिखा, जिसमें तात्कालिक समाज को यह दिखाया गया कि इस्लाम के ऊषाकाल में कितना ओज, तेज और उत्थान था।

१०. अलाउद्दीन अता मलिक जुबैनी—इस काल में समाज का ध्यान मंगोलों की ओर भी गया। उनका इतिहास सब के लिए एक पहेली थी। अतः

६१. ई० जी० ब्राउन, उपर्युक्त, पृ० ४६२।

अलाउद्दीन अता-मलिक जुबैनी (१२२६-८३) और फज्लुल्लाह रशीदुद्दीन तबीब अबुलखैर हमदानी (१२४७-१३१८) ने मंगोलों का इतिहास लिखकर यह कमी पूरी की। जुबैनी के पितामह और पिता ख्वारज़्मी राज्य में प्रधान मन्त्री (वजीर) और वित्तमन्त्री (मुस्तौफीलममालिक) थे। उनका भाई शमसुद्दीन हुलाकू और उसके दो परवर्ती खानों के समय साहिबे-दिवान था। उन्होंने २० वर्ष की आयु में अरघून की ओर से खुरासान के शासन में भाग लिया था। फिर वे हुलाकू के साथ मध्य और पश्चिमी ईरान में इस्माइलियों के युद्धों में रहे और ईराक में अरबों का विनाश भी उनके सामने हुआ। १२५९ में हुलाकू ने उन्हें बगदाद का राज्यपाल नियुक्त कर दिया। इस लेखक ने मंगोलों के प्रलयंकारी आक्रमणों का दृश्य देखा था। बुखारा के विध्वंस का वर्णन करते समय वे केवल क्रियाओं की झड़ी लगा देते हैं। "वे आये, उन्होंने उखाड़ा, जलाया, कत्ल किया, वे चले गये" (आमदन्द व कन्दन्द व सुख़्तन्द व कुशतन्द व बुर्दन्द व रफ्तन्द) यह वाक्य उस गम्भीर प्रभाव का परिचायक है जो मंगोलों ने मुसलमानों के मनःपटल पर अंकित कर दिया। अतः जुबैनी ने अपनी तारीखें-जहांगुशा में मंगोल इतिहास को ईरान और ईराक की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं— पहले में चिंगिस् खां तक मंगोलों का इतिहास है, दूसरे में ख़्वारज़्मशाही वंश का वृत्तान्त है और तीसरे में अलामूत के इसमाइलियों की तथा उनके विनाश की कथा है।[६३]

११. फजलुल्लाह रशीदुद्दीन तबीब अबुलखैर—रशीदुद्दीन भी मंगोल राज्य के एक उच्चाधिकारी थे। अबाक़ा खां (१२६५-८२) के राज्यकाल में उन्होंने चिकित्सक का पद ग्रहण किया और गाज़ान खां (१२९५-१३०४) ने उन्हें महामन्त्री बना दिया। उलजैतु खुदाबन्दा (१३०५-१६) के राज्यकाल में भी वे इस पद को सुशोभित करते रहे। किन्तु अबू-सईद-खां के सिंहासन पर आते ही उन्हें तथा उनके पुत्र इब्राहीम को १८ जुलाई १३१८ को प्राणदण्ड दे दिया गया। गाज़ान खां के संकेत पर उन्होंने तुर्कों और मंगोलों का इतिहास "तारीखे-

६२. ई० जी० ब्राउन, उपर्युक्त पृ० १२।

६३. ई० जी० ब्राउन, तारीखे-जहाँगुशा के मिर्जा मुहम्मद कजवीनी द्वारा सम्पादित संस्करण की भूमिका।

गाज़ानी" लिखा और उलजैतु के आदेश पर विश्व का इतिहास "जामी-उत-तवारीख" लिखा। प्रथम ग्रन्थ उनकी रचना के पहले दो भागों तक है और दूसरा ग्रन्थ शेष दो भागों में है। इस दूसरे ग्रन्थ के दो भाग हैं—एक विश्व-इतिहास और दूसरा विश्व-भूगोल। यह दूसरा भाग विश्व-भूगोल प्राप्त नहीं है। विश्व-इतिहास के ४ भाग हैं — पहिले तीन में ईरानी और अरब जगत् का इतिहास है। चौथे में तुर्क, चीनी, यहूदी, फिरंगी और हिन्दू जगत् के इतिहास हैं। इतिहास का यह विश्व-व्यापी दृष्टिकोण सर्वप्रथम इस लेखक की कृति में दृष्टिगत होता है।[६४]

मंगोलकालीन ईरान एक प्रकार से संस्कृतियों का संगम बन गया था। वहाँ चीनी, कश्मीरी, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, यहूदी, फिरंगी आदि बहुत-से देशों और धर्मों के लोग आ बसे थे। इन लोगों का सम्मिलन और समिश्रण विश्वसंस्कृति को मंगोलों की विशेष देन है। १२७२ में कुबिलाई खां ने चीन में फानचिङ् के घेरे में दो फारसी इंजिनियरों अलाउद्दीन और इस्माइल से काम लिया था। इसी प्रकार १२५१ में हुलाकू ने फारस और बगदाद के युद्धों में एक हजार चीनी इंजिनियरों से तोपखाने और गुलेल चलाने का काम लिया था।[६५] यह लक्ष्य करने की बात है कि १२५९ में चीनी ज्योतिषियों ने नसीरुद्दीन तूसी को ज़ीज तैय्यार करने में मदद दी थी। कश्मीर में मंगोलों ने एक आक्रमण तोउगुदाई-खां के जमाने में उकुतू नोयोन के नेतृत्व में किया और दूसरा मंगू खां के युग में सालीनोयोन और तकूदार के नेतृत्व में किया। राजदेव, रामदेव लक्ष्मदेव, सिंहदेव, सहदेव आदि के काल में कश्मीर पर मंगोलों का आधिपत्य था।[६६] अतः वहां के बौद्ध ईरान में जा बसे थे। यह बड़े महत्त्व की बात है कि

६४. ई० एम० कात्रमेर ने 'इस्तवार दे मंगोल द् ला पर्स एक्रीतपार रशीद-अल-दीन' की प्रस्तावना में रशीदुद्दीन की जीवनी लिखी है। ई० बर्थल ने "एन-साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम" भाग ३ पृ० ११२४–११२५ पर रशीदुद्दीन पर एक सुन्दर लेख लिखा है।

६५. बारों सी० द् ओसों 'इत्वार दे मंगोल द्पुई चिंगिस खां जुस्को तीमूर बे, भाग २, पृ० ३८९, भाग ३, पृ० १३५।

६६. कार्ल यान् "ए नोट ऑन् कश्मीर एण्ड दि मंगोल्स" सेंट्रल एशियाटिक जर्नल (१९५६) पृ० १७६।

इन बौद्धों के प्रभाव के कारण हुलाकू ने स्वयं बौद्ध शासन में दीक्षा ली थी।[६७] इस वातावरण में यह स्वाभाविक था कि उस युग के इतिहासकार का दृष्टिकोण सार्वभौम हो। अतः हम देखते हैं कि रशीदुद्दीन ने सब से पहला विश्व-इतिहास प्रकाशित किया। चीन का इतिहास लिखने में उन्हें दो चीनी विद्वान् ली-ता-ची और मक-सुन से सहायता मिली। भारत का इतिहास लिखने में उन्हें कश्मीर के बौद्ध विद्वान् कमलश्री से बहुमूल्य सूचनाएं मिलीं। यूरोप का वृत्तान्त लिखने में सम्भवतः पीसा का व्यापारी इओलुस उनका सहयोगी बना।[६८] मंगोलों के विषय में उन्हें गाजान खां के अतिरिक्त पूलाद चिङ्षाङ से महत्त्वपूर्ण परामर्श मिला। इस प्रकार वे विश्व-इतिहास की कल्पना करने और उसे मूर्त रूप देने में सफल हो सके। उनकी दृष्टि में एशिया के रंगमंच पर मंगोलों का अवतरण ऐसी ही घटना थी जैसी सातवीं शताब्दी में इस्लाम का आगमन। उन्होंने लिखा है —

"प्रत्येक नये धर्म या राज्य का आविर्भाव एक विशिष्ट युग के आगमन का सूचक होता है। (इबतदा-ए-हर मिल्लते व हर दौलते तारीखे मोइय्यन बाशद) अतः चिंगिस् खाँ के वंश के अभ्युदय से अधिक महत्त्वपूर्ण और स्मरणीय और कौन-सा तथ्य या घटना हो सकती है जिसे नवीन युग का सूचक चिन्ह समझा जा सके। वस्तुतः इस सम्राट् ने थोड़े-से वर्षों के भीतर संसार के बहुत-से राज्यों को जीत लिया। दुर्दम्य जातियों की एक बड़ी संख्या को परास्त और ध्वस्त कर दिया। जब चिंगिस खां, उसके अभिजात वंशजों और महान् संतान को चक्रवर्ती साम्राज्य प्राप्त हुआ तो विश्व के सब देश चीन और माचीन (दक्षिणी चीन), खिताई (उत्तरी चीन), हिन्द और सिन्द, मुगलिस्तान, तुर्किस्तान, शाम, रूम, आस (अलैन), रूस, सिरकास, किपचक्, कलार, बशकीर, एक शब्द में चारों दिशाओं के सब देश उनकी आज्ञा के अधीन हो गये। चिंगिस खां ने संसार को एक समान रूप देकर सबके हृदय में समानता का भाव भर दिया।—"[६९]

६७. रनेगूसे, लांपीर दे स्तेप, पृ० ४३२।

६८. कार्ल यान् इस्वार यूनीवर्सल द् रशीद-अल-दीन फजलुल्लाह अबुल-खैर, भाग १। इस्त्वार दे फ्रांक पृ० ६–७।

६९. ई० एम० कात्रमेर, इस्त्वार दे मोंगोल द् ला पर्स, भाग १, पृ० ६०–६१।

"अब चूंकि विश्व एक छोर से दूसरे छोर तक या तो हमारे या चिंगिस खां के अन्य वंशजों के अधीन है, अतः परिणामस्वरूप सब धर्मों और सम्प्रदायों (अदयान व मिलेल) के दार्शनिक, ज्योतिषी, विद्वान् और इतिहासज्ञ (हुकमा व मुनज्जिमान व अरबाबे-दानिश व असहाबे-तवारीख) जो खिताई, प्राचीन हिन्द, कश्मीर, तिब्बत, युइगुर व अन्य जातियों, जैसे तुर्क, अरब, फिरंगी से सम्बन्धित हैं, बहुत बड़ी संख्या में हमारे नेत्रों के सामने हैं और हरेक के पास ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें देशों का इतिहास, कालक्रम और धार्मिक विचार लिपिबद्ध है और वे इन विषयों से परिचय भी रखते है।"[७०]

अतः इस इतिहासकार ने मुसलिम तटस्थता और स्वाभिमान के भाव को दूर करके अन्य जातियों की प्रामाणिक परम्पराओं को स्वीकार करते हुए एक महान विश्व-इतिहास की रचना की। रशीदुद्दीन के बाद नसीरूद्दीन-अल-बैदावी, अबू-सुलैमान-दाऊद-अल-बनाकती और मिनहाज-अल-सिराज ने इस परम्परा को आंशिक रूप में जीवित रखा।

ईसाई धर्म-युद्धों (क्रूसेडों) ने भी इस्लामी इतिहास-लेखन का क्षेत्र विस्तृत किया। सिब्त-इब्न-अल-जौज़ी (११८६-१२५७) अलेप्पो-निवासी बहाउद्दीन (११४५-१२३४), जो सलादीन तुर्क के जीवनचरित्रकार थे, उसाम-इब्न-मुनकीज़, (१०९५-११८८) और अबूशाम (१२०३-६८) आदि इतिहासकारों ने फिरंगियों और मुसलमानों के सामरिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों पर यथेष्ट प्रकाश डाला।

१२. अन्दलूसी और मग़रिबी इतिहास-लेखन—इस्लाम के अन्दलूस (स्पेन) पहुंचने के बाद वहाँ भी इतिहास-लेखन का प्रचुर प्रचलन हुआ। अबू-बक्र-इब्न-उमर (९७७) ने, जो इब्न-अल-कूतिया के नाम से प्रसिद्ध हैं "तारीख इफ्तिताह्-अल-अन्दलूस" में मुस्लिम विजय से अब्दुर्रहमान तृतीय तक के राज्य-काल का इतिहास लिखा। कोरदोवा के अबू-मरवान-इब्न-खलफ (९८८-१०७६) ने जो इब्न हैय्यान के उपनाम से प्रख्यात हैं, "अल-मुक्तबिस-फी-तारीख-रिजाल-अल-अन्दलूस" लिखा। मुवह्हिद युग के सब से प्रसिद्ध इतिहासकार अब्दुलवाहिद अल-मर्राकुशि थे जिन्होंने १२२४ में "अल-मुजीब-फी-तलखीस-अखबार-अल

७०. वही, पृ० ३८–३९।

मग़रिब" की रचना की। इस प्रदेश के अन्य लेखकों में अबुल-वलीद अब्दुल्लाह्-इब्न-मुह्म्मद अल-फरजी, अबुल-क़ासिम-ख़लफ-इब्न-अब्दुल- मालिक- इब्न-बशकुवाल, अबू-अबुदुल्लाह्-मुह्म्मद इब्न-अल-अब्बार और अबू-जफर-अह्मद -इब्न यहा-अल-जब्बी उल्लेखनीय हैं जिन्होंने क्रमशः "तारीख उलमा-अल-अन्दलूस," "अल-सिलह्-फी-तारीख-एम्मत-अल-अन्दलूस," "अल-तकमिलाह्-ली-किताब-अल-सिलाह्" और बुग़यात-अल-मुलतमिस-फी तारीख- रिजाल - अल-अन्दलूस" की रचना की। ये सब ग्रन्थ जीवन-चरित्र-लेखन के उत्कृष्ट निदर्शन हैं। ज्ञान-विज्ञान के इतिहास में अबुल-कासिम-सईद-इब्न -अहमद अल तुलैतुली (१०२९-७०) का "तबकात-अल-उमाम" प्रसिद्ध है। स्थानीय इतिहासों में लिसान-अल-दीन इब्न-अल-खतीब (१३१३-७४) का "अल-इहातह्-फी- अख़बार-घरनातह्" जिसमें ग्रानादा का क्रमबद्ध इतिवृत्त मिलता है एक आदर्श कृति है। पश्चिमी इस्लाम का सबसे प्रसिद्ध इतिहासकार और दार्शनिक अबुज़ैद अब्द-अल-रह्मान इब्नखल्दून अल ह्द्रामी (१३३२-१४०६) हैं जिन्होंने अपनी विख्यात रचना "किताब-अल-इबर व दीवान-अल-मुबतदा-वलखबर-फी-अय्याम-अल -अरब-वल- अजम- वल- बर्बर" में मुस्लिम जगत् विशेषतः मगरिब (अल्जीरिया, ट्यूनिस और मोरोक्को) का प्रामाणिक इतिहास लेखबद्ध किया और इसकी प्रस्तावना (मुकद्दमात) में इतिहास-दर्शन का अभूतपूर्व प्रतिपादन किया।

१३. इब्दुर्रह्मान इब्न खल्दून अल ह्द्रामी—इब्न-खल्दून का जन्म ट्यूनिस में १३३२ में हुआ। इनका परिवार दक्षिणी अरब से स्पेन में आकर बस गया था। इस परिवार के सदस्यों ने उमैय्या, अल-मुराबितून और अल-मुवाहिहदून वंशों के राज्य-काल में प्रशासन के कार्यकलाप में प्रमुख भाग लिया था। किन्तु तेरहवीं शताब्दी में स्पेन पर ईसाईयों के आक्रमण के फलस्वरूप इनको सेविल छोड़ कर अफ्रीका आना पड़ा। वहाँ उनका बड़ा आदर-सम्मान हुआ। बीस वर्ष की आयु में ही इब्न-खल्दून मोरोक्को में फेज सुल्तान के मंत्री बन गये। किन्तु सुल्तान की कृपा हट जाने से उन्हें दो वर्ष का कारावास भोगना पड़ा। १३६८ में इब्न-खल्दून स्पेन चले गये और उन्होंने ग्रानादा-नरेश के यहां नौकरी कर ली। इस शासक ने उन्हें कास्तिलके राजा पेद्रो के यहाँ भेजा। इस ईसाई नरेश ने उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनको अपने यहाँ नियुक्त कर लिया। किन्तु वहाँ उन्हें यह संदेह हुआ कि प्रधान मन्त्री उनसे ईर्ष्या करने लगे हैं। अतः वे स्पेन

छोड़ कर पुनः अफ्रीका लौट आये और अल्जीरिया में बूगी के सुल्तान ने उन्हें प्रधान मन्त्री का पद सौंप दिया। इसके बाद इब्न खल्दून ने क्रमशः कई राजाओं के यहाँ कार्य किया, कई बार मोरोक्को से स्पेन आये गये, और अल्जीरिया की बद्दू जातियों के विरुद्ध आक्रमण किये। १२७६ में इब्न-खल्दून कलात-इब्न सलमा के किले में चले गये और वहाँ उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की। ४ वर्ष बाद वे ट्यूनिस चले आये और वहाँ उन्होंने अध्ययन-अध्यापन प्रारम्भ किया। किन्तु वहाँ उनके पाण्डित्य को देखकर सभासदों और मुल्लाओं की भृकुटी तन गयी। अतः उन्होंने मक्का हज के लिए जाने का निश्चय कर लिया और १३८२ में सिकन्दरिया के लिए प्रस्थान किया। मिस्र में काहिरा का वैभव देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये। वहाँ उन्हें मामलूक सुल्तान के अनुग्रह से पहले प्राध्यापक का और पीछे मुख्य न्यायाधीश का पद मिल गया। वहाँ उन्होंने भ्रष्टाचार दूर करने का प्रयत्न किया। फलतः उनके विरुद्ध राजकीय कर्मचारियों का एक भयंकर आंदोलन खड़ा हो गया। इसी बीच में पोत-भंग के कारण उनका समस्त परिवार जो ट्यूनिम से मिस्र आ रहा था समुद्र के अर्पण हो गया। सुल्तान ने भी उन्हें उनके पद से हटा दिया। अतः वे १३८७ में मक्का चले गये और फिर वापस मिस्र आ गये। १४०० में मामलूक मुल्तान उन्हें दमिश्क ले गया। वहाँ तैमूरलंग का आतंक छाया हुआ था। मामलूक सेनाएं पीछे हट गयीं और सुल्तान ने इब्न खल्दून को और लोगों के साथ रस्सी से बांध कर किले की दीवार पर से नीचे लटका दिया जिससे वे तैमूर के साथ संधि की बात कर सकें। तातारी विजेता उनकी विद्वत्ता से बड़ा प्रभावित हुआ और अब उन्होंने अपने इतिहास से उनके वंश के विषय में वृतान्त सुनाये तो उसके आश्चर्य की सीमा न रही। मिस्र लौटने पर इब्न-खल्दून फिर मुख्य न्यायाधीश बन गये और वहां १४०६ में उनका स्वर्गवास हुआ।[७१] उनके जीवन-चरित को श्मित महाशय ने अपनी उत्कृष्ट शैली में इस प्रकार उपनिबद्ध किया है—

"उनका सक्रिय और उद्वेलित जीवन उन्हें पश्चिम में पेद्रो और पूर्व में तैमूर

७१. इब्न-खल्दून ने मुकद्दमात के प्रारम्भ में अपना जीवनचरित स्वयं लिखा है। एम० ए० ईनान ने "इब्ने-खल्दून" नामक पुस्तक में उनकी सुन्दर जीवनी लिखी है।

के सम्पर्क में लाया। यह उन्हें बर्बरों की कुटियों, राजाओं के प्रासादों, अपराधियों के कारागारों और न्याय के उच्चतम-भवनों में ले गया। इसके कारण निरक्षर लोगों से उनकी मित्रता हुई और विद्वानों की परिषदों में उनका प्रवेश हुआ। इसके फलस्वरूप उन्होंने अतीत के कोणों में प्रवेश किया और तात्कालिक कार्य-कलाप में भाग लिया। इस से उन्हें दुःख और दरिद्रता का साक्षात्कार करना पड़ा और सुख और सभ्यता का आनन्द लेने का अवसर मिला। यह उन्हें उन गम्भीर धरातलों पर ले गया जहाँ मनुष्य की आत्मा जीवन के अर्थ को खोजने लगती है।[७२]

१४. इब्न-खल्दून का युग—इब्न खल्दून का काल बड़ा अशान्त, अव्यवस्थित और अनियंत्रित था। गातीए ने उसे "इतिहास का सहारा" कहा है।[७३] इस पर विद्रोह, वैमनस्य, तथा अविश्वास का साम्राज्य था। बनू हिलाल और बनू सुलैम ने मग़रिब (पश्चिमी उत्तरी अफ्रीका) में विनाश और विध्वंस की ताण्डवलीला प्रारम्भ कर दी थी। इब्न खल्दून ने लिखा है कि वह अधःपतन का युग था। मग़रिब की स्थिति में एक भयंकर परिवर्तन हो रहा था। इतिहास करवट ले रहा था और एक नवीन सृष्टि का श्रीगणेश होने के लिए पुरातन विधान का विघटन हो रहा था। स्पेन की मुस्लिम संस्कृति मरणासन्न थी। ईसाईयों की विजय बराबर बढ़ती जा रही थी। अल्जीरिया में बद्दू अरबों ने जीनेत को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। ऐसे वातावरण में इतिहास का क्रियात्मक रूप इब्न खल्दून के मनः पटल पर अंकित हो गया। साम्राज्य और संस्कृति के उत्थान-पतन के यांत्रिक चक्र ने उनकी मनन-पद्धति पर अमिट छाप डाल दी। सूफी इब्न अबी वातिल ने सिद्ध कर दिया था कि इतिहास में तीन युगों का वृत्त चलता है; १–पैगम्बर का युग, २– खिलाफत का युग, ३– जूठ (दजल) का युग। अतः खिलाफत की समाप्ति पर जूठ का आधिपत्य छा गया। इन परिस्थितियों में इब्न खल्दून ने संसार को एक नवीन इतिहास-दर्शन और समाजविज्ञान प्रदान किया।

७२. नथेनियल श्मित, इब्न-खल्दून, न्यूयार्क १९३०।

७३. ई० एफ० गातिए, लू पासे द् एफ्रीक द्यु नोर, ले सिएक्ल ओब्सक्यूर, पृ० १०९।

१५. इब्न-खल्दून का नवीन इतिहास-दर्शन और उसके मौलिक सिद्धांत— इब्न खल्दून ने इतिहास की एक विस्तृत और समाज-शास्त्रीय परिभाषा प्रस्तुत की। उनके मतानुसार "इतिहास मानव समाज का, विश्व-संस्कृति का सामाजिक परिवर्तनों का, उदाहरणार्थ बर्बरता, सामाजिकता और सामूहिकता का, एक जाति का दूसरी के विरुद्ध क्रान्ति और विद्रोह का जिसके फलस्वरूप राज्यों और राष्ट्रों और उनके विभिन्न अंगों का प्रादुर्भाव होता है, मनुष्यों के विभिन्न कार्यों और व्यवसायियों का, चाहे वह जीविकोपार्जन के निमित्त हों अथवा विभिन्न कलाओं और विज्ञानों के लिए और सामान्यतः उन सब परिवर्तनों का, जो स्वभावतः समाज के स्वरूप में प्रकट होते हैं, वृत्तान्त हैं।"[७३अ]

इब्न खल्दून ने इतिहास को भी वैसी ही वैज्ञानिकता प्रदान की जैसी अन्य विद्याओं को प्राप्त हो चुकी थी।[७४] इस अध्ययन के लिए उन्होंने कुछ मौलिक सिद्धान्त निर्धारित किये, १— सामाजिक कार्य-कलाप कुछ नियमों के अधीन हैं जो प्राकृतिक नियमों की तरह अटल न होते हुए भी इतने स्थायी हैं कि उनके फलस्वरूप सामाजिक घटनाओं में निश्चित क्रम, गति और स्वर रहते हैं। २— इन नियमों की प्रक्रिया और प्रभाव जन-समूहों में व्यक्त होते हैं। पृथक् व्यक्तियों से उनका कोई लगाव नहीं होता। ३— ये नियम बहुत बड़ी संख्या में तथ्यों को एकत्रित करके उनके संबंधों और समानताओं की गवेषणा से निर्धारित किये जा सकते हैं। प्राचीन घटनाओं के अध्ययन और वर्तमान तथ्यों के अन्वेषण द्वारा यह गवेषणा सम्भव होती है। ४— एक रूप और विधान के विभिन्न समाजों में एक ही श्रेणी के नियम कार्यशील रहते हैं चाहे वे देश और काल के अन्तराल में एक दूसरे से दूर भी हों। अरब, बद्दू, बर्बर, तुर्कमान और कुर्द घुमन्तू समाज के समान नियमों का अनुसरण करते हैं। ५—समाज स्थावर नहीं होते। उनके भीतर विकास, परिवर्तन और गति होती है। विभिन्न जनों और जातियों की

७३-(अ) इब्न-खल्दून के "मुकद्दमात" का सुन्दर फ्रेंच अनुवाद द्-स्लान के "लें प्रोलेगोमेन द् इब्न-खल्दून" में उपलब्ध है। उपर्युक्त अवतरण भाग १, पृ० ७१। हाल में ही फ्रेंच रोजन्थल ने 'मुकद्दमात' का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया है। हिन्दी अनुवाद हिन्दी समिति (लखनऊ) द्वारा प्रकाशित हुआ है।

७४. वही, भाग १ पृ०, १–१३।

पारस्परिक क्रिया से यह गति संचालित रहती है। ६— ये नियम प्राकृतिक तथ्यों और जीवन की प्रवृत्तियों के प्रतिबिम्ब-मात्र न होकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। यद्यपि जातियों के विकास पर भोजन, जलवायु, देश आदि वातावरण-संबंधी तथ्यों का बड़ा प्रभाव पड़ता है तथापि कुछ विशुद्ध सामाजिक तत्त्वों का, उदाहरणार्थ असबिया (सामूहिकता), व्यवसाय, अर्घ आदि का उसपर विशिष्ट नियंत्रण रहता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न जातियों के विशेष गुण भी, उदाहरणार्थ बद्दू अरब की स्वतंत्रता और यहूदी की चालाकी, अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। सामाजिक प्रक्रिया में अनुकरण की प्रवृत्ति का भी बड़ा स्थान है। विजित जातियां प्रायः विजेता लोगों की रीति-नीति का अनुकरण करती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इब्न खल्दून ने समाज-शास्त्र के मौलिक सिद्धांतों का अन्वेषण और प्रतिपादन किया। उनकी उपर्युक्त स्थापनाएँ वर्तमानकालीन समाजविज्ञान के समुन्नत सिद्धान्तों से टक्कर लेती हैं। उनका वैज्ञानिक, आलोचनात्मक और परीक्षणपरक दृष्टिकोण आज की गवेषणा के उच्चतम आदर्शों से मेल खाता है।[७५]

१६. **"असबिया" की भावना**—इब्न खल्दून के मतानुसार समाज का स्वरूप और संस्थाएँ सामूहिकता (असबिया) से उत्पन्न होती हैं। मनुष्य का जीवन सामाजिक कार्य-कलाप से निष्पन्न है। भयंकर जीवों और प्राकृतिक प्रकोपों से अपनी रक्षा करने के लिए और अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य के लिए सामाजिक जीवन अनिवार्य है। किन्तु उसकी वैयक्तिक जिघृक्षा और जिघांसा को रोकने के लिए सामाजिक बन्धनों और शक्तियों की आवश्यकता है। राज्य ऐसा ही एक बन्धन है। आरम्भ में समाज और राज्य में कोई भेद नहीं होता। समाज की मान्यताएँ स्वयमेव उसे संतुलित रखती हैं। किन्तु धीरे-धीरे व्यक्तियों की लिप्सा-लोलुपता बढ़ने पर राज्य का विधान दुर्दान्त शक्ति के द्वारा नियन्त्रण-कार्य करने के लिए आविर्भूत होता है। इस प्रकार इब्न-खल्दून राज्य को समाज का ही एक स्वरूप मानते हैं। इसका उद्गम असबिया है। असबिया रक्त-संबंध सामूहिक भावना, पारस्परिक निकटता और आदान-प्रदान से उत्पन्न होता है। धर्म असबिया को दृढ़ करने का एक सफल साधन है। यह राज्य की दृढ़ता का एक शक्तिशाली माध्यम है। इब्न खल्दून के उक्त विचार

७५. चार्ल्स इस्सवी, एन अरब फिलोसोफी आव हिस्ट्री, पृ० ९–१०।

वर्तमान समाजशास्त्री दीरोबर्टी, इजूले, द्राघिस्को, कूल, दुरखाइम आदि के "सामाजिकतापरक सम्प्रदाय" (सोसियोलोजिस्टिक स्कूल) के मतवाद से मेल खाते हैं। उनके अनुसार विचार, विज्ञान आदि मानसिक विकास के स्वरूप सामाजिक परिस्थितियों से निष्पन्न होते हैं। एसपीनास के शब्दों में व्यक्ति समाज का निर्माता नहीं है, वरन् इसकी उपज है।[७६]

१७. समाज की शारीरिक व्याख्या—इब्न खल्दून के मतानुसार समाज भी शरीरियों की तरह विकसित, प्रौढ़ और क्षीण होकर अपना निश्चित जीवनकाल व्यतीत करते हैं। साम्राज्यों का पतन उसी प्रकार होता है जैसे जीवित प्राणियों के शरीरों का क्षय होता है। यह एक सामयिक रोग है जिसका न कोई साधन है न उपाय, क्योंकि यह ऐसी प्राकृतिक प्रक्रिया है जो निश्चित और अटल है।"[७७] धीरे-धीरे असबिया जो समाज रूपी शरीरी की जीवनशक्ति है दुर्बल होता जाता है और इसका अन्त हो जाता है। सुधारों से कोई भले ही कुछ समय के लिए इस नियति के निर्णय को टाल सके, किन्तु अन्त में इसी को कार्यान्वित होना है। इस दृष्टि से इतिहास समाजों का जीवन-विज्ञान है। इसका कार्य मृत समाजों के शवों का वर्गीकरण, विश्लेषण और परीक्षण, उनके शारीरिक विधान के निर्माण और वृद्धि की प्रक्रिया का अन्वेषण और अनुसंधान और उनके विकास तथा विलय की प्रवृत्तियों और नियमों का निर्धारण है। समाज का यह अवयवी दृष्टिकोण और इतिहास की जीववैज्ञानिक व्याख्या इब्न-खल्दून को आधुनिक बायोलोजिकल स्कूल के आचार्य स्पैंगलर-स्पेन्सर लिलीनफेल्द्, शाफ्ले वोर्मस् और नोवीकोफ की श्रेणी में ले आते हैं।[७८]

७६. ए० एस्पीनास् एत्र उ न पा एत्र (१९०१) जे० इजूले ला सिते मोदर्न मोदर्न पृ० ५८८–६०० दी० द्राघिस्को, द्यु राले द् लंदिविद्यु दाँ ल् दितरमिनिज्म सोसियाल वृ० १२१ ई० दी० रोबर्तो, नूवो प्रोग्राम द् ला सोसियोलोजीग० १४।

७७. द्स्लान, प्रोलेगोमेन द् इब्न-खल्दून, भाग २, पृ० ३००; भाग २, पृ० १२१, भाग २; पृ० १२०

७८. ओस्वाल्ड स्पैंगलर, दि डिक्लाइन ऑव दि वेस्ट, भाग १, पृ० २९, १५३ हर्बर्ट स्पेन्सर, दि इन्डक्शन्स् ऑव सोसियालोजी, पृ० ४४७–४६२, पी० लिलिनफे

१८. घुमन्तू और स्थायी समाजों का जीवनक्रम—इब्न-खल्दून समाजों को दो भागों में बाँटते हैं : घुमन्तू और स्थायी। उनके मतानुसार घुमन्तू जीवन के बाद स्थायी जीवन का जन्म होता है। घुमन्तू समाज के जीवन की अवधि चार पीढ़ी है। प्रत्येक पीढ़ी में ४० वर्ष होते हैं। इस प्रकार यह समाज १६० वर्ष जीवित रहता है।[७९] इसमें असबिया चरम सीमा तक पहुँचा हुआ होता है। इससे समाज के नियम, चरित्र और संस्थाओं का रूप निर्धारित होता है। राज्य का नियंत्रण बलपूर्ण नहीं होता। समाज एकत्रित और सामूहिक रूप से अपना कार्य करता है। मंगोलों की कुटिलता इस प्रकार के सामूहिक नियंत्रण का एक सुन्दर निदर्शन है।

उक्त समय के समाप्त होने पर घुमन्तू समाज के जीवन का अन्त हो जाता है और एक स्थायी समाज का जन्म होता है। साम्राज्यों का प्रसार इसका प्रधान लक्षण है। संस्कृति और सम्पन्नता की अभिवृद्धि इसकी निजी विशेषता है। असबिया की कमी होने के कारण राज्य की नीति बल के प्रयोग पर केन्द्रित हो जाती है। प्रभुत्व का जन्म हो जाता है। इस समाज के जीवन की अवधि चालीस-चालीस वर्ष की तीन पीढ़ियां हैं।[८०] इस प्रकार यह १२० वर्ष तक विद्यमान रह कर लुप्त हो जाता है। पहली पीढ़ी में घुमन्तू जीवन की बर्बरता और कर्कशता वर्तमान रहती है। युद्ध, हिंसा और लूटमार की भावना जाग्रत रहती है। प्रसार, विजय और उन्नति की दुन्दुभी बजती रहती है। राज्य-कार्यों में सब लोगों का हाथ रहता है। यह युद्ध, वीरता और शक्ति का युग होता है। दूसरी पीढ़ी में शासक-वर्ग विजित जातियों के आचार-विचार ग्रहण कर लेते हैं। उनकी रीति-नीति में शिष्टता और सौजन्य आ जाते हैं। वह संस्कृत जीवन के उल्लास में निमग्न हो जाते हैं। शासन एक विशेष दल की बपौती बन जाता है। एकतंत्र की भावना का जन्म होता है। किन्तु पहली पीढ़ी की युद्धप्रियता और साहस का कुछ अंश बचा रहता है। यह नागरिकता,

ल्द, 'दी मेन्शलिशे गजलशाफ्त आल्स रिआलेर ऑर्गनिज्मस, भाग १, पृ० ५८, ६८ ए० शाफले० बाऊ डण्द लेबन देज, सीसियालेन कोर्पर्स, भाग १ पृ० १११–१७५, जे० नोवीकोफ, कॉसियोस ए वोलींते सोसियाली पृ० १–९

७९. द् स्लान् ले प्रोलेगोमेन द् इब्न खल्दून, भाग १, प० २८६।

८०. वही, भाग १ पृ० ३४७।

स्थायित्व और संस्करण का युग होता है। तीसरी पीढ़ी में घुमन्तू जीवन के सब तथ्य लुप्त हो जाते हैं। शासक वर्ग विलासिता में शराबोर हो जाता है। शासक की ऐच्छिक आज्ञाएं राज्य की नियामक बन जाती है। लोग नागरिक जीवन के ऐश्वर्य और भव्यता में खो जाते हैं। भोग-विलास में डूब कर उनके मन और शरीर शिथिल हो जाते हैं। वे रुग्ण, आविग्न और शंकित बन जाते हैं। उनकी शक्ति, साहस और सक्रियता लुप्त हो जाती है। उन पर सुरा और सुन्दरी का उन्माद छा जाता है। यह पतन और विघटन का युग होता है। शासकवर्ग के दृष्टिकोण से राज्य का जीवन पाँच अवस्थाओं से गुजरता है। पहली अवस्था में समस्त जन शासन-कार्य में सम्मिलित रहता है, दूसरी में शासकवर्ग समस्त सत्ता पर अधिकार कर लेता है और जो लोग उसके विरुद्ध आवाज उठाते हैं उन्हें दबा देता है, तीसरी में वह आनन्द और उन्माद में तल्लीन हो जाता है, चौथी में वह अपने पूर्ववर्तियों के कार्य से संतुष्ट होकर उनका गौरव-गान ही अपना कर्तव्य समझ बैठता है और स्वयं निष्क्रिय और उदासीन हो जाता है और पांचवीं में वह अपने धन-धान्य के कोष को विलासिता तथा प्रदर्शन में नष्ट-भ्रष्ट कर देता है।[८१]

१९. इब्न-खल्दून के दर्शन का सत्रहवीं शती तक के इतिहास पर लागू होना—इब्न-खल्दून द्वारा वर्णित इतिहास का यह क्रम कुछ हद तक ठीक जँचता है। घुमन्तुओं द्वारा स्थापित निम्नलिखित साम्राज्यों के जीवन काल के अध्ययन से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि इब्न-खल्दून का अनुमान सही है।

क्रमसंख्या	साम्राज्य का नाम	जन्मतिथि	अन्ततिथि	जीवनकाल
१.	स्यान-पी	१५५ ख्री	२७९ ख्री	१२४
२.	ह्यूङ-नू (त्स्यान-चाओ और हिङचाओ नामक चीन के वंश)	३०४	३५०	४६
३.	मू-जुङ (हिङ-येन और सी-येन नामक चीन के वंश)	३५०	४१७	६७
४.	तो-पा (तबगच)	३८६	५३४	१४८
५.	जुवान-जुवान	४०२	५५२	१५०

८१. वही, भाग १ पृ० ३४८-३५०, ३५७-३५९।

क्रम संख्या	साम्राज्य का नाम	जन्मतिथि	अन्ततिथि	जीवनकाल
६.	हुण हेफथालित (योरोप में)	३७४	४६८	९४
७.	हुण हेफथालित (भारत में)	४८०	६०५	१२५
८.	तू-किड (पूर्वी)	५५२	७४३	१९१
९.	तू-किड (पश्चिमी)	५५२	७४४	१९२
१०.	युइगुर	७४४	८४०	९६
११.	ख़िरघीज़	८४०	९२०	८०
१२.	उमैय्या (दश्मिक की खिलाफत)	६६०	७५०	९०
१३.	अब्बासी (बग़दाद की खिलाफत)	७५४	८७५	१२१
१४.	शातो (चीन में)	८८०	९४६	६६
१५.	कीतान	९३६	११२२	१८६
१६.	जुरचाट	११२३	१२१३	९०
१७.	काराखानी ट्रॉंसओक्सानिया में :	९५५	१०७४	११९
१८.	काराखानी (इली और काशग़र में)	९५५	११३०	१७५
१९.	गज़नवी	९६१	१०४०	७९
२०.	सलजूकी (खुरासान में)	१०४०	१०५७	११७
२१.	सलजूकी (इराक और अजम में)	१०४०	११९४	१५४
२२.	सलजूकी (तुर्की में)	१०८१	१३०२	२२१
२३.	काराख़िताई	११३०	१२११	८१
२४.	ख्वारज्मी	११२७	१२३१	१०४
२५.	मंगोल (चीन का युवान वंश)	१२५२	१३७०	११८
२६.	मंगोल (ईरान में हुलाकू का वंश)	१२५६	१३७४	११८
२७.	मंगोल (रूस का स्वर्ण दल)	१२३७	१३८०	१४३
२८.	मंगोल (रूस का श्वेत-दल)	१३८१	१५०२	१२१
२९.	तैमूरी (ईरान और ट्रांसओक्सियाना में)	१३७०	१४६८	९९
३०.	अलमुराबितून (उत्तरी अफ्रीका में)	१०५०	११४७	९७
३१.	अल-मुवहि्हदून	११४७	१२६९	१२२
योग ३१				३७३४

उपर्युक्त ३१ साम्राज्यों के जीवनकाल का योग ३७३४ वर्ष आता है। अतः एक साम्राज्य का जीवनकाल $\frac{३७३४}{३१} = १२० \frac{१४}{३१}$ वर्ष हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि इब्न-खल्दून का सिद्धांत घुमन्तू-साम्राज्यों पर बहुत हद तक लागू होता है।[८२] यही नहीं, उनकी ४० वर्ष की तीन पीढ़ियों की स्थापना भी घुमन्तू-साम्राज्यों के इतिहास से काफी मेल खाती है। १२५२ में कुबिलाई खां ने चीन की ओर प्रयाण किया और वहाँ मंगोल वंश की स्थापना की जो युवान-वंश कहलाता है। ४२ वर्ष तक अर्थात् १२९४ तक जब कुबिलाई की मृत्यु हुई चीन में मंगोलों का प्रसार अक्षुण्ण रहा। दूसरी पीढ़ी में ३८ वर्ष तक अर्थात् १३३२ तक विलासिता और ऐश्वर्य का युग रहा। तीसरी पीढ़ी में ३८ वर्ष तक अर्थात् १३७० तक तोगान तैमूर के राज्यकाल में इस साम्राज्य का क्षय और विलय हुआ। इसी प्रकार हुलाकू वंशकालीन ईरान के इतिहास के साथ उक्त स्थापना की पटरी बैठती है। १२५६ में हुलाकू ने आमू-दरया को पार किया और ईरान में मंगोल साम्राज्य की आधार-शिला रखी। तब से १२९१ तक अर्थात् अरधून की मृत्यु तक ईरानी साम्राज्य प्रगतिशील और प्रसरणशील रहा। इन ३५ वर्षों में लगातार युद्ध चलते रहे, यद्यपि शाम और मिस्र में मंगोल सफल न हो सके। ईरान में उनकी सत्ता अनेक आक्रमणों के होते हुए भी सुदृढ़ रही। मंगोल ईरानियों से अलग बने रहे। १२९१ से १३३४ तक अर्थात् अबू-सईद की मृत्यु तक ४३ वर्ष की दूसरी पीढ़ी रही। इसमें मंगोल शासक-वर्ग ईरानी मुसलमान जनता में विलीन हो गया और फारसी संस्कृति में घुलमिल गया। ग़ैखातू के समय में सद्रेजहां अहमद-अल-खालीदी ने मंगोलों का दमन और निष्कासन प्रारम्भ किया। गाजान ने इस्लाम स्वीकार करके ईरानी संस्कृति को स्पष्ट रूप से ग्रहण कर लिया। १३३४ से १३७४ तक जब काराकोयूनलू दल के नेता बैराम ख्वाजा ने मोसुल और सिजार पर अधिकार किया, घोर पतन वैमनस्य, संघर्ष और पराजय का युग रहा जिसमें मंगोल साम्राज्य क्षीण और नष्ट हो गया। यही क्रम रूस के मंगोल साम्राज्य में प्रकट होता है। १२३७ में मंगोलों ने क़िपचक पर आक्रमण करके उनके नेता बचमन को मार डाला। १२८७ तक

८२. उपर्युक्त तालिका के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, बुद्धप्रकाश "इब्न खल्दूनस् फिलोसोफी ऑव हिस्ट्री," इस्लामिक कल्चर। हैदराबाद; भाग २८ नम्बर ३, जुलाई १९५४, पृ० ९–१७।

अर्थात् तुदा-मंगू की मृत्यु तक बातू के वंश की प्रगति और उन्नति रही। १२५६ तक तो वे डेरों-तम्बुओं में ही रहते रहे। इसी वर्ष उन्होंने सराय (त्सारेफ्) में अपनी राजधानी स्थापित की। अतः वास्तव में इसी वर्ष से रूस के मंगोल साम्राज्य का प्रारम्भ समझना चाहिए।१२८७ के बाद आन्तरिक युद्ध कीज्वाला भभक उठी। तब से १३४० तक अर्थात् उजबक के राज्यकाल तक दूसरी पीढ़ी रही जिसमें मंगोल धीरे-धीरे मिस्र के मामलूकों के प्रभाव में दबते गये। १३४० से १३८० तक की ४० वर्ष की तीसरी पीढ़ी आती है। इसमें मामलूकों का हस्तक्षेप बहुत बढ़ा और स्वतंत्र रूस का सूत्रपात हुआ। १३८० में श्वेत-दल के नेता तोक़्तामीश ने स्वर्णदल के साम्राज्य पर पूर्णतः अधिकार कर लिया। यह युग समाप्त हुआ। १३८० से १४२० तक की प्रथम पीढ़ी में श्वेत-दल की शक्ति बनी रही और तैमूर-लंग के भयंकर आक्रमणों के होते हुए भी वे अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाये रहे। १४२० से १४५९ तक कुचुक मुहम्मद के राज्यकाल में शान्ति और संतुलन बना रहा, किन्तु दुर्बलता के लक्षण प्रकट होने लगे। १४५९ से १५०१ तक अहमद और इबक के राज्यकाल में पतन और क्षय का निरन्तर चक्र चलता रहा और १५०८ में मंगली गिराई ने श्वेत-दल का अन्त कर दिया और सराय पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि मंगोलों ने चीन, ईरान और रूस में जो साम्राज्य स्थापित किये उनका इतिहास इब्न-खल्दून की स्थापना से मेल खाता है। यद्यपि उन्होंने इनकी विस्तृत चर्चा नहीं की।[८३] वर्तमान काल में आर्नेल्ड जे० ट्वायनबी ने सिद्ध किया है कि धर्म, वर्ग और जाति के इतिहास में तीन पीढ़ियों के चक्र चलते हैं। उनके मतानुसार सभ्यताओं के सम्मिलन की प्रक्रिया में और बौद्धिक वर्ग की उत्पत्ति और शासक वर्ग के विरुद्ध उसके विद्रोह में १३७ वर्ष की चार पीढ़ियों का समय लगता है। युद्ध और शान्ति के चक्र भी चार पीढ़ियों के अन्तराल में चलते हैं।[८४] इस प्रकार हम देखते हैं कि इब्न-खल्दून की उक्त मान्यता को वर्तमान इतिहासज्ञों ने बहुत-से क्षेत्रों में स्वीकार कर लिया है।

८३. चीन, ईरान और रूस के मंगोल इतिहास के विस्तृत पर्यालोचन के लिए देखिए, बुद्ध प्रकाश, 'इब्न-खल्दूनस् फिलॉसॉफी आव हिस्ट्री," इस्लामिक कल्चर (हैदराबाद) भाग २९, नं० २ (अप्रैल १९५५) भाग २९ (नं० ३) जुलाई १९५५।

८४. आर्नोल्ड जे० ट्वायनबी, ए स्टडी आव हिस्ट्री, भाग ९, पृ० ३२६।

वास्तव में इब्न-खल्दून का इतिहास-दर्शन सत्रहवीं शताब्दी तक के यूरेशिया के इतिहास की कुंजी है। मंचूरिया की सीमाओं से बूडापेस्ट तक जो स्तेपों के मैदान फैले हुए हैं इनमें सदा से घुमन्तू लोग बिचरते रहे हैं। इसके विपरीत इस प्रदेश की परिधि पर चीन, भारत, बवत्र, ईरान, आरमीनिया, शाम, तुर्की, मिस्र, यूनान, रूस और पश्चिमी यूरोप कृषिप्रधान और उद्योगप्रिय देश हैं। इनका समाज स्थायी है। चाङगान्, पेकिङ, समरकन्द, बुखारा, रेह, इस्पाहान, मर्व, काबुल, पेशावर, दिल्ली, कन्नौज, किएफ, वियेना, रोम आदि संस्कृति के केन्द्र अपनी समृद्धि और ऐश्वर्य के कारण सदा से घुमन्तू लोगों की लोलुप दृष्टि को आकर्षित करते रहे हैं। ईसा से करीब सात सौ वर्ष पहले किमेरियन और स्किथ लोगों ने एशिया माइनर, उरोर्तु और मीदिया पर हमले किये। इन्हीं के भाईबन्द शकों ने ईसा से पहिले दूसरी शती में गोबी मे निकल कर बवत्र पर अधिकार किया और पहली शती में भारत की शान्ति भंग की। ईसा के बाद चौथी शती में ह्यङ-नू और स्यान-पी ने गोबी से चलकर उत्तरी चीन पर आक्रमण किये। पाँचवीं शती में इसी प्रदेश से तवघच लोगों ने चीन की ओर प्रयाण किया। इसी शती में श्वेत-हूणों (ये-ता) ने बल्ख और पंजाब को रौंद डाला और अतीला की सेनाओं ने बल्कान्, गाल् और इटली में आतंक फैला दिया। छठी शती में तऊ-किड (तुर्क) ने उस प्रदेश पर कब्जा किया जिसका नाम पश्चिमी तुर्किस्तान पड़ा और सातवीं शती में उनकी लगातार मार से चीन को काफी चोट पहुँची। दसवीं शती में पेकिङ में मंगोल जाति के खिताई लोगों का राज्य स्थापित हुआ और इसी शती के अन्तिम भाग में गजुनवी तुर्कों ने पूर्वी ईरान को हड़प लिया। ग्यारहवीं शती के बीच में सलजूकी तुर्कों ने अरब साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया और बारहवीं शती में उत्तरी चीन को जुरचट या किन लोगों ने जीत लिया। तेरहवीं शती में चिंगिस खां के खान्दानी मंगोलों ने चीन, ईरान और रूस में अपनी रियासतें कायम कीं। चौदहवीं शती के अन्त में तैमूर ने ईरान को फतह किया और सोलहवीं शती में उसके वंशजों ने भारत में मुगल साम्राज्य की नींव रखी। सत्रहवीं शती में मंचू जाति ने समस्त चीन पर अधिकार कर लिया। उपर्युक्त जातियों में से बहुत-सी जातियां वस्तुतः घुमन्तू नहीं थीं। उदाहरणार्थ मंचू पर्वत-प्रदेशों के शिकारी थे, जिन्होंने बाद में कुछ खेती भी शुरू कर दी थी। तैमूरी ट्रांसोक्सियाना की स्थायी जातियों के वंशज थे यद्यपि इन्होंने मुगल नाम को अपना लिया था। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि ये पिछड़े हुए लोग थे। माना कि ये पशुपालक नहीं थे, परन्तु इनका असबिया उनसे कुछ कम न

था। वस्तुतः उन्हीं की प्रेरणा से ये लोग आगे बढ़े थे। किन्तु चीन का ईजाद किया हुआ गोला-बारूद अरबों और मंगोलों के द्वारा यूरोप पहुँचा। वहाँ इसका युद्ध में प्रयोग किया जाने लगा। वहाँ से रूस और तुर्की में इसका प्रचलन हुआ। उसमानियां से बाबर ने यह विद्या सीखी। जेस्विट पादरियों ने चीन में इसका प्रचार किया। अतः गोला-बारूद से लैस स्थायी समाजों के सैनिक घुमन्तू लोगों की सेनाओं से अधिक शक्तिशाली बन गये। इवान चतुर्थ ने, जिसे भयंकर इवान भी कहते हैं, तोपों की गड़गड़ाहट से बातू खां के वंशजों को भगा दिया और चीन के सम्राट् काङ्ही ने तोपों के शोर से कालमुको को अभिभूत कर दिया। १९६० में सर्वप्रथम तोपों के प्रयोग से इस सम्राट् ने पैकिङ के निकट उलानपुतीङ नामक स्थान पर गाल्दान की सेना को ध्वस्त कर दिया। तब से स्थायी समाज धीरे-धीरे घुमन्तू समाज पर हावी हो गये और उनका शाश्वत द्वन्द्व सदा के लिए समाप्त हो गया और साथ ही इब्न-खल्दून का दर्शन भी प्राचीन सिद्धांतों के संग्रहालय में पहुँच गया।[८५]

२०. **घुमन्तू समाज और धर्म**—इब्न-खल्दून का दर्शन यद्यपि घुमन्तू समाज की मुख्य प्रवृत्तियों का द्योतक है तथापि इसमें उनके जीवन की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं मिलती। १०५१ में मिस्र के फातिमी शासकों ने बनू-हिलाल और बनू-सुलैम को मग़रिब की ओर छोड़कर वहाँ की संस्कृति के विध्वंस का सूत्रपात किया था। किन्तु ये जातियां उसी प्रकार अरब, बद्दू और घुमन्तू थीं, जैसे उनसे लगभग ४०० वर्ष पूर्व आने वाली अरब जातियां जो सभ्यता और संस्कृति की अग्रदूत बनीं। फिर क्या कारण था कि एक ही प्रकार के लोगों ने एक दूसरे के विपरीत कार्य किया। एक ने सभ्यता को बनाया और दूसरे ने बिगाड़ा। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए इब्न-खल्दून इतिहास में एक और तत्त्व का समावेश कर देते हैं। उनका मत है कि अरब जातियाँ तभी साम्राज्य स्थापित करने में सफल हो सकती हैं जब वे धार्मिक भावना से अनुप्राणित हों।[८६] जब तक कोई पैग़म्बर उनके भीतर धार्मिक शक्ति का मंत्र नहीं फूंकता तब तक वे साम्राज्यों की सृष्टि नहीं कर सकतीं। चूंकि उम्मैय्या और अब्बासी काल के अरब इस्लाम की शक्ति से स्पन्दित थे, इसलिए वे विश्वव्यापी

८५. बुद्ध प्रकाश, "इब्न खल्दूनस् फिलॉसॉफी ऑव हिस्ट्री," इस्लामिक कल्चर, भाग २९, नं० ४ (अक्तूबर १९५५)।

८६. द स्लान, ले प्रोलेगोमेन द् इब्न-खल्दून, भाग १, पृ० ३१३।

साम्राज्य की सृष्टि कर सके और चूंकि बनू हिलाल और बनू सुलेम इस शक्ति से वंचित थे इसलिए वे संहार और विध्वंस के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाये। इस्लाम के इतिहास को तो इब्न-खल्दून ने इस प्रकार समझा दिया, किन्तु मंगोलों के इतिहास के विषय में उन्हें क्या कहना है ? ये लोग तो किसी धार्मिक दृढ़ता के कारण आगे नहीं बढ़े, वरन् अपने संगठन और प्रसरणशीलता के फलस्वरूप स्थायी समाजों की दुर्बलता और क्षीणता से लाभ उठाकर साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुए। वास्तव में घुमन्तू साम्राज्यों का अभ्युदय उनके समाज की शक्ति और स्थायी समाज की निर्बलता के अनुपात पर निर्भर रहता है। इब्न-खल्दून का दर्शन केवल इस्लामी इतिहास पर लागू होता है।

२१. दारुलइस्लाम की दृष्टि—दारुल-इस्लाम की दृष्टि से मानव इतिहास पर विचार करने के कारण इब्न-खल्दून यह समझ बैठे कि असबिया केवल घुमन्तू लोगों की ही बपौती है और चूंकि असबिया के फलस्वरूप ही साम्राज्य का निर्माण सम्भव है, इसलिए घुमन्तू लोग ही साम्राज्यों के निर्माता हो सकते हैं। इसके विपरीत स्थायी समाज के लोग निश्चित रूप से असबिया-रहित हैं। यह मत स्थायी समाजों के विषय में इब्न-खल्दून के अज्ञान का सूचक है। यह ठीक है कि उन्होंने प्रथम फ़ारसियों (अखामनियों) असुरों, नबातियों (बाबुल के राजाओं), तुब्बा (दक्षिणी अरब के राज्य), यहूदियों, मिस्रियों, दूसरे फारसियों (सासानियों), रोमनों, अरबों (यहाँ घस्सान, हीरा और यमन के अरब राज्यों से तात्पर्य है) और फिरंगियों (यूरोप के लोगों) का उल्लेख किया है,[८७] किन्तु वे इनके इतिहास की प्रक्रिया से पूर्णतः अपरिचित रहे। उनके सामने स्थायी समाज के जो कुछ भी निदर्शन थे वे रोमन और सासानी साम्राज्यों की वह करदात्री जनता थी जिसे अरब आक्रमण-कारियों ने लूट-खसोट कर कंगाल कर दिया था। उन्हें चिन्, हान्, थाङ, सुङ, मिङ आदि चीनी राजवंशों के इतिहास का पता नहीं था और मौर्य, गुप्त, मौखरी, पुष्पभूति प्रतिहार, राष्ट्रकूट, पाल आदि भारतीय युगों का ज्ञान नहीं था। अखामनि और पार्थ और सासानी आदि ईरानी वंशों की उनकी जानकारी अपूर्ण थी। मिस्र, सुमेर, अक्कद, असुर का इतिहास और बाबुली, सेल्यूकसी आदि मध्य-पूर्वीय युगों का पूर्ण वृत्तान्त उनके सामने नहीं था। यूनानी और रोमन साम्राज्यों के उत्थान-पतन

८७. वही, भाग १, पृ० ५८।

की प्रक्रिया उनके लिए पहेली थी। अतः वे इतिहास के एक बड़े महत्त्वपूर्ण भाग को समझने में असमर्थ रहे और एकदम यह मान बैठे कि ये असबिया से पूर्णतः विहीन रहे। उनका 'असबिया' और 'ला-असबिया' का विभाजन एकदम भ्रान्तिजनक है।

२२. **इब्न-खल्दून के नागरिक, सामाजिक और आर्थिक विचार**—इस प्रकार हम देखते हैं कि इब्न-खल्दून का दर्शन एकपक्षीय है। यह केवल दार-उल-इस्लाम की कुछ प्रवृत्तियों को सिद्धांतों का रूप देने का प्रयत्न है। तथापि कुछ विषयों का उन्होंने बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। विशेष रूप से उन्होंने नागरिक जीवन की विलासिता का उत्कृष्ट वर्णन किया है। विलासिता के बढ़ने से व्यय बढ़ता है। करों और मूल्यों में वृद्धि होती है। शोषण अधिक हो जाता है। पतन का श्रीगणेश होता है। ये विचार बहुत-से साम्राज्यों की पतनावस्था पर लागू हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त उनके कुछ और विचार बड़े समुन्नत हैं। वे वस्तुवाद (पोज़ीटीविज्म) और परीक्षणवाद (इम्पीरिसिज़्म) में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार प्रकृति विकासशील है। वनस्पति, जीवजन्तु, मनुष्य, फरिश्ते आदि इस विकास के सूचक हैं। एक वर्ग स्वभावतः दूसरे वर्ग में परिवर्तित हो गया है। जलवायु, भोजन, भौगोलिक परिस्थिति का इस विकास के क्रम पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। उनके आर्थिक सिद्धांत भी बड़े रोचक हैं। वे मानते हैं कि अर्थ या सम्पत्ति का उद्गम व्यापार नहीं, बल्कि उत्पादन है। चाँदी और सोना अपने आप में सम्पत्ति नहीं हैं। ये लोहे, ताँबे आदि की तरह सामान्य धातुएं हैं। किन्तु इनके मूल्य निश्चित होने के कारण ये मूल्य की द्योतक समझी जाती हैं। मूल्य पर और वेतन पर मांग और पूर्ति की प्रक्रिया का प्रभाव पड़ता है। किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन या निर्माण में निहित श्रम पर निर्भर है। वस्तुओं के मूल्य परस्पराश्रित हैं। वे स्वतंत्र और स्पर्धामूलक व्यापार के पक्षपाती हैं और ठेकों और बपौतियों की व्यवस्था को पसन्द नहीं करते। उनके मतानुसार श्रम-विभाजन से सामूहिकता को सहायता मिलती है। मार्क्स की तरह वे मानते हैं कि आर्थिक तत्त्वों का राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार यूरोप के अठारहवीं शती तक के अर्थशास्त्री इनके विचारों की समता नहीं कर सकते।[८८]

[८८]. **इब्न खल्दून के सामाजिक और आर्थिक विचारों के पर्यालोचन के लिए देखिए, गास्तों बुथूल् "ला फिलोसोफी सोसियाल द् इब्न-खल्दून"**

इब्न-खल्दून का मानवीय दृष्टिकोण भी बड़ा विशाल था। वे दासता की प्रथा के प्रबल विरोधी थे। परम्परागत प्रशासन-पद्धति उनकी रुचि के विपरीत थी। वे युद्ध की तड़क-भड़क को अच्छा नहीं समझते थे। व्यापारियों का शोषण उन्हें अखरता था। इस प्रकार वे अपने युग से बहुत ऊपर उठ चुके थे। धर्म को सामाजिकता का उपकरण मानने के कारण उनका दृष्टिकोण तात्कालिक मुस्लिम विचारकों से ऊपर पहुँच गया था।

२३. **इब्न-खल्दून की मौलिकता**—इब्न-खल्दून की मौलिकता आश्चर्यजनक है। वे इस्लामी जगत् के एक निराले विचारक थे। अस-सक्कीकी ने विचार पर वातावरण के प्रभाव को स्वीकार किया था। अल-मसूदी ने मुल्क और दीन के संबंधों पर यथेष्ट प्रकाश डाला था। अल-तरतूशी, अल मावर्दी इब्न-अलमुकफ्फा ने सामाजिक विकास पर कुछ विचार किया था। किन्तु ये लेखक या तो शरियत के आदर्श को साथ लेकर चलते थे या एक काल्पनिक चित्र सामने रखकर राज्य की समस्या पर विचार करते थे। इब्न-खल्दून पहले विचारक थे जिन्होंने समाज की सामाजिकता को लेकर अपना विचार-सोपान तैयार किया। यह भी सारगर्भित तथ्य है कि उन्हें यूनानी कृतियों का ज्ञान नहीं था। अरस्तू की राजनीति का तो अरबी में अनुवाद हुआ मालूम ही नहीं होता। इब्न-खल्दून एक ऐसे ग्रन्थ से एक उद्धरण जरूर देते हैं, किन्तु वह अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। अफलातूं का "गणतंत्र" (रिपब्लिक) अरबी में अनूदित अवश्य हो गया था और उसके आधार पर अल-फाराबी ने "अल-मादीनात-अल-फाजिला" नामक ग्रन्थ भी लिखा था किन्तु इब्न-खल्दून को उसका पता भी नहीं था। ऐसी परिस्थिति में उनके विचारों की मौलिकता नितांत प्रशंसनीय है।

२४. **इब्न-खल्दून के बाद इतिहास-लेखन**—इब्न-खल्दून के बाद मुस्लिम जगत् में किसी और लेखक ने इतिहास - दर्शन या समाजशास्त्र पर इतनी गम्भीरता से विचार नहीं किया। उनका कुछ प्रभाव अल-मक़रीज़ी की कृतियों में मिलता है। अल-मक़रीज़ी ने काहिरा में इब्न-खल्दून के व्याख्यान सुने थे। इस लेखक (१३६४-१४४८) का प्रसिद्ध ग्रन्थ अल-मवाइज़-वल-इतिबार-फी-जिक्र अल-खितात-वल-आसार" है। इसके अतिरिक्त इस युग में अबुलफिदा (१२७३-१३३२) ने "मुख्तसर तारीख-अल-बशर" में इब्न-अल-असीर की "तारीख-अल-कामिल" को संक्षिप्त करके अपने काल तक पूरा किया। अबु-अल-महासिन-इब्न-तग्री-बिर्दी (१४११-६९) ने "अल-नूजुम-अल-ज़ाहिरा-फी-मुलूक मिस्र-वल-क़ाहिरा" में

अरब-विजय से १४५३ तक का मिस्र का इतिहास प्रस्तुत किया। जलालुद्दीन-इब्न-सुयूती (१४४५-१५०५) ने भी "हुस्न-हल-मुहाजराह-फी-अखबार-मिस्र-वल-काहिरा" में मिस्र का इतिहास लिखा। किन्तु इन ग्रन्थों में मौलिकता अधिक नहीं है। इस युग की प्रसिद्ध कृति शम्सुद्दीन-अहमद इब्न-मुहम्मद-इब्न-खल्लिकान की "वफायात-अल-अयान व अन्बा ए-अब्मा-अल-जमान" है जिसमें ८६५ प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवनचरित्र संगृहीत हैं।

२५. **अब्दुर्रहमान-अल-जबर्ती**—बाद के इतिहासकारों में अब्दुर्रहमान-इब्न-हसन-अल-जबर्ती का नाम उल्लेखनीय हैं। वे अल-अजहर विश्वविद्यालय में ज्योतिष के प्राध्यापक थे और नेपोलियन ने उन्हें अपनी राज्यसभा (दीवान) का सदस्य नियुक्त किया था। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ "अजायब-अल-आसार-फी-अल-ताराजिम-वल-अखबार" तात्कालिक मिस्र का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है। १८२२ में हब्श में जाते हुए किसी ने उनकी हत्या कर दी। कहा जाता है कि अल-जबर्ती ने मुहम्मद अली के शासन की आलोचना की थी। इसी कारण इस शासक के संकेत से उन्हें मार डाला गया। अल-जबर्ती ने मिस्र पर नेपोलियन के आक्रमण का आँखों-देखा चित्र खींचा है। उन्होंने फिरंगियों की न्यायप्रियता की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। कुछ फ्रांसीसी सैनिकों ने नागरिकों के घरों में घुस कर लूट-मार की और इस अपराध में नेपोलियन के वैयक्तिक आदेश से उन्हें प्राणदण्ड दिया गया। एक कट्टर मुसलमान ने नेपोलियन के उत्तराधिकारी जनरल क्लेबर की हत्या कर दी, तथापि अपराधी पर कानून के अनुसार मुकद्दमा चलाया गया और अल-जबर्ती के अनुसार यह मुकद्दमा न्यायपूर्ण रीति से चला। वह स्वयं स्वीकार करते हैं कि ऐसी परिस्थिति में अरब कदापि ऐसा न करते।[८९] इसी प्रकार उन्होंने फिरंगियों की विज्ञान-प्रियता पर आश्चर्य प्रकट किया है। काहिरा को जीतने के बाद फिरंगियों का सबसे पहला काम एक विज्ञान-प्रदर्शिनी का आयोजन था जिसमें यह इतिहासकार भी पहुँचा था और उनकी वैज्ञानिक उन्नति को देखकर चकाचौंध हो गया था। एक बार एक दंगे में फ्रांसीसियों का कुछ नुकसान हो गया। किन्तु उन्हें सबसे अधिक

८९. अल-जबर्ती, "अजायब-अल-आसार–फी-अल-तराजिम-वल अखबार" "मरवियूय बियोग्राफीक ए इस्तोरीक" ९ भागों में काहिरा से प्रकाशित फ्रेंच अनुवाद, भाग ६, पृ० २३३–२५१।

कष्ट काफारेली नामक विद्वान् के घर में वैज्ञानिक उपकरणों की हानि से हुआ।[९०] इस प्रकार जबर्ती ने यूरोप की संस्कृति की महत्ता को प्रतिपादित किया। उसी समय मुहम्मद अली ने मिस्र में पश्चिमी ढंग की राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित करके इस देश को एक नवीन रूप दिया। अल-जवर्ती ने उनके कार्य-कलाप का संपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया। इस्लामी जगत् में यह राष्ट्रीयकरण और उद्योगीकरण का श्रीगणेश था। फिर भी अल-जबर्ती मध्यकालीन धार्मिकता में डूबे हुए थे। १७९८-१७९९ की सबसे महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय घटना उनके मतानुकूल वाहावियों के विद्रोह के कारण मिस्र से मक्का में किस्वाह् और सुर्राह् का न पहुँचना और हज का रुक जाना था, न कि नेपोलियन का मिस्र में आना।[९१] उन्होंने फ्रांस की क्रांति और नेपोलियन के युद्धों का कोई वर्णन नहीं किया। उनकी रचना में केवल आउसट्रलिट्ज के युद्ध का संकेत मिलता है।[९२] तथापि यह मानना पड़ेगा कि अल-जवर्ती की दृष्टि और इतिहासकारों की अपेक्षा यूरोप पर अधिक पड़ी है। वे मुस्लिम जगत् पर यूरोपीय प्रभाव के अवतरण के सूचक और अग्रदूत है। इब्न-खल्दून ने जो फिरंगी विज्ञान की प्रशंसा करके उनके भावी उत्थान का संकेत किया था उसे अल-जबर्ती ने पूर्णरूप से अभिव्यक्त किया।

२६. नयी दिशाएँ—पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव के कारण इस्लामी इतिहास-लेखन की दिशाएँ बदल रही हैं। परम्परा और रूढ़ि के स्थान पर आलोचना और अन्वेषण की प्रधानता हो रही है। इतिहास का नियतिवादी या दैवी पक्ष त्याज्य समझा जाने लगा है। मिस्र के ईसाई इतिहासकार जुर्जी ज़ैदान (मृत्यु १९१४) की कृतियों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। तुर्की में तो इससे पहले ही अहमद जौदत पाशा (१८२२-९५) और मुस्तफा नूरी (मृत्यु १८९०) ने नवीन शैली का श्रीगणेश किया था।

९०. वही, भाग ६, पृ० ६६।
९१. वही, भाग ६, पृ० १२१।
९२. वही, भाग ६, पृ० १२२।

परिच्छेद २

यूनान और रोम का इतिहास-दर्शन

अनुच्छेद १—यूनानी इतिहास-चेतना

१. **यूनानी संस्कृति में मूर्तता और साकारता की प्रवृत्ति**—यूरोपीय संस्कृति का उद्‌गम "हेल्लास" है। जैसा कि फिशर ने लिखा है "हम यूरोपीय हेल्लास की सन्तान हैं।" हेल्लास नामक संस्कृति यूनान की क्रोड में विकसित हुई। इसका मुख्य लक्षण स्थायित्व का अन्वेषण था। इसका प्रमुख उद्देश्य स्थायित्व में मूर्तता की प्रतिष्ठा करना था। अतः यूनानी चिंतन-पद्धति, स्थायी मूर्त और साकार तत्त्वों के आश्रय पर अग्रसर हुई। यूनानियों के मतानुसार मानव-मस्तिष्क उसी तत्त्व को ग्रहण कर सकता है जिसका निश्चित स्वरूप और आकार हो। गतिमान और परिवर्तनशील तत्त्वों में ऐसा स्थायित्व नहीं होता जिसे मस्तिष्क चिन्तन-परम्परा में परिबद्ध कर सके। अतः यूनानी प्रतिभा गणितशास्त्र में प्रस्फुटित हुई जिसके तत्त्व अचल, अमर, निश्चित और शाश्वत हैं। पाइथागोरस के सम्प्रदाय के अनुसार अंक सकल सृष्टि का सार है। यह अंक मूर्त, साकार और निश्चित है। आज कल का अनन्त दशमलव भिन्न यूनानी गणित के सर्वथा प्रतिकूल है। इसी प्रकार सांकेतिक अंक (इररेशनल नम्बर) उनकी पद्धति से विपरीत हैं। यूकलिद की ॠजु-रेखा और उस पर आधारित ज्यामिति उनकी बौद्धिक क्षमता के उपयुक्त प्रतीक हैं। इस दृष्टिकोण के कारण देश की अनन्तता और काल की तरलता का भाव यूनानी मस्तिष्क में कभी नहीं घुस सका। यह लक्ष्य करने की बात है कि यूनानियों में ज्योतिष विद्या का चलन कभी नहीं हो पाया। अफलातूं और अरस्तू नक्षत्र-निरीक्षण से अपरिचित थे। इस विषय का कोई यंत्र या तंत्र प्राचीन यूनान में आविष्कृत नहीं हुआ। पेरीक्लीज के शासनकाल के अन्तिम वर्षों में एथेन्स के नागरिकों ने यह कानून बनाया कि जो कोई व्यक्ति ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन करे उस पर मुकद्दमा चलाया जाय और उसे समुचित दण्ड दिया जाय। काल की गति से अपरिचित होने के कारण वे कोई काल-सूचक यंत्र भी नहीं बना

सके। पेरीक्लीज़ के समय तक छाया के विस्तार से ही दिन का परिमाण निर्धारित किया जाता था। अरस्तू के समय में सर्वप्रथम घण्टों का विभाजन प्रचलित हुआ। अफलातूं के समय तक किसी सूर्य-घटी या जल-घटी का रिवाज नहीं था। अफलातूं ने एक "क्लेपसिद्रा" का नक्शा बनाकर एक घड़ी का काम देने वाला यंत्र बनाया, किन्तु यह उनके दैनिक उपयोगिता और व्यवहार का सामान्य उपकरण रहा। इससे यूनानियों के सामान्य जीवन में कोई अन्तर उत्पन्न नहीं हुआ क्योंकि इसका सार्वजनिक प्रचलन नहीं हो सका। यह दृष्टिकोण यूनानी और रोमन जातियों के दैनिक जीवन के प्रत्येक पक्ष में प्रतिबिम्बित होता है। उदाहरण के लिए रोमन कानून के अनुसार भूमि का विक्रय और आधान तभी सम्पन्न हो सकता था जब उसमें विक्रेता के नाम का पत्थर गाड़ दिया जाय। केवल कागजी कार्रवाई से उन्हें संतोष नहीं होता था। अतः यह स्पष्ट है कि यूनानी संस्कृति और चिंतन-शैली ठोस तथा साकार और स्थायी वस्तुओं पर केन्द्रित थीं। यूनानी लोग वस्तुवाद (सब्सटेन्शियलिज्म) के अनुयायी और उपासक थे। यह धारणा उनके इतिहास-लेखन में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित है।

२. छठी शताब्दी पू० ख्री० में चिन्तन-प्रधान मनोवृत्ति का आविर्भाव—छठी शताब्दी पू० ख्री० में यूनानी विचार-धारा में एक महान् परिवर्तन हुआ। यूनानी मस्तिष्क कल्पना-प्रधान प्रवृत्ति को छोड़कर चिन्तन-प्रधान होने लगा। अतः पुरोहितों, न्यायाधीशों और उच्च अधिकारियों की तालिकाओं, राजाओं की वंशावलियों, संधि-विग्रह के लेखों आदि के संरक्षण की सतर्कता बढ़ने लगी। आयोनिया के बहुत-से लेखक नगरों, निगमों, जातियों, राजवंशों और मन्दिरों की उत्पत्ति की परम्पराओं और किंवदन्तियों को सरल गद्य में लिपिबद्ध करने लगे। इनमें आरगोस का अकूसिलौस (५०० पू० ख्री०) मिलेतस का कादमस (५५०-पू० ख्री०), लेसबोस का हिलेनिकस (४८२-३९७), मिलेतस का हिकेतियस (५५०-४७८), मिलेतस का दायोनिसस, लेम्पसेकस का चारोन (४७०) और लेरोस का फेरेसिदेस (४५०) प्रसिद्ध हैं। इन्हें सामूहिक रूप से "लोगोग्राफी" कहते हैं। हेरोदोतस से पहले इन्हीं के लेख इतिहास का काम देते थे। ये लेखक सामयिक घटनाओं में अधिक रुचि रखते थे। अतीत से इन्हें विशेष प्रेम नहीं था। एक बार जब हिकेतियस मिस्र गया और वहाँ के पुरोहितों के पूछने पर कहने लगा कि १५ पीढ़ी पहले मेरा पूर्वज देवता था तो वे उसकी अनभिज्ञता पर हँस पड़े और बोले कि हमारा पूर्वज तो ३४५ पीढ़ी पहले हो चुका। इसी प्रकार एक मिस्री

ने सोलन से मजाक करते हुए कहा कि यूनानी तो अभी बाल्यावस्था में ही हैं, उनका कोई अतीत ही नहीं है। अफलातूं ने "तेमियस" में इस कथोपकथन को उद्धृत किया है।[1]

अनुच्छेद २—हिरोदोतस

१. **जीवन-परिचय और वर्ण्य-विषय**—"लोगोग्राफी" वर्ग के इतिहासकारों की रचनाएँ हिरोदोतस के प्रसिद्ध इतिहास में परिणत हुईं। हिरोदोतस आयोनियन संस्कृति के केरियन थे। अतः आयोनियन इतिहासकारों की परम्परा को उन्होंने भली-भाँति आत्मसात् किया था। ४५६-४४५ पू० ख्री० के लगभग इनका "इतिहास" समाप्त हुआ। उन्होंने यूनान और ईरान के संघर्ष का सांगोपांग वर्णन किया। एशिया का सबसे पहला नरपति जिसने यूनान पर आक्रमण किया था, क्रोसस् था। अतः हिरोदोतस ने उसकी वंशावली का वर्णन किया और उसके उत्थान और पतन का इतिहास लिखा। इसके पश्चात् लीदिया पर साइरस् (कुरूष) का आधिपत्य जम गया था। हिरोदोतस ने मीदिया के साम्राज्य और कुरूष के कथानक का विस्तृत विवेचन किया। कुरूष के उत्तराधिकारी केम्बीसस् (कम्बुजीय) ने एशिया और मिस्र पर अधिकार किया। अतः हिरोदोतस को मिस्र के इतिहास और जीवन का निरूपण करना पड़ा। कम्बुजीय के उत्तरवर्ती देरियस (दारयवइश्) और जेर्कसंस (ख्यार्श) ने यूनान पर विजय प्राप्त करने का भगीरथ-प्रयत्न किया। अतः हिरोदोतस पुनः यूनान के इतिहास की ओर दत्त-चित्त हुए। यद्यपि हिरोदोतस अन्धविश्वासी थे और अपनी भाषा के अतिरिक्त कोई अन्य भाषा नहीं जानते थे, तो भी उनकी जिज्ञासा, बुद्धिमत्ता, और स्पष्टहृदयता सराहनीय थी। कथाकार की दृष्टि से उनका स्थान अद्वितीय है। उनकी शैली में आश्चर्यजनक सरलता और प्राकृतिक प्रवाह है। उनकी शब्दावली स्पष्ट, सुन्दर और प्रचलित है। अतः वे इतिहास के ही नहीं, गद्य साहित्य के भी पिता कहलाते हैं।

१. लियोनार्ड व्हिबली, ए कम्पेनियन टु ग्रीक स्टडीज, अनुच्छेद १६५-७०, आर्नोल्ड जेण्ट्वायनबी, ग्रीक हिस्टारिकल थॉट फ्राम होमर टु दि एज आव हिरेक्लीज (प्रस्तावना), जे० बी० बरी, दि एंशेण्ट ग्रीक हिस्टोरियन्स (न्यू-यार्क १९०९)।

२. 'हिस्ट्री' शब्द का प्रथम प्रयोग और स्वरूप—हिरोदोतस ने "हिस्ट्री" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया। इससे उनका अभिप्राय खोज और अनुसंधान था। यूनानी जाति की अदम्य ज्ञान-पिपासा और अतृप्त अनुसंधित्सा 'हिस्ट्री' की परिभाषा में प्रस्फुटित हो उठी। हिरोदोतस असम्बद्ध घटनाओं के ढेर को इतिहास का सुव्यवस्थित रूप देने में सिद्धहस्त थे। उनके मतानुसार इतिहास में एकता और अक्षुण्णता का सूत्र गतिमान रहता है। यूनान और ईरान, यूरोप और एशिया इतिहास की शृंखला की कड़ियाँ हैं। समस्त परिज्ञात और संस्कृत जगत् इतिहास के सूत्र में ग्रथित है। अतः एक घटना का वर्णन करते करते हिरोदोतस को एक लम्बी उड़ान करनी पड़ती है और सीथिया से मिस्र तथा थ्रेस से सिन्धु तक का प्रदेश उनके लिए हस्तामलकवत् हो जाता है। यद्यपि उनके इतिहास के नौ भागों में प्राचीन यूनानी किंवदन्तियाँ, कथानक और गीत भरे पड़े हैं तथापि उसमें समन्वय, व्यवस्था और एकता का वातावरण है। यदा-कदा उनकी आलोचनात्मक दृष्टि उनके विश्वासी मन को पार कर जाती है। वे बहुत-से भवनों के ऐतिहासिक महत्त्व को संदिग्ध समझते थे। उनको पता था कि यूनानी मन्दिरों के बहुत-से अभिलेख बनावटी हैं। देल्फी के मन्दिर में लेकेदेमोनियन परिवार ने एक कृत्रिम अभिलेख उत्कीर्ण कराकर अपने अधिकारों की पुष्टि की थी। किन्तु हिरोदोतस अभिलेखों के महत्त्व को अच्छी तरह समझते थे। उन्होंने एक ऐसे स्तम्भ का उल्लेख किया है जिसे यूनानियों ने देल्फी में प्लातिया के युद्ध के पश्चात् बनाया था। बाद में उसे बाईजेन्तियम में ले जाया गया था। उन्नीसवीं शती में वहीं से यह प्राप्त हुआ है। इसमें प्राचीन लिपि में उन ३१ राज्यों का उल्लेख है जिन्होंने इस युद्ध में भाग लिया था।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि हिरोदोतस की आलोचनात्मक दृष्टि बड़ी गहरी और पैनी थी।

३. "हिस्ट्री" के लक्षण—हिरोदोतस के मतानुसार इतिहास के चार प्रमुख लक्षण हैं—(१) यह वैज्ञानिक विद्या है अर्थात् इसकी पद्धति आलोचनात्मक है; (२) यह मानवीय विद्या है अर्थात् इसका उद्देश्य मानव कार्य-कलाप का अध्ययन करना है; (३) यह तर्कसंगत विद्या है अर्थात् इसके निष्कर्ष और तथ्य साक्ष्य पर आधारित होते हैं; (४) यह शिक्षाप्रद विद्या है अर्थात इसका कार्य अतीत के

२. डब्ल्यु० डब्ल्यु० हो और जे० वेल्स, ए कोमण्ट्री ऑन हिरोदोतस।

आलोक में भविष्य की खोज करना है और मनुष्य का मार्ग दिखाना है। "हिस्ट्री" शब्द का अर्थ ही अनुसंधान है, अतः इतिहास मुख्यतः एक खोज है, गवेषणा है।

४. **हिस्ट्री का संदेश**—हिरोदोतस के अनुसार इतिहास का संदेश यह है कि किसी बात का उत्कर्ष क्रमशः अपकर्ष में परिवर्तित हो जाता है। प्रत्येक तथ्य चरम सीमा पर पहुँच कर अपने विरोधी तथ्यों को जन्म देता है। क्रोइसस और पोलीक्रातेस् की धनाढ्यता इस बात की सूचक थी कि वे शीघ्र ही दरिद्रता की दिशा में चलने वाले हैं। "अति सर्वत्र वर्जयेत्" इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर अमिट रूप से अंकित है। प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति को इसका ध्यान रखना चाहिए।

५. **इतिहास का स्वर और क्रम**—हिरोदोतस के अनुसार इतिहास में गति और प्रवाह है। साम्राज्य और शासन उठते-गिरते रहते हैं। वस्तुतः यूनानी मनोवृत्ति ही भयंकर गति और परिवर्तन के भाव पर निर्भर थी। जियस की शक्ति वज्र के संचालन में प्रकट होती है, पोज़ीदोन भूकम्पों के द्वारा अपनी शक्ति का परिचय देता है, अपोलो सक्रामक रोगों की विभीषिका में अभिव्यक्त होता है, अफ्रोदित इस भावातिरेक की प्रतीक है जो फ़ेद्रा के गर्व और हिपोलितस के सतीत्व का नाशक सिद्ध होता है। इस प्रकार प्राकृतिक परिवर्तन ही दैवगति के द्योतक है। इस दृष्टिकोण से इतिहास भी परिवर्तन की प्रक्रिया है। हिरोदोतस की कृति में घटनाओं का चलचित्र सतत गति से चलता रहता है।

६. **हिरोदोतस की कमियाँ**—हिरोदोतस में वे कमियाँ भी हैं जो यूनानी स्वभाव में बद्धमूल थी। उनके वृत्तान्त साक्षियों की सूचनाओं पर आधारित थे। इससे एक संकीर्ण परिधि उत्पन्न हो गयी थी जिसमें इतिहासकार फँस कर रह गया था। वह केवल सामयिक घटनाओं का ही सिंहावलोकन कर सकता था। सुदूर अतीत उसके लिए एक गूढ़ पहेली थी। तथापि हिरोदोतस सुक्रतु की तरह एक युगान्तरकारी नेता थे। जिस प्रकार सुक्रतु की विचार-पद्धति उनके बाद विभिन्न मतमतान्तरों में फँस कर स्वातन्त्र्य के मार्ग से अलग हो गयी, इसी प्रकार इतिहास की पद्धति उनके बाद समाप्त सी हो गयी।[3]

३. **हिरोदोतस के अध्ययन के लिए हो और वेल्स की व्याख्या के अतिरिक्त जॉर्ज ग्रोटे की "हिस्ट्री आव ग्रीस" भाग १, पृ० ३५०–३६१ तथा अल्फ्रेद् क्रोवासे की "एन एब्रिज्ड हिस्ट्री आव ग्रीक लिटरेचर", पृ० २६५–७४ द्रष्टव्य हैं।**

अनुच्छेद ३—थूसीदाइदीस

१. जीवन-परिचय और परिस्थिति—थूसीदाइदीस (४५४-३९९ पू० ख्री०) हिरोदोतस से केवल १३ वर्ष छोटे थे। किन्तु इन दोनों महान् इतिहासकारों की मानसिक प्रवृत्तियों में बहुत अन्तर है। थूसीदाईदीस केवल घटनाओं का वृत्तान्त लिखने में ही रुचि नहीं रखते थे, वरन् उनके कारणों की छानबीन करने के भी उत्सुक थे। वे उस काल में जन्मे थे जब ४३१-४०४ पू० ख्री० का सत्ताइस वर्षीय युद्ध यूनानी सभ्यता को निर्बल बना रहा था। युद्ध के आठवें वर्ष में वे एथेन्स के दस सेनापतियों के मण्डल के सदस्य नियुक्त हुए थे। उनको सैनिक कार्यों के अतिरिक्त नागरिक शासन का भी संचालन करना पड़ता था। ४२४-४२३ की शरद ऋतु में वे थासोस में एथेन्स के जंगी बेड़े के अधिनायक थे। इस वर्ष ब्रासिदस के नेतृत्व में एक लेकेदेमोनी सेना ने उनके बेड़े को परास्त करके एम्फीपोलिस पर अधिकार कर लिया। इस पर एथेन्स के नागरिक बिगड़ गये और उन्होंने थूसीदाइदीस को अपराधी घोषित करके निर्वासित कर दिया। इस निर्वासनकाल में उन्होंने इस युद्ध के विविध पक्षों का अध्ययन करके इसका वृत्तान्त लिपिबद्ध किया। इस ग्रन्थ के दो-तिहाई भाग को ही वे पूरा कर पाये क्योंकि लगभग ५० वर्ष की उम्र में उनकी आकस्मिक मृत्यु हो गयी। किन्तु उनकी कृति ने उन्हें और उनके समय की घटनाओं को अमरत्व प्रदान कर दिया।

२. थूसीदाइदीस की विशेषता और महत्ता—थूसीदाइदीस को अनुभव हो रहा था कि यह एथेनोपेलोपोनेसियन युद्ध हेल्लास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। इसने यूनानी जगत् में जो भयंकर भूकम्प उत्पन्न किया था उसकी प्रतिध्वनि थूसीदाइदीस के इतिहास में सुनाई देती है। वे युद्ध-शास्त्र में निष्णात थे। अत उनकी रचना में युद्ध के अनेक प्रसंगों का शास्त्रीय विवेचन मिलता है। विशेष रूप से वे एडमिरल माहन की तरह नाविक शक्ति के उपासक थे। उनके मतानुसार त्रॉय का युद्ध यूनानी नाविक शक्ति की अभिव्यक्ति था। एथेन्स का जीवन ही नाविक शक्ति पर निर्भर था। अतः उन्होंने यूनानी नौ-सेना का विस्तृत विवेचन किया है। युद्ध-शास्त्र के अतिरिक्त थूसीदाइदीस आर्थिक प्रतिक्रियाओं के प्रति भी जागरूक थे। एक सुदीर्घ युद्ध के लिए सम्पन्न कोष अनिवार्य है। पेरिक्लीस के एक भाषण से इस तथ्य पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। सिसली के उपनिवेशीकरण पर उन्होंने मार्मिक विचार प्रकट किये हैं। यूनानी जगत् के उन्नतिशील व्यापार के महत्त्व को उन्होंने अच्छी तरह पहचाना है। नगरों के विकास की ओर भी उनका

ध्यान गया है। साथ ही साथ नैतिक परिस्थितियों का प्रभाव उनसे छिपा नहीं है। पेरीक्लीस के प्रसिद्ध अन्त्येष्टि-भाषण (फ्यूनरल औरेशन) को विस्तृत रूप से उद्धृत करते हुए उन्होंने यह सिद्ध किया है कि सबल राष्ट्र की शक्ति नैतिक उत्थान में निहित है। यह सभ्यता का अभिन्न अंग है। उनके ये उद्‌गार कि "न्यायप्रियता अवसरसेविता से अधिक श्रेष्ठ है, भगवान् सत्य का समर्थक है, ख्याति-प्रियता बहुधा मनुष्य को विनाश की ओर ले जाती है, राजनीतिक अन्याय हिंसा से भी जघन्य है, कानून का शब्दशः प्रयोग हानि पहुँचाता है" आदि उनके नैतिक आदर्शों के परिचायक हैं। संसार में जो युद्ध, क्रांति, हिंसा, क्रूरता आदि निकृष्ट बातें दिखाई देती हैं उनके पीछे मनुष्य का मात्सर्य, ईर्ष्या, अस्थिरता, अन्धविश्वास, अभिमान आदि प्रच्छन्न हैं। शक्ति-संचय की प्रवृत्ति तथा अपने से दुर्बल पर शासन करने की इच्छा मनुष्य की प्रकृति में इतनी गम्भीरता से बद्धमूल है कि इसका निष्कासन या परित्याग सम्भव नहीं है। मृत्युदण्ड आदि कठोर उपायों से भी इसका नियंत्रण करना कठिन है। वे अधिनायकशाही और अभिजात-दल के शासन की अपेक्षा जनतंत्र को श्रेष्ठ समझते थे। यद्यपि जनतंत्र भी संकटपूर्ण है तथापि यह अन्य शासन-पद्धतियों से उत्तम है। एथेन्स की जनतंत्रप्रियता उसकी उन्नति का सार था। राष्ट्र के स्वरूप का थूसीदाइदीस को स्पष्ट ज्ञान था।

३. थूसीदाइदीसपर हिप्पोक्रेतिक चिकित्साशास्त्र का प्रभाव—इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने घटनाओं के भीतर छिपी हुई मनोवृत्तियों का विश्लेषण किया है। उनकी कृति सामाजिक मनोविज्ञान का आकरग्रन्थ कही जा सकती है। जैसा कि सी० एन० कोकरेन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "थूसीदाइदीस एण्ड दि साइन्स ऑव हिस्ट्री" (थूसीदाइदीस और इतिहास-विज्ञान) में लिखा है थूसीदाइदीस पर हिप्पोक्रेतिक चिकित्सा-शास्त्र का गम्भीर प्रभाव है। हिप्पोक्रेतीस औषधिशास्त्र के ही जन्मदाता नहीं थे, वरन् मनोविज्ञान के भी प्रथम आचार्य थे। थूसीदाइदीस ने सामाजिक मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं का जो विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है वह बहुत कुछ हिप्पोक्रेतीस की मान्यताओं पर आधारित है। उदाहरण के लिए उनका प्लेग का वर्णन, युद्ध की उत्तेजना का विवेचन, कोर्सीश की क्रांति के आवेग और आवेश का पर्यवेक्षण इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति से ओत-प्रोत हैं। इस मनोवैज्ञानिक अनुसंधान का लक्ष्य उन नियमों को निर्धारित करना है जिनके अनुसार सामाजिक घटनाएँ गतिशील रहती है। थूसोदाइदीस को घटनाओं की अपेक्षा उनके पीछे कार्य करने वाले नियमों में अधिक रुचि थी। इस प्रकार वे

यूनानी विज्ञान की प्रचलित स्थापनाओं के अनुसार स्थायी नियमों के अन्वेषक सिद्ध होते हैं।

४. आलोचनात्मक बुद्धिवाद—थूसीदाइदीस विशुद्ध बुद्धिवादी थे। उन्होंने इतिहास के अध्ययन में यूनानी आलोचनात्मक दर्शन का उपयोग किया। वे देववाणी (ओरेकिल) को अठारहवीं शती के एक बुद्धिवादी की तरह संशय की दृष्टि से देखते थे। उन्हें अलौकिक घटनाओं और दैवी क्रियाओं में विश्वास नहीं था। वे कथा, व्याख्यान और किंवदन्तियों पर श्रद्धा न रखते हुए उनको बौद्धिक आलोचना की कसौटी पर परखते थे। चन्द्रग्रहण के प्रभाव को मानने के विषय में वे निसियस की खुली आलोचना करते हैं। किन्तु उनका ग्रीष्म और शरद् ऋतु सम्वन्धी कार्यक्रम कहीं-कहीं भ्रांतिमूलक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त उनकी सम्भाषणों को जैसे का तैसा उद्धृत करने की प्रवृत्ति काफी खटकती है। जैसा कि ग्रोटे ने सिद्ध किया है मीलियन कथोपकथन एकदम कल्पना-प्रसूत है। इन दोषों के रहते हुए भी थूसीदाइदीस की रचना इतिहास की एक मौलिक विचारधारा पर आधारित है। घटनाओं की प्रक्रिया का इतना मार्मिक अध्ययन अन्यत्र सुलभ नहीं है। इस दृष्टि से थूसीदाइदीस एक युगान्तरकारी विचारक और इतिहासकार थे।[४]

अनुच्छेद ४—जिनोफोन

१. जीवन-परिचय—जिनोफोन (४३०-३५० पू० ख्री०) ने थूसीदाइदीस की अपूर्ण कृति को पूरा करने की चेष्टा की। वे उनके इतिहास को पचास वर्ष तक और आगे ले गये। उनकी "हेलोनिका" शीर्षक पुस्तक में ४११ से ३६३ पू० ख्री० तक का वृत्तान्त मिलता है। ३६२ पू० ख्री० के मेन्तिनिया के युद्ध के वर्णन पर उन्होंने दुखी होकर अपनी लेखनी रोक दी थी। इस युद्ध में उनके प्रिय पुत्र का निधन तो हुआ ही था, साथ ही महान् थीबन राजनीतिज्ञ इपामिनोन्दास भी वीर-गति को प्राप्त हुआ था। यही एक ऐसा व्यक्ति था जो हेल्लास की शान्ति और व्यवस्था को सुरक्षित रख सकता था। अतः उसकी मृत्यु से जिनोफोन का दिल टूट गया था। निराश होकर उन्होंने यह अन्तिम पंक्ति लिखी कि "इस युद्ध के बाद हेल्लास में

४. थूसीदाइदीस के इतिहास को बेंजेमिन जोवट ने अंग्रेजी में दो भागों में भाषान्तरित किया है।

ऐसी अशांति और अव्यवस्था हुई, जैसी पहले कभी नहीं हुई थी। किन्तु मैं अपने कथानक को आगे ले जाना नहीं चाहता और इसके निष्कर्ष को लिखने का कार्य, अन्य इतिहासकारों के लिए छोड़ता हूँ जिन्हें इसमें रुचि हो।" जिनोफोन-जैसे शांत प्रकृति के लेखक की यह पंक्ति उस काल की असीम कटुता का परिचय देती है।

२. तात्कालिक परिस्थिति—जिनोफोन युद्ध और अशांति के काल में उत्पन्न हुए थे। उस समय सत्ताईस-वर्षीय युद्ध चल रहा था। एक प्राचीन किंवदन्ती है कि उन्होंने '१२४ पू० ख्री० में देलियम के युद्ध में भाग लिया था और सुकरात की सहायता से उनकी जान बची थी। किन्तु यह किंवदन्ती प्रामाणिक प्रतीत नहीं होती। ऐसा लगता है कि उस कथा के अनुसार जिनोफोन की जो उम्र बतायी जाती है वे वस्तुतः उससे दस वर्ष छोटे थे। उपर्युक्त अथेनो-पेलोपोनेसियन युद्ध की समाप्ति पर उन्होंने अखामनि वंश के एक दावेदार कुरूष की सेना में नौकरी की। उनके गुरु सुकरात ने उन्हें ऐसा करने से रोका भी, किन्तु वे न माने और फलतः उन्हें एथेन्स से देशनिकाला मिला। किन्तु वे स्पार्ता चले गये और वहाँ के शासक अगेसिलाउस के यहाँ नियुक्त हो गये। ३९४ पू० ख्री० में वे स्पार्ता की सेना में सम्मिलित होकर कोरोनिया के युद्ध में अपने नगरवासी अथीनियनों के विरुद्ध लड़े। उनकी वीरता से उनके स्वामी इतने प्रभावित हुए कि उन्हें पेलोपोनीज के पास स्किलस की शान्त ग्राम्य रियासत इनाम में दी गयी। वहाँ रहकर उन्होंने बीस वर्ष तक साहित्य-सेवा की। लेकेदेमी-नियन राज्य के पतन के पश्चात् ईलियन लोगों ने उन्हें वहाँ से निकाल दिया।

३. विद्वत्ता और ज्ञान—जिनोफोन बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे। दर्शन, अर्थशास्त्र, राजनीति, युद्ध-विद्या, कृषि-व्यापार, खेलकूद-शिकार, घुड़सवारी, शिक्षा आदि पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा। उनके प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ "हेलेनिका" और "एनेबेसिस" हैं। हेलेनिका की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इसका स्तर थूसीदाइदीस से निम्न है। सूक्ष्मता और निष्पक्षता की भी कमी हो गयी है और शैली भी बोझिल बन गयी है। तथापि इपामीनोन्दास और पेलोपीदास की जीवन-झाँकियां आकर्षक हैं। एनेबेसिस कुरूष के दस सहस्र सैनिकों के ४०४–४०१ पू० ख्री० के अभियान की कथा है। इसमें सैनिक प्रयाण, कुनाक्सा के युद्ध और साइरस की मृत्यु के ज्वलन्त चित्र मिलते हैं। चित्रमय वर्णन और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह ग्रन्थ अनूठा है। इस लेखक का स्पार्ता के गणतंत्र का वर्णन और अगेसिलाउस का जीवन-चरित्र स्पार्ता के कठोर शासन और नियंत्रण

की यश:प्रशस्तियाँ हैं। इनमें उन्होंने अन्योक्ति द्वारा एथेन्स की संस्थाओं की निन्दा की है। जोनोफोन ने सुक्रतु के बहुत-से संवादों को भी सुरक्षित रखा। "साइरस महान् की शिक्षा" शीर्षक ग्रन्थ में उन्होंने एक आदर्श और न्यायपरक व्यवस्था का लेखाचित्र प्रस्तुत किया। यह सर टॉमस मूर के "यूटोपिया" की तरह का ग्रन्थ है।

अनुच्छेद ५—अन्य यूनानी इतिहासकार

१. आइसोक्रेतीस का प्रभाव—इस युग के अन्य यूनानी इतिहासकारों में आयोन और स्तेसिमब्रोतस के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने क्रमशः चिओस राज्य का इतिहास और थेमिस्तोक्लीस, थूसीदाइदीस तथा पेरिक्लीस के जीवन-चरित्र लिखे। इनसे तात्कालिक पक्षपातपूर्ण राजनीतिक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। मेसिलिया के निवासी पाइथियास की ब्रितेन और बाल्तिक की यात्राओं के विवरण के अंश भी उस युग के महत्त्वपूर्ण साहित्य में स्थान रखते हैं। चौथी शती पू० ख्री० के प्रारम्भ होते ही इतिहास-लेखन आलंकारिक वक्तृता की शैली में परिणत हो जाता है। उस युग के संकीर्ण विद्वेषपूर्ण वातावरण से दुखी होकर आइसोक्रेतीस (३३८ पू० ख्री०) ने शान्ति और संगठन की योजना बनायी, ३५५ पू० ख्री० में "शांति" पर एक सारगर्भित व्याख्यान दिया और एथेन्स को अपने उपनिवेशों तक को तिलांजलि देकर शांति का सूत्रपात करने की सलाह दी। यद्यपि यूनानी समाज की एकता का एक महान् समर्थक स्वयं इतिहासकार नहीं था, किन्तु इसके प्रभाव से इतिहासकारों का दृष्टिकोण बदला और वे समस्त यूनानी समाज की एकता का प्रतिदान करने लगे। इन इतिहासकारों में एफोरस (४००-३३६ पू० ख्री०) अग्रगण्य हैं। ये एशिया माइनर में कीम के रहने वाले थे। उन्होंने एथेन्स, स्पार्ता, थीबिस आदि विभिन्न यूनानी राज्यों के इतिहासों को संगृहीत करके यूनानी जाति का संपूर्ण इतिहास लिखने की चेष्टा की। उनकी पद्धति आलोचनात्मक और श्लाघनीय थी। साक्ष्य का विवेचन उनकी मुख्य विशेषता थी। किन्तु खेद यह है कि उनका यह प्रशस्त ग्रन्थ काल के प्रवाह में विलीन हो गया। दियोदोरस पोलिबस, स्त्राबो, प्लूतार्क आदि के ग्रन्थों में उनकी रचना के जो उद्धरण मिलते हैं उन्हीं से उनकी योजना और विचारधारा पर कुछ प्रकाश पड़ता है। आइसोक्रेतीस का एक दूसरा शिष्य थियोपोम्पस था। उन्होंने "हेलेनिका" में थूसीदाइदीस की कृति को आगे चलाया और "फिलिपिका" में मकदूनिया के उत्कर्ष का वर्णन किया। उनका ग्रन्थ १२०४ के चौथे ईसाई धर्मयुद्ध में कुस्तुनतुनिया की लूटमार में नष्ट

हो गया। किन्तु इसके उद्धरण भी काफी मिलते हैं। इसकी शैली आलंकारिक और शृंगारिक है। इस युग का अंतिम इतिहासकार ओलिन्थस का निवासी केलिस्थीनीस था। वे अरस्तू के सम्बन्धी थे और सिकन्दर के शिविर के एक प्रमुख अधिकारी थे। सिकन्दर के प्राच्य-प्रेम की आलोचना करने के अपराध में उस भावुक विजेता ने भाले के प्रहार से उनका वध कर दिया था। उन्होंने ३८७ से ३५७ तक का यूनान का इतिहास लिखा, ईरान में सिकन्दर के आक्रमण का वृत्तांत लिपिबद्ध किया और फोसियन युद्ध का कथानक तैय्यार किया। सिसरो और लोंजीनस ने इनकी शैली की बड़ी प्रशंसा की है। प्राचीन काल में उनकी कृतियों का बड़ा मान था। ३३८ पू० ख्री० में यूनान पर मकदूनिया की विजय के अनन्तर यूनानी इतिहास-लेखन का स्वर्णयुग समाप्त हो गया।

अनुच्छेद ६—सिकन्द्रिया के इतिहासकार

१. **क्लियोमनीस**—सिकन्दर के अनुचरों ने उसके जीवन की घटनाओं को क्रमबद्ध किया था। इनमें क्लियोमनीस और तोलेमी सोतर के नाम उल्लेखनीय हैं। क्लियोमनीस मिस्र के निवासी थे। सिकन्दर ने ३३१ में उन्हें लाल सागर के व्यापार की चुंगी का ठेका दिया था और अरब का प्रशासक नियुक्त किया था। इसके बाद उन्होंने सिकन्द्रिया के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया और अनाज के सट्टे में अतुल धन कमाया। तोलेमी प्रथम ने उन्हें कत्ल करके उनकी अपार धनराशि पर अधिकार कर लिया। उन्होंने सिकन्दर का इतिहास लिखा जो अब लुप्त हो गया है और जिसके कुछ अंश बाद के लेखकों की कृतियों में उद्धृत पाये जाते हैं।

२. **तोलेमी**—तोलेमी सदा सिकन्दर के निकट रहे। उन्होंने सिकन्दर को बहुत पास से देखा। अतः अरियन आदि लेखकों ने उनके संस्मरणों की बहुत प्रशंसा की है। दुर्भाग्य से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी लुप्त हो गया और इसके उद्धरण मात्र कर्तियस, प्लूतार्क, अरियन आदि की कृतियों में बच पाये हैं। सिकन्दर के अनुचर युमनिस और चारेस ने भी तात्कालिक घटनाओं के वृत्त तैय्यार किये, किन्तु वे सब कालकवलित हो गये। इन लेखकों की कृतियों में प्रामाणिक और अप्रामाणिक सभी बातें मिल जाती हैं। प्रशंसा के भाव ने यथार्थ को प्रायः दबा लिया है।

३. **स्त्राबो, थियोफ्रेस्तस, दाइलस, दूरिस आदि**—सिकन्दर के आक्रमण से भौगोलिक यात्रा, प्राकृतिक अनुसंधान और वैज्ञानिक अन्वेषण का क्षेत्र बढ़ गया। स्त्राबो और तोलेमी की कृतियों में इस विस्तीर्ण मानसिक क्षितिज का आभास

मिलता है। नियार्कस, मेगस्थनीज, दीइमेकस, दोयोनिसस, बेसिलिस, पेत्रोक्लीस, आदि ने भारत-जैसे सुदूर देश के विषय में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। अरस्तू के प्रिय शिष्य थियोफ्रेस्तस (३७२-२८७ पू० ख्री०) ने कानूनों का संग्रह किया, धर्म का इतिहास लिखा और बहुत-से महापुरुषों की जीवनियाँ लिखीं। उनके समसामयिक दाइलस (३३१-२९८ पू० ख्री०) ने विस्तृत अध्ययन और अनुसंधान के आधार पर यूनान और सिसली का इतिहास लिखा। थियोफ्रेस्तस के शिष्य दूरिस ने २७० से २८१ तक का यूनान का इतिहास, अपनी जन्मभूमि सामोस का इतिवृत्त और अगेथोक्लीस का जीवनचरित्र लिखा। किन्तु उनकी रचनाएँ प्रामाणिक नहीं मानी जातीं। अरस्तू के शिष्य विलतार्कस द्वारा लिखित सिकन्दर के इतिहास में गल्प का तत्त्व बहुत अधिक आ गया है। फिलार्कस के निवासी पिरहस के आक्रमण से विलयोमनीस की मृत्यु तक के इतिहास में बहुधा अतिशयोक्तियाँ पायी जाती हैं। जोयलस ने मकदूनिया के फिलिप तक का एक सार्वभौम इतिहास तैय्यार किया और पोजोदोनियस ने इतिहास पर कई ग्रन्थ लिखे। किन्तु इन लेखकों में तथ्यों का वैज्ञानिक निरूपण नहीं मिलता।

४. **स्थानीय इतिहासकार मानेथो, बेरोसस आदि**—इस युग में यूनानी भाषा बहुत दूर तक फैल गयी थी। मानेथो ने मिस्र का इतिहास और बेरोसस ने खल्दिया का इतिहास इसी भाषा में लिखे। सिसली में भी यूनानी भाषा में कई इतिहास लिखे गये। सिराक्यूज़ निवासी अन्तिओकस ने "इटली" और सिसली के इतिहास लिखे। इसी नगर के रहने वाले फिलिस्तस और तिमयस ने भी सिसली के इतिहास लिखे। स्थानीय इतिहास भी काफी लिखे गये। अन्द्रोतियन ने एथेन्स का इतिहास लिखा और फिलोकोरस ने अतीका का इतिहास लिपिबद्ध किया। वास्तव में यह विद्वत्ता, वर्गीकरण और गवेषणा का युग था। इसमें इतिहासकार दार्शनिकों या अलंकार-शास्त्रियों के समान प्रदर्शनप्रिय हो गये थे। जीवन की यथार्थ परिस्थितियों से उनका सम्पर्क कम हो गया था। पोलीबस ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया।

अनुच्छेद ७—पोलीबस

१. **जीवन-परिचय**—पोलीबस (२०५-१२३ पू० ख्री०) थूसीदाइदीस के बाद यूनानी जगत् का सबसे प्रसिद्ध इतिहासकार है। उनका जन्म २०५ पू० ख्री० में आर्केदिया के मेगालोपोलिस नामक नगर में हुआ। उनके पिता लिकोर्तास अखियन लीग के सेनापति फिलोपो-मेन के मित्र थे। वे अरातस और लिदियादास

की यूनानी एकता की नीति के प्रबल समर्थक थे। १८१ पू० ख्री० में वे अखियन राष्ट्रमंडल की ओर से सिकन्द्रिया में तोलेमी एपीकानिस की सभा में दूत नियुक्त किये गये। १७१ में द्वितीय-रोम-मकदूनिया का युद्ध छिड़ गया। १६८ में मकदूनिया की पराजय हुई। यूनान के प्रमुख राजनीतिज्ञ रोम को भेज दिये गये। इन १००० अखियनों में पोलीबस भी थे। १६६ से १५० पू० ख्री० तक वे तटस्थ दृष्टि से रोम के उत्कर्ष को देखते रहे। सिपियों से उनकी मित्रता हो गयी। १४७ में सिपियों को कार्थेज़ के विरुद्ध युद्ध का नेतृत्व करने के लिए अफ्रीका भेजा गया। पोलीबस भी उनके साथ मोर्चे पर गये। वहां उन्होंने कार्थेज के ध्वंस का अन्तिम काण्ड देखा। इतने में रोम और अखियन राष्ट्रमण्डल में फिर से युद्ध छिड़ गया। कोरिन्थ का अधःपतन हुआ। रोमन राज्य ने यूनानी रियासतों के प्रबन्ध के लिए जो दस प्रशासकों का दल नियुक्त किया उसमें पोलीबस को भी स्थान मिला। वास्तव में इन रियासतों के शासन और नियमन का कार्यभार उन्हीं के कन्धों पर पड़ा। वहाँ उन्होंने यूनानी संस्कृतिके अवशेषोंकी यथाशक्ति रक्षा की। फिलोपोमेन की मूर्तियों को बचाया। इसके बाद वे अपने कार्य-कलाप का लेखा-जोखा देने के लिए रोम गये। फिर वे राजनीतिक क्षेत्र से पृथक् हो गये। एक बार वे अपने मित्र सिपाहियों के युद्ध में सम्मिलित होने के लिए स्पेन अवश्य गये, किन्तु इनके जीवन के अन्तिम १५ वर्ष अध्ययन, अनुसंधान और इतिहास-लेखन में व्यतीत हुए। उच्च चरित्र, त्वरित बुद्धि, मृगया-प्रेम और साहित्यिक रुचि उनके जीवन की अपूर्व विशेषताएँ थीं। ८२ वर्ष की आयु में घोड़े से गिरकर उनकी मृत्यु हुई।

२. **तात्कालिक परिस्थिति**—२१९ से १६७ पू० ख्री० तक की अर्धशताब्दी में इतिहास ने बड़ी तेजी से करवट पलटी। इस युग में क्रमशः रोम का सार्वभौम साम्राज्य स्थापित हुआ। पोलीबस के बाल्यकाल से कुछ पहले की पश्चिमी जगत् की आठ प्रधान शक्तियाँ रोम की एकीकृत सार्वभौमता में परिणत हो गयीं। दूसरे और तीसरे प्युनिक युद्ध, दूसरे और तीसरे मकदूनिया के युद्ध, सीरिया के अन्तियोकस तृतीय का युद्ध तथा स्पेन का नुमन्तियन युद्ध जिसके फलस्वरूप स्पेन में रोमन प्रभुत्व जम गया, पोलीबस के देखते-देखते हुए। संसार की एकीकरण की यह प्रक्रिया इतनी रोमांचकारिणी थी कि एक संवेदनाशील इतिहासकार का मन इससे प्रभावित हुए बिना न रह सकता था। पोलीबस की ओकेमेनिकल हिस्ट्री (विश्व-इतिहास) इन उत्तेजक परिस्थितियों का सुन्दर प्रतिबिम्ब है। इस ग्रन्थ में २२१ से १४६ पू० ख्री० तक का लेखक के समय का इतिहास सुरक्षित है, किन्तु प्रस्तावना

के रूप में २६४ से २११ पू० ख्री० तक के इतिहास की रूपरेखा भी दी गयी है। इसके एक अंश में भूगोल की भी चर्चा थी। यह अंश अब लुप्त हो चुका है। पोलीबस ने युद्ध-शास्त्र और व्याकरण पर भी ग्रन्थ लिखे। फिलोपोमेन की जीवनी और नुमन्तिया के युद्ध के वृत्तान्त भी उनकी प्रमुख रचनाएं हैं।

३. **पोलीबस की विचारपद्धति**—पोलीबस के युग में प्राचीन काल की राजनीतिक इकाइयाँ रोमन साम्राज्य के सार्वभौम प्रसार में विलीन हो रही थीं। जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है "नियति सकल संसार और उसके इतिहास को एक लक्ष्य की ओर ले जा रही है और वह है रोम का साम्राज्य।[५] वह वस्तु-स्थिति जिससे विश्व का समस्त कार्य-कलाप एक ही दिशा में अग्रसर हो उठा है और एक ही लक्ष्य की ओर चल पड़ा है वर्तमान काल का प्रमुख लक्षण है। घटनाओं की एकता के इतिहास के सूत्रों में भी एकता आ गयी है। इस एकता को प्रकट करना इतिहासकार का मुख्य कार्य है।" इस दृष्टिकोण से पोलिबस ने इतिहास की प्रक्रिया में एकता, अक्षुण्णता और सार्वभौमता के दर्शन किये। उन्होंने स्वयं लिखा है—

"इतिहास के विशेषज्ञों की कृतियों द्वारा विश्व-इतिहास के स्वरूप को सामूहिक दृष्टि से हृदयंगम करना सम्भव नहीं है। स्पेन और सिसली के कार्यकलाप के एक-देशीय वृत्तांत को पढ़कर इन घटनाओं की एकता और विस्तार को नहीं समझा जा सकता और नियति के उन साधनों और संस्थाओं का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता जो हमारे युग की अलौकिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों को जन्म दे रही हैं। यह प्रवृत्ति समस्त ज्ञात जगत् का एक साम्राज्य के रूप में संगठन है। इतिहास में किसी ऐसे दूसरे घटनाचक्र का पता नहीं लगता। सिराक्यूज और स्पेन पर रोम के आधिपत्य का आंशिक कथानक विशेषज्ञों की रचनाओं से भी जाना जा सकता है। किन्तु विश्व-इतिहासके बिना यह समझना कठिन है कि रोम कैसे विश्व-साम्राज्य के सोपान पर चढ़ा। . . .जब हम यह जानें और देखें कि जब ये युद्ध चल रहे थे उसी समय अनेक विविध क्षेत्रों में इनकी बहुमुखी प्रतिक्रिया हो रही थी तभी हम इस सर्वतोमुखी विश्वव्यापी ऐतिहासिक प्रक्रियाके आंतरिक मर्म को ठीक से पहचान सकते हैं।"[६]

५. इतिहास, भाग १, अध्याय ४, डब्ल्यू० आर० पटन का अनुवाद।
६. इतिहास भाग ८, अध्याय २।

४. विश्व-इतिहास की धारणा—यूनानी संस्कृति का रोमन जीवन पर जो गम्भीर प्रभाव पड़ा उसके फलस्वरूप विश्व-इतिहास की भावना का जन्म हुआ। यह विश्व-इतिहास वास्तव में राष्ट्रीय इतिहास था जिसका नेता सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा जाति थी। पोलीबस के इतिहास का वर्ण्य -विषय रोमन जाति का उत्कर्ष है। यद्यपि वे राजनीतिक घटनाओं और युद्ध-शास्त्रीय विवेचन में ही विशेष रुचि रखते थे, उनकी पद्धति कार्य-कारण-वाद के सिद्धान्त पर आधारित थी। यद्यपि थूसीदाइदीस भी कार्य-कारणवाद के अनुयायी थे, परन्तु पोलीबस इस सिद्धांत में बहुत अधिक निष्ठा रखते थे। वे दैवी कारणों में विश्वास नहीं रखते थे। वे विशुद्ध बुद्धिवादी थे। आकस्मिकता को वे वहीं स्थान देते थे जहाँ वास्तविक कारण नहीं मिल पाते थे। इस प्रकार थूसीदाइदीस के अतिरिक्त उन पर अरस्तू की भी गहरी छाप थी।

५. अन्य विशेषताएँ—पोलीबस राष्ट्रीय आय और शक्ति के सभी स्रोतों के प्रति सजग थे। आर्थिक, सामाजिक और युद्ध-सम्बन्धी तथ्यों का उन्होंने सूक्ष्म विश्लेषण किया था। यूनान की जनसंख्या के कम होने की प्रक्रिया का उन्होंने जो विवेचन किया उससे आजकल के सभी इतिहासज्ञ और समाजशास्त्री सहमत हैं। भौगोलिक अध्ययन के प्रति भी उनकी विशेष रुचि थी और प्राचीन अभिलेखों के उपयोग में तो वे सिद्धहस्त थे। साथ ही वे थियोपोम्पस-जैसे आलंकारिक इतिहास-कारों के कटु आलोचक थे। उनका कथन था कि प्राचीन लेखों की छानबीनमात्र से ही कोई व्यक्ति इतिहासकार नहीं हो सकता, जिस प्रकार प्राचीन चित्रों के अवलोकनमात्र से कोई व्यक्ति चित्रकार नहीं बन सकता। उनकी आलोचनात्मक पद्धति से रोमन इतिहास-लेखन को बड़ी प्रेरणा मिली। उन्होंने रोमन संविधान के महत्त्व को भलीभाँति पहचाना और इस दिशा में सिसेरो और तेसीतस का मार्ग-दर्शन किया।

पोलीबस की दुर्बलता उनकी भाषा और शैली है। उन्होंने गढ़ी-मढ़ी एतिक भाषा का प्रयोग किया जिसमें कृत्रिमता की गन्ध आती है। उनकी शब्दावली पर दार्शनिक और वैज्ञानिक परिभाषाओं की दुरूहता की गहरी छाप है। कहीं कहीं अधिक पदत्व दोष भी खटकता है।

अनुच्छेद ८—रिपब्लिक के अन्त तक का रोमन इतिहास-लेखन

१. फेबियस पिक्तर और केतो प्रथम—रोमन लोगों ने यूनानियों के सम्पर्क

से ही इतिहास-लेखन सीखा।[७] प्रारम्भिक रोमन इतिहासकारों ने भी यूनानी भाषा का आश्रय लिया। फेबियस पिक्टर सबसे पहिला रोमन इतिहासकार था। उन्होंने एनियसके समय से अपने इतिहास का श्रीगणेश किया और रोमन जाति को यूनानी वीरों से संबंधित किया। लिवी के काल तक यह कृति प्रचलित रही। उनके बाद एल० सिन्मियस एलीमन्तस, सी० एसीलियस, पो० कोर्नेलियस, सिपियो अफ्रीकानस और ए० पोम्नूमिनस एलबीनस ने द्रुत क्रम से इतिहास-लेखन का कार्य किया। केतो प्रथम (२३४-१४९ पू० खी०) ने रोमन इतिहास-लेखन को नूतन दिशा प्रदान की। उनकी "ओरिजिनीस" ने रोमन इतिहास में युगान्तर प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ केतो के जीवन के अन्तिम वर्ष तक का क्रमबद्ध कथानक है। इसमें पुरातन कथाओं और किवदन्तियों के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण भौगोलिक, आर्थिक तथा जाति-विषयक तथ्यों का संग्रह है। स्पेन के विषय में लिखते समय लेखक ने वहाँ के जीवन का सर्वांगीण वर्णन किया है। इब्रो की मछलियों, चादी की खानों और हवाओं की गति तक पर उनका ध्यान गया है। इस ग्रन्थ की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमे किसी भी व्यक्ति का नाम नही मिलता। केतो प्लेब थे और अभिजात वर्गों से घृणा करते थे। उनकी धारणा थी कि रोम के उत्कर्षो और उत्थानों का श्रेय रोम की जनता को है, न कि उच्चवर्गीय नेताओं को। युद्धों में रोम की विजय सेनाओं के पराक्रम का फल था, न कि सेनापतियों की योग्यता का परिणाम। अतः हम देखते है कि यह इतिहास वैयक्तिक नामों से एकदम शून्य है। यदि इसमें कोई वैयक्तिक नाम है तो वह सुरुस नामक एक हाथी का है जिसने कार्थेज के युद्ध में अद्भुत शौर्य और चातुर्य का परिचय दिया था। उनकी धारणा थी कि इतिहास का निर्माण जनता द्वारा होता है, न कि विशेष व्यक्तियों द्वारा। केतो का विचार था कि इतिहास व्यावहारिक शिक्षा का साधन है। इससे नैतिक आचार का आदर्श निर्धारित होता है। वे इतिहास के अध्ययन में भूगोल, कानून, रिवाज, भाषा, संस्था, धर्म, साहित्य, सभ्यता आदि का मूल्य भी भलीभाँति समझते थे। अपने ग्रन्थ के तीसरे और चौथे भागों में उन्होंने इन विषयों की विशद चर्चा की है। यह

७. रोमन इतिहास-लेखन के लिए देखिए, ए० एम० क्ले०, "सोर्सेज फॉर रोमन हिस्ट्री" (ओक्सफोर्ड १९२६), सी० ही० लुटवैल, ए हिस्ट्री आव रोमन लिटरेचर (न्ययार्क) १९०६।

ग्रन्थ लातीनी गद्य का सुन्दर निदर्शन है। किन्तु दुर्भाग्य से यह अनुपम कृति काल-कवलित हो गयी है।

२. **केतो के अनुयायी, साल्लुस्त, सीजर आदि**—केतो से इतिहासकारों के एक नये सम्प्रदाय का प्रचलन हुआ। केसियस हेमीना तथा केलपुरनियस पिसो फ्रूगी केतो के अनुयायी थे। किन्तु इनकी आलोचनात्मक प्रतिभा साधारण थी। ये केवल संग्रहकर्ता थे। कोइलियस एन्तीपेतर का द्वितीय प्यूनिक युद्ध का इतिहास कुछ अधिक महत्त्व रखता है। इस क्षेत्र का सबसे प्रसिद्ध लेखक साल्लुस्त (८६-३४ पू० ख्री०) था। उनका जन्म एक प्लेब परिवार में हुआ था। उन्होंने क्वीस्टर और ट्रिब्यून के पदों को अलंकृत किया। वे सिसेरो के विरोधी थे। सीज़र के साथ वे अफ्रीका गये जहां उन्होंने अतुल धन कमाया। रोम में उनके बाग विशेष रूप से प्रसिद्ध थे। उनके "केतलीन का षड्यंत्र" और "जुगुरथीन का युद्ध" प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उन्होंने एक "रोम का इतिहास" भी लिखा था किन्तु वह अब लुप्त हो गया है। साल्लुस्त शब्द-चित्रों के सुन्दर चितेरे थे। उनकी चित्रमयी शैली एक चलचित्र सा प्रस्तुत करती चलती थी। इसी युग में जूलियस सीज़र (४४ पू० ख्री०) ने गॉल के युद्ध पर अपनी "व्याख्याएँ" लिखीं। किन्तु यह एक प्रचार-ग्रन्थ है। इस युग की प्रसिद्ध रचनाओंमें कोर्नेलियस नीपोस (९९-२४ पू० ख्री०) की "जीवनियाँ" (दि विरिस इलस्त्रीबस) का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। आजकल इनके कुछ भाग ही मिलते हैं। किन्तु भाषा की प्राञ्जलता की दृष्टि से वे अद्वितीय हैं।

इस युग में दिनचर्याओं और संस्मरणों के लेखन की प्रथा भी चली। सेम्प्रोनियस एसेलियो, रूतिलियस रूफस, लूतेतियस केतेलस आदि के नाम इस विषय में उल्लेखनीय हैं।

अनुच्छेद ९—साम्राज्यकालीन इतिहासकार

१. **लिवि**—४४ पू० ख्री० में सीज़र की हत्या के बाद रोम में गृहयुद्ध चल पड़ा। १३ वर्ष के विप्लव के पश्चात् ३१ पू० ख्री० में एकतियम के युद्ध में आगस्तस की विजय हुई। इस काल से साहित्य का भी पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। २९ पू० ख्री० में वरजिल ने "एनिद" की रचना आरम्भ की। २७ पू० ख्री० में लिवी के इतिहास का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। इन दोनों लेखकों का विश्वास था कि स्वर्णयुग का दिव्य विहान विश्व को उद्भासित कर रहा है। उन्हें रोम की महत्ता और विशालता

में अटूट श्रद्धा थी। उनके लिए उसके विश्वव्यापी साम्राज्य का प्रतीक सम्राट् एक देवता (दिवस्) था।

लिवी (५९ पू० ख्री०-१७ ख्री०) पदुवा के निवासी थे। उन्होंने रोमन गणतंत्र का विघटन, रोमन साम्राज्य की स्थापना और ऑगस्तस के युग का चरमोत्कर्ष अपनी आँखों से देखा था। वे रोम में वरजिल और होरेस की तरह आगस्तस की सभा के रत्न बन गये थे। उनका इतिहास इटली मे एनिस के आगमन से आरम्भ होकर ९ ख्री० तक चलता है। लगता है कि लिवी अपने ग्रन्थ को आगस्तस के राज्यकाल के अन्त तक ले जाना चाहते थे। यह महान् ग्रन्थ धीरे-धीरे लुप्त हो गया। अब इसके ३५ भाग ही उपलब्ध हैं। इसका संक्षेप इतना प्रचलित हुआ कि उसने मौलिक ग्रन्थ की हत्या कर दी। इस इतिहास की प्रस्तावना में लिवी ने रोमन इतिहास को दो भागों में बाँटा है: १—प्राचीन काल, २—अर्वाचीन काल। पांम्पे और सीज़र के युद्ध से प्रथम काल का अन्त और दूसरे का आविर्भाव हुआ। उनका विचार रोमन जाति का सम्पूर्ण इतिहास लिखने का था। वे इतिहास को अलंकार-शास्त्र का अंग समझते थे। अतः उनकी शैली पुष्पित, सज्जित और प्रवाहमयी है। उनके मतानुसार इतिहास का उद्देश्य नैतिक आदर्शों की शिक्षा देना और देशप्रेम के भाव को दृढ़ करना है। यद्यपि उनका इतिहास अत्यन्त रोचक है, उनकी आलोचनाशक्ति इतनी तीव्र नहीं है। इस युग मे त्रोगस पोम्पीयस, फेनेस्तेल्ला, हाइजीनियस, कालपुरनियस, वोलुमनियस, मराथस, अकन्तियस और लिसिवियस आदि ने भी इतिहास-लेखन में बहुमूल्य योग दिया। किन्तु ऐतिहासिक साहित्य का यह उमड़ता हुआ स्रोत शीघ्र ही रुक गया। विचार-स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यह वातावरण ९६ ख्री० तक रहा। इसमें वेलियस पेतरकुलस और वालेरियस मेक्सीमस-जैसे साधारण इतिहासकार ही कार्य कर सकते थे।

२. तेसीतस—इस युग के अन्त में सी० कोर्नेलियस तेसीतस ने रोम का सबसे महत्त्वपूर्ण इतिहास लिखा। उनका जन्म ५५ ख्री० में हुआ और मृत्यु १२० ख्री० में हुई। उन्होंने कानून का अध्ययन किया, किन्तु वेस्पेसियन के राज्यकाल में वे राज्य-कार्य में प्रविष्ट हुए और ८८ ख्री० में प्रीटर तक बने। 'अग्रीकोला का जीवनचरित्र' 'जर्मानिया,' 'हिस्तोरे' और 'अनाल' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। तेसीतस की शैली एक प्रवक्ता-जैसी है। वे अपने ही वाक्य पात्रों से कहलाने लगते हैं। इस नाटकीयता में आजकल कुरूपता दिखाई देती है। वे सम्राटों के आलोचक थे। साम्राज्यशाही पर छींटे कसते थे। किन्तु अपने विचारों के प्रवाह में वे बहुधा सत्य से विचलित हो जाते

थे। उदाहरण के लिए उन्होंने ताइबेरिस को नृशंस, क्रूर और अत्याचारी सिद्ध किया है, किन्तु आधुनिक शोध से सिद्ध हो चुका है कि वे एक श्रेष्ठ शासक थे। इसी प्रकार उनकी निन्दा का पात्र क्लादियस वर्तमान अनुसंधान से एक अच्छा नरपति सिद्ध हो चुका है। उनकी उक्तियां बहुत लोकप्रिय हुई हैं। उनमें उनकी दार्शनिकता और वैयक्तिकता झलकती है। उन्होंने "जर्मानिया" में जर्मन संस्थाओं का अध्ययन करके जर्मन लोगों के स्वतंत्रता-प्रेम और व्यक्तिवाद का आदर्श प्रस्तुत किया और रोम के एकतंत्र प्रतिबन्ध और पराधीनता के वातावरण का व्यंग्य रूप से विरोध किया। तेसीतस में वह विस्तृत दृष्टिकोण नहीं मिलता जो पोलीबस की विशेषता है। वे रोम के आंतरिक मामलों में ही उलझे रहे। सिनेट के दल के प्रति उन्हें बड़ा पक्षपात था। शांतिपूर्ण व्यवस्था से उन्हें घृणा थी। युद्ध और विजय में उन्हें आनन्द मिलता था। किन्तु युद्ध-शास्त्र से वे पूर्णतः अपरिचित थे। उनका चरित्र-चित्रण भी कृत्रिम और काल्पनिक था। वे पुण्य और पाप के निदर्शन प्रस्तुत करना चाहते थे। अतः उनके पात्र मूर्तिवत् हो गये हैं। उनमें सजीवता नहीं है। अग्रीकोला और दोमीतियन ऐसे ही परिपूर्ण निर्जीव आदर्श हैं जैसे ग्लोकोन ने सुक्रतु के सामने प्रस्तुत किये थे, जिनकी पूर्ण अच्छाई और पूरी बुराई को देखकर उस महान् एथीनियन दार्शनिक ने उन्हें कहा था कि ऐसा प्रतीत होता है कि तुम किसी पारितोषिक-प्रतियोगिता के लिए मूर्तियों पर जम कर पालिश कर रहे हो। ये आदर्श चरित्र जीवन की विविधता से कोसों दूर हैं और परिस्थितियों के संदर्भ से बिल्कुल पृथक् हैं। ऐसे चरित्र-चित्रण में ऐतिहासिकता नहीं होती क्योंकि ये स्थायी आदर्शों के प्रतीक होते हैं, गतिमान जीवन के प्रतिबिम्ब नहीं होते।

३. **स्वेतोनियस**—तेसीतस के निधन के पश्चात् रोमन इतिहास-लेखन के स्वर्णयुग का ही नहीं, लातीनी साहित्य के उत्कर्ष-काल का भी अन्त हो गया। मारसियल और जुवेनाल तेसीतस के सम-सामयिक थे। इतिहास-परम्परा का पतन स्वेतोनियस (७५-१६० ख्री०) की कृतियों में परिलक्षित होता है। यह लेखक सम्राट् हेद्रियन का अनुचर था। यद्यपि वे राजकीय पत्रों और लेखकों का मौलिक अध्ययन कर सकते थे, किन्तु उन्होंने पूर्व-विदित परम्पराओं को ही दोहराना पर्याप्त समझा। उनकी "बारह सम्राटों की जीवनी" बहुत प्रसिद्ध है। इनमें सीज़र से दोमिनियसन तक प्रत्येक सम्राट् का जीवन-चरित्र, उसका वंश-परिचय, शिक्षा-दीक्षा, आकृति-प्रकृति, जीवन-निधन आदि दिया हुआ है। यह ग्रन्थ इतिहास का नहीं, अपितु जीवन-चरित्र का सुन्दर निदर्शन है। राजनीतिक और सामरिक तथ्यों

के प्रति लेखक की उदासीनता बहुत खटकती है। साहित्यिक दृष्टि से यह रचना मूल्यवान है। दोमिनिसन की चर्चा करते समय स्वेतोनियस ने ईसाइयत के स्वरूप को तेसीतस से भी अच्छा समझा और व्यक्त किया है। बाद के लेखकों के लिए यह कृति एक आदर्श बन गयी।

अनुच्छेद १०—रोमन साम्राज्य के अन्तिम इतिहासकार

१. फ्रोन्तो और सेवेरी—द्वितीय शती ख्री० में इतिहास-लेखन की परम्परा लुप्त-सी हो गयी। आलंकारिक शैली के उत्कर्ष के फलस्वरूप श्रेष्ठ इतिहास-लेखन समाप्त हो गया। इस युग का उत्तम इतिहास शिलालेखों या कानूनी संहिताओं में ही दृष्टिगोचर होता है। तथापि इस युग के कुछ लेखक उल्लेखनीय हैं। फ्रोन्तों (१००-१७० ख्री०) ने वेरस के पूर्वी अभियान का वृत्तान्त लिखा और अन्तोनियस पियस और मार्कस ओरेलियस को बहुत-से पत्र लिखे। इनके ग्रन्थों में "प्रिन्सिपिया हिस्तोरे" (इतिहास के सिद्धान्त) भी महत्त्वपूर्ण हैं। सेवेरी (१९३-२३५ ख्री०) की रचना "हिस्तोरिया अगस्ता" शीर्षक संग्रह में विलीन हो गयी है। इस संग्रह में जो जीवनियाँ उपलब्ध हैं वे पहली रचनाओं के संवर्धित और परिमार्जित रूप हैं। उनमें मौलिकता की कमी है। इनसे ज्ञात होता है कि इस युग में एलियस जूवियस कोर्दस, पारहेनियानस, एलियस माउरस और मार्सेलिनस ने भी इतिहास-लेखन का कार्य किया।

२. ओरेलियस विक्तर और यूत्रोपियस वालेन्स—चौथी शती के इतिहास-लेखकों में ऑरेलियस विक्तर तथा यूत्रोपियस के नाम अग्रगण्य हैं। विक्तर का जन्म कार्थेज के निकट ३२५ ख्री० में हुआ था। उन्होंने कौन्सतेनताइन तक सीज़रों का वृत्तान्त और एक रोम का संक्षिप्त इतिहास लिखा। यूत्रोपियस वालेन्स के समसामयिक थे। इनका रोम का संक्षिप्त इतिहास (ब्रेवियारियम एब उर्बे कोन्दिता) मध्यकाल में बड़ा लोकप्रिय रहा। इनके अतिरिक्त फ्रोन्तियस और फ्लेवियस वेजेतियस ने युद्ध-शास्त्र पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे।

३. अम्मियानस मार्सेलिनस—रोम का अन्तिम उल्लेखनीय इतिहासकार अम्मियानस मार्सेलिनस था।[८] वे सम्भवतः सीरिया के निवासी थे। उन्होंने सेना

८. एच० ए० एल० फिशर, 'दि लास्ट ऑव दि ग्रेट हिस्टोरियन्स' स्टडीज़ इन हिस्ट्री एण्ड पोलिटिक्स' में मुद्रित, पृ० ७–२६।

में बहुत से स्थानों पर कार्य किया। ३६३ में जब सम्राट् जूलियन ईरानियों के साथ लड़ता हुआ मारा गया तो वे उसके साथ थे। इसके बाद उन्होंने अवकाश ग्रहण किया और रोम जाकर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "वेरूम गेस्ताकम लिब्री ४०" तैयार की। यद्यपि वे जन्म से यूनानी थे उन्होंने लातीनी भाषा का प्रयोग किया। उनका विचार तेसितस की कृति को आगे ले चलना था। दुर्भाग्य से इस अनुपम ग्रन्थ के १४ से ३१ भाग तक का अश ही शेष रहा है। इनमें ३५२ से ३७८ ख्री० तक का इतिहास मिलता है। उनमें सामरिक विषयों, प्रशासकीय संस्थाओं, भौगोलिक परिस्थितियों, जातीय अवस्थाओं आदि पर मूल्यवान् सूचनाएँ मिलती हैं। उन्होंने सबसे पहले बर्गन्दी, अलैन और हून जातियों के रीति-रिवाजों की चर्चा की। उनके तथ्य प्रायः विश्वास-योग्य होते हैं। उन्होंने यूनानी और लातीनी सामग्री का पूर्ण उपयोग किया। उनके ग्रन्थ का महत्त्व यह है कि इसमें सांस्कृतिक सामग्री—धर्म, नीति, विज्ञान, अन्धविश्वास, आदि का समुचित समावेश है। मार्सेलिनस ईसाइयत के विरोधी और प्राचीन पेगेन धर्म के समर्थक थे। उन्होंने रोम के बढ़ते हुए भ्रष्टाचार, प्रदर्शनप्रियता और छिछोरेपन के विरुद्ध आवाज उठायी। वे थोथे दार्शनिक तत्त्वज्ञान के भी आलोचक थे। युग की निराशा और उदासीनता को उन्होंने अपने प्रबन्ध में उँडेल दिया। उनके ये शब्द बड़े मार्मिक हैं—"आतंक और अश्रु के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहा, अतीत की संस्मृति कटु हो गयी और भविष्य की आशा इससे भी अधिक मन्द पड़ गयी।"

पाँचवीं शती के अन्त से हम मध्यकाल में प्रवेश करते हैं। प्राचीन रोमन धर्म मृतप्राय हो चुका था। ईसाइयत का बोलबाला था। प्राचीन लातीनी भाषा और शैली बदल चुकी थी। क्लौदियन की कृतियों में इस अधःपतन का वातावरण झलकता है। प्रोतेदियस ने गॉल का इतिहास और सिदोनियस एपोलीनारिस ने अतीला के युद्धों का वृत्तान्त लिपिबद्ध करने की चेष्टा की, किन्तु वे यह कार्य पूरा न कर सके। उनके पत्र-संग्रह प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त सिम्मेकस और साइनेसियस के पत्र-संग्रहों में भी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री मिल जाती है।

अनुच्छेद ११—हेलेनिक सभ्यता और इतिहास-लेखन

१. **हेलेनिज्म का प्रसार**—यूनानी सभ्यता के प्रसार की प्रक्रिया को "हेलेनिज्म" कहते हैं। जहाँ कहीं यूनानी गये और बसे वे अपनी संस्कृति साथ लेते गये। एटलान्टिक से मंगोलिया तक इस संस्कृति का विस्तार हो गया। किन्तु इस संस्कृत

का राजनीतिक रूप वही छोटी रियासतों का समूह रहा जिसमें सदा आपसी लड़ाई-झगड़े चलते रहे। एशिया की इन रियामतों का इतिहास कार्दिया के हीरोनीमस ने "दियोदोखोई" और "एपीगोनी" नामक ग्रन्थों में लिपिबद्ध किया। वे सिकन्दर के साम्राज्य की एकता के प्रथम समर्थक थे और युमनिस और एन्तीगोनस प्रथम के अनुयायी थे। किन्तु ये राज्य पारस्परिक विद्वेष, वैमनस्य और संघर्षों की अग्नि में झुलसे जा रहे थे।[९] अतः हीरोनीमस की रचनाएँ अधिकतर युद्धों के वृत्तान्त बन कर रह गयी हैं।

२. **कल्पनाओं (यूतोपिया) का प्रचलन**—यूनानी उपनिवेश-नगरों पर प्राच्य भावनाओं का प्रचुर प्रभाव था। नगरों के प्रतिष्ठाता देवता माने जाते थे। दुरायो-रोपोस की खुदाई से सेल्युकस का जो चित्र मिला है उसमें उसे देवता के रूप में प्रस्तुत किया गया।[१०] इन नगरों में काल्पनिक सामूहिक व्यवस्थाओं के अनेक चित्र खीचे गये। यूहेमरस ने हिन्दसागर के पंखिया नामक एक काल्पनिक द्वीप का वर्णन किया जहाँ मकान और बाग के अतिरिक्त और कोई वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं रखी जा सकती थी और शेष सब वस्तुएँ राष्ट्र की धन थीं। इसी प्रकार इयाम्बुलस ने हेलियोपोलिस की कल्पना की जहाँ पत्नी और सन्तान तक समाज की सम्पत्ति माने जाते थे। इस द्वीप में सेनाएँ भी नहीं रखी जाती थीं और सर्वत्र शांति का साम्राज्य था। अपार जलनिधि इसका सबल प्रहरी था। राजा की अवस्था जब १५० वर्ष की हो गयी तो उसे जान-बूझ कर मार डाला गया। इन कल्पनाओं (यूतोपिया) पर स्तोइक दर्शन का गहरा प्रभाव था। हेलेनिक संस्कृति की मौलिक भावनाएँ इन्हीं कल्पना-चित्रों में अभिव्यक्त हुई। कल्पना और आदर्श की इस खोज में इतिहास-जैसा इतिवृत्तात्मक विषय नहीं पनप सकता था। स्थायित्व के अनुसंधान में गतिशील तथ्यों का महत्त्व नगण्य हो गया था। धर्म, यातु, ज्योतिष ने विज्ञान, विवेचन और आलोचना का स्थान ले लिया था। हेलेनिक एशिया में सहस्रों व्यक्तियों की कब्रों पर जो लेख मिले हैं उनमें अमरत्व की असीम पिपासा

९. डब्ल्यु० डब्ल्यु० टार्न, हेलेनिस्टिक सिविलिजेशन, पृ० ८०–४ एम० आई० रोस्तोवेतजफ, हेलेनिस्टिक वर्ल्ड, पृ० १४०–५४

१०. एम० आई० रोस्तोवेतजफ, दुरा योरोपीस एण्ड इत्स आर्ट् प्रारम्भिक चित्र

प्रकट होती है। मिथ्र, सरापिस और इसिस के धर्म इस अमरत्व और मुक्ति के प्रधान साधन बन गये थे।[११]

३. **हेलेनिक काल के यूनानी भाषा के इतिहास**—यह हम ऊपर कह आये हैं कि दूसरी शती ख्री० में लातीनी इतिहास-लेखन का प्रायः अन्त हो चुका था, किन्तु यूनानी इतिहास-लेखन चलता रहा। रोम पर यूनानी प्रभाव इतना गहरा था कि वहां की अनेक परम्पराओं को लेखक यूनानी भाषा में अनूदित करने लगे। पोलीबस से लगभग १०० वर्ष बाद कोर्नेलियस ने ४२ भागों में इतिहास और भूगोल पर एक ग्रन्थ लिखा जिसके यहूदियों से संबंधित कुछ अंश ही बच रहे हैं। हेलीकारनेसस के निवासी दायोनिसस ने यूनानी भाषा में रोम का इतिहास लिखा। स्त्राबो (६३ पू० ख्री०-२४ ख्री०) ने १७ भागों में भूगोल पर एक अद्वितीय ग्रन्थ लिखा जो ऐतिहासिक सूचनाओं से परिपूर्ण है। दियोदोरस ने "बिबलियोथिका" शीर्षक एक विस्तीर्ण विश्व-इतिहास लिखा। इसमें मिस्री, असुरी, हब्शी आदि अयूनानी जातियों की परम्पराओं से लगातार सिकन्दर और सीज़र तक के इतिहास की क्रमबद्ध शृंखला प्रस्तुत की गयी है। किन्तु लेखक की आलोचनाशक्ति तीव्र नहीं थी और उनकी शैली भी बोझिल थी। मध्य-पूर्व में दमिश्क के निवासी निकोलस ने सीज़र और ऑगस्तस के जीवनचरित्र लिखे। जोज़ेफस ने यहूदियों के इतिहास पर कई ग्रन्थ लिखे। प्लूतार्क (४८ ख्री०) की जीवनियें हेलेनिक संस्कृति की सर्वोत्कृष्ट उपज हैं। उनका लक्ष्य यूनान के पुरातन आदर्शवाद और नैतिकता को पुनर्जीवित करना था। अपियन ने यूनानी भाषा में रोम का इतिहास लिखा, मौसेनियस ने यूनान का वर्णन किया और अरियन ने सिकन्दर का कथानक लिखा। तालेमी का भूगोल भी इस काल की प्रसिद्ध रचना है। हिरोदियन और दियों केसियस यूनानी भाषा के अन्तिम प्रसिद्ध इतिहासकार थे, जिन्होंने रोम के विकास का गम्भीर अध्ययन किया। इन लेखकों ने पार्थिया और सासानी ईरान के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्रदान कीं।

११. सी० बेडपनेर्ड वेल्स, "द हेलेनिस्टिक ओरियण्ट," रॉबर्ट डेन्टन द्वारा सम्पादित, दि आइडिया ऑव हिस्ट्री इन दि एंशेण्ट नियर ईस्ट" में मुद्रित प० १६५

अनुच्छेद १२—रोमन इतिहास-लेखन की विशेषताएँ

१. **मानववाद**—ऊपर जो यूनानी-रोमन इतिहास-दर्शन का विवेचन किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी प्रमुख विशेषता मानववाद थी। इसका लक्ष्य मनुष्य के कार्य-कलाप, सफलता-असफलता, उत्थान-पतन आदि का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करना था। इसके दृष्टिकोण से मनुष्य एक बुद्धि-प्रधान प्राणी है। उसकी बुद्धि के विकास में ही उसकी सफलता सन्निहित है। दैवी तत्त्वों में उसकी विशेष निष्ठा नहीं थी। दूसरे, यूनानी-रोमन इतिहास-दर्शन में स्थायी तत्त्वों की प्रधानता थी। घटनाओं का महत्त्व इसी में था कि वे सनातन तथ्यों पर प्रकाश डालती थीं। मानव प्रकृति के निरन्तर स्वरूप का अध्ययन ही इतिहास का उद्देश्य था। इतिहास राजनीतिक प्रशिक्षण की पाठशाला समझा जाता था। इससे पेरीक्लीस-जैसे राजनीतिज्ञ को दीक्षा मिलती थी। चौथी शती में आइसोक्रेतीज़ की यही धारणा थी, किन्तु स्तोइक दर्शन के प्रभाव से बाद में यह समझा जाने लगा था कि मनुष्य की वास्तविक सफलता बाहर की परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने से नहीं होती, बल्कि आन्तरिक मनःस्थितियों पर अधिकार करने से मिलती है। पोलीबस का विचार था कि इतिहास का अध्ययन बाह्य सांसारिक सफलता का माध्यम नहीं है, वरन् आत्म-विजय और आन्तरिक संतुलन का साधन है। दुःखान्त नाटकों का उद्देश्य यह नहीं है कि उनको देखकर या पढ़कर मनुष्य दुःखों से बचे, बल्कि उनके अन्दर उन दुःखों को झेलने की शक्ति और तत्परता उत्पन्न हो। मानव जीवन के सुख का रहस्य भाग्य के आघातों को शांतिपूर्वक सहन करने में निहित है। मनुष्य को वाह्य प्रसार से हटकर आन्तरिक समाधि पर ध्यान देना चाहिए। नैतिक चेतना विश्व को विजय करने वाली शक्ति नहीं है, बल्कि वाह्य अज्ञात और विपरीत जगत् से हटकर विश्वस्त संरक्षण प्राप्त करने का दुर्ग है। यूनानी नीति-शास्त्र का यह महान् परिवर्तन पोलीबस की रचनाओं में दृष्टिगत होता है। उनके बाद के सब रोमन और यूनानी इतिहासकार भी इससे ओतप्रोत हैं। इतिहास-दर्शन स्तोइक और एपीक्यूरियन दर्शनों का लग्गू-भग्गू बन गया है।

२. **विश्वव्यापी दृष्टिकोण**—उपर्युक्त हेलेनिक विचारधारा के परिवर्तन का एक दूसरा परिणाम यह हुआ कि इतिहासकार की दृष्टि संकीर्ण परिधियों से हटकर समूचे विश्व में फैल गयी। स्तोइक और एपीक्यूरियन विचारक विश्वभ्रातृत्व के अनुयायी थे। वे प्राचीन यूनानी नगर-राज्य-व्यवस्था के विरोधी थे। साथ ही वे आर्थिक विषमता और सामाजिक असमानता के भी शत्रु थे। ज़ेनों ने अपनी

"रिपब्लिक" में जो अब लुप्त हो चुकी है, ऐसी आदर्श-व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। अतः इतिहासकार भी ऊंची उड़ान करके विश्वव्यापी प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात करने लगे। रोम के उत्कर्ष ने इस दृष्टिकोण को बहुत बढ़ावा दिया। फलतः इतिहासकार जातिवाद से ऊपर उठकर विश्वव्यापी मानववाद का अनुयायी हो गया। उसके लिए "ओर्बिस" (संसार) और "उर्बी" (नगर) में कोई भेद न रहा। रयूतिलियस नेमेन्तियानस के शब्दों में उसने भी रोम की तरह "उरबम् फेशिस्ती की प्रायस ओर्बिस इरात" (जो पहले विश्व था उसे नगर बना दिया)।

सामान्य रोमन नागरिक इतिहास के प्रति सतर्क नहीं था। हेरोल्ड मेतिगली के शब्दों में "रोमन नागरिक को काल की बहुत कम अनुभूति थी।"[१२] अतः यद्यपि इतिहास उपयोगी, शिक्षाप्रद और आदरास्पद समझा जाता था, यह एक विशुद्ध बौद्धिक क्रीड़ा रह गया था, एक मृतविज्ञान बन गया था। रोम के पतन के साथ यूनानी-रोमन इतिहास-लेखन का भी ह्रास हो गया।

१२. हेरोल्ड मेतिगली, "दि मैन इन दि रोमन स्ट्रीट" पृ० १०२

परिच्छेद ३

ईसाई इतिहास-दर्शन

अनुच्छेद १—ईसाई इतिहास-चेतना के लक्षण

१. ईसाइयत के यहूदी और रोमन तत्त्व—पाँचवीं शती खीस्तीय में पेगेन इतिहास लेखन का अन्त हो गया। इसके बाद लगभग ८०० वर्ष तक यूरोपीय इतिहास-लेखन ईसाई सन्तों और पुजारियों के हाथ में रहा। ईसाई धर्म के विकास और पसार में एक ओर तो पूर्व की सभी इलहामी परम्पराओं का समन्वय हो गया और दूसरी ओर रोमन संस्कृति और साम्राज्य की सभी प्रवृत्तियों का समावेश हो गया। यहूदी इतिहास-दर्शन के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि यहूदी इतिहास की गति को रेखात्मक, चमत्कारपूर्ण और देवाश्रित समझते थे। ईसाइयों और योहानन विन जक्कई आदि विचारकों के समय से यहूदी चिन्तन का क्षेत्र विस्तीर्ण और व्यापक होने लगा था। ईसू मसीह ने इस धार्मिक चेतना को विश्वजनीन और सार्वभौम रूप प्रदान किया। उनके मतानुसार भगवत्कृपा प्राणिमात्र को अभिसिंचित करती हैं। जातिगत भेदभाव निरर्थक है। अपनी श्रद्धा, भक्ति और सत्कर्म द्वारा प्रत्येक प्राणी इस कृपा के सागर में अवगाहन करने का अधिकार रखता है। यहूदी एकपक्षीय संकीर्णता का विरोध इतना प्रबल हो गया कि मार्कियन (१४४ खी०) ने ईसाइयत के यहूदी आधार का सर्वथा निषेध कर दिया। इस प्रवृत्ति के साथ-साथ रोमन संस्कृति भी अपूर्व सार्वजनिकता की ओर चल रही थी। ज्ञात संसार के कोने-कोने से मनुष्यों के समूह खिँच खिँच कर रोमन दासता के असीम समुद्र में विलीन हो रहे थे। रोमन दास जातिवाद के बन्धनों से मुक्त होकर विश्व-नागरिकता की ओर चल पड़ा था। उसके अन्दर परिश्रम और अध्यवसाय का महान् गुण था। भ्रातृप्रेम के धर्म को अंगोकार करने वालों में सर्वप्रथम उसी का स्थान है। ईसाइयत के प्रारम्भिक प्रसार का इतिहास भी मुख्यतः उस पर आश्रित है। ईसाइयत को उसने विश्वजनीन भावनाओं, कर्म और कष्ट सहन की सामर्थ्य और सद्भावना

का आदर्श प्रदान किया।[1] इस प्रकार ईसाइयत सार्वजनिक भावनाओं का संगमस्थल बन गयी।

२. **रोम में ईसाइयत का प्रसार**—हम ऊपर कह आये हैं कि रोम में वैज्ञानिक और व्यावहारिक विद्याओं का क्रमशः ह्रास हुआ। उनके स्थान पर रहस्यवादी और मुक्तिमार्गी धर्मों का प्रचलन हुआ। रहस्यवाद ने निराशावाद और संन्यास की भावना को जन्म दिया। मानव अध्यवसाय पर से श्रद्धा उठ गयी। राष्ट्र और समाज के प्रति उदासीनता बढ़ गयी। मानवात्मा सांसारिकता से हट कर दिव्य आलोक के लिए तड़प उठी। मनुष्य अपनी अवर्णनीय अकिंचनता और क्षुद्रता के लिए क्षमा और त्राण प्राप्त करने के निमित्त भगवान् की ओर झुक गया। गिलबर्ट मरे के शब्दों में यह भावुकता और साहस की कमी का चिह्न था।[2] इस वातावरण में रोम में पूर्वी धर्मों का प्रचलन हुआ। ईसिस धर्म का संविधान ईसाई सम्प्रदाय से मिलता जुलता था। इसमें पोप, पुजारी, सन्त, भजनीक आदि होते थे। देवी की प्रतिमा मन्दिरों में प्रतिष्ठित की जाती थी और नित्य उसकी प्रार्थना और स्तुति की जाती थी। पुजारी और पुरोहितों का मुण्डन किया जाता था। वे श्वेत वस्त्र और चोगे पहिनते थे। सम्राट् मार्कस ओरेलियस ने मिथ्र का मन्दिर स्थापित किया था और सम्राट् ओरेलियन ने सूर्य पूजा को राष्ट्रीय धर्म घोषित कर दिया था। एच० ए० एल० फिशर के शब्दों में ईसाई होने से पहले ही रोम धार्मिक बन गया था और मन्दिरों तथा प्रतिमाओं, पुजारियों और धार्मिक जुलूसों, मोटी ऊन के लबादे पहिने हुए उदासी दार्शनिकों, ज्योतिषियों और जादूगरों का नगर हो गया था।[3] अतः ईसाइयत पूर्व प्रचलित ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का समन्वय थी और ईसाई इतिहास-दर्शन में पहिले के सब सूत्र केन्द्रित हो गये थे।

३. **ईसाइयत का इतिहास-विषयक दृष्टिकोण**—ईसाई विचारक संसार को भगवान् की लीला मानते थे। मानव कार्यकलाप अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसका वास्तविक महत्त्व यह है कि यह भगवान् की इच्छा को प्रतिबिम्बित करता

१. मेरी एल० गोर्डन, दि नैशनलिटी ऑव स्लेव्ज़ अन्डर दि अर्ली रोमन एम्पायर, जर्नल ऑव रोमन स्टडीज (१९२९) पृ० ११०–१११।

२. गिलबर्ट मरे, फाइव स्टेजेज ऑव ग्रीक रिलिजन, पृ० १५५।

३. एच० ए० एल० फिशर, हिस्ट्री ऑव यूरोप, पृ० ९०, पृ० ५२–५३।

है और सृष्टि तथा प्रलय के शाश्वत नाटक की कथावस्तु की ओर संकेत करता है। इस दृष्टिकोण से इतिहास विशिष्ट व्यक्तियों के विचारों और कृत्यों का वृत्तान्त नहीं है या विशिष्ट संस्थाओं के विकास और प्रसार का कथानक नहीं है, अपितु दैवी इच्छा-शक्ति की क्रीड़ा है। दूसरे शब्दों में ऐतिहासिक प्रक्रिया की अपनी निजी प्रवृत्ति है जो इसमें भाग लेने वाले व्यक्तियों से स्वतंत्र है। इस दृष्टि से विचार करने पर मानव इतिहास के चार लक्षण स्पष्ट होते हैं—(१) यह जातियों और राजवंशों की गतिविधि का निष्पक्ष अध्ययन है, (२) इसमें विभिन्न देशों और जातियों का इतिहास एक सार्वभौम संदर्भ में एकत्रित हो जाता है, (३) इस विश्वव्यापी दृष्टिकोण का प्रतीक ईसू मसीह की जन्म-तिथि पर आधारित एक निश्चित कालक्रम है, और (४) ऐतिहासिक घटनाएँ एक आन्तरिक गति की परि-चायक हैं जिन्हें धार्मिक परिभाषा में भगवान् की इच्छा की अभिव्यक्ति कहते हैं।[४] भगवान् की इच्छा और कृपा से प्रादुर्भूत शक्ति को हेलेनिक युग से विभिन्न नाम दिये जाने लगे थे। इसे शब्द (वर्ड), रक्षक (सेवियर), परमात्मा (स्पिरिट), स्रष्टा (क्रियेटर), स्वामी (लार्ड), दैवी कानून (डिवाइन ला), प्राकृतिक कानून (नेचुरल ला), भगवच्छक्ति (पावर आफ गाड), प्रज्ञा (रीजन) मेधा (विज़डम), आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। नोस्टिक सम्प्रदायों में इन भावनाओं का पर्याप्त विकास हुआ। इन सब का आशय यह था कि मनुष्य एक दैवी शक्ति के अधीन है और उसका इतिहास दैवी प्रवृत्ति से ओतप्रोत है।

अनुच्छेद २—ईसाई इतिहासकार

१. सन्त पाल—ईसाइयत का आकर ग्रन्थ (न्यू टेस्टामेंट) (नयी इंजील) है। इनके 'बुक ऑव ऐक्टस' नामक विभाग से ईसाइयत के प्रचार और प्रसार पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। इस धर्म के प्रचार में सन्त पाल का विशेष हाथ था। पाल ईसाई इतिहास-दर्शन के प्रतिपादक थे। यह दर्शन ईसाई चमत्कारवाद और नव स्तोइक मत के सम्मिश्रण से निष्पन्न था। 'रोमन्स' ५।१२ में पाल ने इतिहास को तीन भागों में बाँटा है जिनके प्रतिनिधि क्रमशः आदम, मूसा और ईसा हैं। पतन से पहले का युग ऐतिहासिक नहीं, वरन् आदर्श था। प्रथम ऐतिहासिक युग अज्ञान

४. आर० जी० कोलिंगवुड, दि आईडिया ऑव हिस्ट्री, पृ० ४९–५०।

और बर्बरता का काल था। दूसरे युग का प्रादुर्भाव मूसा के कानूनों से हुआ। यहूदियों को उस रहस्य और चरम सत्य का साक्षात्कार हुआ जो सृष्टि के आरम्भ से ही निगूढ़ था। इसका प्रकाशन इसलिए हुआ कि मनुष्य इसका अनुसरण करके त्राण पा सके। तीसरे युग में ईसू ने इस सत्य का पूर्ण प्रकटीकरण और साधारणीकरण किया। इफेसियन्स, १, ४-११ में पाल ने भगवान् की उस योजना की चर्चा की जो संसार की स्थापना में निहित है। रोमन साम्राज्य भगवान् की योजना का उपकरण था। रोम की विजय इसलिए हुई कि भगवान् मानव जाति की एकता स्थापित करना चाहता था जो चरम सत्य (गोसपेल) की एकता का आधार बन सके।[५] किन्तु ईसाइयत के आगमन के पश्चात् रोमन-साम्राज्य का कार्य समाप्त हो गया और यह लुप्त होने लगा। इस सिद्धांत पर स्तोइक दर्शन की स्पष्ट छाप है और यह आर्नोल्ड जे० ट्वायनबी के इस विचार से मेल खाता है कि रोमन साम्राज्य का पतन इस उद्देश्य से हुआ कि ईसाई-धर्म की उन्नति हो सके। ट्वायनबी तो यहाँ तक मानते हैं कि प्रत्येक लौकिक साम्राज्य का ही कार्य यह है कि वह धर्म के प्रसार की पूर्व पीठिका बने।

२—यूसेबियस और सार्वभौम दृष्टिकोण—तेतियन (द्वितीय शताब्दी ख्री०) ने इतिहास के अध्ययन को एक नयी दिशा प्रदान की। 'यूनानियों के नाम संदेश', में उन्होंने प्राचीन हिब्रू इतिहास को यूनानी रोमन इतिहास के साथ जोड़कर जूलियस अफ्रीकान्स, यूसेबियस, जीरोम, ऑगस्तीन, इसिदोर आदि के पथ का निर्माण किया। इस प्रकार विश्व-इतिहास की परम्परा का सूत्रपात हुआ। इससे पहले त्रीगस पोम्पीयस ने पाश्चात्य और प्राच्य इतिहास का एकीकरण करके इतिहास के क्षेत्र को विस्तीर्ण कर दिया था। उन्हीं के पदचिह्नों पर चल कर बाद के इतिहासकारों ने विश्व-इतिहास का ध्यान किया।

ईसाई इतिहासकारों में सेक्सटस जूलियस अफ्रीकानस का प्रमुख स्थान है। इनका 'क्रोनोग्राफिया' सम्राट् इलागाबालुस (२११ ख्री०) के राज्यकाल तक का सम्पूर्ण इतिवृत्त है। इसमें इन्जीली और क्लासिकल कालक्रमों का सम्मिश्रण है। दायोक्लीशियन के समय की ईसाई-विरोधी नीति के फलस्वरूप ईसाइयों की

५. विलियम रेम्जे, 'पालिनिज्म' इन दि ग्रेको— रोमन वर्ल्ड' कन्टेम्पोरेरी रिव्यू (१९०७) पृ० ४६८—८८।

ऐतिहासिक चेतना बढ़ी। लेक्तेन्तियस ने ईसाई और पेगेन धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करके ईसाई धर्म की महत्ता सिद्ध की। ३१३ में कोंसतेन्ताइन ने ईसाइयत को राजधर्म घोषित करके इसे एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रदान किया और यूसेबियस (२६०-३४०) ने फिलस्तीन के काइज़ारिया नामक स्थान में इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया। उनके 'क्रानिकिल,' 'इक्लीजियास्टीकल हिस्ट्री', 'लाइव्ज आॅव दि मार्टर्स आॅव पेलेस्टाइन', और 'लाईव्ज आॅव कास्तेन्ताइन्', प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।[६] इन ग्रन्थों का मूल यूनानी संस्करण नष्ट हो चुका है, किन्तु इनके लातीनी एवं आरमीनी अनुवाद प्राप्य हैं। उनकी 'क्रानिकिल' सेक्स्तस अफ्रीकानस के इतिहास पर आधारित है। यह विश्व की समस्त ज्ञात जातियों की तुलनात्मक काल-तालिका है। यह तालिका इब्राहीम से प्रारम्भ होती है। ईसाइयत का प्रादुर्भाव इसका केन्द्र-बिन्दु है। रोमन सम्राटों की परम्परा की कालगणना भी ईसाई संवत्सर के अनुसार की गयी है। यूसेबियस का महत्त्वपूर्ण कार्य मानव इतिहास को एक काल-क्रमात्मक दृष्टिकोण प्रदान करना था। यूसेबियस को पश्चिमी देशों की अपेक्षा पूर्वी जगत् का अधिक ज्ञान था। अतः पाश्चात्य जगत् के विषय में उनकी सूचनाएं अपूर्ण हैं। इस कमी को सन्त जीरोम ने पूरा किया और उनकी काल-तालिका को ३७८ तक बढ़ा दिया। बाद के इतिहासकार इसे और आगे ले गये। पूर्व में मार्सेलिनस इसे ५३४ तक ले आये। स्पेन में इदातियस ने इसे ४६८ तक पूरा किया। गॉल में प्रोस्पर और मेरियस ने इसे क्रमशः ४५५ और ५८१ तक बढ़ाया। अफ्रीका में ल्यूनिस के पादरी विक्तर ने इसे ५६६ तक लिखा और बाद में इटली के केसियोदोरस, सेविल के इसिदोर और इंगलैंड के बीडी ने इसे क्रमशः ५९०, ६३६, और ७३५ तक पूरा किया। आठवीं शती में यह परम्परा केरोलिंजियन पुनरुत्थान के महान् धार्मिक वृत्तों में परिणत हो गयी। 'क्रानिकिल' की तरह यूसेबियस का, 'ईसाई सम्प्रदाय का इतिहास,' (इक्लीजियास्टिकल हिस्ट्री) बहुत फला-फूला। यूसेबियस ने इसे ३०९ पर समाप्त कर दिया था क्योंकि अरियन होने के नाते उन्हें कोस्तेनताइन द्वारा अथेनेसियन सम्प्रदाय का स्वीकार करना रुचिकर नही था। किन्तु कुस्तुन-तुनिया के एक वकील सोक्रेतीज़ ने इसे ४३९ तक बढ़ाया और सोजोमेन ने इसे

६. एच० एम० ग्वाटकिन, यूसेबियस आॅव काइजारिया, लेक्चर्स आन इक्लीजियास्टिकल हिस्ट्री (लंदन १८९६)

४२९ तक लिखा। पांचवीं शती में थियोदोरेतस ने अपनी स्वतंत्र शैली और भाषा में इसे ४३९ तक पूरा किया। छठीं शताब्दी में एवाग्रीयस इसे ५९४ तक ले गये। इस प्रकार यूसेबियस की परम्परा बहुत समय तक अक्षुण्ण रही।

३. सन्त ऑगस्तीन—ईसाइयत के प्रचार और प्रसार के काल में रोमन साम्राज्य जर्मन जातियों के आक्रमणों और आघातों से जर्जर हो रहा था। सर्वत्र लूट-मार और ध्वंस-भ्रंश का बोलबाला था। बहुत-से लोगों की धारणा थी कि चूंकि रोमन लोगों ने अपने प्राचीन आचार-विचार छोड़कर एक विदेशी धर्म स्वीकार कर लिया है, इसीलिए उन पर यह दैवी प्रकोप अवतीर्ण हुआ है। इस आरोप का उत्तर देने के लिए ईसाई लेखकों ने अपनी लेखनी सँभाली। इनमें ऑगस्तीन और उनके शिष्य ओरोसियस के नाम अग्रगण्य हैं।

सन्त ऑगस्तीन[७] (३५४-४३०) ईसाई जगत् के सबसे महान् विचारक, दार्शनिक और साहित्यकार थे। इनका जन्म उत्तरी अफ्रीका के एक रोमन परिवार में हुआ। उन्होंने रोमन शिक्षा प्राप्त की। कार्थेज़ में वे मानि धर्मावलम्बियों के प्रभाव के कारण इस धर्म के अनुयायी बने, किन्तु उनके अज्ञान के कारण उन्हें विरक्ति हुई। वे फिर यूनानी बुद्धिवाद की ओर अग्रसर हुए। मीलान में कुछ दिन प्राध्यापक रहे। वहाँ अपनी माता के प्रभाव के कारण उन्होंने ईसाई धर्म ग्रहण किया। अफ्रीका वापस आकर वे हिप्पो के पादरी बन गये।

४१० ई० में एलेरिक ने रोम का विध्वंस किया। रोमन लोग इस आपत्ति को ईसाइयों के सिर मढ़ रहे थे। उनकी धारणा थी कि ग्रातियन (३६७-८३) और थियोदोसियस प्रथम (३७८-९५) के राज्यकाल में ईसाई धर्म को राजधर्म बनाने के फलस्वरूप रोम के प्राचीन देवता क्रुद्ध हो गये और उनकी कोपदृष्टि से रोम नष्ट-भ्रष्ट हुआ। इस आरोप का खण्डन करने के हेतु ऑगस्तीन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि सिवितास दीई', (देव नगर) का प्रणयन किया। उन्होंने सिद्ध किया कि यदि यह आरोप सत्य होता कि ईसाई धर्म ग्रहण करने के कारण रोम पर बर्बर जातियों के आक्रमणों की आपत्ति टूटी तो इन आक्रमणों में ईसाई गिरजाघरों और धर्मस्थानों को सुरक्षित घोषित करके उनमें शरण लेने वाले रोमनों को क्यों अभयदान दिया

७. जोजफ मेक्काबे, सन्त आगस्तीन एण्ड हिज एज (१९०२) लुई बरत्राँ, संत आगस्तीन (१९१३)

जाता। यही नहीं, आक्रमणकारियों ने स्वयं बहुत-से लोगों को इन स्थानों में धकेल कर अपने शिकार स्वयं अपने हाथों से छोड दिये। क्या कभी पहले किसी धर्म के पवित्र स्थानों को इतना महत्त्व मिला है? यह ईसाइयत का ही प्रभाव था कि इसका अनुयायी गॉथ योद्धा एलेरिक रोम पर अधिकार करने में समर्थ हुआ जबकि यूनानी-रोमन धर्म का कट्टर समर्थक रेदेगायसस और उसकी सेना रास्ते में ही नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। यदि इन यूनानी रोमन देवताओं में सचाई होती तो वे त्राय को क्यों नष्ट होने देते और यदि वे इस महान् नगर को नहीं बचा सके तो वे कैसे रोम की रक्षा कर सकते। इन युक्तियों से ऑगस्तीन ने प्रचलित आरोपों का खण्डन किया और इस दिशा में विचार करते हुए अपने इतिहास-दर्शन का प्रतिपादन किया।

ऑगस्तीन ने देव-नगर और पाप-नगर के विरोधाभास का प्रतिपादन करते हुए इतिहास की व्याख्या की। समय की उत्पत्ति से पहले ईश्वर का अमर-अजर अस्तित्व था। उसने देवताओं और मनुष्यों की सृष्टि की। ये देवता (फरिश्ते) स्वतंत्र थे और ईश्वर के आज्ञापालन के लिए बाध्य नहीं थे। अतः कुछ ने अपने आप से प्रेम करना आरम्भ कर दिया। इनको पापों की शृंखलाओं में जकड़ कर अन्धकार में फेंक दिया गया। सर्प के प्रलोभन द्वारा मनुष्य पाप के अधीन हो गया और ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करके वर्जित फल खा बैठा और फलतः जन्म, जरा तथा मृत्यु के कष्टकारी क्रम का बन्दी बन गया। किन्तु ईश्वर ने फिर भी दया करके उसे अपनी पुष्टि से अभिसिंचित किया। ईश्वर के आज्ञाकारी देव और मनुष्य दिव्य नगर के निवासी हो गये और उसके विरोधी अपने आप को सब कुछ समझने वाले लोग पापके नगर में बस गये। इन दोनों नगरों की प्रगति समान रूप से चली। पाँच युग बीत चुके हैं और छठा समाप्ति पर है। पहले युग में आदम और उसके वंशज की अभिवृद्धि हुई। केन ने अपने भाई आबल को मार कर प्रथम पार्थिव नगर की स्थापना की। मनुष्य की स्त्रीपरायणता के दण्डस्वरूप ईश्वर ने महाप्रलय के अभिशाप द्वारा उनका अन्त किया। नोह और उसके पुत्र हीं इस संकट से बच पाये। उसकी नौका चर्च की प्रतीक थी, जिसके द्वारा ईश्वर मनुष्य को मुक्ति का वरदान देता है। दूसरे युग में नोह के पुत्रों से जातियों की उत्पत्ति हुई। इनमें यहूदी देव-नगर के निवासी थे। दूसरे लोगों ने गर्व से सिर उठाया और बाबुल की ऊंची मीनार द्वारा ईश्वर को चुनौती दी। ईश्वर ने इनका दर्प ढीला करने के लिए उनकी भाषाओं को अस्पष्ट कर दिया। तीसरे युग में भगवद्भक्ति इब्राहीम की संतति में ही बची रही। ईश्वर ने उन्हें कनान का देश दिया। साल के साम्राज्य

में धर्म-राज्य का पूर्वाभास मिला। तीसरे, चौथे और पाँचवें युग दाऊद से ईसु के जन्म तक चले। सुलेमान के राज्य का विभाजन आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्वों के पृथक्करण का प्रतीक था। पैगम्बरों के युग के बाद यहूदियों में पाप बढ़ गया। ईसू का आगमन हुआ। शब्द ने शरीर ग्रहण किया। देव-नगर चर्च के रूप में प्रकट हो गया।

उपर्युक्त युगों में जब देव-नगर में परिवर्तन हो रहे थे तो पापनगर में भी साम्राज्यों का उत्थान पतन-हुआ। ये साम्राज्य दर्प और दम्भ के प्रतीक थे। बाबुल के बाद असुरिया ने उन्नति की और उसके पतन पर रोम उठा। रोम की सफलता भगवान् की कृपा की प्रतीक थी। किन्तु पाप, अत्याचार, अन्याय, अनैतिकता, अनौचित्य ने इसे दबोच लिय। कष्ट, यातना, और पराभव से भी उन्होंने शिक्षा नहीं ली। फलतः उनका ह्रास हो गया। किन्तु ईसाईयों के लिए रोम का यह पतन निरर्थक और नगण्य है क्योंकि उनका वास्तविक जगत् तो इससे बहुत दूर है।

सातवें युग में ईसू मसीह मृत और जीवित का न्याय करने के लिए अवतीर्ण होंगे। पाप बन्द हो जायगा। ईसू और उनके प्रिय सन्त हजार वर्ष तक पृथ्वी पर निवास करेंगे। फिर पाप मुक्त होकर देव नगर से जूझेगा। इस युद्ध के अन्त में मृत फिर से शरीर ग्रहण करेंगे, पापी अग्नि में झुलसेंगे और सन्त अनन्त साम्राज्य का आनन्द लेंगे। इसके बाद आठवें युग का आविर्भाव होगा, तब 'शाश्वत सब्बात' शुरू होगा। लोग पाप से मुक्त होकर भगवद्भक्ति में लीन हो जायेंगे।

उक्त शब्दों में हमने ऑगस्तीन द्वारा अंकित इतिहास-क्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की है। इससे यह स्पष्ट है कि वे भगवान् को ही इतिहास का मुख्य अभिनेता मानते थे। सृष्टि में जो कुछ हो रहा है सब उसकी कृपा का फल है। न्याय, सौंदर्य, सत्य सब उसकी लीला है। सत्य और पाप के द्वन्द्व के कारण ही इतिहास में परिवर्तन होते हैं, साम्राज्यों का उत्थान-पतन होता है और संस्कृतियों का आगमन और विनाश होता है। सृष्टि से पतन, प्रलय और ईसू के आगमन तक जो घटना-क्रम चला इसका उपादान कारण भगवान् की लीला है। इसका अन्त चर्च का अभ्युदय और विकास, और सन्तों द्वारा अमरत्व की प्राप्ति है। इस प्रकार ऑगस्तीन ने इतिहास की प्रवृत्ति, दिशा और लक्ष्य निश्चित करके इसे एक दार्शनिक दृष्टिकोण प्रदान किया।

४. ओरोसियस—आगस्तीन के शिष्य पाउलस ओरोसियस (४१५ ख्री०) स्पेन के एक ईसाई थे। उन्होंने भी इस आरोप का खंडन किया कि वेन्दलों द्वारा रोम की विजय और विध्वंस ईसाइयत के प्रसार का परिणाम है। उन्होंने, पेगेन-

विरोधी सात अध्यायों में, इस उद्देश्य को स्पष्ट किया। इस ग्रन्थ का वर्ण्यविषय रोमन युग की आपत्तियों, यातनाओं, क्रूरताओं और अत्याचारों का वर्णन और विश्लेषण है। लेखक के मतानुसार भगवान् ने बाबुल, मकदूनिया, कार्थेज और रोम के साम्राज्यों द्वारा ईसाइयत के आगमन का मार्ग बनाया। इस धर्म की स्थापना के पश्चात् मानव कार्यकलाप में अभूतपूर्व मधुरता आ गयी। एतना का ज्वालामुखी पहले से कम फटने लगा और टिड्डियों के दल भी कम नुकसान करने लगे। ट्यूटन जातियों के आक्रमण इस बात की चेतावनी है कि यदि मनुष्य ईसाइयत को स्वीकार नहीं करेगा तो उसके ऊपर और भी ऐसी ही कठोर आपत्तियाँ आयेंगी। ओरोसियस की कृति ४१७ पर समाप्त हो जाती है। इसमें रोम के पतन और ह्रास की ईसाई व्याख्या की गयी है।

५. **सेलवियन**—पाँचवीं शताब्दी में रोम की अवस्था बहुत बिगड़ चुकी थी। प्रशासन में अक्षमता और भ्रष्टाचार का साम्राज्य था। सामाजिक अशांति और आर्थिक अव्यवस्था चरम सीमा पर थी। करों का भार, अधिकारियों का शोषण और बर्बर जातियों की नृशंसता जीवन को दूभर बना रही थी। इस घोर त्रास और आतंक को मोसिला के सेलवियन नामक पादरी ने भावपूर्ण ढंग से अपनी पुस्तक, 'दि गूबरनासियोने देई' (भगवान् का राज्य) में व्यक्त किया। उनके सामने यह मुख्य प्रश्न था कि रोम का पतन क्यों हो रहा है। ऑगस्तीन ने इस प्रश्न का केवल इतना उत्तर दिया था कि इस पतन का दायित्व ईसाइयत पर नहीं है, ओरोसियस ने इस पतन को वरदान समझ लिया था, किन्तु सेलवियन ने रोमन चरित्र और ट्यूटन गुणों की तुलना करके यह निष्कर्ष निकाला कि रोम का अध:पतन उसके निवासियों के अवगुणों का परिणाम है। रोमन समाज का ह्रास उसके आन्तरिक दोषों के कारण हुआ। जर्मन जातियां रोमन लोगों से कहीं अधिक श्रेष्ठ थीं। रोमन समाज के दोषों का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—"निर्धन को दबाया और खसोटा जाता है, विधवाएं चीत्कार करती हैं, अनाथों पर अत्याचार किये जाते हैं। फलतः उनमें से बहुत से लोग जो अच्छे कुलों से सम्बन्धित हैं, जर्मन लोगों की शरण ढूंढते हैं जिससे वे भ्रष्ट प्रशासन और क्रूर स्वामित्व की यातना से बच सकें। वे बर्बरों में रोमन मानवता खोजते हैं क्योंकि रोमनों की बर्बर अमानुषिकता नहीं सह सकते।"··· इस प्रकार वे गॉथ और अन्य जर्मन जातियों की शरण में जाते हैं, क्योंकि वे बन्धन के वातावरण में मुक्त रहना स्वतंत्रता के आवरण में बन्दी रहने से ज्यादा अच्छा समझते हैं।"

इस प्रकार की चित्रमयी शैली में इस लेखक ने रोमन समाज के पतन का ज्वलन्त चित्र खींचा। उनकी यह धारणा बड़ी सारगर्भित थी कि किसी समाज के पतन का दायित्व उसके अपने दोषों पर होता है। बाहर के आक्रमण तो इस आंतरिक ह्रास के प्रतिबिम्बमात्र होते हैं। इन लेखकों ने रोमन पतन की भयंकर प्रक्रिया को ईसाई दर्शन की तूलिका से अंकित किया। इनकी कृतियां तात्कालिक परिस्थितियों के सुन्दर दर्पण हैं।

६. **बीदी**—इंगलैंड में रोमन साम्राज्य के ह्रास के पश्चात जूट, आंग्ल और सेक्सन जातियों के आक्रमण हुए। एंग्लो सेक्सन इतिहास-लेखन बीदी के ग्रन्थों में पल्लवित हुआ। बीदी (६७३-७३५) को अंग्रेजी इतिहास का जन्मदाता कहा जा सकता है। उनका सारा जीवन नोर्थम्ब्रया के जैरो नामक स्थान पर व्यतीत हुआ। बीदी अपने युग के प्रखर विद्वान् थे। उनकी, 'एक्लीजियास्तिकल हिस्ट्री' एक युगान्तरकारी रचना है। ५९७ से ७३८ तक के युग के लिए यही हमारी सूचनाओं का एकमात्र प्रामाणिक भण्डार है। उन्होंने इंगलैण्ड, गॉल, रोम, जर्मनी आदि की ऐतिहासिक सामग्री का पूर्ण उपयोग किया। बीदी का दृष्टिकोण विस्तीर्ण और वैज्ञानिक था। उनके बाद चर्च के इतिहास और इतिवृत्त पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये, किन्तु उनमें से कोई भी बीदी की रचना की टक्कर का नहीं है। एल्फ़्रैड आदि के इतिहास भी देशी भाषाओं में लिखे जाने लगे किन्तु उनकी चर्चा अगले अध्याय में की जायगी।

७—**बोसुए**—ईसाई इतिहास-दर्शन का उत्कर्ष और अन्त फ्रेंच लेखक बोसुवे की कृतियों में मिलता है। यद्यपि यह लेखक बहुत बाद का है, किन्तु ईसाई इतिहास-परम्परा के प्रसंग में उनके विचारों का अध्ययन युक्तिसंगत है। जाक बेबिन बोसुए (१६२७-१७०४) मियों के पादरी थे। उन्होंने, 'दिस्कोर्स स्यूर लू इत्स्वार यूनिवर्सल', (विश्व-इतिहास का निबन्ध) शीर्षक अपने ग्रन्थ में ईसाई इतिहास-दर्शन की अंतिम आवृत्ति की। उनके मतानुसार विश्व का सकल कार्यकलाप और इतिहास की सम्पूर्ण गतिविधि ईश्वर की इच्छा और लीला पर निर्भर है। कार्य-कारण की परम्परा जो साम्राज्यों के निर्माण और विघटन में प्रकट होती है ईश्वर की इच्छा को प्रतिबिम्बत करती है। ईश्वर ऊपर से सब की बागडोर घुमाता है। कभी वह मानव भावनाओं को उत्तेजित करता है तो कभी नियंत्रित। उसके अमोघ न्याय की प्रक्रिया सर्वत्र दृष्टिगोचर है। ईसू (क्राईस्ट) का आगमन ईश्वर की महान् और विशाल योजना का परिचायक है। यह योजना मनुष्य को पाप से

हटा कर सत्य और अमरत्व तक ले जा रही है। बोसुए ने ईसाई इतिहास को अपने युग के एकतंत्रात्मक राज्यों की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया। उनकी शैली बड़ी आकर्षक और साहित्यिक थी। इसलिए वे अपने ग्रन्थ को बुद्धिवाद और वस्तुवाद के उषाकाल में भी रोचक बना सके, किन्तु उनके युग के अन्य लेखक, उदाहरणार्थ आर्कबिशप ऊशर और डा० हार्तमान श्लेदर, तो इस दर्शन को लेकर दुरूहता के पंक में फँस गये। ऊशर की यह स्थापना कि ४००४ पू० ख्री० में संध्या के ६ बजे सृष्टि का निर्माण हुआ, एकदम उपाहासास्पद प्रतीत होती है।

अनुच्छेद ३—ईसाई इतिहास-दर्शन की विशेषताएँ

१. विश्वव्यापी, देवप्रधान, चमत्कारपूर्ण और युगपरक दृष्टिकोण—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि ईसाई दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास विश्व-व्यापी, देवप्रधान, चमत्कारपूर्ण और युगपरक है। इतिहास में ईश्वर की एक योजना कार्यशील है जिसका संदेश ईसा के आगमन द्वारा प्राप्त हुआ। इतिहास का अतीत ही आलोकित नहीं हुआ, इसका भविष्य भी उद्भासित हो उठा। इस प्रकार इतिहास की समूची प्रक्रिया हस्तामलकवत् हो गयी। इस प्रक्रिया में ईश्वर की योजना प्रमुख है और मनुष्य की इच्छा-शक्ति गौण। अतः व्यक्तियों की प्रतिभा इसकी गति और दिशा में कोई विशेष अन्तर उत्पन्न नहीं कर सकती। इस दृष्टिकोण से ऐतिहासिक घटनाएँ प्रवृत्तिमूलक सिद्ध होती हैं, व्यक्ति-प्रधान नहीं दिखाई देतीं। दिव्य प्रेरणा और योजना से नियंत्रित इतिहास की प्रक्रिया मनुष्य को अपने में लपेटे हुए अनन्त सुख और प्रसाद की ओर ले जा रही है। इस दृष्टिकोण से लिखे गये इतिहास में यद्यपि गम्भीर दार्शनिकता थी, किन्तु प्रचार और पक्षपात का भाव भी बहुत गहरा था। अतः तथ्य-निरूपण की दृष्टि से यह इतिहास पर्याप्त महत्त्वपूर्ण नहीं हो सका। इसकी आलोचना-पद्धति भी बहुत विकसित नहीं हो पायी। आजकल के वैज्ञानिक आलोचकों की दृष्टि में इसकी बहुत-सी स्थापनाएँ उपहासास्पद हैं। किन्तु इसकी मान्यताओं में यह गम्भीर रहस्य प्रच्छन्न है कि जातियों और संस्कृतियों का पतन नियमानुसार होता है और यह नियम व्यक्तियों की इच्छाओं से परे समष्टि की गति का परिचायक होता है। आजकल, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, इस नियम को अनेक प्राकृतिक, वैज्ञानिक तथा मानसिक नाम दिये जाने लगे हैं और इसे देवतत्व से पृथक् किया जा रहा है, किन्तु इसका मौलिक स्वरूप और कार्य ठीक वैसा ही है जैसा ईसाई विचारकों ने निर्धारित किया था।

परिच्छेद ४

मध्यकालीन इतिहास-दर्शन

अनुच्छेद १—बर्बर आक्रमणों के इतिहासकार

१. गॉथ जाति के इतिहासकार—रोम के पतन के समय जो बर्बर जातियों के आक्रमण हुए उनसे यूरोप में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए। पाँचवीं और छठी शती इन परिवर्तनों से भरपूर है। सामन्तशाही का विकास, ईसाई चर्च का प्रसार, पोप की शक्ति का उत्कर्ष इस काल की मुख्य विशेषताएँ हैं। इस वातावरण में इतिहास-दर्शन का कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हुआ। जो प्रवृत्तियां पहले से चल रही थीं वे ही गतिमान रहीं। इस युग के इतिहास-लेखकों की संख्या भी अधिक नहीं है।[1] अतः संक्षेप से उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देना पर्याप्त है।

पश्चिमी गॉथ जाति के स्पेन में बस जाने के बाद उनके इतिहास की ओर लेखकों का ध्यान गया। प्रसिद्ध ईसाई लेखक सेविल निवासी इसिदौर ने गॉथ और वेन्दल जातियों का वृत्तान्त लिपिबद्ध किया जो प्रशंसा की भावना से ओतप्रोत है। तालेदो के पादरी जूलियन (६८०-६९०) ने भी इस विषय में एक ग्रन्थ लिखा, किन्तु उसमें पक्षपातपूर्ण शब्द-जाल का बाहुल्य है।

२. वेंदल जाति के इतिहासकार—वेन्दल जाति की अफ्रीकी विजय (४२९-४३९) के विषय में विक्तर वितेन्सिस का इतिहास उपलब्ध है। किन्तु इसकी शैली व्यंग्यपूर्ण और कालक्रम अशुद्ध है। पोसिदियस की 'ऑगस्तीन की जीवनी,' कुछ अधिक महत्त्व रखती है और प्रोकोपियस का 'वेन्दल युद्ध का इतिहास' इससे भी अधिक उत्कृष्ट है। इस युग में अफ्रीका के लेखक फुलगेन्तियस (४८०-५५०) ने एक विश्व-इतिहास लिखने की चेष्टा की, किन्तु वह कुतूहलपूर्ण चमत्कारों

१. जी० जे० एस० हेज, 'एन इण्ट्रोडक्शन टु दि सोर्सेज रिलेटिंग टू दि जर्मनिक इन्वेजन्स' (न्यूयार्क १९०९)

और किंवदन्तियों में उलझ कर रह गये। तुनुन्ना निवासी विक्तर का इतिवृत्त इससे कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसका क्षेत्र सृष्टि के प्रारम्भ से ५६६ तक है, इसमें छठी शती की घटनाओं का ही संग्रह प्रामाणिक है।

३. ओस्त्रोगोथ जाति के इतिहासकार—ओस्त्रोगोथ जाति के इतिहास के विषय में पाविया के पादरी इन्नोदियस द्वारा लिखित थियोदोरिक का प्रशंसापत्र महत्त्वपूर्ण है। गॉथ इतिहास का प्रसिद्ध लेखक मेगनस ऑरेलियस केसियोदोरस सिनेतर (४८०-५७५) था। उनके तीन ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं—(१) विश्व-इतिहास, जो यूसेबियस और प्रोस्पर की कृतियों पर आधारित हैं, (२) सोक्रेतीस, सोजोअन और थियोदोरतस के इतिहासों की लातीनी छाया और (३) गॉथ जाति का इतिहास। यह अन्तिम कृति बहुत ही सारगर्भित थी किन्तु दुर्भाग्य से यह लुप्त हो गयी है और जोदीन द्वारा संक्षिप्त इसका एक गँवारू-सा संस्करण मिलता है। वास्तव में उस युग में पढ़े-लिखे लोग मुख्यतः पादरी होते थे और उन्हें लौकिक इतिहास में कोई विशेष रुचि नहीं थी। वे सन्तों और साधुओं के वृत्तों में अधिक श्रद्धा रखते थे। अतः केसियोदोरस का महत्त्वपूर्ण इतिहास कालकवलित हो गया। जोर्दानि के संस्करण में जर्मन जाति के संक्रमण का पूर्ण वृतान्त मिलता है। लेखक का दृष्टिकोण जर्मन है। उसने बर्बर-जगत् को जातियों की उद्योगशाला, (ओफी-सीना जेन्तियम), कहा है। कहीं-कहीं इसमें उत्तेजना-जनक दृश्य भी मिलते हैं जो बियोबुल्फ की याद दिलाते हैं। इसके वातावरण में धार्मिक रंग नहीं हैं। लेखक की आलोचना-शक्ति भी तीव्र नहीं है।

४. ग्रिगोरी का फ्रेंक राजाओं का इतिहास—बर्बर दृष्टिकोण को सुन्दरता से चरितार्थ करने वाला इतिहास ग्रन्थ तूर के पादरी ग्रिगोरी का 'फ्रेंक राजाओं का इतिहास' है। ग्रिगोरियस फ्लोरेन्तियस (५३९-५९४) ने गॉल के छठी शताब्दी के वातावरण को पूर्णतः आत्मसात् कर लिया था। गॉल में रोमन, ईसाई और जर्मन (फ्रेंक) संस्कृतियों के सम्मिश्रण से एक सुन्दर मेरीविंजियन संस्कृति निष्पन्न हुई थी। ग्रिगोरी ने इस वातावरण को प्रतिबिम्बित किया। उनका 'फ्रेंक जाति का इतिहास' (हिस्तोरिया, फ्रेङ्कोरम) मध्यकाल की सर्वप्रसिद्ध रचना है। यह ५९१ तक के फ्रेंक इतिहास का सम्पूर्ण विवरण है। इसमें चर्च, प्रशासन, आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक कार्य-कलाप, सांस्कृतिक वातावरण आदि पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। व्यापार, दासता, आचार, नीति, शिक्षा, अन्धविश्वास आदि विषयों की भी उसमें बहुमूल्य सूचनाएँ भरी पड़ी हैं। इसकी भाषा में ओज

और तेज है। कहीं-कही लातीनी भाषा अशुद्ध और असंयत हो गयी है जैसा कि वर्बर साहित्य की भाषा बहुधा होती है।

फ्रेदेगर के इतिहास की भाषा तो और भी अधिक भ्रष्ट हो गयी है। इस युग में सन्त-चरित भी बहुत कुछ लिखा गया। किन्तु यह साहित्य अधिकाशंतः गल्प-पूर्ण है।

५. इंगलैंड के इतिहासकार—पाँचवीं शती के अन्तिम भाग में इंगलैंड में जूट, आंग्ल और सेक्सन जातियों के आक्रमण हुए। किन्तु किसी इतिहासकार ने उनका प्रामाणिक वृत्तान्त लिपिबद्ध नहीं किया। गिल्डास और नेन्नियस ने कुछ कथानक संगृहीत किये, किन्तु उनमें आलोचनात्मक दृष्टि का अभाव सा है। नेन्नियस के ग्रन्थ "हिस्तोरिया ब्रितोनम" में आर्थर के आख्यान पाये जाते हैं। इस युग में "इतिवृत्त" (क्रोनिकिल) अधिक लिखे गये। इनमें एंग्लो-सेक्सन इतिवृत प्रसिद्ध हैं। वे केवल तिथियों की तालिकाएँ नहीं हैं, वरन् घटनाओं के क्रमबद्ध विवरण भी हैं।

अनुच्छेद २—केरोलिंजियन युग का इतिहास-लेखन[२]

१. मठों के इतिवृत्त—सातवीं शताब्दी यूरोप का सबसे अन्धेरा काल था। किन्तु इस निशीथ में अरुणोदय का आश्वासन भी था। अंग्रेज धर्मप्रचारक विलिबरोर्द, विलिबाल्द, बोनीफास इत्यादि फ्रिसिया में कार्य करने लगे। वहाँ से यह धर्म-प्रचार की लहर गॉल और जर्मनी में फैल गयी। नवीन मठ और विहार बनने लगे। एंग्लो-सेक्सन क्रॉनिकिल की प्रेरणा से पुल्दा का इतिवृत्त और सन्त आमान्द्र का कथानक लिपिबद्ध किया गया। शार्लमेन के आदेश से प्रत्येक मठ ने अपने-अपने वार्षिक विवरण रखने शुरू कर दिये। इस प्रकार के बहुत-से इतिवृत्त उपलब्ध हैं। लोश के मठ का इतिवृत्त तो बहुत ही प्रसिद्ध है। इसका एक अंश, जिसमें ७९३ से ८०१ तक की घटनाओं का वर्णन है, सम्भवतः शार्लमेन के जामाता एगिलबर्त का लिखा हुआ है। उनको होमर की उपाधि से पुकारा जाता था। इस इतिवृत्त का एक भाग शार्लमेन के सचिव आइनहार्द का लिखा हुआ है। इस प्रकार इस इतिवृत्त का रूप अर्धराजकीय है।

२. **हान्ज प्रुत्ज, दि एज ऑव शार्लमाइन (१९०५)**

२. शार्लमेन के इतिहासकार—इस युग का सर्वश्रेष्ठ लेखक आइनहार्त या आईनआर्द था। उनकी 'विता करौली' स्वितोनियस के 'लाईव्ज आफ सीजर्स' के नमूने की रचना है। इसमें पुरानी यूनानी लातीनी जीवन-चरित्र-पद्धति को अपनाया गया है। यद्यपि इसमें शार्लमाइन का उत्कृष्ट चित्रण हुआ है, परन्तु शिल्देरिक तृतीय का व्यक्तित्व हास्यमय और व्यंग्यप्रधान हो गया है। ऐसे स्थलों पर प्रचारक दृष्टि प्रमुख हो गयी है। शार्लमाइन ने मोन्ते कासिनी के पादरी पॉल वार्नेफ्रिद को लोम्बार्द जाति का इतिहास लिखने के लिए नियुक्त किया। उनका इतिहास मध्यकाल की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें स्केन्दीनेविया से लोम्बार्द जाति के प्रस्थान और विजययात्राओं का सजीव वर्णन है। ग्रिगोरी की तरह इसमें चमत्कारपूर्ण और अलौकिक घटनाओं का उल्लेख नहीं है। यद्यपि लेखक कवि भी था, पर उसकी दृष्टि अधिक संतुलित है। इस युग में जीवन-चरित्र-लेखन का भी प्रचार बढ़ा। ईजिल द्वारा लिखित 'स्तुर्मी की जीवनी', इस ढंग की उत्तम कृति है ।

शार्लमेन की मृत्यु के पश्चात् (८१४) उसका विशाल साम्राज्य जर्जरित हो गया। नोर्स जाति के आक्रमणों ने सर्वत्र ध्वंस-लीला मचा दी। किन्तु इतिहास-लेखन की परम्परा चलती रही। नवीं शती में लुई दि पायस (पवित्र लुई) की दो जीवनियाँ लिखी गयीं। शार्लमेन के दौहित्र नितहार्द ने, 'इतिहास के चार अध्याय', (हिस्तोरियारम लिब्री क्वातुऔर) में शार्लमेन की मृत्यु और उससे सम्बन्धित गृहयुद्ध और ८४३ के वरदून के राज्य-विभाजन का प्रामाणिक वर्णन किया। मठों के इतिवृत्त भी चलते रहे। प्रूम के रेजिनो ने अपने, 'क्रानिकोन', (इतिहास) में इनमें से कुछ का सारांश लिखा और घूम-धाम कर बहुत से तथ्य एकत्रित किये। पोपों की जीवनियाँ भी बराबर लिखी जाती रहीं। जान दि दीकोन ने ग्रिगोरी महान् की एक बृहदाकार जीवनी लिखी। आर्कबिशप एगनेलस ने रावेन्ना के पादरियों की जीवनियाँ तैयार कीं ।

३. नवीं शती के इतिहासकार—नवीं शती में धर्म और राष्ट्र की कलह शुरू हो गयी। अतः इतिहासकारों में भी पक्षपात भर गया। रातबर्तस ने वाला और अदलहार्द की जीवनियों में लुई दि पायस का विरोध किया। आर्कबिशप हिंकमार ने, 'दि ओदिने पालाति', (राजमहल का शासन) में कृत्रिम साक्ष्य का सहारा लेकर धर्मपरक राज्य के सिद्धान्त का समर्थन किया। किन्तु इस युग में क्लासिकल विद्या को सुरक्षित रखने का भी कुछ प्रयास हुआ। अबोत लूपुस के पत्र इस प्रयत्न

का साक्ष्य देते हैं। दुर्भाग्य से उनकी प्रसिद्ध 'हिस्तोरिया रोमाना' नष्ट हो गयी है। नोर्स आक्रमणों के फलस्वरूप यह कृति तथा अन्य उत्कृष्ट इतिहासग्रन्थ लुप्त हो गये।

अनुच्छेद ३—जर्मन इतिहासकार

१. सेक्सनी का इतिहासलेखन—नवीं शती में पश्चिमी और मध्य यूरोप अराजकता और अव्यवस्था में विनिमज्जित हो गया। इसके बाद सर्वप्रथम जर्मनी के सेक्सन वंश (९१९-१०२४) ने शान्ति और शासन की स्थापना की। फलतः सेक्सनी में इतिहास-लेखन का प्रचार बढ़ा। सर्वत्र मठों के इतिवृत्तों का क्रम चल निकला। इनमें राइशेनाऊ, लोब्स, सन्त एमेराम, सन्त मेक्सिमिन, वाइनगार्तन और सन्त गॉल के इतिवृत्त उल्लेखनीय हैं। लोरेन और मेत्स में बौद्धिक वातावरण विशेष रूप से फैला और इतिहास-लेखन की भी उन्नति हुई।

२. विदुकिन्त का सेक्सन जाति का इतिहास—सेक्सन युग में उत्तरी आक्रमणकारियों का दृष्टिकोण विशेष रूप से इतिहास-लेखन में प्रतिबिम्बित हुआ। कोर्वे निवासी विदुकिन्त ने एक विस्तृत सेक्सन इतिहास लिखा। इस लेखक की शिराओं में विशुद्ध रक्त गतिमान् था। उन्हें अपनी जाति पर गर्व था। उन्होंने अलिखित कथानकों और आख्यानों का प्रयोग करके अपना इतिहास तैयार किया। उन्होंने सेक्सनों को एक पश्चिमी जाति बताया। उनके मतानुसार सेक्सन लोग एक तेज़ छोटी तलवार (सहस) रखते थे। इसीसे उनका नाम सेक्सन पड़ा। उन्हें एल्बे के पार रहने वाले स्लावों से घृणा थी। अतः उन्होंने हेनरी प्रथम के ९२९ के हेवल के पार के अभियान का ज्वलन्त वर्णन किया। ९३३ की उन्सत्रुत की विजय का वर्णन करते हुए तो उनकी लेखनी बड़ी तीव्र हो जाती है। हंग्री के लोगों पर सेक्सन जाति की विजय का चित्रण करते हुए लेखक उन्मत्त हो जाता है। यद्यपि इस ग्रन्थ की भाषा मध्यकालीन लातीनी है, इसकी आत्मा विशुद्ध सेक्सन है।

४. थाइतमार का क्रोनिकोन—बाद के सेक्सन राजाओं का वृतान्त मेर्सेवर्ग के पादरी थाइतमार की 'क्रानिकोन' में सुरक्षित है। यह ग्रन्थ बहुमूल्य सूचनाओं का भण्डार है। विशेषतः हेनरी द्वितीय के पोलिश युद्धों और स्लावों के विरुद्ध उनके अभियानों का वर्णन और विवरण इस ग्रन्थ की विशेषता है। लेखक का दृष्टिकोण विस्तीर्ण था। उन्होंने आर्थिक और सांस्कृतिक तथ्यों की ओर भी संकेत किये हैं।

४. **हिल्देब्रांत का युग**—सेक्सन वंश हेनरी प्रथम से आरम्भ होकर हेनरी द्वितीय के राज्यकाल तक अर्थात् ९१९ से १०२४ तक रहा । इसके बाद सेलियन वंश के नरपतियों ने १०२४ से ११२५ तक राज्य किया। इसमें मठों में सुधार हुए और चर्च और राज्य का संघर्ष बढ़ा । यह हिल्देब्रांत का युग था। इस युग का इतिहास-लेखन भी इसकी महत्ता के अनुरूप रहा । विपो ने कोनराद द्वितीय की जीवनी से इस युग के इतिहासलेखन का श्रीगणेश किया । राइशनीऊ के इतिवृत्त के लेखक हेरमान कोन्त्रकतस ने ईसाई संवत्सर के प्रवंतन से १०५४ तक का एक विश्व-इतिहास लिखा। इसका अन्तिम भाग महत्त्वपूर्ण है। ग्यारहवीं शती के जर्मनी की सर्वश्रेष्ठ इतिहास-कृति लाम्बर्त का हेर्सफेल्द का इतिवृत्त है। इनकी शैली रोचक है और उन पर रोमन इतिहासकार लिवी की स्पष्ट छाप है। किन्तु उनका कोनोसा काण्ड (१०७७) का वृत्तान्त असत्य सिद्ध हो चुका है।

५. **राष्ट्र और चर्च का द्वन्द्व**[3]—सम्राट् हेनरी चतुर्थ और पोप ग्रिगोरी सप्तम के संघर्ष से राष्ट्र और चर्च का जो द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ था उसने इतिहास-लेखन की दिशाएं बदलीं । लेखक एक या दूसरे के समर्थन में लेखनी उठाने लगे । ग्रिगोरी दल का सर्वश्रेष्ठ लेखक लाउतनबाख निवासी मानेगोल्द था। उन्होंने ऑगस्तीन की युक्ति पर चलते हुए यह सिद्ध किया कि चूंकि राजा प्रजा पर निर्भर रहता है और उसकी शक्ति और प्रभुत्व प्रजा की देन है, इसलिए वह दैवी शक्ति पर आधारित चर्च की सत्ता से निम्न है। इस लेख की ध्वनि सत्रहवीं शती के राजनीतिक विज्ञापनों से मिलती-जुलती है। हेनरी के पक्ष का प्रमुख लेखक रावेन्ना का वकील पेत्रस क्रासस था। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि राजा और पोप के क्षेत्र विभिन्न हैं और दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में सर्वोपरि हैं ।

६. **ग्यारहवीं शती का इतिहास-लेखन**—ग्यारहवीं शती में पुरानी इतिहास-पद्धति बेकार हो गयी थी। इतिहास-लेखन विशुद्ध तथ्यात्मक न रहकर, व्याख्यापरक भी होने लगा था। कार्य-कारण श्रृंखला को खोजने का प्रयास बढ़ रहा था। कोन्त्रेक्तस के विश्व-इतिहास में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। उनके शिष्य बर्थोल्द ने इस इतिहास को आगे बढ़ाया । एक्केहर्दि ने भी एक विश्व-इतिहास लिखा । उनकी कृति मध्यकाल की सर्वोत्कृष्ट रचना मानी जाती है। उनकी दृष्टि भी

३. जे० डब्लू० टॉम्पसन, फ्यूडल जर्मनी (शिकागो १९२९)

व्यापक थी। यूरोप के सब देशों के वृतान्त उन्हें हस्तामलकवत् थे। उनकी दृष्टि इतनी संतुलित थी कि ईसाई धर्म-युद्ध (क्रूसेड) की आँधी में भी वे अपना तटस्थ दृष्टिकोण बनाये रहे।

ग्यारहवीं शती के विश्व-इतिहास इस काल की राजनीतिक अवस्था के प्रतिबिम्ब हैं। ओटो महान् के राज्यकाल से जर्मन साम्राज्य का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। जर्मन सम्राट् कैसर रोम और शार्लमेन के उत्तराधिकारी माने जाते थे। बाल्तिक सागर से एद्रियातिक और रोम-सागर तक उनका प्रभुत्व था। अतः उनके इतिहासकारों की दृष्टि भी व्यापक हो गयी थी। बारहवीं शती में प्रचलित रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह उठ खड़ा हुआ था। नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना और अरबी तथा रोमन विद्याओं के पुनरुत्थान से मानसिक क्षितिज बदलने लगे थे। इस वातावरण का प्रभाव इतिहास-लेखन पर भी पड़ा।

उन दिनों जर्मनी में यह विवाद बढ़ रहा था कि प्रत्येक डची का स्वतंत्र शासन हो या समूचे देश में एकतंत्रीय राज्य हो। हेनरी पंचम की मृत्यु के पश्चात् गृह-युद्ध की सम्भावना बढ़ी, किन्तु एक निर्वाचन-समिति ने लोथार को राजा नियुक्त कर दिया। लोथार के अभिषेक से इतिहास-लेखन को बड़ी प्रेरणा मिली। स्थानीय इतिवृत्तों का ताँता बंध गया। इनमें से बहुत से इतिवृत्त बाद के संग्रहों में संचित हो गये। इस युग में प्रसिद्ध सेक्सन इतिहासकार आनालिस्ता सेक्सो का अविर्भाव हुआ। इन्होंने चार्ल्स मारतल (७१४-७४१) से लगाकर लोथार द्वितीय तक का वृतान्त लिपिबद्ध किया। इसी युग में लोक भाषा में पद्यबद्ध 'काइजेर-क्रोनिक' लिखी गयी। इसमें जूलियस सीजर से कोनाराद तृतीय तक के काल की घटनाओं का वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस कृति का विशेष महत्त्व नहीं है। किन्तु इसने लोक-भाषाओं के इतिहासलेखन को यथेष्ट प्रेरणा दी।

६. ओटो की क्रोनिका—बारहवीं शती की सर्वश्रेष्ठ रचना फ्राइसिंग के ओटो की, क्रोनिका, (इतिहास) है। यह लेखक सम्राट् फ्रेडरिक प्रथम बारबारोसा का चचा था। उन्होंने आगस्तीन की प्रेरणा से इतिहास का अध्ययन किया। उनकी स्थापना यह थी कि मध्यकालीन साम्राज्य रोमन साम्राज्य का ही विवर्त है। उनकी व्यापक दृष्टि सृष्टि से धर्मयुद्ध तक पहुँची। उनके आलोचनात्मक मस्तिष्क ने यह खोज निकाला कि कोंसतेन्ताइन का प्रसिद्ध दानपत्र कृत्रिम है। उनकी धारणा थी कि इतिहास की प्रत्येक घटना ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट एक विशाल और महान् योजना का अंग है। इस विश्व-इतिहास के अतिरिक्त ओटो ने अपने भतीजे फ़्रैडरिक

बारबारोसा का एक विस्तृत इतिहास लिखा। यह इतिहास मौलिक सामग्री से परिपूर्ण है। प्राच्य व्यापार द्वारा लोम्बार्द नगरों ने जो समृद्धि और स्वाधीनता प्राप्त कर ली थी और उसके फलस्वरूप उन्होंने अपने आप को सम्राट् और पोप दोनों से मुक्त करने की जो चेष्टा की थी उसका इस ग्रन्थ में विशद वर्णन है। इस सामाजिक क्रान्ति का श्रेष्ठतर विवरण आज तक नहीं लिखा गया। ओटो के इतिहास को उन्हीं के नामराशि सन्त ब्लाजीन के एक पादरी ने जारी रखा।

इस युग में जर्मन जाति की प्राच्य प्रगति का और उसके द्वारा एल्बे के पार की स्लाव जातियों की पराजय का इतिहास भी प्रमुख रूप से लिखा गया। इन लेखकों में ब्रेमन निवासी आदम, होल्स्ताइन-निवासी हेलमाँद और ल्यूबक-निवासी आनोल्द के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। जर्मनी के इन इतिहासकारों ने महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन किया और अपनी विस्तीर्ण दृष्टि का परिचय दिया।

अनुच्छेद ४—इटली के इतिहासकार[४]

१. **वेनेदिक्त और लिउतप्रान्त**—९६२ में ओटो महान् ने इटली पर जर्मन राज्य स्थापित किया। तब से जर्मनी और इटली का इतिहास एकीकृत हो गया। बहुत-से इटली के इतिहासकार तो जर्मन आधिपत्य को अभिशाप समझते थे। वेनेदिक्त नामक एक पादरी ने ३६० से ९७३ तक का इतिहास लिखा और इटली के पराभव पर बड़ा खेद प्रकट किया। यह ग्रन्थ पूर्व इतिहासकारों के लेखों के उद्धरणों का संग्रह-मात्र है। इसका मौलिक महत्त्व कम है। केवल इसका दृष्टिकोण नया है। साथ ही बहुत-से इतिहासकारों ने इटली पर जर्मनी के साम्राज्य की सराहना की। इनमें लिउतप्रान्त का नाम उल्लेखनीय है। उनकी, 'हिस्तोरिया ओतोनिस', और 'एन्तापोदोसिस', दसवीं शती के इटली के इतिहास के आकर-ग्रन्थ हैं। इनका सांस्कृतिक महत्त्व भी बढ़ा-चढ़ा है। ९६८ में लिउतप्रान्त को ओटो ने राजदूत बनाकर कुस्तुनतुनिया भेजा था। उन्होंने इस दौत्य का वर्णन अपनी प्रसिद्ध कृति 'रिलासिओ द लिगासियोने', में किया। इसमें उन्होंने पश्चिमी लातीनी जर्मन देशों और बाइजेन्ताइन के पूर्वी साम्राज्य के राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक भेदों पर

४. **ऊगो बालजानी, अर्ली कानिक्लर्स ऑव यूरोप; इटली (लन्दन और न्यूयार्क १८८३)**

यथेष्ट प्रकाश डाला। पाश्चात्य ईसाईयत और प्राच्य ईसाईयत के इन दो क्षेत्रों को यह लेखक भिन्न समझता था। उन्होंने लातीनी संस्कृति और यूनानी संस्कृति के भेद का विस्तृत वर्णन किया है। सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टिसे इस ग्रन्थ का बड़ा महत्त्व है। आजकल रूस और पाश्चात्य यूरोप का जो विरोध है उसके मूल में ट्वायनबी-जैसे इतिहास-मर्मज्ञ रोम की लातीनी ईसाईयत और बाईजन्तियम की यूनानी ईसाईयत के भेद को प्रतिष्ठित करते हैं और लिउतप्रान्त के उक्त विवरण का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।[5]

२. **आरनुल्फ**—नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं शतियों में रोम में इतिहास-लेखन में विशेष प्रगति नहीं हुई। केवल लिबेर पोन्तीफिकेलिस के रूप में पोपों के जीवन-चरित्रों की परम्परा चलती रही। ग्यारहवीं शती में लोम्बार्दी में जो नागरिक और आर्थिक क्रान्ति हुई उसके फलस्वरूप उत्तरी इटली में स्वतंत्र और स्वाधीन नगर-राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ और नागरिक इतिहास-लेखन को बड़ी प्रेरणा मिली। इस दृष्टि से मीलान के आर्कबिशप आरनुल्फ का, अपने युग का इतिहास, (रेरूम सुई तेम्पोरिस) महत्त्वपूर्ण रचना है। इन दिनों राजा और पोप का संघर्ष चल रहा था। इटली के उदीयमान नगरों के लोग सम्राटों के पंजे से बचने के लिए पोपों की स्वायत्तता का समर्थन करते थे। चूंकि यह लेखक सम्राट् पक्ष से सम्बन्धित था, अतः एक उत्तेजित जन-समूह ने गिरजे में घुस कर इसे मुख्यासन से घसीट कर मारा-पीटा और मृत समझ कर छोड़ दिया। तात्कालिक परि-स्थितियों को समझने के लिए यह ग्रन्थ मूल्यवान् है।

३. **नागरिक इतिहास**—फ्रेडरिक प्रथम ने लोम्बार्दी में जो युद्ध किये उनसे स्थानीय इतिहास को यथेष्ट प्रोत्साहन मिला। बारहवीं शती से इटली के नगरों में इतिहास-लेखन का प्रचार बढ़ा। मीलान, जेनोवा, पीसा, वेनिस, फ्लोरेन्स, बेरगामो, पियासेन्जा लोदी आदि के स्थानीय वृत्त लिपिबद्ध किये जाने लगे। ये वृत्त आर्थिक दृष्टि से महत्त्वशाली हैं। इस युग में प्राचीन विद्याओं का भी पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। इतिहास को सार्वजनिक और लोकप्रिय रूप प्रदान करने की चेष्टा शुरू की गयी।

५. आनोल्ड जे० ट्वायनबी, एशियाज बाइजेन्टाइन हेरिटेज, सिविलिजे-शन आन ट्रायल, पृ० १६४–१८४।

४. दक्षिणी इटली और सिसली का इतिहास-लेखन—दक्षिणी इटली में लातीनी, यूनानी, अरबी और नॉर्मन फ्रेंच, संस्कृतियों का संगम हो रहा था। इस प्रदेश का इस युग का इतिहास यूनानी, अरब और लातीनी लेखकों ने लिपिबद्ध किया। अमातुस की हिस्टोरिया नोर्मेन्नोरम नॉर्मन युग पर अच्छा प्रकाश डालती है। आपुलिया निवासी विलियम का रॉबर्ट गुइसकार्द का जीवन-चरित्र नोर्मन इतिहास को कवित्व के रस से सानता है। इसके विपरीत बेनेबन्तुम के निवासी फाल्को का इतिवृत्त नॉर्मन विरोधी दृष्टिकोण को मुखरित करता है। तेलेसनिवासी एलेग्जेन्दर नोर्मन विजेताओं के प्रति अनुकूल भाव रखता था। इस युग में सालेनों के आर्कबिशप रोम्बाल्द ने सृष्टि से लगातार अपने युग तक का एक विश्व-इतिहास लिखा। इसका बहुत-सा भाग व्यर्थ है। तात्कालिक घटनाओं का वर्णन सूचनापूर्ण अवश्य है, किन्तु लेखक की पक्षपातपूर्ण दृष्टि उसे भी संदिग्ध बना देती है। सिसली के इतिहास को अमरत्व प्रदान करने वाला महान् इतिहासकार पालेर्मो-निवासी ह्यूगो फालकान्दस था। इनका 'लिबेरदूरेग्नो सिसिलिए,' (सिसली के राज्य का वृत्त) मध्यकाल की एक महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है। बहुत-से आधुनिक लेखक इस इतिहासकार को थूसीदाइदीस, पोलीबस, तेसीतस, लिवी आदि की टक्कर का समझते हैं। इन्होंने पालेर्मो की आर्थिक और व्यापारिक व्यवस्था का सुन्दर चित्र खींचा है और रेशम के निर्माण के विषय में अनोखे तथ्य प्रस्तुत किये हैं। उन पर प्राच्य प्रभाव भी प्रचुर मात्रा में परिलक्षित होता है। उनकी कृति सूचनाओं की महार्घ निधि है।

अनुच्छेद ५—सामन्तशाही युग के अन्य इतिहासकार

१. आंजू के सामन्तों और नॉर्मन जाति का इतिहास-प्रेम—दसवीं शती के फ्रेंच इतिहासकारों में फ्लोदार और रिशर के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने क्रमशः 'रहें के चर्च का इतिहास' और 'इतिहास के ४ अध्याय,' लिखे। तथ्यात्मक दृष्टिकोण से ये ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। ग्यारहवीं शती में सार्वजनिक चेतना (ग्रूप माइण्ड) की अभिव्यक्ति हुई। इस शती में आर्थिक और सामाजिक विकास भी हुआ। धर्म-युद्धों ने भावनाओं को उत्तेजित किया। धार्मिक आस्था बहुत बढ़ गयी। सर्वत्र रोमानस्क शैली के नये गिरजे बनने लगे। पादरियों और सामन्तों में संधि हो गयी जिसे 'ट्रूस ऑव गॉड'[६], कहते हैं। आँजू के सामन्तों ने इतिहास लेखन

६. ले क्लासिक द् लिस्त्वार द् फ्रांस ओ मोईयान आज (पेरिस १९२३)

को प्रोत्साहन दिया। काउण्ट फुल्क रेचिन की जीवन-कथा एक प्रसिद्ध रचना है। शाबान के निवासी आदमार की रचनाएं और विशेषतः उनका विश्व-इतिहास (क्रोनिकोन) इस काल की महनीय कृतियां हैं। उन्हें तात्कालिक इतिहास का प्रचुर ज्ञान था। अरबों के कार्य-कलाप का भी उन्हें पता था। उनका विस्तीर्ण दृष्टिकोण उस युग में श्लाघनीय था। नॉर्मन विजय और आधिपत्य के बाद नॉर्मन लोग भी इतिहास में रुचि प्रकट करने लगे। उनमें दुदों का नाम अग्रगण्य है। इस लेखक ने पद्य अ.र गद्य दोनों में नॉर्मन्डी के ड्यूकों का इतिवृत्त लिखा। विलियम केलकूलस ने इस इतिवृत्त को आगे बढ़ाया और हेसटिंग्स के युद्ध तक पूरा कर दिया। इस युग के इतिहासकारों में प्वातिए का निवासी विलियम भी प्रसिद्ध है। उनका, 'विलियम दि कोन्करर' का इतिहास मुख्यतः प्रशंसात्मक है।

२. बारहवीं शती का इतिहास-लेखन और गुइबंत दू नोजन्त—बारहवीं शती में बुद्धिवाद की लहर दौड़ पड़ी। नये-नये विश्वविद्यालय खुलने लगे। नागरिक समृद्धि और व्यापार बढ़ने लगे। गोथिक कला और लोकसाहित्य उन्नति करने लगे। गुईबंत दू नोजन्त ने इस नवीन वातावरण को मुखरित किया। १०९५ की घटनाओं को समझने के लिए वे आर्थिक और सामाजिक तत्त्वों का विश्लेषण करते हैं। जन-मनोविज्ञान का उन्हें काफी ज्ञान था और क्रूसेडों के इतिहास में उन्होंने इसका परिचय दिया। उनका बुद्धिवाद अपने युग से बहुत ऊँचा उठा हुआ था। वे अन्धविश्वासों के विरोधी थे और पुनरुत्थान के अग्रदूत थे। बारहवीं शती के मध्य से सन्त देनिस के पादरी फ्रैंच साम्राज्य के अधिकारी इतिहासकार थे। इस शती का सर्वश्रेष्ठ इतिहास-ग्रन्थ ओदेरिकल वीतालिस (११४२) का 'हिस्तोरिया एक्लीजियास्तिका' है। यह इतिहास ११४३ तक चलता है। वे मानते थे कि इतिहास दर्शन की व्यवहारिक शिक्षा है। अतीत के अध्ययन के आलोक में वर्तमान को समझा जा सकता है। अतः वे इतिहास के अध्ययन को बहुत महत्त्वपूर्ण समझते थे।

फ्रांस में सर्वप्रथम लोक-भाषा में इतिहासलेखन प्रारम्भ हुआ। गैमार, बास और विनोवा ने इतिहास के लिए लोक-भाषा का उपयोग किया।

३. नॉर्मन युग का अंग्रेजी इतिहास-लेखन[७]—नॉर्मन आधिपत्य के फलस्वरूप

७. सी० एच० हेसकिन्स, दि नॉर्मन्स इन यूरोपियन हिस्ट्री, पृ० १८३–८४.

अंग्रेजी इतिहास-लेखन को भी एक विस्तीर्ण दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। आदमेर (११२४) की 'हिस्तोरिया नावोरूम इन इंग्लिया,' इस दृष्टिकोण को प्रकट करती है। डरहम-निवासी साईमियन, हन्टिंगडन निवासी हेनरी, मेलमसबरी-निवासी विलियम, न्यूबरा-निवासी विलियम, पीटरबोरो-निवासी बेनिडिक्ट, होवेडन-निवासी रोजर, केन्टरबरी-निवासी जरवास और सन्त अलवान के सम्प्रदाय के इतिहासकार, जिनमें मेथ्यू पेरिस का नाम उल्लेखनीय है, इस युग के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक थे। इनमें आलोचनात्मक दृष्टि की प्रमुखता थी। इस युग में केल्तिक इतिहास-लेखन का भी प्रवर्तन हुआ। इसका सुन्दर प्रतीक मनमाउथ निवासी ज्योफ्रे की 'हिस्तोरिया ब्रितोनम' है। इनमें आर्थर के आख्यान और कथानक दृष्टिगोचर होते हैं।

बारहवीं शती के इतिहासकारों में रेल्फ द् दिसेतो (१२०२) का नाम उल्लेखनीय है। उनकी 'इतिहास की रूपरेखा', प्रसिद्ध रचना है। केन्टरबरी के आर्कबिशप स्तेफिन लेंगटन की 'रिचार्ड प्रथम की जीवनी', भी एक महत्त्वपूर्ण कृति थी, किन्तु अब यह लुप्त हो चुकी है। इस युग में इतिहास का दृष्टिकोण वैज्ञानिक और विस्तीर्ण हो गया था। गिरजाघरों में जो धार्मिक वृत्त लिखे गये और सन्त चरित तैयार किये गये उनमें आख्यानिक तत्त्वों के स्थान पर आलोचनात्मक तथ्यों की प्रधानता हो गयी।

अनुच्छेद ६—तेरहवीं शती के इतिहासकार[८]

१. मध्यकाल और पुनरुत्थान काल की संक्रान्ति—तेरहवीं शती मध्य काल और पुनरुत्थान युग का संक्रान्तिकाल थी। अतः इसमें मध्य काल और आधुनिक दोनों कालोंकी झलक मिलती है। इसमें धार्मिक दृष्टिकोण के साथ-साथ धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण भी पल्लवित हुआ। लातीनी साहित्य के साथ लोक-भाषाओं के साहित्य भी विकसित हुए। सब से बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि ग्यारहवीं बारहवीं शतियों में अभिजात कुलों और उच्च वंशों और पदों के व्यक्ति ही इतिहास-लेखन में रुचि रखते थे, किन्तु तेरहवीं शती में निम्न वर्गों के लोगों का महत्त्व बढ़ा। मिनोरित जैसे साधु सम्प्रदायों ने काफी अच्छा कार्य किया। नागरिक, व्यापारी और साहित्यिक

८. **हांज प्रत्ज, दि एज आव फ्यूडेलिज्म एण्ड थियोक्रेसी (न्यूयार्क, १९०५)**

भी इतिहास के प्रति विशेष रुचि प्रकट करने लगे। इनमें से कुछ तो सामन्तवर्गीय थे। विलहारदुँई और ज्वांविल इस वर्ग के लेखक थे। शिक्षा और संस्कृति के प्रसार के परिणामस्वरूप वुर्जुवा वर्ग नागरिक और स्थानीय इतिहास की ओर दत्तचित्त था। अतः तेरहवीं शती से नगरों के स्थानीय इतिहासों का प्रचलन बहुत बढ़ा। धार्मिक और लौकिक इतिहास का भेद लुप्त होने लगा। मानव इतिहास के छ. युगों का सिद्धान्त त्याज्य हो गया। आलोचनात्मक दृष्टि की प्रमुखता हो गयी। बारहवीं शती में सन्त विक्तर के निवासी ह्यूगो ने यह सिद्ध किया कि प्रत्येक ऐतिहासिक घटना को देश, काल और परिस्थिति की पृष्ठभूमि में रखकर जाँचना आवश्यक है। तेरहवीं शती में यह प्रवृत्ति बहुत बढ़ी। फ्रोइदमाँ के पादरी हेलीनन्द के 'विश्व इतिहास' में, जो ४९ भागों में विभक्त है, संतुलन-दृष्टि और स्रोत-सामग्री के निर्देशन बहुत विकसित अवस्था में मिलते हैं। इसी ढंग के ओक्सेर के निवासी रॉबर्ट तथा त्रोवा फोंतेन के निवासी आँबी के विश्व-इतिहास हैं।

२. **दोमिनिकन पादरियों की रचनाएं**—इसी शती में धार्मिक और साम्प्रदायिक इतिहासकारों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ। विशेष रूप से दोमिनिकन पादरियों ने नवीन दिशा में प्रगति की। सन्त लुई के तत्वावधान में बोवे के निवासी बिसेण्ट (११९०-१२६४) ने 'स्पेकुलम हिस्टोरियाले' (इतिहास का दर्पण) शीर्षक बृहत् विश्व-कोश लिखा। इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक क्षितिज बड़ा विशाल है। इसमें प्राचीन हिब्रू, मिस्री, बाबुली और रोमन धर्मों के विषय में भी आवश्यक सूचनाएं है, किन्तु यह एक संग्रह मात्र है। बर्नार्ड गुइ (१३३१) का फलोरेंज क्रोनीक्रुम, (इतिहास के युद्ध) विद्वत्ता, वैज्ञानिकता और प्रामाणिकता की दृष्टि से श्रेष्ठतर ग्रन्थ है। लेखक की सूक्ष्मता, संतुलन और निष्पक्षता सराहनीय हैं। त्रोपी के निवासी मार्तिन की 'क्रोनिकन पोन्तीफिकम एत इमपेरातोरम,' एच० जी० वेल्स की 'आउटलाइन ऑव हिस्ट्री' की तरह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ था। इसके अनुवाद अनेक लोकभाषाओं में हुए।

३. **राजकीय इतिहासकार**—इस युग में शासक और राजा भी इतिहास में रुचि प्रकट करने लगे। फ्राँस, इंग्लैंड, स्पेन आदि में राजकीय इतिहासकार नियुक्त किये जाने लगे। फ्रांस में गुय्याम द नाँगिस (१२८५-१३००) का विशाल संग्रह और 'ग्राँ क्रोनिक द् सें देनी' उल्लेखनीय है। ज्वाँविल का 'वी द् सें लुई' (सन्त दे लुई का जीवन चरित्र) मध्यकालीन सामन्तशाही संस्कृति का दर्पण है। इसमें सामन्तशाही प्रथाओं को आदर्श रूप दिया गया है। इसका वाता-

वरण वीरता और शूरता के कथानकों से ओतप्रोत है। मिस्र में नील के युद्ध का वर्णन तो बहुत ही प्रसिद्ध है। इंग्लैंड के इतिहासकारों में मेथ्यू पेरिस और कोवण्ट्री के बाल्टर की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। इनमें 'मेग्ना कार्ता' के युग का वातावरण प्रतिबिम्बित है। मेथ्यू पेरिस सन्त आल्बन्स के मठ की परम्परा के अनुयायी थे। वे हेनरी तृतीय के प्रिय लेखक थे। उनकी, 'क्रोनीका मेजोरा' और 'हिस्टोरिया माइनर' उस युग की प्रसिद्ध रचनाएं हैं। तिलबरी के जर्वास की 'ओतिया इम्पेरियालिया' विस्तीर्ण दृष्टिकोण और आदर्श से अनुप्राणित है। इसे मध्यकालीन युग के अन्त और पुनरुत्थान युग के आविर्भाव का दर्पण कहा जा सकता है। लेखक की दृष्टि प्राचीन रोम की इमारतों पर ठहरी है। फ्रांस, स्पेन, इटली आदि देश उनके दृष्टिपथ पर बने रहते हैं। रोमन इतिहास और मध्ययुगीन इतिहास एक सूत्र में बँध गये हैं। यह ग्रन्थ ओटो चतुर्थ को भेंट किया गया था।

इटली में तेरहवीं शती में नगर-इतिहासों का बोलबाला रहा। गेरार्दी मोरिसियो, फेरेतो, रोलन्दिनो और मुसातो के इतिहास बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें बुर्जुवा संक्रान्ति की झाँकी मिलती है। इनके अतिरिक्त वेनिस, जिनोबा और फीसा के इतिवृत्त इस युग के परिवर्तनों का साक्ष्य देते हैं। कुछ और महत्त्वपूर्ण विश्व-इतिहास भी इस युग में लिखे गये, इनमें फ्रा सेलिम्बेने (११६७-१२८७) की 'क्रोनीकिल' और सेन जेर्मानी के रिचार्ड की 'क्रोनीका रेगूनी सिसिलिए' उल्लेखनीय हैं।

जर्मनी इस शती में लगभग ३०० रियासतों में विभक्त हो गया था। उनमें कुछ पद्यबद्ध इतिहास अवश्य लिखे गये। किन्तु कोई विशेष उल्लेखनीय कृति नहीं रची गयी।

अनुच्छेद ७—बाइजेन्तियम का इतिहास-लेखन[१]

१. यूनापियस और जोसिमस—मध्यकाल के पूर्वी रोमन साम्राज्य के यूनानी इतिहासकार पश्चिमी राज्यों के लातीनी इतिहासकारों से अधिक वैज्ञानिक और सूक्ष्मदर्शी थे। यूनापियस और जोसिमस श्रेष्ठ इतिहासकार थे। जोसिमस

१. स्तेबिन रन्सीमेंन, बाइजेन्ताइन सिविलिजेशन (१९३३), ए० ए० वासिलिएफ, हिस्ट्री ऑव दि बाइजेन्ताइन एम्पायर, २ भाग (मेडीसन १९२८-२९)

अन्तिम पेगन इतिहासकार था। उसने पोलिबियस की परम्परा को जीवित रखा। उसके मतानुसार नियति इतिहास का नियामक तत्त्व है। इनके अतिरिक्त ओलिम्पियोदोरस प्रिस्कस और मालकस के इतिहास प्रसिद्ध हैं। इन्होंने विशिष्ट युगों का इतिहास लिपिबद्ध किया। किन्तु विश्व-इतिहास की परम्परा भी चलती रही। एपीफानिया के निवासी यूसतेथियस और मिलेतस के निवासी हेसीवियस ने विश्व-इतिहास लिखे। अन्तियोक के जोन ने भी आदम से लगाकर सन् ५१८ के सम्राट् एनेस्तेसियस के निधन तक का वृत्तान्त लिखा।

२. **जस्तीनियन-कालीन पुनरुत्थान**—छठी शती में सम्राट् जस्तीनियन (५२७-५६५) के राज्यकाल में जो साम्राज्य का पुनरुत्थान हुआ, उससे इतिहास-लेखन को बड़ी प्रेरणा मिली। उस समय इतिहासकारों की नूतन परम्परा का सूत्रपात हुआ जो अविच्छिन्न रूप से १२०४ में क्रूसेडों के सैनिकों द्वारा कुस्तुनतुनिया की विजय तक चलती रही और जिसके फलस्वरूप प्राच्य साम्राज्य का राजनीतिक इतिहास क्रमबद्ध रूप से लिखा जाता रहा। ये इतिहासकार एक महान् ऐतिहासिक परम्परा को अक्षुण्ण रखने की चेतना से अनुप्राणित थे। इन्होंने यथासम्भव प्राचीन यूनानी लेखकों के आदर्श का अनुसरण किया। कुछ ने हिरोदोतस और थूसीदाइदीस का अनुकरण किया और कुछ जीनोफोन और पोलीबियस के पदचिह्नों पर चले। इन आदर्शों के फलस्वरूप उनका दृष्टिकोण सत्यनिष्ठ, तत्त्वग्राही और नीरक्षीर-विवेकी बन गया। अतः उनकी कृतियों का वैज्ञानिक महत्त्व बहुत अधिक है। प्राच्य साम्राज्य में धर्म-सम्प्रदाय की प्रमुखता नहीं थी। वहाँ धर्म राज्य के अधीन था, राज्य धर्म के अधीन नहीं था। अतः वहाँ के इतिहासकारों ने बाइबिल सम्बन्धी इतिहास के भ्रामक उदाहरण और समानताएँ प्रस्तुत नहीं कीं। न वे सृष्टि के आदि या विकास से लगातार इतिहास लिखने के झंझट में पड़े। उनकी रुचि तात्कालिक इतिहास में ही केन्द्रित रही। सामान्यतः राजकीय कर्मचारी होने के नाते उन्हें घटनाओं के सूक्ष्म आन्तरिक स्वरूप का वैयक्तिक ज्ञान था। अतः उन्होंने विस्तृत रूप से घटनाचक्र का विश्लेषण किया। यह लक्ष्य करने की बात है कि बाइजेन्तियम के साम्राज्य में पादरियों का बहुत कम महत्त्व रहा। प्रायः सभी प्रख्यात इतिहासकार धर्म-निरपेक्ष थे। यह लक्षण प्राच्य और पाश्चात्य ईसाई संस्कृतियों के भेद का प्रतीक है।

३. **प्रोकोपियस**—जस्तीनियन के युग का प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोकोपियस था। उन्होंने सेनापति वेलीसेरियस के साथ अफ्रीका, इटली और फारस के अभि-

यानों में भाग लिया था। अतः बहुत-सी तात्कालिक घटनाएं उनके वैयक्तिक अनुभव में आयी थीं। उन्हें जर्मन और लातीनी जातियों से घृणा थी। जस्तीनयन की शासन-पद्धति की भी उन्होंने खुली आलोचना की। धार्मिक संन्यास और विहार-जीवन से उन्हें बड़ी अरुचि थी। उन पर थूसीदाइसीस का गम्भीर प्रभाव पड़ा। भाषा और शैली में वे उनका अनुसरण करते हैं। वे नियतिवादी थे और इतिहास में नियति की क्रीड़ा को मानते थे।

४. एगेथियास और मीनान्दर—एगेथियास ने ५३२ से ५५८ तक के जस्तीनियन के ईरानी युद्धों का इतिहास लिखा। उन्होंने सासानी सामग्री का गम्भीर अध्ययन किया। वे व्यवसाय में वकील थे और पेगन संस्कृति से बड़ी रुचि रखते थे। जस्तीनियन ने ५२९ में एथेन्स के विद्यापीठों को बन्द कर दिया था, जिसके फलस्वरूप यूनानी विद्वान् ईरान जाकर खुसरो महान् के दरबार में रहने लगे थे। एगेथियास ने इस घटना का मार्मिक वर्णन किया है। मीनान्दर ने उनके इतिहास को ५५८ से ५८२ तक बढ़ाया। उन्होंने दक्षिणी रूस की बर्बर जातियों का विस्तृत वर्णन किया और उनकी भौगोलिक तथा जातीय व्यवस्था का सूक्ष्म अध्ययन किया। बाइजेन्तियम के निवासी थियोफेनस ने ५६६ से ५८१ तक की घटनाओं को लिपिबद्ध किया।

५. जॉन ऑव एपीफानिया—जस्तीनियन के निधन के बाद की घटनाओं को एपीफानिया के निवासी जॉन ने 'फारसी युद्ध के इतिहास' में लेखबद्ध किया। यह लेखक खुसरो महान् का मित्र था। बहुत-से फारसी सामन्तों और अमीरों पर उनका गहरा प्रभाव था। इस युग में इबेग्रियस और एफेसस के निवासी जॉन ने, जो ईसाई था, इतिहास-लेखन में काफी प्रगति की।

६. थियोफिलेक्तस सिमोकाता—सम्राट् मोरिस (५८२-६०२) के राज्यकाल के लिए थियोफिलेक्तस सिमोकाता का इतिहास महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने पूर्वी एशिया के साम्राज्य का सुन्दर वर्णन किया है जो चीन ही हो सकता है। मार्को-पोलो से पहले यही यूरोपीय साहित्य में चीन का वास्तविक और प्रामाणिक वर्णन है। लेखक ने ये सूचनाएँ कुस्तुनतुनिया के तुर्क राजदूत से प्राप्त की थीं।

७. जॉन ऑव निकिऊ—मिस्र में बाइजेन्ताइन साम्राज्य के ह्रास और मुसलमानों की विजय के वृत्तान्त पर निकिऊ के निवासी जॉन द्वारा लिखित 'विश्व-इतिहास' की खोज से नवीन प्रकाश पड़ा है। १९०१–५ में इस ग्रन्थ का पता चला है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मिस्रियों ने मुसलमानों का साथ देकर

बाइजेन्ताइन साम्राज्य का विरोध और विद्रोह नहीं किया था। लेखक एक निष्पक्ष और सत्यनिष्ठ इतिहासकार था।

८. थियोफेन्स और निकेफोरस—मूर्ति-विध्वंस-आन्दोलन के युग में थियोफेन्स और निकेफोरस ने अपने-अपने इतिहास लिखे। नवीं शती में जार्ज दि मोंक ने इनको जारी रखा। यह शती विद्वत्ता का युग था। इसका प्रमुख प्रतिनिधि पादरी फोतियस था। उन्होंने प्राचीन साहित्य का विशाल अध्ययन करके एक डायरी लिखी थी जिसमें लगभग २८० ग्रन्थों का उल्लेख और टिप्पणी मिलती है। इनमें बहुत-से इतिहासग्रन्थ भी हैं जो अब लुप्त हो चुके हैं। पाश्चात्य ईसाइयों ने, 'फिलिओक', नामक जिस नवीन सिद्धांत का सूत्रपात किया था उसका फोतियस ने कड़ा विरोध किया। तब से पश्चिमी और पूर्वी ईसाइयत का भेद और भी प्रबल हो गया। किन्तु इस शती में इतिहास-लेखन धीमा रहा। दसवीं शती में जब बाइजेन्ताइन साम्राज्य का सूर्य मध्याह्न में पहुँचा तो इतिहास-लेखन में नूतन स्फूर्ति आयी। रोमानस प्रथम लिकेपनस (९१९-९४४) का इतिहास एक गुमनाम लेखक ने लिखा। उसी ने ९४८ तक का एक विश्व-इतिहास भी लिखा। इसका मूल रूप अब नष्ट हो गया है और स्लाव छाया मौजूद है। लियो दीकन का 'इतिहास के दस अध्याय' ९५९ से ९७५ तक का इतिवृत्त प्रस्तुत करते हैं और मौलिक सामग्री से परिपूर्ण है। इसमें मौलिक लेखों के पर्याप्त उद्धरण मिलते हैं।

९. कोंस्तेंताइन प्सेलोस—बाइजेन्ताइन परम्परा का सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार कोंस्तेन्ताइन प्सेलोस (१०१८-८७) था। उन्होंने अपने काल का प्रामाणिक वृत्तान्त प्रस्तुत किया। उनकी विद्वत्ता फोतियस के समान थी। उनके कार्य को माइकेल अतालियातीस ने जारी रखा। इस लेखक के इतिहास में ग्यारहवीं शती की बहुमूल्य सांस्कृतिक सामग्री मिलती है। जोन सिलितजिस नामक राजकीय कर्मचारी ने थियोफेनिस की 'क्रोनिकिल' को १०८१ तक बढ़ाया। सम्राट् एलेक्सियस कोमनेनस के दामाद निकेफोरस ब्रिएन्नियस ने कोमनेनी वंश का इतिवृत्त लिपिबद्ध किया। उस समय क्रूसेड आरम्भ हो गये थे और एक नवीन युग आ पहुँचा था।

१०. एना कोमनेना—क्रूसेड युग की नूतन भावनाओं को सम्राट् एलेक्सियस कोमनेनस की पुत्री एना कोमनेना ने अपने प्रसिद्ध इतिहास 'एलक्सियाद' में मुखरित किया। यह लेखिका निकेफोरस की पत्नी थी और अपने पति से कहीं

अधिक प्रतिभाशालिनी थी। इसने अपने पति की कृति को अपूर्व योग्यता के साथ पूरा किया। यह कृति अत्यन्त प्रामाणिक और मौलिक सामग्री का कोश है। उसने कुस्तुनतुनिया में प्रथम क्रूसेड के सैनिकों के अभियान का आँखों-देखा वर्णन किया। पश्चिमी ईसाइयों के प्रति इसे भी घृणा थी। इसने गोदफ्रे द् बुययों और बोहेमों का विरक्तिपूर्ण चित्र खींचा। यह लेखिका मध्यकाल की विलक्षण स्त्री थी। इसी युग में जार्ज केद्रेनस, माइकेल ग्लीकास और जान जोनारास ने भी कोमनेनी वंश के वृतान्त लिखे।

११. धर्मयुद्धों (क्रुसेडों) के इतिहासकार—जान सिनायस ने सलादीन (सलाहुद्दीन) के रोमांचकारी युद्धों और यिरोशिलाम की विजय का वर्णन किया। बारहवीं शती के अन्त में माइकेल और निकेतास एकोमिनातस ने इतिहास-लेखन में काफी प्रगति की। इनको एथीनियन परम्परा का अन्तिम प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

१२०४ में क्रूसेड के योद्धाओं द्वारा कुस्तुनतुनिया की विजय और आधिपत्य के पश्चात् वहाँ के इतिहास लेखन की परम्परा निकाइया और त्रेवीजोन्द में संक्रान्त हो गयी।

अनुच्छेद ८—पुनरुत्थान काल (रिनेसांस) का अभ्युदय[१०]

१. फ्लोरेन्स और जिनोवा में इतिहास की नयी शैली का जन्म—यूरोप में जो प्राचीन यूनानी-लातीनी संस्कृति का पुनरुत्थान हुआ और उसके फलस्वरूप मानववाद और बुद्धिवाद का जन्म हुआ, उसने इतिहास लेखन की दिशाओं में आमूल परिवर्तन किये। इटली में पहले से इतिहास-लेखन धर्म की शृंखला से मुक्त हो चुका था। पुनरुत्थान का श्रीगणेश फ्लोरेन्स से समझना चाहिए। वहाँ से इतिहास लेखन की नयी पद्धति प्रचलित हुई। सान्जानोमे का 'गेस्ता फ्लोरन्तीनोरम' और एक अज्ञात लेखक की 'क्रोनीका दी ओरीजिने सिवितातिस' इस शैली की रचनाएँ हैं। फ्लोरेन्स का श्रेष्ठ इतिहासकार गियोवानी विलानी था। उसकी कृति में आर्थिक, सामाजिक और व्यापारिक महत्त्व के तथ्यों का विस्तृत विवेचन है।

१०. याकोब बुर्कहात, दि सिविलिजेशन आव दि रिनेसांस इन इटली; एस० जी० सी० मिडिलमोर का अंग्रेजी अनुवाद।

उसके भाई मात्तिओविलानी ने उसके कार्य को अक्षुण्ण रखा। मार्चिजोने दि काप्पो स्तेफानी और जिनो काप्पोनी ने उसकी परम्परा को आगे बढ़ाया। लियो-नार्दी ब्रूनी ने इतिहास के मानव और मनोवैज्ञानिक पक्ष पर जोर दिया और फ्लो-रेन्स के समूचे इतिहास को हृदयंगम किया। योगियो ब्राचियोलिनि का फ्लोरेन्स का इतिहास भी अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। उसने पुरातत्त्व सम्बन्धी अनुसंधान पर विशेष बल दिया। फ़्लोरेन्स की तरह मिलान में दिसम्ब्रियो, गियोवान्नी, सिमोनेत्ता बर्नादिनो कोरियो ने इतिहास लेखन के क्रम को आगे चलाया। जिनोवा यद्यपि पीछे रहा, किन्तु वहाँ भी १५३७ में एगोस्तीनो गिउस्तीनियानी ने एक प्रसिद्ध और प्रामाणिक इतिहास लिखा। यह लेखक अरबी और हिब्रू-जैसी प्राच्य विद्याओं में निपुण था और फ्रांस के पेरिस विश्वविद्यालय में इन विषयों का प्राध्यापक नियुक्त हुआ था। नगरों के इतिवृत्त और इतिहास में भी इसी पुनरुत्थानकालीन व्यक्ति-वाद की अभिव्यक्ति थी। अतः व्यक्तियों के कार्य-कलाप को इस युग में प्रमुखता मिली। जीवनचरित्र-लेखन इतिहास लेखन की प्रधान शैली बन गया। पेत्रार्क का 'दि विरिस इलस्त्रीबस' इस शैली का श्रेष्ठ निदर्शन है। बोकेचियो द्वारा लिखित दान्ते की जीवनी भी एक उदात्त रचना है। बेनवेनूतो सेलीनी की आत्मकथा एक अद्वितीय कृति है।

२. पुरातत्त्व में रुचि—प्राचीन काल के इतिहास का इस युग पर विशेष प्रभाव था। लिवी और पोलीबियस बड़े लोकप्रिय हो गये थे। इतिहासकार उनके युग की तुलना अपने युग से करते थे। पुरातत्त्व सम्बन्धी रुचि और खोज से इस दृष्टिकोण को नवीन प्रेरणा मिली थी। इस प्रकार इतिहास तुलनात्मक, व्याख्यापरक और आलोचना-प्रधान हो गया था। प्राचीन आख्यानों और किंव-दन्तियों का भण्डाफोड़ होने लगा था। फ्लेवियो बिओन्दो ने, 'दशक' में इस दृष्टिकोण को चरितार्थ किया। लोरेंज़ोवाला ने भाषा-विज्ञान की एक नयी पद्धति का प्रचलन किया और कोस्तेनताइन के दानपत्र की पोल खोली।

३. पन्द्रहवीं शती का इतिहास-लेखन—पन्द्रहवीं शती में नागरिक गणतन्त्र लुप्त हो गये और उनके स्थान पर एकतंत्र स्थापित होने लगे। मिलान में विस्कोन्ती और स्फोर्जी, फ़्लोरेन्स में मेदिची, फेरारा में एस्ते, मन्तुवा में गोजांगा, रिमिनी में मालातेस्ता, उर्बीनो में मोन्तेफेल्त्रे, पेरूगिया में बागलियोनी, बोलोना में बेन्तोवोग्ली इत्यादि के शासन स्थापित हुए। इस वातावरण में शक्तिसंचय की राजनीति और धर्मनिरपेक्ष जीवन की भावना पूर्ण रूप से जाग्रत हुई। निकोली

मेकियावली (१४६९-१५२७) का, 'प्रिंस' इस परिस्थिति की सर्वांगीण अभिव्यक्ति है। उनके 'फ्लोरेन्स का इतिहास', 'युद्ध-कला', 'केस्त्रुचियो केस्त्रासानी का जीवन-चरित्र' भी प्रसिद्ध है। इन ग्रन्थों में नवीन स्वरलहरी मुखरित हो उठी है। मेकियावली का अनुवर्ती फ्रांसिस्को गुइचियारदिनी (१४८५-१५४०) था। उसके 'फ्लोरेन्स का इतिहास' तथा 'इटली का इतिहास' नवीन भावनाओं से ओतप्रोत हैं। उन्होंने व्यक्तियों और परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण किया है। उनकी कृतियों में धर्म का वातावरण तिरोहित सा हो गया है। इटली का प्रभाव सुदूर इंगलैण्ड पर भी पड़ा। एइनस सिलवियस और पोलीदोर विर्जिल ने इंगलैण्ड के इतिहास का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया और वहाँ नवीन दृष्टिकोण का प्रचलन किया।

४. **पुनरुत्थानकालीन फ्रेंच और अंग्रेजी इतिहासकार**—आल्प्स के पार इटली के पुनरुत्थान का प्रभाव सर्वप्रथम फ्रांस पर पड़ा। फिलिप द् कोमिन (१४४५-१५०९) ने नवीन शैली का प्रचलन किया। उसके 'मेम्वायर्स' और 'रेखाचित्र' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनके विचार मेकियावली और मोंतेस्क्यू की धारणाओं से मेल खाते है। उनके समकालीन विचारक गागुएँ (१४३३-१५०१) ने अपने पत्रों में मानववाद की नवीन विचारधारा को मुखरित किया। उनका 'फ्रांस का इतिहास' प्रसिद्ध है। इन कृतियों के अतिरिक्त 'क्लार्द द् सेसल' (१४५०-१५२०) का 'फ्रांस के साम्राज्य का इतिहास', मार्शल फलोरांगेस के 'मेम्वायर्स' आदि इस युग की प्रमुख रचनाएं हैं। आँरी एगतियान (१५२८-९८) ने फ्रेंच भाषा को साहित्यिक रूप देने का भगीरथ प्रयत्न किया।

इंगलैण्ड में टयूडर-युग में पुनरुत्थानकालीन विचारों का आविर्भाव हुआ। ग्रोसिन, लिनाक्र, कोले मोर और ईराजमस ने नवीन विचारपद्धति का सूत्रपात किया। इस युग में ईसाई सम्प्रदाय के इतिहासकारों के स्थान पर असाम्प्रदायिक नागरिक इतिहासकारों का प्राधान्य हुआ। ये अर्वाचीन लेखक अंग्रेजी लोकभाषा में ग्रन्थ-रचना करने लगे। राबर्ट फैबियन ने नगर-वृत्तों को संगृहीत करके, 'दि न्यू क्रानिकिल्स ऑव इंगलैण्ड एण्ड फ्रांस' (इंगलैण्ड और फ्रांस का नया इतिवृत्त) लिखा। बर्बार्ड आंद्रे के इतिहास, सर टामस मोर का 'रिचार्ड तृतीय का इतिहास' और पोलीडोर बिर्जिल का 'इंगलैंड का इतिहास' (इंग्लीकाना हिस्टोयिा) इतिहास-लेखन के नवीन दृष्टिकोण को चरितार्थ करते हैं। जार्ज केवेन्डिश द्वारा लिखित 'कार्डीनल बूलजे का जीवनचरित्र' भी एक महत्त्वपूर्ण रचना है। विलियम

केमडन की 'ब्रिटानिया' एक अभूतपूर्व कृति है। पुनरुत्थानकालीन दृष्टिकोण का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन सर वाल्टर रेले (१५५२-१६१८) का 'हिस्ट्री ऑव दि वर्ल्ड' (विश्व इतिहास) है। इसके क्षेत्र और विषय बहुत विशाल हैं । इसमें कानून, देवतत्त्व, आख्यान, जादू-टोना, युद्ध, राजनीति सम्बन्धी तथ्यों का रोचक संग्रह है और साम्राज्यों के उत्थान-पतन का आकर्षक वर्णन है। सर फ्रांसिस बेकन (१५६१-१६२६) ने हेनरी सप्तम पर जो लघु निबन्ध लिखा, उससे अंग्रेजी इतिहास-लेखन तेसितस और थूसीदाइदीस के तल पर पहुँच गया। बेकन की व्याख्या इतनी गम्भीर और सारगर्भित थी कि बाद के इतिहास-लेखन पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। इन लेखकों ने इतिहास-लेखन को ईसाई सम्प्रदाय के बन्धन से मुक्त करके एक उदात्त मानववाद की आधारशिला पर प्रतिष्ठित किया।

५. पुनरुत्थानकालीन इतिहास-दर्शन की विशेषताएँ—पुनरुत्थान मध्यकाल और आधुनिक युग की संक्रांति का समय था। इसमें मध्यकाल के ईश्वरपरक दृष्टिकोण के स्थान पर मानवपरक विचार-सरणी का उत्थान हो रहा था। जीवन में सर्वत्र परिवर्तन का साम्राज्य था। विश्व की विशालता और विविधता मानसपटल पर अंकित हो रही थीं। मानवबुद्धि की सर्वतोमुखी ज्योति इसके जटिल मर्मों को आलोकित करने में समर्थ समझी जाने लगी थी। नियति में निश्चित रूप से विश्वास था, किन्तु यह धारणा भी प्रमुख थी कि मनुष्य अपने नियमन और संतुलन से इसे अपने अनुरूप कर सकता है।[११] अलबर्ती और मेकियावली के विचारों में यह भाव प्रधान है। यह विचारधारा इतिहास-लेखन में भी प्रकट होती है। मध्यकालीन इतिहासकारों की तरह इस युग के इतिहासकार इस संसार को निकृष्ट और अस्थायी नहीं समझते थे । वे इसे सत्य और यथार्थ मानते थे और मानव-कार्यकलाप में भगवान् की इच्छा को अधिक महत्त्व नहीं देते थे । अतः उन्होंने ईसाई सम्प्रदाय के वृत्तान्त न लिखकर, उदीयमान नगरों और राज्यों के इतिवृत्त लिपिबद्ध किये। उनके द्वारा चित्रित मनुष्य पाप और पुण्य दोनों से भरे हुए यथार्थ व्यक्ति थे। उनकी उन्नति का रहस्य उनके चरित्र की गरिमा थी। वे अपने अध्यवसाय से उत्कर्ष की सीमा पर पहुंचे थे। अतः उनके व्यक्तित्व

११. बी० ग्रोयेथुइसन, 'रिनेसांस', एनसाईक्लोपीडिया ऑव दि सोशल साइन्सेज, भाग १३, पृ० २७९-२८५।

का सर्वांगीण अनुसंधान इतिहासकार का लक्ष्य था। फलतः पुनरुत्थानकालीन इतिहास-दर्शन प्रवृत्तिमूलक न होकर व्यक्तिमूलक था, व्याख्या-परक न होकर घटना-प्रधान था, विश्वव्यापी न होकर क्षेत्रीय और प्रादेशिक था और धर्मबहुल न होकर राजनीतिमय था। इसका मानववाद आधुनिक युग के बुद्धिवादी, इतिवृत्तात्मक, विद्वत्तापूर्ण और आलोचनाप्रधान दर्शन के रूप में पल्लवित हुआ, जिसकी चर्चा आगामी भागों का विषय है।

परिच्छेद ५

आधुनिक यूरोपीय इतिहास-दर्शन का श्रीगणेश

अनुच्छेद १—पुनरुत्थान (रिनेसांस) कालीन संस्कृति

१. ज्ञान-विज्ञान के नूतन क्षितिज—पुनरुत्थान (रिनेसांस) काल में यूरोप की आधुनिक संस्कृति का अभ्युदय हुआ। इस युग में मध्यकालीन परम्पराओं का अन्त हो गया। मुद्रणकला के विकास और नवीन देशों के अनुसन्धान से ज्ञान की परिधि बहुत विस्तीर्ण हो गयी। दो ही पीढ़ियों में मानसिक क्षितिज दुगुना हो गया। मध्यकालीन आदर्शों की नीरसता और तपश्चर्या की शुष्कता के स्थान पर मानव-जीवन की रागात्मक सरसता और उसकी बहुमुखी प्रगति का उल्लास इतिहास और संस्कृति को नयी प्रेरणा और स्फूर्ति से अभिसिंचित करने लगे। मनुष्य की जीवन-लीला के प्रति एक नूतन अभिरुचि उमड़ पड़ी। मेकियावली और राबले, इराज़मस और कोपरनीकस ने चिंतन की गति को नवीन दिशाएँ प्रदान कीं। दांते और पतरार्क ने साहित्य की प्रवृत्तियों को नयी दिशाओं में मोड़ा, माइकेल एंजेलो, दोनातेलो, प्रा फिलियो लिप्पि और बोतोसेली ने कलाओं के आदर्शों की कायापलट की, फिसिनो ने नवीन दर्शन का सूत्रपात किया, बोकेचियो ने कुतूहल-प्रधान गल्पों की सृष्टि की, मोकियावली ने राजनीति के सिद्धान्तों में परिवर्तन किया, पोलितीयन और निकोलो द् निकोली ने आधुनिक विद्वत्ता की आधारशिला रखी, लियोनार्दी दा विंची, लोरेंजो दे मेडिची और अलबर्ती ने मानव-जीवन के विविध पक्षों में अभिरुचि प्रकट की और लोरेंज़ों वाला तथा गुइच्यारदिनी ने नवीन इतिहास का श्रीगणेश किया। लोरेंजों वाला के 'डोनेशन ऑव कांसटेन्टाइन' में ऐतिहासिक सामग्री का आलोचनात्मक अनुशीलन दृष्टिगोचर होता है। गुइच्यार दिनी के १५२५ में प्रकाशित 'फ्लोरेन्स के इतिहास' और १५३४ में प्रकाशित 'इटली के इतिहास' में इटली के फड़कते हुए जीवन की प्रतिध्वनि मिलती है। यद्यपि इन ग्रन्थों में अनेक त्रुटियाँ हैं जैसा कि रान्के ने प्रकट किया है, तो भी इनका दृष्टिकोण और वातावरण इतना नवीन है कि इनका महत्त्व कभी भी फीका

नहीं पड़ सकता। इस नवीन शैली का प्रभाव समस्त यूरोप पर पड़ा। आल्प्स के उत्तर में सम्राट् मेक्सीमीलियन की सभा के विद्वानों के एक समूह ने जर्मन इतिहास की ओर दृष्टिपात किया। इंग्लैंड में पोलीडोर विर्जिल ने इस परम्परा का खंडन किया कि बूतस ने इस द्वीप की स्थापना की थी और आलोचनात्मक इतिहास की आधारशिला रखी। बेकन ने ज्ञान के क्षेत्र को काव्य, इतिहास और दर्शन के विभागों में बाँटकर इतिहास का सम्वन्ध स्मृति से सिद्ध किया। किन्तु कामडेन ने इस संकीर्ण परिभाषा का अतिक्रमण करके ब्रिटेन के ऐतिहासिक भूगोल और पुरातत्त्व का अध्ययन प्रारम्भ किया।

२. नूतन काल-चेतना की जाग्रति—इस ऐतिहासिक जाग्रति का रहस्य यूरोपीय संस्कृति की अन्तरात्मा में एक नवीन कालचेतना का उन्मीलन था। यह लक्ष्य करने की बात है कि इस काल में घड़ियों का रिवाज काफी बढ़ गया। १००० ई० के लगभग सम्राट् ओतो तृतीय के मित्र अबोत गर्बर्त ने, जो पोप सिल्वेस्तर द्वितीय ने एक पहिया-नुमा घड़ी के यंत्र का आविष्कार किया। इसके बाद १२०० ई० के लगभग जर्मनी में घण्टा-घड़ियों का रिवाज बढ़ा और इसके कुछ बाद जेब की घड़ियाँ बनने लगी। जैसा कि स्पेलंगर ने लिखा है आजकल यूरोप के नगरों के असंख्य घंटाघरों की निरन्तर टनटन काल की कराल गति का कठोर परिचय देती हुई यूरोपीय संस्कृति की ऐतिहासिक प्रवृत्ति का सुन्दर साक्ष्य प्रस्तुत करती है।[1]

अनुच्छेद २—ईसाई सुधारवाद (रिफार्मेशन) और इतिहास-लेखन

१. सुधारवाद के समर्थकों द्वारा इतिहास के प्रयोग से पोप की सत्ता का खण्डन और केथोलिकों द्वारा उसी शस्त्र से उनका उत्तर—मार्टिन ल्यूथर ने ईसाई धर्म में जिस सुधारवाद के आंदोलन का सूत्रपात किया, उसे रिफार्मेशन कहते हैं। इस आंदोलन का लक्ष्य केथोलिक चर्च के अन्धविश्वासों और भ्रष्टाचारों की पोल खोलना था। अतः इनके नेताओं ने इतिहास के शस्त्रों द्वारा पोप की सत्ता पर प्रहार आरम्भ किये। लोरेंजों वाला ने सिद्ध किया कि कोंस्टेन्टाइन के दानपत्र का साक्ष्य कृत्रिम और अप्रामाणिक है। इसी प्रकार प्लेसियस और उसके साथियों ने

१. ओसवाल्ड स्पेंगलर, 'दि डिक्लाइन ऑव दि वेस्ट,' भाग १, पृ० १४-१५।

माग्देर्बुग, मेन्चुरीज़ (१५५९-७४) में ईसाई सम्प्रदाय के प्रत्येक शताब्दी के इतिहास का पर्यवेक्षण करके पोप के अधिकारों का खण्डन किया। केथोलिक सम्प्रदाय ने इस ऐतिहासिक चुनौती का सबल उत्तर दिया। कार्दीनल बेरोसियस (१५३८-१६०५) का 'आनाल्स एक्लीजियास्ती' काउण्टर रिफार्मेशन की एक महत्त्व-पूर्ण कृति थी। इस ग्रन्थ में वेटिकन के पुस्तक-भंडारों की छानबीन करके बहुत-से ऐतिहासिक तथ्य सग्रहीत किये गये थे। यह ऐतिहासिक प्रतियोगिता इतिहास की उन्नति के लिए बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई। हेनरी अष्टम के शासनकाल में इंगलण्ड के मठों के विघटन, जर्मनी में कृपक-युद्ध और श्मालकाल्दिक लीग के युद्ध, फ्रांस के हुजेनोट युद्ध और उनके फलस्वरूप मठों और गिरजों के पुस्तकालयों की लूट-खसोट से हस्तलिखित ग्रन्थों और लेखों का समुद्र बाजारों में उमड़ पड़ा। विद्वानों और विद्याप्रेमियों के लिए यह स्वर्णावसर था। द् थू, पिथू, दुशेन आदि फ्रेंच विद्वानों ने कोर्बी और फ्लरी के भण्डारों की पाण्डुलिपियों से अपने अध्ययन प्रारम्भ किये। इन विद्वानों ने फ्रेंच ऐतिहासिक पाण्डित्य की नीवें रखी। इनके समकालीन ज्याँ बोदें ने अपने ग्रन्थ 'मेथोदस अद फासिलम हिस्तोरियारम कोग-नीसियोनम' (१५६६) में इतिहास लेखन और चिन्तन की पद्धति निर्धारित की और स्कालिगर (१५४०-१६०९) ने 'थे सोरस तेम्पोरम' (१५८३) में ऐतिहा-सिक आलोचना का आदर्श निश्चित किया। स्कालिगर की कृति में वैज्ञानिक गवेषणा और साहित्यिक अभिरुचि का सुन्दर समन्वय मिलता है।

२. सोलहवीं शती के धार्मिक विवाद और इतिहास-लेखन—सोलहवी शताब्दी और सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध धार्मिक कटुता और विवाद का युग था। फलोसियस और बेरोनियस के अतिरिक्त पाओलो सर्पी का 'हिस्ट्री ऑव दि काउन्सिल ऑव ट्रेण्ट' (१६१९) और पालाविसिनो द्वारा दिया गया इसका उत्तर, द् ओबीने का हेनरी षष्ठ के राज्यकाल का वृत्तान्त, जान नोक्स का 'हिस्ट्री ऑव दि रिफार्मेशन इन स्काटलैंड,' जोज बुचानन का 'हिस्ट्री ऑव स्काटलैंड' और फोक्स का 'बुक आव मार्टर्स' इस प्रवृत्ति के सुन्दर निदर्शन हैं। किन्तु इन ग्रन्थों में प्रचार के दृष्टिकोण की प्रबलता है। इन्हीं परम्पराओं के आधार पर सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जो विद्वत्तापूर्ण इतिहास लिखे गये उनमें प्रचार-पक्ष, गौण और अन्वेषण-पक्ष प्रधान हो गया। इन लेखकों में बोलान्दिस्ते पादरी विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

३. ईसु के समाज और बोलान्दिस्त साधुओं का इतिहास-लेखन—१५४०-९० में ईसु के समाज (सोसायटी आव जीसस) ने भावुक और धार्मिक जीवन का आदर्श प्रस्तुत करके जनता के हृदय को मुग्ध कर लिया था। १५९०-१७१५ के युग में इस सम्प्रदाय के साधुओं और पादरियों ने विद्वत्ता के क्षेत्र में अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था। हर्बर्ट रोजवेड ने साधुओं और संतों के विस्तृत जीवनचरित्र लिखने की योजना बनायी थी। उसकी सामग्री के आधार पर बेल्जियम के जेसुइट पादरी जोन बोलेन्दस (१५९६-१६६५) ने सन्त-चरित के भगीरथ प्रयत्न का श्रीगणेश किया। उन्होंने इस कार्य में ज्योफ्रे हेन्शन (१६००-८१) और दानिएल पापब्रोश (१६२८-१७१४) की सहायता प्राप्त की। ये लेखक सामूहिक रूप से 'बोलान्दिस्त' कहलाते हैं। इनकी प्रसिद्ध रचना 'एकता सन्कतोरम' इतिहास के क्षेत्र में एक युगान्तरकारी ग्रन्थ है। इसकी प्रस्तावना में आलोचनात्मक पद्धति का उत्कृष्ट प्रतिपादन मिलता है। धार्मिक विवाद, उपालम्भ और आलोचना के तीव्र और कटु वातावरण में इन साधुओं की सत्यप्रियता और निष्पक्षता आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। इनमें सरलता, नम्रता और जिज्ञासा का भाव भरा पड़ा है।

१७७३ में सोसायटी ऑव जीसस के दमन के पश्चात् बोलान्दिस्त साधुओं का कार्य कुछ रुक गया। तथापि इस सम्प्रदाय के विद्वान् वैयक्तिक रूप से इस कार्य में दत्तचित्त रहे। १७९४ में तोंगरलू के 'एकता' का ५३वां भाग प्रकाशित हुआ। इसके बाद फ्रेंच क्रान्तिकारी सेनाओं ने बेल्जियम को पदाक्रान्त कर डाला। इससे बोलान्दिस्त साधुओं की बहुत-सी सामग्री बिखर गयी। नेपोलियन ने इस कार्य के महत्त्व को समझकर इसे संगठित और संचालित करना चाहा, किन्तु १८३७ में ही यह पुनः प्रारम्भ हो पाया। १८६३ और १८७५ के बीच इस ग्रन्थ का पुनः संस्करण होकर इसके ६१ भाग प्रकाशित हुए। १८९१ में इस सम्बन्ध में एक शोधपत्रिका भी निकलने लगी।

४. सन्त मावर के बेनेदिक्ताइन साधुओं का इतिहास-लेखन—बोलान्दिस्त पादरियों के अतिरिक्त सन्त मावर के बेनेदिक्ताइन साधुओं ने भी इतिहास-लेखन में प्रमुख भाग लिया। सोसायटी ऑव जीसस की तरह सन्त मावर का कोग्रीगेशन भी काउण्टर रिफोर्मेशन की उपज था। इसका जन्म वरदून के सन्त वान के गिरजे में हुआ था। इस सम्प्रदाय का लक्ष्य नेदिक्त वर्ग की विद्वत्ता का पुनरुद्धार करके उसके मध्यकालीन महत्त्व को फिर से स्थापित करना था। दोम तारिस ने १६३० में इस प्रयत्न का सूत्रपात किया। सत्रहवीं शताब्दी में इस सम्प्रदाय ने १०५ विद्वानों

को जन्म दिया। इनमें दोम ल्युक दाश्रे (१६०९-८५), ज्यां माबियों (१६३२-१७०७), मोफांको (१६५५-१७४१), दोम फेलिबियां (१६६६-१७१९) के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। दाश्रे का स्पीसीलोजियम मध्यकालीन मौलिक तथा अप्रकाशित लेखों का अनुपम संग्रह है। माबियों ने सन्त बेनेदिक्त के सम्प्रदाय के साधुओं और संतों के जीवनवृत्त लिपिबद्ध किये। उनकी यह 'एकता सेंक्तोरम ओर्दिनिस सन्त बेनेदिक्ती' शीर्षक कृति एक महत्वपूर्ण इतिहास ग्रन्थ है। उनका दूसरा ग्रन्थ 'दि री दिप्लोमेतिका' ऐतिहासिक आलोचना के सिद्धान्तों की संहिता है। इसमें प्राचीन पत्रों और लेखों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के सिद्धान्त निर्धारित किये गये हैं तथा प्राचीन लिपि, मसि, कागज आदि की परीक्षा के उत्तम उपायों का निरूपण किया गया है।[२] इन ग्रन्थों के अतिरिक्त माबियों ने और भी बहुत से महत्त्वपूर्ण इतिहास लिखे। बर्नार्द द् मोफांको का 'पेलियोग्राफिया ग्रेका' एक युगान्तरकारी ग्रन्थ है। लातीनी प्राचीन लिपियों के विषय में जैसा महान् कार्य माबियों का है, यूनानी लिपियों के क्षेत्र में वैसा ही सराहनीय कार्य मोफांको का है। इनका 'लांतिकीते एक्सप्लीके' यूनानी पुरातत्त्व का एक बृहत् कोश है। इनका 'ले मोन्यूमां द् ला मोनार्शी फ्रांसेज़' फ्रेंच पुरातत्त्व की सामग्री की विस्तृत तालिका है। फेलिबियां का 'हस्त्वार द् लाबाइए रवाइयाल द् से देनिस' सन्त-चरित सम्बन्धी एक महान् ग्रन्थ है।

५. फ्रान्सीसी इतिहासकार तिलमों, बाल्युज और द्युगांज—इसी युग में फ्रांस में कुछ और चोटी के इतिहासकार हुए। इनमें लू ने द् तिलमों (१६३७-९८) का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। गिबन ने इनकी बड़ी प्रशंसा की है। उनके 'मेम्वार पूर सर्विर आ लिस्त्वार एक्लेजियासतीक दे सी प्रीमिए सिएक्ल' और 'इत्स्वार देजाम्परर ए देज़ाज प्रिंस की ओं रेन्ने द्युरा ले सी प्रीमिए सिएक्ल द् लेगलीज़' अत्यन्त प्रसिद्ध रचनाएं हैं। रोमन-युग में एतियान बाल्युज़ (१६३०-१७१८) की 'कापितुलेरिया रेगनम फ्रेन्कोरम', लुई तोमासें (१६१९-९५) की 'आंसियान ए नूवल दिसिपलिन द् लेगलीज़ तूंशा ले बेनेफिस एले बेनेफिसिए' और द्यु गाँज (१६१०-८८) की 'ग्लोसरी ऑव मीडीवल लेटिन' और 'ग्लोसरी ऑव मीडीवल ग्रीक' नामक पुस्तक लिखी गयी। इनसे ईसाई सम्प्रदाय के इतिहास

२. लोर्ड एक्टन, 'हिस्टोरिकल एसेज' पृ० ४६१।

पर बड़ा प्रकाश पड़ा। द्यु गाज़ँ ने लुई १४वें के आदेशानुसार बाइजेन्ताइन इतिहास का अध्ययन किया, क्योंकि इस युग में फ्रांस में इस विषय में बड़ी रुचि प्रकट की जा रही थी।

६. फ्रान्सिसकन और दोमिनिकन सम्प्रदाय—फ्रान्सिसकन और दोमिनिकन सम्प्रदाय के ईसाइयों ने और भी अनेक विद्वत्तापूर्ण इतिहास-ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनमें पिएर हलिय्यो (१६६०-१७१६), लुई एली द्यु पें (१६५७-१७१९), ग्राबील दानिएल (१६४९-१७२८) के नाम उल्लेखनीय हैं। किन्तु सामान्य जनता को इन भारी-भरकम पोथों में कोई विशेष रुचि नहीं थी। इसके लिए मेज़रे (१६१०-८३) की 'इस्त्वार द् फ्रांस' एक रोमाचकारी रचना थी। इसके मतानुसार इतिहास साहित्य का एक अंग था। अतः वह उत्कृष्ट शैली और उदात्त पदावली पर अधिक जोर देता था। इसी युग का प्रसिद्ध लेखक आरदूएँ (१६४६-१७२९) है जिनकी संशयपूर्ण आलोचनाओं ने इतिहास की शुष्क परिधि में हास्य का रंग भर दिया। इसके मतानुसार समस्त यूनानी और लातीनी साहित्य कृत्रिम था। केवल सिसरो, प्लीनी, विरजिल और होरेस की रचनाएं प्रामाणिक थीं। अन्य सब ग्रन्थ पादरियों की जालसाजी हैं। यह संशयवाद एडविन जेन्सन की 'राइज ऑव इंगलिश कल्चर' में प्रस्फुटित हुआ, जिसे थोम्पसन ने 'विद्वत्तापूर्ण-प्रमाद' बताया है।

७. अंग्रेजी इतिहासकार कामडेन, पर्किर, कोटन—फ्रांस की तरह यूरोप के अन्य देशों में भी इतिहास-लेखन का प्रचार बढ़ा। कामडेन की 'ब्रितानिया,' की चर्चा की जा चुकी है। मेथ्यू पर्किर (१५०४-७५) ने सेक्सन युग की सामग्री का संकलन किया। सर हेनरी साविल ने मध्यकालीन अंग्रेजी वृत्तों का उद्धार किया। सर हेनरी स्पेलमैन (१५६२-१६४१) ने कानून के इतिहास पर ग्रन्थ लिखे। जान सेल्डन (१५८४-१६५४) ने अंग्रेजी वृत्तों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रकाशित किया। सर राबर्ट कोटन (१५७१-१६३१) ने प्राचीन पाण्डुलिपियों और लेखों का अनुपम संग्रह किया। इसका 'लाइफ ऑव किंग हेनरी दि थर्ड' एक सफल ग्रन्थ सिद्ध हुआ। इन्होंने पार्लियामेण्ट के अधिकारियों का समर्थन किया। डुगडेल (१६०५-८६) का 'मोनेस्तीकोन एंगलीकानम', स्पेलमैन की कृति से भी अधिक सफल सिद्ध हुआ। इसकी 'एण्टीकबीटीज़ ऑव वारविक्शायर' और 'दि बेरोनेज ऑव इंग्लैण्ड' प्रख्यात रचनाएं हैं। इस युग में इंग्लैण्ड में फ्रांस से कम काम हो पाया, क्योंकि रोमन चर्च से पृथकता के कारण मठों का विघटन हो गया और

ऑक्सफोर्ड तथा केम्ब्रिज में अध्ययन का स्तर गिर गया। विद्वान् लोग साम्प्रदायिक विवादों में फँस कर वास्तविक ऐतिहासिक अध्ययन का महत्त्व भूल गये। गिबन ने 'इतिहास' शीर्षक अपने एक अभिभाषण में इस विरक्ति और विस्मृति के वातावरण का सुन्दर चित्र खींचा है।[३]

८. **अन्य यूरोपीय इतिहासकार**—यूरोप के अन्य देशों में भी विद्वत्तापूर्ण इतिहास-लेखन का प्रचार बढ़ा। स्पेन में कासतिलो द् बोबादिला (१५९७), निकोलस एन्तोनिया (१६१७-८४), एन्द्रियास शोत्तस (१५५२-१६२९) आदि के ग्रन्थ विशेषतः उल्लेखनीय हैं। जर्मनी में तीस वर्षीय युद्ध के परिणाम-स्वरूप पुस्तकालयों का विध्वंस हो गया तथापि हरमान कोनरिंग (१६०६-८१), बर्नाड पेज (१६८३-१७३५), जीरोम पेज़ (१६८५-१७६२) ने इतिहास की परम्परा को जीवित रखा। हंग्री में स्तेफेन कोतोना (१७३२-१८११) ने अपने देश की ऐतिहासिक सामग्री का संकलन किया। डेन्मार्क में जेकोब लांगबेक (१७१०-७५) ने वहाँ का इतिहास-विषयक साहित्य एकत्रित किया और इतली में फर्दिनान्दो उघेल्ली (१५९५-१६७०) ने 'इतालिया साकरा' में साम्प्रदायिक इतिहास के लेखों का संग्रह किया। ल्यूक वेदिंग (१५८८-१६५७) की कृतियाँ फ्रांसीसकन ऐतिहासिक विद्वत्ता की शिरोमणियाँ हैं। इतली का सबसे प्रसिद्ध इतिहासकार लुद्रोविको एन्तरोनिया मुरातोरी (१६७२-१७५१) था। इन्होंने, 'स्किप्तोरेंस' का सम्पादन किया और एन्तीक्लीतातेस नामक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सामग्री का संग्रह प्रकाशित किया। इन्होंने प्राचीन शिलालेखों का भी विस्तृत अध्ययन किया और इतली का अठारहवीं शती तक का संपूर्ण-इतिहास 'आनाली द् इतालिया' शीर्षक अठारह भागों में लेखबद्ध किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्वत्ता के युग में यूरोप में, विशेषतः फ्रांस में, बड़ा महत्त्व-पूर्ण ऐतिहासिक अनुसंधान हुआ। उस युग के सीमित साधनों को देखते हुए उक्त लेखकों का कार्य आश्चर्यजनक प्रतीत होता है।[४]

३. जॉन शेफील्ड, 'मिसलेनियस वर्क्स ऑव एडवर्ड गिबन,' भाग २, पृ० ७०७–७१७

४. इस युग के लिए देखिए जी० पी० गूच, 'मॉडर्न हिस्टोरियोग्रेफी,' 'मेरिया थेरीसा एण्ड अदर स्टडीज़,' पृ० २२१–२२३, जे० डब्लू० थोम्पसन, 'ए हिस्ट्री ऑव हिस्टोरिकल राइटिंग' भाग २, पृ० १–५७

परिच्छेद ६

बुद्धिवाद का युग

अनुच्छेद १—सत्रहवीं शती का नूतन वातावरण

१. बौद्धिक आन्दोलन—जैसे ही इतिहास का विद्यार्थी सत्रहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी में प्रवेश करता है उसे विचारों के जगत् और चिन्तन के क्षितिज में एक महान् परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। १७०० के आसपास यूरोप पर देकार्त के दर्शन का साम्राज्य था। दालेम्बेर और दिदेरो के सिद्धान्त सर्वत्र छा गये थे। ऑसिक्लोपेदी का वातावरण घनीभूत हो रहा था। विद्वत्ता के स्थान पर व्याख्या और चिंतन के स्थान पर आलोचना की प्रधानता हो रही थी। बुद्धिवाद का ज़ोर बढ़ रहा था। परम्परा के प्रति विरक्ति और प्रज्ञा के प्रति आस्था उमड़ रही थी। १७१५ में लुई १४ के निधन से १७८९ में फ्रेंच क्रान्ति के प्रादुर्भाव तक इस बौद्धिक आन्दोलन का बोल-बाला रहा।

२. **वैज्ञानिक अनुसंधान**--सत्रहवीं शताब्दी के वैज्ञानिक अनुसंधान ने इस बौद्धिक परिवर्तन की दिशाएं निर्धारित कीं। गेलिलियो और न्यूटन ने विचारों की क्रान्ति को गति प्रदान की। रने देकार्त ने विश्लेषणात्मक पद्धति का श्रीगणेश करके आधुनिक विज्ञान का प्रवर्तन किया। १६३७ में प्रकाशित इनके 'दिस्कोंस स्यूर ला मेथोद पूर ब्यां कोदुंइर ला रेज़ों' तथा 'ज्योमेत्री' ने चिन्तन के जगत् में उथल-पुथल मचा दी। गणित और विज्ञान की धूम मच गयी। फोन्तनल ने 'यूतीलीते दे माथेमातीक' की भूमिका में यह सिद्ध किया कि साहित्य तक की समीचीन व्याख्या के लिए गणित अनिवार्य है। भौतिक शास्त्र, राजनीति और अर्थ-व्यवस्था के पारस्परिक सम्बन्ध पर जोर दिया गया। इस युग में यंत्रशास्त्र ही भौतिक शास्त्र का व्यावहारिक रूप समझा गया था। अतः राजनीति, अर्थ-व्यवस्था और इतिहास की प्रक्रिया को भी यांत्रिक समझा जाने लगा। हॉब्स ने शक्ति-संतुलन (बैलेन्स ऑव पावर) नामक राजनीतिक यंत्रवाद के सिद्धान्त का नामकरण किया। इसी के अनुकरण स्वरूप सत्रहवीं शताब्दी के आर्थिक साहित्य

में व्यापार-संतुलन (बैलेन्स आव ट्रेड) की परिभाषा का बारम्बार प्रयोग हुआ। १६२८ में हार्वे के रक्त-संचरण के सिद्धान्त के प्रतिपादन के पश्चात् आर्थिक जगत् में धन-संचरण (सरकूलेशन ऑव मनी) और व्यापार -संचरण (सरकूलेशन ऑव-कॉमर्स) को समाज के रक्त-वहन (सेंग्वीफिकेशन ऑव दि कॉमनवेल्थ) की परिभाषा प्रदान की गयी। इस प्रकार यूरोप में वैज्ञानिक बुद्धिवाद के साम्राज्य का श्रीगणेश हुआ।

३. देकार्त की विचारधारा—देकार्त की विचारधारा के अनुसार मनुष्य और उनके कार्यकलाप भी प्रकृति के समान निश्चित नियमों से नियंत्रित होते हैं। ये नियम यूकलिद के सिद्धान्तों की तरह अटल और व्यवस्थित हैं।[5] कला, काव्य और साहित्य भी मानव भावों की अभिव्यक्ति के यांत्रिक रूप हैं। इस चिंतन पद्धति में कल्पना, भाव और स्वप्न का कोई स्थान नहीं था। अतः इसके द्वारा एक प्रकार के बौद्धिक अन्धविश्वास का विकास हुआ जो तेरहवीं शताब्दी के श्रद्धा-युग की तरह ही तर्क-रहित सा हो गया था।

इस विचारधारा में इतिहास का कोई विशेष स्थान नहीं था। इसका लक्ष्य प्राकृतिक विज्ञान पर केन्द्रित था। देकार्त ने बेकन की तरह ज्ञान को काव्य, इतिहास, दर्शन और देवतत्त्व इन चार भागों में विभाजित किया था। दर्शन के गणित, भौतिक शास्त्र और परमार्थतत्त्व, ये तीन विभाग थे। इन्हीं का ज्ञान निश्चित और व्यवस्थित था। काव्य कोई विज्ञान नहीं है। बल्कि प्रकृति का वरदान है, देवतत्त्व श्रद्धा पर निर्भर है, इतिहास यद्यपि जीवन के व्यावहारिक दृष्टिकोण में सहायक होता है, तथापि यह पूर्णतः सत्य पर आधारित नहीं होता क्योंकि यह जिस प्रकार घटनाओं को प्रस्तुत करता है, उनका वास्तविक रूप उससे विभिन्न होता है। देकार्त ने, 'दिस्कोंस' नामक पुस्तक में लिखा है—

"अन्य मनुष्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना लाभदायक रहता है। इससे हम अपने विषय में निष्पक्षता से विचार और निर्णय कर सकते हैं और हमारे से जो भिन्न है उनके प्रति हमारे मन में घृणा और निन्दा का भाव नहीं रहता। लेकिन जो बहुत लम्बी यात्राएं करते हैं वे स्वयं अपने घरों में विदेशी बन जाते हैं और

५. बरट्रण्ड रसल, 'दि रिवोल्ट अगेंस्ट रीजन' एटलाण्टिक मन्थली (१९३५) पृ० २२२-२३२

जो अत्यधिक रुचि से अतीत के अध्ययन में संलग्न हो जाते हैं वे वर्तमान की अपनी घटनाओं से अनभिज्ञ रह जाते हैं ....। यद्यपि इतिहास सत्यपरायण होते हैं और घटना-चक्र को न अतिरंजित करते हैं और न परिवर्तित, वे छोटी-मोटी तथा अप्रशस्त बातों पर पर्दा डाल देते हैं, जिससे पाठकों के ध्यान और सुरुचि में बाधा न पड़े। इसलिए उनमें जिन बातों का वर्णन रहता है वे ठीक उस प्रकार नहीं हुई होतीं जैसे बतायी जाती हैं। जो मनुष्य उन पर अपनी जीवनचर्या अवलम्बित करना चाहते हैं वे रोमांचित और कल्पनाशील व्यक्तियों की तरह उन्मत्त होकर असम्भव तथ्यों के ध्यान में निमग्न हो जाते हैं।[६]

उपर्युक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि देकार्त के मतानुसार इतिहास का ज्ञान विश्वस्त नही होता, क्योंकि (१) इतिहास पलायनवाद का मार्ग है, (२) इतिहास के वृत्त सत्य के प्रामाणिक निर्देशन नहीं होते, (३) इतिहास का कोई उपयोग नहीं है क्योंकि यह वर्तमान की अपेक्षा अतीत में उलझा रहता है और (४) इतिहास काल्पनिक चित्रों का अंकन है, क्योंकि इतिहासकार अपने वर्ण्य-विषय को आदर्शों की तूलिका से रंगने की चेष्टा करते हैं। देकार्त की इन स्थापनाओं से इतिहास के आलोचनात्मक दृष्टिकोण को बहुत दृढ़ता प्राप्त हुई। प्राचीन परम्पराओं और मान्यताओं को गवेषणा की कसौटी पर कसा जाने लगा। धार्मिक विश्वासों का भण्डा-फोड़ किया जाने लगा। पिएर बेल (१६४७-१७०६) ने अपने ग्रन्थ, 'दिक्सयोनेर इस्तोरीक ए क्रीतीक,' में बाइबिल सम्बन्धी विश्वासों पर प्रहार किया। पेरीजोनियस (१६१५-१७१५) लेवेस्क द् पूइली (१७२२) और बोफोर (१७३८) ने यूनानी और लातीनी इतिहासकारों पर आलोचना की शस्त्रवर्षा की। इन्होंने आदिम रोमन इतिहास को कपोल-कल्पना सिद्ध करके विद्वज्जगत् में सनसनी मचा दी।

अनुच्छेद ३—मोंतस्क्यू (१६८९—१७५५)

१. मोंतस्क्यू के जलवायु और वातावरण विषयक विचार—देकार्त के दृष्टिकोण से इतिहास की सर्वोत्तम व्याख्या लुइ द् सिकोंदा बारों मोंतस्क्यू

६. आर० जी० कोलिंगवुड, 'दि आइडिया आव हिस्ट्री' पृ० ५९ पर उद्धृत।

की प्रसिद्ध कृति, 'एम्प्री दे लोवा' में मिलती है। मोंनस्क्यू एक वकील थे और उनके स्वभाव में तर्क और युक्ति बद्धमूल हो गयी थी। अतः उन्होंने राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति और विकास के अध्ययन में अपनी अद्भुत आलोचनाशक्ति और नियम-निर्माण की प्रतिभा का परिचय दिया। उनके मतानुसार जलवायु, धर्म, कानून, राज्य के सिद्धान्त, अतीत के आदर्श, रीति-रिवाज, आचार-विचार, मावन जीवन की गति और स्वरूप को निर्धारित करते हैं। उनके विचारानुसार राज्य तीन प्रकार के होते हैं—गणतन्त्र, कुलतन्त्र और राजतन्त्र। पहिले प्रकार के राज्य का मुख्य लक्षण सदाचार (वर्चू) अर्थात् सामाजिक सेवा-भाव होता है। दूसरे की विशेषता मध्य-मार्ग (मोडरेशन) होती है। और तीसरे का लक्ष्य प्रभाव और भय उत्पन्न करना होता है।[७] मोंतेस्कयू ने गणतन्त्र का विवेचन करते समय रोमन इतिहास के प्रचुर उदाहरण दिये हैं किन्तु उनका इस विषय का ज्ञान प्रामाणिक नहीं था। अतः बहुधा वे गल्पों और किंवदन्तियों में ही उलझे रहे। उनके विषय में जॉन मोर्ले ने लिखा है—

२. **जॉन मोर्ले की टिप्पणी**—"मोंतेस्कयू ने सामाजिक संस्थाओं का तुलनात्मक पद्धति से अध्ययन किया। उन्होंने किसी देश के कानून पर उसकी प्राकृतिक पृष्ठभूमि में विचार किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि प्राकृतिक विधान जिसकी चर्चा फिजियोक्रेट्स ने धनोत्पादन के प्रसंग में की थी वस्तुतः राजनीतिक घटनाओं का भी नियमन करता है। उन्होंने विश्व भर के सामाजिक तथ्यों का विभाजन और वर्गीकरण किया और ऐतिहासिक घटनाओं तथा संस्थाओं के नियामक और निर्णायक कारणों की क्रमबद्ध गवेषणा की। यह उस समय प्रचलित उन दोनों विचारधाराओं से, जिनके अनुसार मनुष्य अपनी दशा को या तो अमानुषिक भाग्य-विधाता का अज्ञेय प्रज्ञापन समझता था या नेत्रहीन नियति की आकस्मिक लीला मानता था, बहुत समुन्नत मतवाद था।[८]

अनुच्छेद ३—बोलतेर

१. **बोलतेर का विस्तीर्ण दृष्टिकोण**— इतिहास की बुद्धिवादी व्याख्या

७. लैस्प्री द् लोवा, भाग १९, अध्याय ४।

८. जॉन मोर्ले, बायोग्राफिकल स्टडीज पृ०, १३७।

के फलस्वरूप आलोचना और विश्लेषण की नवीन पद्धतियों का सूत्रपात हुआ। जलवायु, भूगोल, भूगर्भ आदि प्राकृतिक परिस्थितियों का सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के दृष्टिकोण से गम्भीर अध्ययन हुआ और उनके विषय में इतिहास से सम्बन्धित बहुत-से स्वतंत्र और सहकारी शास्त्र बन गये। मनुष्य ने देवतत्त्व, भगवद्विद्या, धर्म आदि की परम्पराओं से नाता तोड़ दिया। उसने स्वर्णयुग के स्वप्निल आदर्श को अतीत की समाधि से निकाल कर भविष्य के गर्भ में आरोपित किया। उसके विचारानुसार प्रत्येक पीढ़ी और युग मानव समृद्धि में कुछ न कुछ वृद्धि करता है। काल की गति के साथ-साथ मनुष्य उन्नति के पथ पर बढ़ रहा है। प्रगति इतिहास की निश्चित प्रवृत्ति है। देवतत्त्व की कल्पना निराधार है। इस विकासशील इतिहासदर्शन का प्रमुख व्याख्याता बोल्तेर था।

बोल्तेर (१६९४-१७७८) अपने युग के महान् कवि, दार्शनिक, निबन्धकार, साहित्यिक और इतिहासज्ञ थे। ६० वर्ष तक यूरोप के बौद्धिक वातावरण पर उनका अखण्ड शासन रहा। उनके व्यंग, उपहास और प्रहारों ने अन्धविश्वास और कट्टरता की धज्जियां उड़ा दीं। अमेरिका के जेफरसन-जैसे जनतंत्री नेता से लगाकर यूरोप के फ्रेडरिक महान् जैसे एकतंत्री शासक तक ने उनके लेखों की चर्चा की।

२. उनकी ऐतिहासिक रचनाएँ—बोल्तेर की ऐतिहासिक रचनाओं में 'एसे स्यूर ले मूर,' 'सिएकल द् लुई कातोर्जिएम्, और 'इस्तवार द् शार्ल दुजिएम', प्रसिद्ध हैं। प्रथम ग्रन्थ में उन्होंने सांस्कृतिक इतिहास के सम्पूर्ण प्रवाह का विवेचन किया। इसमें उन्होंने सर्वप्रथम इतिहास के समूचे क्षेत्र का पर्यवेक्षण करके घटनाओं का क्रम और सूत्र निश्चित किया। दूसरे ग्रन्थ के लिखने में उन्हें बीस वर्ष लगे। इसमें उन्होंने उस युग का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत किया और कला-कौशल, शिल्प-विज्ञान, युद्ध-राजनीति, आचार-विचार की विशाल भूमिका का सुन्दर चित्रण किया। उनके मतानुसार इतिहास मानव-कार्य-कलाप की समग्र अभिव्यञ्जनाओं का वृत्तान्त है। इसमें जीवन के समस्त पक्षों का सामंजस्य सन्निहित रहता है। अतः इसका लक्ष्य राजनीतिक घटनाओं की तालिका-मात्र प्रस्तुत करना ही नहीं है, वरन् जन-जीवन के विविध पक्षों की चित्रमयी अभिव्यक्ति उपस्थित करना है। दिदेरों की 'आँसिक्लोपेदी', में वोल्तेर ने इतिहास पर जो निबन्ध लिखा उसमें अपने उक्त विचारों का सुन्दर प्रतिपादन किया।

३. इतिहास सम्बन्धी विचार—यद्यपि वोल्तेर की शैली अत्यन्त आकर्षक और प्रभविष्णु है तथापि उनके इतिहासों में गम्भीरता का अभाव-सा है। उनकी

व्याख्याएँ दार्शनिक और सामाजिक अनुसंधान से शून्य हैं। जिन तथ्यों को वे स्पष्ट नहीं कर सके उनको उन्होंने आकस्मिक समझ कर टाल दिया। जटिल परिस्थितियों के लिए उनके पास जलवायु या अनुकूल परिस्थितियों का मूलमंत्र था। इतिहास नीतिकारों के लिए दृष्टांतों का कोश-सा बन गया था। प्राचीन व्यक्तियों का सम्यक् मूल्यांकन न करके उन्होंने अपने विचारों के अनुमार उनका स्वरूप खड़ा किया। उनकी दृष्टि में अफलातूं एक असफल परमार्थ-विद् था, दाँते एक गहन निराशावादी था, पेत्रार्क एक एकरस भावुक और स्पिनोजा एक शुष्क दिखावटी पण्डित था।[१]

अनुच्छेद ४——ह्यूम

१. ज्ञान का सापेक्ष और अनुभव-सिद्ध रूप और इतिहास की वास्तविकता—— देकार्त ने इतिहास के प्रति संशय और उपेक्षा का भाव प्रकट किया था। उनके अनुयायी दालेम्बेर ने यह इच्छा अभिव्यक्त की थी कि समस्त इतिहास और उसकी सामग्री लुप्त हो जाय तो अच्छा हो। किन्तु इन भावनाओं से प्रच्छन्न रूप से ऐतिहासिक आलोचना और गवेषणा को बड़ी स्फूर्ति मिली। इतिहासकारों ने बुद्धिवादियों की चुनौती भली-भाँति स्वीकार की। धीरे-धीरे इतिहास के प्रति विरक्ति का भाव भी कुछ कम होने लगा और इसके दार्शनिक आधार को मान्यता मिलने लगी। डेविड ह्यूम (१७११-७६) का नाम उन लेखकों में अग्रगण्य है जिन्होंने नवीन ऐतिहासिक चेतना का उद्बोधन किया।

२. ह्यूम की रचनाएँ——ह्यूम ने कानून की शिक्षा ग्रहण करना प्रारम्भ किया था किन्तु उनकी रुचि दर्शन में अधिक थी। उनका मस्तिष्क शंकाओं से विह्वल था। 'ट्रिटाइज ऑव ह्यूमन नेचर', में उनके दार्शनिक विचारों का विस्तृत विवेचन मिलता है। ह्यूम लॉक के दर्शन में निमग्न थे। लॉक की मुख्य स्थापना यह थी कि शाश्वत स्वयम्भू विचारों का कोई अस्तित्व नहीं है और ज्ञान धीरे-धीरे अनुभव से प्राप्त होता है। बेकन के शब्दों में सत्य काल की पुत्री है। इस प्रकार ज्ञान एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज है। सम्पूर्ण सत्य कोई ऐसा अमूर्त आदर्श नही

१. बरी, 'दि आइडिया ऑव प्रोग्रेस,' पृ० १४८-५०, मार्टिन, 'फ्रेंच लिबरल थॉट' पृ० २८२-८४।

है जिसके अनुसार मानव ज्ञान के स्तर का मूल्यांकन किया जाय, वरन् यह विकास के साथ बढने वाली चेतना और अनुभूति की साक्षेप स्थिति है। चूंकि प्रत्येक विज्ञान तर्कसंगत विश्वासों का सामयिक संविधान है, अतः इतिहास का भी ज्ञान के क्षेत्र में निश्चित स्थान है। ह्यूम ने सिद्ध किया है कि इतिहास साक्षियों के वर्णनों पर आधारित रहता है। इतिहासकार इन वर्णनों का तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन करके इनकी परम्परा और सम्बन्धों को स्पष्ट कर देता है। साक्षियों के आँखों देखे विवरणों पर निर्भर होने के कारण इतिहास का सत्य और ज्ञान के जगत् में एक निश्चित स्थान है। अतः ह्यूम ने दर्शन के जगत से इतिहास के जगत् में पदार्पण किया।

१७५४ में ह्यूम की, 'हिस्ट्री ऑव इंगलैंड फ्राम दि इन्वेजन ऑव जूलियस सीज़र टु दि रेवोलूशन आव १६८८' प्रकाशित हुई। इससे तीन वर्ष पूर्व वोल्तेर की 'सिएक्ल द् दुई कातीर्ज़िएम,' प्रकट हो चुकी थी। इन दोनों ग्रन्थों का दृष्टिकोण प्रयोगवादी, बुद्धिपरक और परमार्थ तत्त्व-विरोधी है। किन्तु ह्यूम की कृति में अधिक तटस्थता है। इसमें कार्य-कारण की श्रृंखला पर अधिक प्रकाश डाला गया है। ह्यूम के मतानुसार इतिहास चेतन मस्तिष्क का वृत्तान्त अर्थात् विचारों के निर्माण का कथानक है। वातावरण और परिस्थिति मनुष्य के भौतिक स्वरूप पर प्रभाव डालती है, किन्तु उन सूक्ष्म अवयवों पर इनका कोई असर नहीं होता जो मन और बुद्धि की क्रियाओं का नियमन करते हैं।

ह्यूम की 'हिस्ट्री ऑव इंगलैंड' अपने युग की महत्त्वपूर्ण रचना थी। इसमें राजकीय वंशावलियों और सामयिक घटनाओं के अतिरिक्त कला, साहित्य, नीति और सामाजिक सम्बन्धों पर भी विचार किया गया था। इसका प्रधान लक्षण हेतुवाद की प्रक्रिया का अनुसरण है। किन्तु इन गुणों के रहते हुए भी इस कृति में प्रमाद और कामचोरी प्रकट होती है। ऐतिहासिक उद्गमों का पूर्ण अध्ययन और अनुशीलन नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त व्हिग और धर्म से सम्बन्धित तथ्यों के प्रति उपेक्षा परिलक्षित होती है।[११]

१०. 'ट्रिटाइज आव ह्यूमन नेचर' १।३ विभाग ४

११. टी० पी०, पियरडन, 'दि ट्रांजीशन इन इंग्लिश हिस्टोरिकल राइटिंग' १७६०-१८३०, पृ० १९-२३।

इस युग की अन्य कृतियाँ विलियम रॉबर्टसन (१७११-९२) की 'हिस्ट्री ऑव स्काटलैण्ड', 'हिस्ट्री ऑव दि एम्परर चार्ल्स दि फिफ्थ' और 'हिस्ट्री ऑव अमेरिका' है। रॉबर्टसन सांस्कृतिक तत्त्वों के प्रति बड़े जागरूक थे। एडम फरगूसन (१७२३-१८१६) का 'एसे आन दि हिस्ट्री ऑव सिविल सोसायटी' और 'ए हिस्ट्री ऑव दि प्रोग्रेस एण्ड टर्मिनेशन ऑव दि रोमन रिपब्लिक' भी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

अनुच्छेद ५—गिबन

१. जीवन-परिचय—इस युग के सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार एडवर्ड गिबन (१७३७-९४) थे। गिबन ने एक मध्यम श्रेणी के अंग्रेजी परिवार में जन्म लिया था। बाल्यावस्था में उनका स्वास्थ्य दुर्बल था, किन्तु क्लासिकल और ऐतिहासिक साहित्य में उनकी विशेष अभिरुचि थी। प्राच्य इतिहास की 'बर्बर भव्यता' ने आरम्भ से ही उनके मन को मुग्ध कर लिया था। १७५२ में उन्होंने प्रवेशिका परीक्षा पास की, किन्तु उन्हीं के कथनानुसार उनकी सूचनाएँ इतनी अधिक थीं कि प्रत्येक आचार्य भी चकित हो जाता था और साथ ही अध्ययन के विषयों में उनकी अनभिज्ञता इतनी थी कि जिससे एक साधारण विद्यार्थी भी लज्जित हो जाता। उनकी शेष शिक्षा लासान में हुई जहां उन्हें फ्रेंच दर्शन में अवगाहन करने का अवसर मिला। आरम्भ से ही उनकी इच्छा इतिहास लिखने की थी। चार्ल्स ८ के १४९४ के आक्रमण का इतिहास लिखने का विचार उनके मन में उत्पन्न हुआ, किन्तु वे इस विषय पर जम न पाये। इसी प्रकार रिचार्ड प्रथम, जॉन, हेनरी तृतीय, कृष्ण राजकुमार एडवर्ड, हेनरी पंचम, सर फिलिप सिडनी, सर वाल्टर रेले, मेडीची कालीन फलोरेन्स आदि विषयों और व्यक्तियों के इतिहास लिखने की धारणा क्रमशः उनके मन में जाग्रत हुई लेकिन इनमें से कोई भी विषय उन्हें रुचिकर नहीं लगा। अन्त में १७६४ में जब वे रोम गये और १५ अक्टूबर को केपीतोल के भग्नावशेषों में बैठकर विचार-मग्न हो गये तो 'जूपीतर के मन्दिर में से नंगें पैरों वाले साधुओं का प्रार्थना-संगीत उनके कर्ण-कुहरों में भर गया", और उन्होंने रोम के अपकर्ष और पतन का इतिहास लिखने का निश्चय कर लिया। २७ जून, १७८७ के दिन के ११-१२ बजे के बीच गिबन ने 'हिस्ट्री ऑव दि डिक्लाइन एण्ड फाल ऑव दि रोमन एम्पायर' को पूरा किया। गिबन का यह ग्रन्थ इतिहास-साहित्य की अमर और अनुपम निधि है। इसकी उत्कृष्ट शैली, प्रवाहमयी भाषा, चित्रमय

वर्णन और विशाल भूमिका ने इसके सौंदर्य और आकर्षण को अमरत्व प्रदान कर दिया है।"[१२]

२. **धर्म और बर्बरता की विजय का इतिहास**—गिबन ने धर्म और बर्बरता की विजय का इतिहास लिखा है। इसकी पृष्ठभूमि में बुद्धिवाद और संयम के स्वर्णयुग की कल्पना सन्निहित है। एन्तोनाइन युग वह स्वर्णयुग था जब मानव बुद्धि का सर्वत्र साम्राज्य था। चारों ओर सुख, शान्ति और समृद्धि का वातावरण था। किन्तु धीरे-धीरे बुद्धि की शक्ति क्षीण हो गयी। मनुष्य धार्मिक अन्धविश्वासों में फंस गये। बर्बर जातियों का जोर बढ़ गया। प्राचीन इतिहास के स्वर्णयुग पर अन्धकार का आवरण पड़ गया। बुद्धिहीनता और स्तब्धता ने मनुष्य को दबा लिया। मध्ययुग का आविर्भाव हुआ। किन्तु फिर बुद्धि का प्रकाश फैलने लगा। उद्बोधन (एनलाइटनमेंट) की किरणें धार्मिक अन्धकार को विदीर्ण करने लगीं। ज्ञान, विज्ञान उन्नति करने लगे। बुद्धिवाद को विजय प्राप्त हुई। अठारहवीं शताब्दी इस आगामी स्वर्णयुग का दिव्य विहान था। गिबन की दृष्टि में भविष्य के क्षितिज से निकलता हुआ यह स्वर्णयुग अजर, निश्चल और शाश्वत था क्योंकि बुद्धिहीनता, बर्बरता और धर्म की शक्तियाँ जिन्होंने इसे पहले अभिभूत किया था सदा के लिए कालकवलित हो चुकी थीं।

३. **विशाल यूरोपीय गणतन्त्र की सभ्यता की अमरता**—गिबन समस्त यूरोप को एक विशाल गणतन्त्र मानते थे जिसके निवासी शिष्टता और सभ्यता के समान स्तर पर पहुँच चुके हैं। उनके शब्दों में "शक्ति का संतुलन डगमगाता रहेगा और हमारी या हमारे पड़ोसियों की समृद्धि क्रमशः बढ़ती-घटती रहेगी, किन्तु ये एक-पक्षीय घटनाएँ हमारी सम्पन्नता के सामान्य स्तर को और कलाओं, कानूनों और शिष्टाचारों के उस विधान को जो यूरोप के लोगों को एवं उनके उपनिवेशों के निवासियों को शेष मानवता से ऊंचा उठाता व अलग करता है, कभी भी गम्भीर हानि नहीं पहुँचा सकेंगी। पृथ्वीतल की बर्बर जातियाँ सभ्य समाज

१२. गिबन पर पर्याप्त साहित्य मिलता है। विशेषरूप से देखिए जेम्स वेस्टफाल टॉम्पसन 'एडवर्ड गिबन १७३७-१७९४' पेसीफिक हिस्टोरिकल रिव्यू (१९३८) पृ० ९३ ११९ जे० जे० सोन्डर्स, 'गिबन एण्ड दि डिक्लाईन एण्ड-फाल हिस्ट्री' (१९३९) प० ३४६-५५।

की शत्रु रही हैं और हम सतर्क कुतूहल के साथ प्रश्न कर सकते हैं कि क्या यूरोप उन संकटों की पुनरावृत्ति से शंकित है जिन्होंने प्राचीन काल में रोम की सेनाओं और संस्थाओं को आक्रान्त किया था । सम्भवतः वही विचार जो उन महान् साम्राज्य के पतन पर प्रकाश डालते हैं हमारी वास्तविक सुरक्षा के सम्भावित कारणों की व्याख्या करते हैं।"

४. **बर्बरता का अन्त**—गिबन के युग में बर्बरता का अन्त निकट था। स्तेपों की बर्बर जातियां सदा के लिए सभ्यता के आवर्त में विलीन हो गयी थी। "फिनलैंण्ड की खाड़ी से पूर्वी समुद्र तक रूस का सभ्य और शक्तिशाली साम्राज्य फैला हुआ है। वोल्गा, ओवे और लेना के तट पर हल, खड्डी और औजार बनने लगे हैं और भयंकर तातार दल प्रकम्पित और भयभीत होने लगे हैं। स्वतंत्र बर्बर लोगों का क्षेत्र बहुत सिकुड़ गया है। कालमुक्तों और उजबकों के अवशेप, जिनकी शक्तियां क्षीण हो गयी हैं, यूरोप के विशाल गणतन्त्र को भयभीत नहीं कर सकते।"

५. **विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया**—गिबन के मतानुसार रोमन साम्राज्य के पतन का एक कारण एकीकरण भी था, किन्तु अठारहवीं शताब्दी में शक्ति के विकेन्द्रीकरण से यह संकट टल गया था। उन्होंने लिखा है, "कोटिशः जनता की सुख-समृद्धि एक या दो व्यक्तियों की, बहुधा बालकों की, वैयक्तिक योग्यता पर निर्भर थी जिनके मनोभाव शिक्षण, विलासिता और एकतंत्रता के कारण भ्रष्ट हो गये थे। थियोदोसियस के पुत्रों और पौत्रों के शैशवकाल में साम्राज्य को गहरे घाव सहने पड़े थे। जब ये अयोग्य राजकुमार बालिग़ हुए तो उन्होंने चर्च को पादरियों पर छोड़ दिया, राज्य को जनख़ों के सिपुर्द कर दिया और साम्राज्य को बर्बर जातियों के हवाले कर दिया। अब यूरोप बारह शक्तिशाली, यद्यपि असमान, राज्यों में विभक्त है। इनमें से तीन विशाल राज्य-समूह (कॉमनवेल्थ) हैं और शेष स्वतंत्र राष्ट्र हैं। राजकीय और प्रशासकीय प्रतिभा के साधन और अवसर अब बढ़ गये हैं क्योंकि राजाओं की संख्या अधिक हो गयी है। दक्षिण के सिंहासनों पर आर्केदियस और ओनोरियस भले ही सोते रहें उत्तर में जूलियस और सेमीरामिस राज्य करते रहेंगे। भय और लज्जा के पारस्परिक प्रभाव से नृशंसता की क्रीड़ा नियंत्रित हो गयी है। गणतन्त्रों में स्थायित्व और नियमन आ गया है। राजतंत्रों ने स्वाधीनता या कम से कम मध्यम मार्ग के सिद्धांतों को हृदयंगम कर लिया है। समय की सामान्य प्रवृत्तियों के कारण बुरे से बुरे शासनतन्त्रों में भी न्याय और आदर का भाव समाविष्ट हो गया है। शान्ति के क्षेत्र में इतने अधिक सक्रिय प्रतिद्वंद्वियोंकी प्रतिस्पर्धा

के कारण उद्योग और ज्ञान की प्रगति बढ़ रही है, युद्ध-क्षेत्र में यूरोप की शक्तियाँ औचित्य के स्तरों और अनिर्णीत संघर्षों के कारण नियमित और नियंत्रित हो गयो हैं। यदि तातारदेश की मरुभूमि से कोई बर्बर विजेता निकले तो उसे बारम्बार रूस के सुदृढ़ कृषकों, जर्मनी की असंख्य सेनाओं, फ्रांस के साहसी वीरों और ब्रिटेन की निर्भय और स्वतंत्र जनता को जीतना पड़ेगा जो सम्भवतः अपनी आपसी सुरक्षा के लिए मिल कर एक हो जायेंगी। फिर भी यदि बर्बर विजेता एतलान्तिक के तटों तक दासता और विध्वंस का झंझावात फैला दें, तो दस सहस्र जहाज सभ्य समाज के अवशेषों को उनकी पहुँच से बहुत दूर पहुँचा देंगे और अमरीकी जगत् में यूरोप पुनः पल्लवित और पुष्पित हो जायगा।"

६. **सामरिक प्रगति**—उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त यूरोप ने गिबन के समय तक यौद्धिक कला में इतनी प्रगति और उन्नति कर ली थी कि उनको बर्बर आक्रान्ताओं के आक्रमण का लेशमात्र भी भय नहीं रहा था। गिबन ने इस विषय की चर्चा करते हुए लिखा है, "गोला बारूद के आविष्कार से, जिसके फलस्वरूप मनुष्य ने प्रकृति के दो शक्तिशाली तत्त्वों वायु और अग्नि पर अपना शासन जमा लिया है, युद्ध की कला में महान् परिवर्तन हो गया है। गणित, रसायन, यंत्र-तंत्र, वास्तु-विद्या युद्ध की सेवा में लग गये हैं और विरोधी दल एक दूसरे के विरुद्ध अभियान और प्रत्यभियान के बहुत-से जटिल उपाय प्रयुक्त करने लगे हैं।. . . तोप और दुर्ग अब तातारी घोड़ों के लिए अजेय बाधाएँ बन गये हैं और भविष्य में यूरोप बर्बर जातियों के आक्रमण से सुरक्षित हो गया है, क्योंकि इससे पहले कि वे यूरोप पर चढ़ाई करके उसे जीतने की क्षमता उत्पन्न करें, उन्हें स्वयं बर्बरता का परित्याग करना होगा। जैसा कि हमने रूस के उदाहरण में देखा है, युद्ध-विज्ञान में वे जो क्रमबद्ध उन्नति करेंगे उसके अनुपात से शान्ति और शासन की कलाओं में भी उनका कदम बढ़ेगा और जिन संस्कृत जातियों को जीतने का वे प्रयत्न करेंगे उन्हीं के समाज में उनका पदार्पण होगा।"

७. **यूरोप का निरन्तर विकास और प्रसार**—गिबन स्वर्णयुग की प्रथम किरणों का अभिनन्दन करते समय जिस अमर मध्याह्न के आशापूर्ण प्रकाश का स्वप्न देख रहे थे उसमें उद्बोधनयुग का बुद्धिपरक इतिहास-दर्शन सन्निविष्ट था। इस दर्शन का सार मनुष्य का क्रमबद्ध उत्तरोत्तर विकास और उन्नयन था। गिबन ने अपनी अद्भुत शैली में इस दर्शन का इस प्रकार निरूपण किया है।

"प्राचीन और अर्वाचीन नाविकों के अनुसंधान और सर्वोन्नत जातियों के

आन्तरिक इतिहास तथा परम्पराओं से शरीर और मस्तिष्क से नग्न, तथा कानून, कला, विचार और भाषा से विहीन वन्य मानव का पता चलता है। इस अधोगति से, जो स्यात् मनुष्य की आदिम और सार्वभौम अवस्था रही होगी उसने धीरे-धीरे उठते-बढ़ते पशुओं को वश में किया। पृथ्वी को उर्वर बनाया, समुद्रों को पार किया और आकाश का मापन किया। अपनी मानसिक और शारीरिक शक्तियों के विकास और प्रयोग में उसकी प्रगति क्रमरहित और विभिन्न रही है, आरम्भ में यह अत्यधिक मन्द थी, किन्तु शनैः-शनैः द्विगुणित तीव्रता के साथ यह आगे बढ़ी। श्रमपूर्ण उन्नति के युगों के बाद त्वरित अवनति के क्षण आये। भूगोल के अनेक वातावरणों ने प्रकाश और तमस् के आवर्तन अनुभव किये। तथापि चार हजार वर्षों के अनुभव से हमारी आशाएँ बढ़नी चाहिए और हमारी शंकाएँ कम होनी चाहिए। हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि पूर्णता की ओर प्रगति करती हुई मनुष्य जाति कितनी उच्चता की कल्पना कर सकती है। किन्तु यह सहज में ही अनुमान किया जा सकता है कि कोई भी जाति फिर से आदिम बर्बरता में नहीं फिसल सकती जब तक प्रकृति का रूप ही न बदल जाय। समाज के अभ्युत्थान पर तीन दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। १—कवि या दार्शनिक अपने वैयक्तिक मस्तिष्क के प्रयत्नों द्वारा अपने देश या युग को प्रतिबिम्बित करता है, किन्तु तर्क या कल्पना की ये उदात्त शक्तियाँ विरल और सहजात होती हैं। यदि किसी नरेश के आदेश अथवा शिक्षक के उपदेश से होमर, सिसरो या न्यूटन की प्रतिभा का विकास हुआ होता तो हम उनकी इतनी प्रशंसा न कर पाते। २—नीति और नियम, व्यापार और उद्योग, कला और विज्ञान के लाभ अधिक ठोस और स्थायी होते हैं। बहुत-से व्यक्ति शिक्षा और संयम द्वारा अपने-अपने स्थानों पर समष्टि के हित-सम्पादन के लिए तैय्यार किये जा सकते हैं। किन्तु यह सामान्य व्यवस्था परिश्रम और प्रतिभा पर निर्भर रहती है और यह जटिल तन्त्र काल द्वारा कवलित या हिंसा द्वारा वर्णित हो सकता है। ३—सौभाग्य से लाभप्रद या आवश्यक कलाएँ उच्च प्रतिभा या राष्ट्रीय नियमन के बिना भी पल्लवित हो सकती हैं। इनमें किसी एक व्यक्ति की शक्ति की या किन्हीं व्यक्तियों के सम्मेलन की अपेक्षा नहीं होती। प्रत्येक ग्राम, प्रत्येक परिवार और प्रत्येक व्यक्ति में निश्चित रूप से अग्नि और धातुओं के प्रयोग को बना रखने की योग्यता और प्रवृत्ति रहेगी, पालतू पशुओं से सेवा प्राप्त करने का भाव रहेगा, शिकार खेलने और मछली पकड़ने के उपाय याद रहेंगे, नाविकता के प्रारम्भिक सिद्धांत स्मरण रहेंगे,

अन्नोत्पादन की प्रक्रिया ध्यानगत रहेगी और यांत्रिक व्यापारों का सरल प्रयोग बना रहेगा। वैयक्तिक प्रतिभा तथा सामूहिक उद्योग नष्ट हो सकते हैं, किन्तु ये सुदृढ़ पौदे तूफानों को झेलते हुए अधिकाधिक विषम और विपरीत भूमि में भी अपनी शाश्वत जड़ें फैलाते रहते हैं। ऑगस्तस और त्राजेन के सुनहले दिन अज्ञान के बादलों में छुप गये और बर्बर लोगों ने रोम के भवनों और नियमों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। किन्तु शनिश्चर की प्रतीक हँसिया फिर भी इटली की फसलें काटती रही और काम्पानिया के तटों पर लेस्त्रीगोनी की मानव-भक्षण-लीलाएँ सदा के लिए बन्द हो गयीं।

"कलाओं के प्रथम आविष्कार से ही युद्ध, व्यापार और धार्मिक भावना ने इन अमूल्य वरदानों को प्राचीन और नवीन जगत् के वन्य बर्बरों तक फैला दिया। बारम्बार उनका प्रचार हुआ। उन्हें कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। अतः हम इस आकर्षक निष्कर्ष को स्वीकार कर सकते हैं कि संसार का प्रत्येक युग मानव जाति की वास्तविक सम्पत्ति, सम्पन्नता, अभिज्ञता और सम्भवतः सदाचार में वृद्धि करता रहा है और अब भी कर रहा है।"[१३]

हमने गिबन के शब्दों में जो उनके इतिहास-दर्शन का निरूपण किया है इससे स्पष्ट है कि वे एक तो बुद्धिवाद के प्रबल समर्थक थे और बोल्तेर के, 'एक्राज़े ले फाम' की परम्परा के अनुसार धर्म को पतन, अवनति और अन्धकार का प्रतीक समझते थे और दूसरे वे मानव जीवन और संस्कृति की सतत प्रगति में विश्वास रखते थे और यह मानते थे कि इतिहास की प्रक्रिया इसे पूर्ण सम्पन्नता और समृद्धि की ओर ले जा रही है। इस प्रकार गिबन उद्बोधन काल के प्रमुख तत्त्वद्रष्टा थे।

८. गिबन के आशावाद का खण्डन—बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के दर्शक की दृष्टि से गिबन का आशावाद उपहासास्पद लगता है। उनका यह कथन ठीक था कि बर्बर जातियों की आक्रमण की शंका अब बिलकुल लुप्त हो गयी थी, किन्तु वे डीन इंज की उस उक्ति की कल्पना नहीं कर पाये थे कि प्राचीन समाजों का पतन बाह्य बर्बरों के आक्रमणों से हुआ, किन्तु हम स्वयं अपने अन्दर बर्बरों को जन्म दे

१३. उपर्युक्त उद्धरण एडवर्ड गिबेन की, 'दि हिस्ट्री ऑव दि डिक्लाइन एण्ड फाल आव दि रोमन एम्पायर,' के 'जनरल ऑबजरवेशन्स' शीर्षक उपसंहार से भाषान्तरित किये गये हैं।

रहे हैं। हमारे समाज पर जो संकट है वह स्वयं हमारा पैदा किया हुआ है। यूरोप के जिन सभ्य और संस्कृत राज्यों को देखकर गिबन की मुखमुद्रा आदर्शवाद की दिव्य ज्योति से जगमगा उठी थी वे ही आपस में लड़-झगड़ कर यूरोपीय संस्कृति को संहार और विनाश के गर्त में धकेलने लगे। दो महायुद्ध जिन्होंने यूरोप की भूमि को रक्तरंजित किया इन्हीं पाश्चात्य समुन्नत शक्तियों की स्पर्धा के परिणाम थे। गिबन ने यह संतोष प्रकट किया था कि वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप यूरोप की युद्धकला में इतना विकास हो चुका है कि स्तेपों के घोड़े उनके सामने विफल हो चुके हैं। किन्तु गिबन ने यह नहीं सोचा था कि इंगलैंड को जर्मन लूफ्तवाफे की बमबर्षा स्तेपों के घोड़ों से कहीं अधिक हानि पहुँचा सकती है और नागासाकी और हीरोशिमा के परमाणुबम-ध्वस्त भस्मपुंज त्रिगींस और हुलाकू की बर्बादी से बहुत अधिक भयानक हो सकते हैं। यदि गिबन की आत्मा आज के उद्‌जन बमों और रोकेट-संचालित-प्रक्षेपास्त्रों पर ध्यान दे जो क्षणमात्र में समस्त महाद्वीपों को निर्जीव करने की सामर्थ्य रखते हैं तो वह वैज्ञानिक आयुधों की इस प्रगति पर थर्रा उठेगी। और जब वह देखेगी कि वह 'महान् यूरोपीय गणतन्त्र' जिसकी 'बारह विविध शक्तियां' उसका शृंगार हैं इन्हीं शक्तियों की निर्मम लोलुपता के कारण रक्ततटाक बना जा रहा है तो वह एकदम अपने आशावादी इतिहास-दर्शन पर शर्मा जायगी। जहाँ तक धर्म के प्रभाव का प्रश्न है यह ठीक है कि अद्यकालीन अन्धविश्वासों में फँस कर यह शोषण और पतन का उपकरण बन गया था, किन्तु इसके बिना मानव जीवन को स्थायित्व मिल ही नहीं सकता। मनुष्य केवल बुद्धि के आश्रय पर जीवित नहीं रह सकता, उसे स्थिर रहने के लिए आस्था का धरातल चाहिए। श्रद्धा के बिना ही उद्‌बोधन युग की शान्ति क्षणिक सिद्ध हुई। और इसी के बिना आज का वैज्ञानिक उत्कर्ष पतन, विनाश और संहार का पर्याय बन रहा है। इसके अतिरिक्त जैसा कि टायनबी ने सिद्ध किया है कि किसी समाज या संस्कृति का पतन उसकी आन्तरिक दुर्बलताओं से होता है। बाह्य आक्रमण निमित्त कारण होते हैं। संस्कृतियों के पतन का इतिहास आत्म-हत्या की कहानी होती है। गीता का "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः", वाक्य ऐतिहासिक प्रक्रिया का भी मूलमंत्र है। जब समाज की सर्जनात्मक शक्ति क्षीण हो जाती है तो उसका ह्रास आरम्भ हो जाता है। इस दृष्टि से रोमन साम्राज्य का उत्कर्ष और पतन भी रोमन समाज की निष्क्रियता और सुषुप्ति का परिणाम था। बर्बर जातियों के आक्रमण तो इस ह्रास का प्रत्यक्षीकरण थे। गिबन ने आर्थिक तत्वों और सामाजिक

शक्तियों के प्रभाव को ठीक तरह नहीं पहचाना और कला और साहित्य के महत्त्व का सम्यक् मूल्यांकन नहीं किया। उनका ध्यान राजनीति, प्रशासन और युद्ध सम्बन्धी घटनाओं तक ही सीमित रहा। तथापि यह माना पड़ेगा कि गिबन पहला इतिहासकार था जिसने विस्तीर्ण दृष्टिकोण और सम्पूर्ण ज्ञान के साथ इतिहास की अक्षुण्णता को पहचाना।

अनुच्छेद ६—कोंदोसे

१. जीवन परिचय—अठारहवीं शताब्दी के उद्बोधन दर्शन का चरमोत्कर्ष ज्याँ आँतवान निकोलास कारितास मार्क्विस द् कोंदोसे के विचारों में मिलता है। वे गणितज्ञ, अर्थशास्त्री, दार्शनिक और राजनीतिविद् थे। अठारहवीं शताब्दी के बौद्धिक विकास की सम्पूर्ण परम्परा उनके व्यक्तित्व में केन्द्रित हो गयी थी। वे फ्रेंच दार्शनिकों की परम्परा के अन्तिम विचारक थे। इस परम्परा में से अकेले इन्हीं ने फ्रेंच क्रांति में प्रमुख भाग लिया था। किन्तु इसी क्रांति द्वारा प्रादुर्भूत फ्रेंच गणतन्त्र ने २८ मार्च, १७९४ को इन्हें काल की दाढ़ों में धकेल दिया था। उस दि बूर ला रीन के कारागार में जब उनका प्राणान्त हुआ तो एक महान् युग का अवसान हो गया। उनके लेखों में वोलतेर, रूसो, तुरगो, हेलवेसियस, कौंदिलाक आदि के दर्शन का समन्वय मिलता है। यद्यपि उन्होंने किसी मौलिक दार्शनिक विधान का आविष्कार नहीं किया, उन्होंने अपने पूर्ववर्ती विचारकों के सिद्धांतों का सुन्दर सामञ्जस्य प्रस्तुत किया। उनका 'एसक्विस दाँ तावलो इस्तोरिक दे प्रोग्रेस द् लेस्प्रीत्युमें' अठारहवीं शताब्दी के इतिहास-दर्शन का उपसंहार है।

२. मानव प्रगति में अटल विश्वास—कोंदोसे को मानव प्रगति में प्रबल विश्वास था। उन्होंने मानव इतिहास को दस युगों में विभक्त किया। इन सब में उत्तरोत्तर उन्नति होती गयी। आठवाँ युग मुद्रण के आविष्कार से आरम्भ होकर देकार्त के काल तक चला जब चिन्तन ने रूढ़ि के बन्धन तोड़ दिये। नये युग देकार्त से फ्रेंच क्रान्ति और फ्रेंच गणतन्त्र की स्थापना तक जारी रहा और दसवाँ युग मनुष्य की भावी प्रगति और पूर्णता का काल है, जब बुद्धि जीर्ण पुरातन से स्वतन्त्र होकर मनुष्य को सुख-शान्ति के शिखर पर ले जायगी। गिलोतीन की छाया में भी इस जाज्वल्यमान युग की स्वर्णिम किरणें कोंदोसे के नेत्रों को आलोकित कर रही थीं। उन्होंने लिखा था—

"मेरा कार्य तथ्यों और तर्कों से यह सिद्ध करना है कि मनुष्य की शक्तियों की

पूर्णता की कोई सीमा नहीं है, मनुष्य की पूर्णत्व-प्राप्ति की क्षमता वस्तुतः असीम है और अब इस क्षमता की प्रगति सभी बाधक बन्धनों से स्वतन्त्र हो गयी है। इसकी यदि कोई सीमा है तो भूगोल की अवधि जिस पर हमें प्रकृति ने प्रतिष्ठित किया है। बन्धनों से मुक्त, प्रगति के शत्रुओं से सुरक्षित, आकस्मिकता के शासन से स्वतन्त्र, सत्य, सदाचार और समृद्धि के पथ पर दृढ़ता और निश्चय से बढ़ती हुई मानव जाति का चित्र, अहो, कितना मनोरम है।[१४]

३. **बुद्धि का प्रभुत्व और जनतंत्र की उन्नति**—कोंदोसे ने अपने युग की अभिनव ज्योति का दर्शन किया था। न्यूटन, लॉक, रूसो, बेकन, गेलिलीयो और देकार्त ने बुद्धि को अन्धविश्वास और परम्परा के बन्धनों से मुक्त करने का जो भगीरथ प्रयत्न प्रारम्भ किया वह उस युग की संक्रान्ति को आशा के अमृत से आप्लावित कर रहा था। मानव की स्वाधीनता और समानता का संगीत वातावरण में एक अपूर्व मधुरता भर रहा था। कोंदोसे ने लिखा है—

"राजनीतिक विचारकों ने अन्त में मनुष्य के वास्तविक अधिकारों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। यह ज्ञान उन्होंने केवल इस मान्यता से ग्रहण किया है कि मनुष्य एक ज्ञानवान प्राणी है जो तर्कशक्ति से सन्नद्ध और नैतिक आदर्शों से सम्पन्न है। उन्होंने यह अनुभव किया है कि केवल इन्हीं अधिकारों की रक्षा के लिए मनुष्य राजनीतिक संगठनों में संग्रथित होते हैं और सामाजिक कला का लक्ष्य उन्हें पूर्ण समानता और अत्यधिक विस्तार के साथ सुरक्षित करना है. . . प्रत्येक मनुष्य वस्तुतः अपने आप को आरम्भ से ही बहुसंख्यक मत के साथ सम्बन्धित कर सकता है जिससे कालान्तर में मतैक्य हो जाता है। किन्तु वह अपने व्यक्तित्व को केवल उस सीमा तक परिबद्ध कर सकता है जहाँ तक उसके वैयक्तिक अधिकार सुरक्षित रहें और उन पर किसी प्रकार का आक्रमण न हो।[१५]

४. **मानव-स्वतन्त्रता का अरुणोदय**—इन वाक्यों से कोंदोसे के जनतन्त्री और गणतन्त्री विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है। इनसे उनके उस मानव प्रेम और न्याय-प्रियता का भी परिचय मिलता है जो तुरगो, प्राइस और प्रीस्टले के सिद्धांतों में

१४. जे० एच० रेण्डल, 'दि मेकिंग ऑव दि मॉडर्न माइण्ड' पृ० ३८३।

१५. कोंदोसे, 'एसक्विसदाँ ताबलो इस्तोरिक दे प्रोग्रेस द् लेस्पी इयुमें,' ओं० एच० प्रायर का संस्करण पृ० १४९-१५१।

प्रच्छन्न थी। अतः वे अमेरिकी क्रान्ति और फ्रेंच क्रान्ति का वर्णन करते हुए हर्ष से उछल पड़ते हैं। ये उनके लिए स्वतन्त्रता के संग्राम की अन्तिम सीढ़ियां हैं, और बौद्धिक तथा नैतिक प्रगति के प्रकाशस्तम्भ हैं। उनके बाद मानवता को उस युग में प्रवेश करना है जहाँ "सूर्य पृथ्वी पर केवल स्वतन्त्र मनुष्यों को उद्भासित करेगा। मनुष्य बुद्धि के अतिरिक्त कोई अन्य शासन स्वीकार नहीं करेंगे। अत्याचारी और दास, पुरोहित और उनके मूर्खतापूर्ण और कपटमय उपचार केवल इतिहास के पन्नों या नाटकों के रंगमंचों पर दिखाई देंगे। उन पर कोई ध्यान नहीं देगा, लोग केवल उनके द्वारा शोषित प्राणियों पर दया करेंगे और उनके अत्याचारों के भय से सदा सतर्क बने रहेंगे और यदि वे फिर बीड़ा उठावें तो बुद्धि के भारी प्रहार से अन्याय तथा अन्धविश्वास के पहले अंकुरों को दबा देने और कुचल देने की क्षमता रखेंगे।[१६]

कोंदोसे ने बारम्बार अपने इन विचारों का प्रतिपादन किया। 'तुरगों के जीवन चरित' (वी द् तुरगो) 'फ्रांस के प्रोटेस्टेण्टों की दशा', (एता दे प्रोतेस्तां आँ फ्रांस) 'नीग्रो लोगों की दासता पर विचार, (रेफलेक्सियों स्यूर लेस्क्लावाज़ दे नेग्र) आदि लेखों में उन्होंने इन मतों की प्रबल पुष्टि की है। १५ फरवरी, १७९३ को उन्होंने टॉमस पेन के साथ मिलकर फ्रांस के जिस संविधान की रूपरेखा तैयार की और कोंबासियों के सामने प्रस्तुत की जिसे जिरोंदी संविधान कहते हैं, उसमें उन्होंने अपने सिद्धांतों को व्यापक और व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

५. कोंदोसे और अठारहवीं शती का उद्बोधनकालीन दर्शन—अठारहवीं शताब्दी के उद्बोधनकालीन दर्शन ने वह मानवीय और सामाजिक आदर्श उपस्थित किया जो आज भी मानवता का आशा-स्तम्भ है। इस दर्शन के अनुसार इतिहास कोई अमानवीय प्रक्रिया नहीं है जो स्वतः संसार में सक्रिय हो। यह मानव कार्य-कलाप की, मनुष्य की अपनी क्रियाओं की उपज है। इतिहास कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो हमारा निर्माण करती हो, वरन् हम स्वयं इतिहास का निर्माण करते हैं। यह उन वस्तुओं और तथ्यों का समूह है जिन्हें मनुष्य ने बनाया है, जिन्हें वह बना रहा है और जिन्हें वह बनाने जा रहा है या बना सकता है। अतः इस

१६. आलेग्ज़ान्द्र कोयरे, 'कोंदो से, 'जर्नल आव दि हिस्ट्री आव आइडियाज़' (१९४८) भाग ९, पृ० १३१-१५३।

दृष्टिकोण से इतिहासकार का ध्यान अतीत की अपेक्षा भविष्य में केन्द्रित हो जाता है। इतिहास के विषय में उसे जो कुछ लिखना है, इतिहास के वृत्तों में जो कुछ मूल्यवान् और स्मरणीय है, वह प्रगति और उन्नति की कथा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दूसरे शब्दों में, मानव-आत्मा की प्रगतिशील स्वतन्त्रता की कथा, अज्ञान, अन्धविश्वास, पक्षपात आदि शक्तियों के विरुद्ध इसके सतत संघर्ष का वृत्तान्त, मनुष्य के द्वारा क्रमशः सम्यक् सम्बोधि (एनलाइटेनमेण्ट) की प्राप्ति का अवदान, इतिहास की मुख्य और मौलिक प्रवृत्ति है। यह उन अबौद्धिक शक्तियों के विरुद्ध मनुष्य के शाश्वत युद्ध की कहानी है जो प्रगति के पथ को अवरुद्ध करती रहती है। यह अतीत के विरुद्ध भविष्य के विद्रोह का कथानक है। अतीत के चिह्न सुरक्षा या अर्चना के पात्र नहीं हैं, वरन् विध्वंस और विनाश के अधिकारी हैं। अतः इतिहासकार स्वयं इतिहास के संघर्ष का एक सैनिक है। वह अतीत के गल्पों की पोल खोलकर उनके विरुद्ध लड़ने खड़ा हो जाता है। भूमि के भग्नावशेषों को हटाकर भवनिर्माण की पृष्ठभूमि तैयार करता है। इस प्रकार उद्‌बोधनकालीन इतिहास-दर्शन केवल संसार की व्याख्या मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो जाता, यह इसे बदलने और पलटने की चेष्टा करता है। इसमें विद्वत्ता और सक्रियता का संगम है।

६. **उद्‌बोधनकालीन आशावाद की आलोचनात्मक समीक्षा**—कोंदोसे के दृष्टिकोण से उद्‌बोधनकालीन इतिहास-दर्शन का हमने ऊपर जो विवेचन किया है उससे उसकी विशेषताओं और दुर्बलताओं पर प्रकाश पड़ जाता है। वर्तमान काल की विचारधारा से इस युग का आदर्शवाद थोथा दिखाई देता है। मनुष्यों के विचार कितने ही उदात्त हों और उनकी बुद्धि कितनी ही प्रखर हो उनमें भावना का सागर उमड़ता रहता है और इसे संतुलित रखना अनिवार्य हो जाता है। फ्रेंच क्रांति के दिनों में ही इन बुद्धिवादियों के देखते-देखते भावनाओं की ऐसी झंझाएँ चलीं कि मिराबो, कोंदोसे, दाँतों, रोबसपिएर क्रमशः इनमें बहकर लुप्त हो गये। आदर्शों की ऐसी धूम मची कि संविधान से लगाकर तिथिक्रम तक सब बदल डाले गये। जैसा कि अनातोले फ्रांस ने अपने रोचक उपन्यास 'ले द्युजों स्वाफ', (देवताओं की प्यास) में प्रकट किया है। लोगों ने ताश के पत्तों तक के नाम और चिह्न बदलकर पान, ईंट, चिड़ी, हुकम के स्थान पर स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व आदि प्रतीक निश्चित कर दिये। परिणाम यह हुआ कि नेपोलियन के आगमन से सब आदर्शों की धूल दब गयी और बुद्धिवादियों के स्वप्न खण्डित हो गये। इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के जनतत्र और व्यक्तिवाद के बाद बीसवीं शती में जब नात्सी, फाशिस्त और

रूसी तानाशाही का युग आया तो उद्‌बोधनकालीन आशाओं पर पानी-सा फिर गया और अब जब विश्व भर में विनाश का संकट मँड़रा रहा है तो इन आशाओं और आदर्शों में व्यंग्य की गंध आती है।

अनुच्छेद ७—विचो (वीको)

१. इटली का इतिहास-लेखन—इटली पर भी नवीन दर्शन का प्रभाव पड़ा यद्यपि वहाँ का राजनीतिक और बौद्धिक वातावरण इसके अनुकूल न था। उस युग में राष्ट्रीय एकता का पूर्णतः अभाव था। स्पेन के बूरबों नेपिल्स और दक्षिणी प्रदेशों पर शासन कर रहे थे, आस्ट्रिया के हैब्सबुर्ग मीलान और लोम्बार्दी पर अधिकार किये हुए थे। सर्वत्र धार्मिक कट्टरता का साम्राज्य था। फिर भी नेपिल्स के एक वकील पीत्र. ग्यान्नोने (१६७६-१७४८) ने, 'स्तोरिया सिविले देल रेग्नो दे नापोली' लिखकर पोप-सम्बन्धी संस्था के राजनीतिक इतिहास पर भयंकर प्रहार किया। इससे उन्हें निर्वासित किया गया और अन्त में आजीवन कारावास प्रदान किया गया। ग्यान्नोने ने कानूनी कागजों के उपयोग में बड़ी दक्षता दिखायी और साविग्नी का पथ-प्रदर्शन किया। इस युग का दूसरा उल्लेखनीय इतिहासकार सेज़र बोनेसाना माक्विलस दि बेकारिया (१७३५-९३) था जिनकी, 'देई देलित्ती ए देल्ले पेने', ने यूरोप भर में धूम मचा दी। यद्यपि बेकारिया का मुख्य विषय दण्ड-विधान था, उन्होंने अपने विचारों के प्रतिपादन के लिए ऐतिहासिक तथ्यों का आश्रय लिया। इस युग का सर्वश्रेष्ठ लेखक ग्याम्बात्तिस्ता विचो (१६६८-१७४४) था जिसने इतिहास-दर्शन की परम्परा में इतली को प्रमुख स्थान प्रदान किया।

२. विचो का जीवन-परिचय—विचो नेपिल्स के एक छोटे-से पुस्तक-विक्रेता का पुत्र था। आरम्भ से ही प्रतिभाशाली होने के कारण विचो ने यूनिवर्सिटी में दर्शन, न्याय, इतिहास और साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। अफलातूं और तेसितस से उन्हें बड़ा प्रेम था। १६९७ में वे २९ वर्ष की उम्र में मीलान में रहेतोरिक के प्राध्यापक नियुक्त हुए। उन्हें थोड़े-से वेतन में बड़े परिवार का पालन-पोषण करना पड़ता था। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ, 'प्रिंसिपि दि उना स्यॉज़ां नूबा' (नवीन विज्ञान के सिद्धांत) और 'सेकोन्दा स्यांज़ा नूबा' (द्वितीय नवीन विज्ञान) इतिहास दर्शन के आकर ग्रन्थ हैं।

३. देकार्त के दर्शन का विरोध—विचो ने देकार्त के दर्शन का विरोध किया। उनके मतानुसार सत्य कोई निरपेक्ष भाव नहीं है। इसका सम्बन्ध मानव मस्तिष्क

से है। अतः मानव मस्तिष्क को जो बात ठीक जँचती है उसे ही वह सत्य समझ बैठता है, चाहे वह वास्तविकता से दूर भी हो। अतः बिचो के अनुसार ज्ञानोपार्जन का वास्तविक उपाय उस सिद्धांत की खोज करना है जिसके द्वारा ज्ञेय और अज्ञेय का भेद समझ में आ सके और ज्ञान की सीमाएँ स्पष्ट हो सकें। यह विचार लाक और ह्यूम की चिन्तन-पद्धति से मेल खाता है। इस दृष्टिकोण से विचार करते हुए विचो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव मस्तिष्क उसी तथ्य का ज्ञान प्राप्त कर सकता है जो उसकी सृष्टि हो। 'वेरूम एत फाक्तुम कोनवर्तुन्तूर', इस लातीनी मंत्र में यह दर्शन सन्निहित है। उदाहरणार्थ प्रकृति का ज्ञान केवल भगवान् को ही हो सकता है क्योंकि यह उसकी सृष्टि है, किन्तु गणित का ज्ञान मनुष्य को प्राप्त होता है क्योंकि इसके सिद्धांत और कल्पनाए मनुष्य द्वारा निर्मित हैं। इसी प्रकार उन्हीं वस्तुओं और प्रक्रियाओं का ज्ञान मनुष्य प्राप्त कर सकता है जिनका निर्माण और सर्जन उसने स्वयं किया हो। चूंकि इतिहास वह प्रक्रिया है जो मानव द्वारा, भाषा, रूढ़ि, नियम, शासन आदि के सर्जन और विकास में सन्निहित है, अतः यह भी मानव की निर्माण-कला का परिणाम है और फलतः मस्तिष्क द्वारा पूर्णतः ज्ञेय है। इतिहास मानव की चेष्टा और चितन का फल है। इसका स्वरूप समाज और संस्थाओं के निर्माण से निष्पन्न है। इस प्रकार एक ओर तो विचो ने देकार्त के इतिहास-विषयक संशयों का निराकरण करके इसकी वैज्ञानिकता का प्रतिपादन किया और दूसरी ओर इसे सामाजिक विकास की मानव-निर्मित प्रक्रिया घोषित करके इसकी मौलिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला।

४. इतिहास की स्वतः सिद्धि—विचो के मतानुसार इतिहास का संबंध कोरे अतीत से नहीं था। इसका सबंध हमारे समाज के वर्तमान संविधान से है। इसका अध्ययन करने के लिए यह प्रश्न आवश्यक नहीं है कि क्या अस्तित्व सिद्ध है। ऐसा प्रश्न निरर्थक है। अग्नि की ओर देखते हुए देकार्त ने प्रश्न किया था कि क्या अग्नि-विषयक विचार के अतिरिक्त किसी वास्तविक अग्नि का भी अस्तित्व है? किन्तु बिचो के मतानुसार इटली की भाषा के विषय में ऐसा प्रश्न नहीं उठ सकता। यहाँ आदर्श और यथार्थ में कोई भेद नहीं है, विचार और वस्तु बिलकुल एक हैं।

५. इतिहास में समानता और अक्षुण्णता की प्रवृत्ति—इतिहास में समानता और अक्षुण्णता की प्रवृत्ति विद्यमान है। समानता का आधार यह है कि मनुष्य स्वयं इतिहास का निर्माता है और उसकी प्रकृति में सर्वत्र मौलिक समानता मिलती है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि मानव प्रकृति में आकस्मिक परिवर्तन नहीं होते।

इसमें पूर्व स्थिति और स्वरूप के चिह्न अवश्य विद्यमान रहते हैं। अतः इतिहास में भी अक्षुण्णता और क्रम बने रहते हैं। इन प्रवृत्तियों के कारण इतिहास की उन्नति-अवनति की दिशाएँ निश्चित-सी रहती हैं। यह चक्रवत् घूमता रहता है। इसकी गति के दो पक्ष, 'कोर्सो' और 'रिकोर्सो' कहलाते हैं। 'कोर्सो' एकतंत्रात्मक शासन पर समाप्त होता है और फिर 'रिकोर्सो' प्रारम्भ हो जाता है। 'रिकोर्सो' का अर्थ पतन नहीं है, बल्कि एक नूतन गति है। विचो के मतानुसार प्राचीन काल, कोर्सो का युग था और मध्य काल, रिकोर्सो का। कोर्सो-रिकोर्सो का यह विकासवाद ईसाई धर्म के इतिहास से सम्बन्धित है। ईसाई धर्म की स्थापना के पश्चात् यूरोप में सदा के लिए सद्धर्म स्थापित हो गया, एक न्यायपरक स्थायी सभ्यता का श्री-गणेश हो गया और मानवता का एक नवीन संविधान अस्तित्व में आया। बर्बर-युगीन हिंसापरक राजनीति और कल्पनाप्रधान विज्ञान के स्थान पर सत्य, न्याय और सौहार्द की प्रतिष्ठा हुई।[१७]

६. ऐतिहासिक विकास की तीन अवस्थाएं; देवयुग, वीरयुग, मानवयुग— विचो का दर्शन आदिम जातियों के मनोवैज्ञानिक विकास पर अवलम्बित था। उनके मतानुसार मानव समाज तीन अवस्थाओं से गुजरा (१) देवयुग जब देवताओं और उनसे सम्बन्धित आख्यानों की प्रमुखता थी, (२) वीरयुग जब वीरों और उनसे सम्बन्धित बर्बरता की दुन्दुभि बज रही थी, और (३) मानव-युग अथवा क्लासिकल युग जब सभ्यता और संस्कृति का सूत्रपात्र हुआ। जब वीर-युग मानव-युग अथवा क्लासिकल युग में परिणत होता है तो कल्पना के स्थान पर विचार, पद्य के स्थान पर गद्य, कृषि के स्थान पर उद्योग, युद्ध के स्थान पर शान्ति की प्रमुखता हो जाती है। इस मानव युग अथवा क्लासिकल युग के बाद फिर एक पतन का युग आता है जिसे नव-बर्बर युग कहते हैं। इस नव-बर्बर युग की बर्बरता वीर युग की बर्बरता से भिन्न होती है। इसमें भावना और कल्पना की कमी और विचार तथा चिन्तन की प्रमुखता तो होती है, किन्तु इस विचार और चिन्तनमें सर्जन शक्ति नहीं रहती और यह कृत्रिम और दुरूह भेदोपभेदों के निरर्थक जंजाल में फँस कर निष्फल हो जाता है। विचो ने अपने उपर्युक्त इतिहास-चक्र को दूसरे शब्दों में इस प्रकार अंकित किया है—पहले इतिहास की नियामक प्रवृत्ति पाशविक

१७. रॉबर्ट फ्लिण्ट, 'विचो' पृ० १७६-१७७

शक्ति होती है, फिर शौर्यप्रधान या वीरतामयी शक्ति, फिर निर्भीक न्याय, फिर जाज्वल्यमान मौलिकता, फिर रचनात्मक विचार और अन्त में एक प्रकार का पाखण्डपूर्ण और अपव्ययपरक प्रसार जो पूर्व रचनाओं को भी विनाश की ओर ले जाता है। किन्तु इतिहास की यह गति चक्रात्मक होने के साथ साथ रेखात्मक भी है। इतिहास की आवृत्ति पूर्णतः वृत्तवत् नहीं होती। प्रत्येक नवीन पक्ष पूर्वपक्ष से कुछ भिन्न होता है। उदाहरण के लिए मध्यकाल की ईसाई बर्बरता होमर युग की बर्बरता से भिन्न है। इस प्रकार विचो के दर्शन में प्राचीन यूनानी रोमन और ईसाई दृष्टियों का समन्वित समावेश हुआ है।

७. **तुलनात्मक और वैज्ञानिक इतिहास-लेखन**—विचो को तुलनात्मक और वैज्ञानिक इतिहास-दर्शन का प्रवर्तक कहा जा सकता है। उन्होंने पाँच प्रकार की त्रुटियों और भ्रान्तियों से इतिहासकारों को सचेत किया। (१) प्राचीन काल के सम्बन्ध में अतिरंजित भावनाएं, इतिहासकार बहुधा अपने वर्ण्य-विषय को बहुत विशाल और महान् मान लेते हैं। विचो ने उदाहरण दिया है कि रोमन लन्दन की जनसंख्या बहुत-से लेखक ५०,००० या १००,००० बताने लगते हैं जबकि वहाँ दस पन्द्रह हजार से अधिक मनुष्य नहीं रहते। (२) जातिवाद का अभिमान, अपने देशों के इतिहास लिखते समय इतिहासकार उनकी छोटी से छोटी बातों को भी बहुत बढ़ा-चढ़ा कर लिखते हैं और बड़ी से बड़ी भ्रान्तियों को भी छुपाने का प्रयत्न करते हैं। विचो के मतानुसार इंगलैंड के इतिहास में यह बात विशेष रूप से पायी जाती है। (३) विद्वत्ता का भ्रम, साधारणतया इतिहासकार यह समझ बैठते हैं कि जिन व्यक्तियों के विषय में वे लिखे रहे हैं वे उन्हीं के समान विद्वान् और सुशिक्षित थे। किन्तु इतिहास के महापुरुष विद्वत्ता की दृष्टि से बड़े गौण ही थे। (४) सामग्रीविषयक भ्रम, इतिहासकार प्रायः समझते हैं कि यदि दो जातियों में समान भाव, विचार या संस्था विकसित हुए तो एक ने उन्हें अवश्य दूसरे से ग्रहण किया। किन्तु बहुधा यह धारणा भ्रान्तिमूलक होती है क्योंकि मानव मस्तिष्क की मौलिक सर्जनशक्ति सर्वत्र समान रूप से कार्यशील रहती है। मनोऽनुकूल परिस्थितियों में इसकी क्रियाओं और अभिव्यक्तियों में समानता होती है। ऐसे विषयों में भी जहाँ एक जाति ने दूसरी जाति से निश्चित रूप से शिक्षा ग्रहण की है उदाहरणार्थ जापान ने चीन से बहुत-सी बातें सीखी हैं, रोम ने यूनान की संस्कृति को अपनाया है, गॉल ने रोम की जीवन-शैली को अंगीकार किया है, मानव मौलिकता का बड़ा प्रशस्त कार्य रहा है। इन देशों ने वही बातें ग्रहण की हैं जो इनकी ऐतिहासिक

परिस्थितियों के अनुकूल थीं। (५) यह विचार कि पुराने लोगों का तात्कालिक-विषय-सम्बन्धी ज्ञान हम से अधिक समुन्नत था, एलफ्रेद के समकालीन लोग एंग्लो सेक्सन युग के विषय में इतना नहीं जानते थे जितना कि हम जानते हैं। इस प्रकार विचो ने इन नकारात्मक तथ्यों का प्रतिपादन करके वैज्ञानिक पद्धति का सूत्रपात किया।

८. इतिहास के रचनात्मक सिद्धांत—विचो ने कुछ रचनात्मक सिद्धांत भी प्रस्तुत किये। १—भाषा वैज्ञानिक तथ्यों से इतिहास पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। भाषा का संस्कृति से गम्भीर सम्बन्ध है। २—आख्यानिक तथ्यों का भी ऐतिहासिक विकास से बड़ा गठजोड़ है, आख्यानों के आलोचनात्मक विश्लेषण से सामाजिक व्यवस्था के बहुत-से पक्ष उद्भासित हो उठते हैं। ३—प्राचीन परम्पराओं के अध्ययन से बहुत-सी अज्ञात बातें समझ में आ जाती हैं, क्योंकि परम्पराएँ सामाजिक परिस्थितियों की प्रतिबिम्ब होती हैं। ४—मनुष्य का मस्तिष्क समान परिस्थितियों में समान प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त करता है। अतः विभिन्नता के होते हुए भी मानव-मन समानता के धरातल पर प्रतिष्ठित रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि विचो का दर्शन बहुत समुन्नत और विकसित था। यद्यपि उनकी बहुत-सी स्थापनाएं साधारण-सी प्रतीत होती हैं, किन्तु उस काल की परिस्थितियों को देखते हुए उनमें बहुत बड़ा सार और नवीनता दिखाई देती है। विशेष रूप से उनकी 'सामूहिक मन', (ग्रूप माइण्ड) की धारणा तो युगान्तकारी दृष्टिगत होती है। जॉन केलेविच नामक एक विद्वान् ने लिखा है—

९. सामूहिक मन (ग्रूप माइण्ड) की धारणा—"विचो के विचारों में सबसे महत्त्वपूर्ण 'सामूहिक मन' (ग्रूप माइण्ड) की धारणा है। उनके बहुत-से समसामयिक और पूर्ववर्ती इतिहासकार यह मानते थे कि ऐतिहासिक परिवर्तन या तो दैवी शक्ति के हस्तक्षेप से सम्पन्न होते हैं या महान् प्रशासकों की प्रभा से निष्पन्न होते हैं। विचो ने 'सामूहिक मन' (ग्रूप माइण्ड) को सतत् प्रगतिशील सभ्यता के निर्माता के रूप में चित्रित करके एक समुन्नत आधुनिक विचारधारा को प्रस्तुत किया। इस सारगर्भित विचारधारा की बौद्धिक पृष्ठभूमि में सामाजिक विकास का सिद्धांत और संस्कृति के विभिन्न पक्षों की परस्पराश्रितता की अनुभूति सन्निहित हैं। संक्षेप में विचो का महान् कार्य यह है कि उन्होंने एक ऐसे इतिहास-दर्शन को जन्म

दिया जो उस काल से इतना आगे बढ़ा हुआ था कि रोमान्तिक युग तक मनुष्य इसका सम्यक् मूल्यांकन न कर सके।[१८]

विचो के दर्शन की क्षीण प्रभविष्णुता का कारण यह था कि उनकी भाषा और शैली बहुत दुरूह, जटिल और अस्पष्ट थी और धार्मिक रूप में परिवद्ध थी। विचो को इन्क्वीजीशन का बड़ा भय था और अपने देशवासी ग्यान्नोने का अन्त उनके नेत्रों में नाच रहा था। अतः उन्होंने जान-बूझ कर अस्पष्ट शैली में अपने विचार प्रकट किये। इसके अतिरिक्त भगवान् में अटूट श्रद्धा रखने के कारण विचो ने देकार्त के दर्शन का जो खण्डन किया उससे अठारहवीं शती के विचारक वड़े रुष्ट और क्षुब्ध थे। यही कारण था कि विचो का इतना समुन्नत दर्शन उस काल पर प्रभाव न डाल सका।

अनुच्छेद ८—जर्मन इतिहास-दर्शन और कान्त

१. **लाइपनित्स**—पन्द्रहवीं शताब्दी में जर्मनी में जिस बौद्धिक पुनरुत्थान का सूर्योदय हुआ वह रिफोर्मेशन से प्रादुर्भूत तीस वर्षीय युद्ध के मेघों से दबकर फीका पड़ गया। सत्रहवीं शती में गोतफ्रीद विल्हेल्म लाइपनित्स (१६४६-१७१८) ने जर्मनी के बौद्धिक जीवन को फिर से सक्रियता प्रदान की। लाइपनित्स अनेक विषयों के विज्ञ विद्वान् थे। दर्शन और विज्ञान में उनकी विशेष रुचि थी। अतः उन्होंने इतिहास को एक दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान किया। ड्यूक ऑव ब्रंजविक को १६९२ में एक पत्र लिखते हुए उन्होंने इन शब्दों में इतिहास की चर्चा की—

''इतिहास को ठीक तरह समझने के लिए हमें इसकी तुलना एक जन्तु के शरीर से करनी चाहिए जिसमें अस्थिपंजर समस्त रचना का आधार होता है, शिरा-जाल अवयवों को सम्बन्धित रखता है, आत्मा सम्पूर्ण तंत्र को संचालित करती है, रस-स्राव उसका भरण-पोषण करता है और मांस पूरे पिण्ड को आकार और स्वरूप देता है। इसी प्रकार इतिहास के अंग अपना-अपना काम करते हैं। कालक्रम अस्थिपंजर का कार्य करता है, वंश-परम्परा शिराओं का काम करती हैं, प्रच्छन्न

१८. एस० जानकेलेविच, 'ला फिलोसोफी द् विचो, दाप्रे बेनेदितो क्रोचे, रव्यु द् सिन्थेज इस्तोरीक' भाग २३ (१९११) पृ० ३१२-१८।

उद्देश्य अन्तरात्मा-जैसी क्रिया करते हैं, उपयोगी दृष्टान्त रसों की तरह सक्रिय रहते हैं और परिस्थितियों का वृत्तान्त मांस के समान शरीर के आकार को बनाता है।... सत्यरहित इतिहास जीवनरहित शरीर है। अतः यह आवश्यक है कि वास्तविक आधार के बिना कोई भी बात कहनी नहीं चाहिए। इतिहास से आख्यानों को निकाल कर उसे सत्य की आधारशिला पर प्रतिष्ठित करना चाहिए। यह जानना भी आवश्यक है कि इतिहास के सभी भाग पूर्णतः सत्य नहीं हो सकते। प्राचीन इतिहास में वर्णित बहुत-से अप्रत्यक्ष उद्देश्यों का कोई भी साक्ष्य नहीं मिलता।"[१९]

उपर्युक्त पत्र में इतिहास की तुलना शरीरी से की गयी है। यह विचारधारा वैज्ञानिक युग की विशेष देन थी और बाद में, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, बहुत पल्लवित और विकसित हुई। लाइपनित्स का मुख्य सिद्धांत यह था कि ऐतिहासिक प्रक्रिया अक्षुण्ण रहती है और परिवर्तन एक विकासशील क्रिया है।

२. **लाइपनित्स का प्रभाव**—लाइपनित्स का प्रभाव प्रायः सभी तात्कालिक जर्मन लेखकों और विचारकों पर पड़ा। क्रिस्तियन वोल्फ ने उनके दर्शन की बड़ी विशद व्याख्या की और जर्मनी में उद्‌बोधन (आउफक्लयारूंग) का सूत्रपात किया। याकोव मास्कू (१६८९-१७६१) ने सांस्कृतिक और धार्मिक तथ्यों के महत्त्व का उद्‌घाटन किया। उनका प्राचीन जर्मन जातियों का इतिहास एक उत्कृष्ट ऐतिहासिक रचना है। इसमें प्राचीन जर्मन जातियों की जीवन-चर्या, रीति-नीति और युद्ध-कौशल पर प्रामाणिक साक्ष्य के आधार पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।

३. **विश्वविद्यालयों की बाढ़**—इस युग में जर्मनी में बहुत से विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। १६९४ में हाले, १७३७ में गोतिंजन, १७५६ में एरफुर्त, १७६३ में म्युनिख, १७६६ में मानहाइम, १८०९ में बर्लिन के विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इनके अतिरिक्त बहुत-से वैज्ञानिक विद्यालय भी खोले गये। इन विद्यापीठों के बौद्धिक वातावरण में जर्मनी में नवीन जाग्रति की लहर दौड़ पड़ी। राष्ट्रीय एकीकरण का निनाद उठने लगा। इतिहास के प्रति एक विशेष सतर्कता आ गयी। डीवी के शब्दों में यह कहना कोई अत्युक्ति न होगी कि लगभग एक शताब्दी तक

१९. जे० डब्लु टॉम्पसन, 'हिस्ट्री ऑव हिस्टोरिकल राइटिंग' भाग २, पृ० १०० पर उद्धृत।

जर्मनी का विशेष दर्शन इतिहास-दर्शन रहा।[२०] अठारहवीं शती मे जिन लेखकों और विचारकों ने जर्मनी में ऐतिहासिक भावना को जाग्रत किया उनमें से बहुत कम इतिहासकार थे। इन लेखकों में लेसिंग, विंकिलमान, वोल्फ, कान्त आदि अग्रगण्य हैं। सबसे पहिले हम कान्त के दर्शन को लेते हैं, क्योंकि इन्होंने इस युग की भावनाओं का पूर्ण प्रतिनिधित्व किया।

४. कान्त का जीवन-परिचय—इमानुएल कान्त (१७२४-१८०४) कोइनिक्सबर्ग में जन्मे, वहीं रहे-सहे, वहीं पढ़े-पढ़ाये और वहीं संसार से विदा हुए। उन्होंने न कोई यात्रा की, न विवाह किया, न कोई धन्धा किया। वे जीवन भर चिन्तन में ही निमग्न रहे। १७४० से जब उन्हें दर्शन में रुचि उत्पन्न हुई, १७६१ तक उन्होंने लाइपनित्स और वोल्फ के दर्शन की गवेषणा की और १७६० से १७७० तक ह्यूम आदि अंग्रेजी संशयवादियों के विचारों में पैठ लगायी। १७७० से १७८० तक वे चुप रहे और विचारों के जगत् में डूबे रहे। १७८० से १७९० तक उन्होंने अपने महान् ग्रन्थों की रचना की और १७९० के बाद उन्होंने अपने दर्शन का प्रयोग विश्व-इतिहास की समस्याओं के समाधान के लिए किया।

५. कान्त का ऐतिहासिक दृष्टि-कोण[२१]—कान्त का दृष्टिकोण पूर्णतः ऐतिहासिक था। उनके ग्रन्थों में ऐतिहासिक विकास का सूत्र चलता रहता है। प्रत्यक्ष जगत् में वस्तुओं का विकास उसके प्राकृतिक इतिहास के समकक्ष रहता है। बाह्य प्रगति उन आन्तरिक शक्तियों की कलेवरमात्र होती है जो एक निश्चित नियम के अनुसार मानव जगत् में कार्यशील रहती हैं। यह नियम इसी प्रकार निश्चित होता है जैसे वह नियम जो सौर मण्डल को सन्तुलन और संविधान प्रदान करता है। अतः बाह्य विकास प्रकृति की सम्पूर्ण आन्तरिक विकास प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब होता है। यह प्रक्रिया मनुष्य को नियंत्रित रखती है, मनुष्य द्वारा नियंत्रित नहीं रहती। कान्त के शब्दों में किसी वस्तु के विविध स्वरूपों के ऐतिहासिक परिवर्तन का अन्वेषण ही वास्तविक दर्शन है। यह ऐतिहासिक परिवर्तन काल के दोल पर

२०. डीवी, 'जर्मन फिलॉसिफी एण्ड पोलिटिक्स' पृ० ९२

२१. कान्त के विषय में देखिए ए० डी० लिण्डसे, 'दि फिलॉसोफी ऑव इमानुएल कान्त,' राइनोल्ड, आरिस, 'हिस्ट्री ऑव पोलिटीकल थॉट इन जर्मनी फ्राम १७८९ टु १८१५, पृ० ६५-१०५।

घूमती हुई एक अक्षुण्ण प्रक्रिया है जो सभ्यता और स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हो रही है। इतिहास केवल तथ्यों का परिगणन या घटनाओं की तालिका नहीं है। यह इनसे ऊपर एक आन्तरिक विकास की प्रक्रिया है। इसमें क्रम, सम्बन्ध, संतति, एकता और अवयवित्व है। इस प्रकार कान्त ने इतिहास-चिन्तन की पद्धति में नवीनता उत्पन्न की।

कान्त ने ह्यूम आदि के सापेक्ष हेतुवाद को ग्रहण किया। उनके मतानुसार प्रत्यक्ष जगत् का हेतुवाद रहस्यमयी अज्ञात शक्तियों की क्रीड़ा नहीं होती, वरन् नियमबद्ध घटना-चक्र की गति का पर्याय होता है। दूसरे शब्दों में तथ्यों की पारस्परिकता विकास के सिद्धांत पर आधारित रहती है। काल एक सर्जनशील शक्ति है और इसके अनुरूप प्रत्येक वस्तु के स्वरूप का निर्माण होता है। अतः इतिहास निर्माण (वेरदन) की एक सर्वव्यापी प्रक्रिया है।

६. **विश्व की नियमबद्ध प्रक्रिया**—कान्त के मतानुसार विश्व की प्रक्रिया नियमबद्ध है। यह एक प्राकृतिक योजना के अनुसार गतिशील है, मनुष्य इस योजना के अधीन है। यह ठीक है कि वैज्ञानिक साक्ष्य से हम इस योजना को सिद्ध अथवा असिद्ध करने में असमर्थ हैं, किन्तु यह एक ऐसी मौलिक धारणा है कि उसके बिना प्रकृति को समझना असम्भव है। हम इसे एक प्राकृतिक नियम की तरह हृदयंगम नही कर सकते तथापि इसके अनुरूप अपना दृष्टिकोण बनाये बिना प्रकृति हमारे लिए एक पहेली बन कर रह जाती है। हमारी चिन्तन-पद्धित और वर्णन-शैली में इस प्रकार की लाक्षणिक पदावली बद्धमूल है। उदाहरण के लिए हम साही को आत्म-रक्षा के लिए अपने कंटकाकीर्ण कवच को फैलाते हुए देखते हैं। यह उसकी वैयक्तिक चतुरता नहीं है, अपितु जातीय स्वभाव है जो प्रकृतिप्रदत्त है। ऐसा लगता है कि प्रकृति ने इस जन्तु को अपनी रक्षा के लिए यह दुर्जेय आवरण प्रदान किया है। यह प्रकृति की योजना का प्रतीक है। इस तथ्य को प्रकट करने के लिए हम लाक्षणिक पदावली का प्रयोग करते हैं। ऐसे ही हम कह देते हैं कि रोम ने भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेश पर विजय प्राप्त की। वास्तव में यह विजय रोम के कुछ व्यक्तियों का कार्य था। सम्भवतः वे यह सोच भी न रहे हों कि वे रोम जैसी किसी रहस्यमयी शक्ति के उपकरण मात्र हैं। किन्तु अपनी प्रवृत्तिमूलक चिन्तन-पद्धति के अनुकूल हम उनके कृत्यों को योजनापरक दृष्टिकोण से देखते हैं। इसके बिना हम प्रकृति या इतिहास को समझने में असमर्थ हैं। कान्त के 'क्रीतीक ऑव जजमेण्ट', में इस दृष्टिकोण की विशद व्याख्या मिलती है।

७. **इतिहास में स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति**—इतिहास के भीतर जो योजना कार्यशील है उसका मुख्य लक्षण स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति है। स्वतन्त्रता का कान्त की दृष्टि में एक विशेष अर्थ है। वे दृश्य जगत् (फिनोमेना) और अन्तर-वस्तु-जगत् (दिंग आन शिश) में भेद मानते हैं। दृश्य जगत् बाह्य दृष्टिकोण से देखा और समझा जा सकता है किन्तु अन्तर-वस्तु-जगत् दृश्य जगत् के भीतर प्रच्छन्न जीवन के मानसिक अथवा आध्यात्मिक साक्षात्कार से जाना जा सकता है। इस अन्तर्जगत् के अपने अलग नियम हैं और यह दृश्य जगत् के नियमों के अधीन नहीं है। इस दृष्टि से यह स्वतन्त्र है। कान्त के अनुसार इतिहास दृश्य जगत् से अन्तर्जगत् की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया है। इस दृष्टि से यह मानव स्वतन्त्रता की प्रगति है। मनुष्य धीरे-धीरे प्राकृतिक नियमों से मुक्त होकर सामाजिक नियमों में बँध रहा है। लगता है कि प्रकृति की योजना ही यही है कि मनुष्य पूर्णतः स्वतन्त्र हो जाय। इस प्रकार क्रमशः दृश्य जगत् के आन्तरिक तत्त्वों (दिंग आन शिश) का प्रत्यक्षीकरण हो रहा है।

८. **इतिहास में बुद्धि की प्रगति**—मनुष्य का आन्तरिक तत्त्व बुद्धि है। इसके विकास और प्रत्यक्षीकरण में प्राकृतिक योजना का सार निहित है। किन्तु इसका पूर्ण उन्मीलन किसी भी व्यक्ति के जीवन काल में सम्भव नहीं है। किसी एक व्यक्ति ने समूचे गणितशास्त्र को एकदम अपने मस्तिष्क में सोच कर नहीं तैयार किया वरन् साधारण मान्यताओं की पृष्ठभूमि में अपने पूर्ववर्ती विचारकों की धारणाओं, को आगे बढ़ाते-बढ़ाते इसका क्रमशः विकास किया। दूसरे शब्दों में ज्ञान-विज्ञान का विकास, जो बुद्धि के उन्मीलन का प्रतिबिम्ब होता है, एक कालक्रमागत और परम्परागत प्रक्रिया है अर्थात् एक ऐतिहासिक संतति है। अतः मनुष्यविषयक प्रकृति की योजना व्यक्तिगत जीवन में नहीं, अपितु मानव-इतिहास में पल्लवित होती है। जिस प्रकार अफलातूं की रिपब्लिक के अनुसार समाज मानव-जीवन की एक सहजात परिस्थिति है उसी प्रकार कान्त के अनुसार इतिहास बौद्धिक की एक अनिवार्य प्रक्रिया है।

इतिहास बुद्धिमत्ता की प्रगति भी है और उन्नति भी। वास्तव में यह प्रगति ही इतिहास और प्रकृति के अन्तर को स्पष्ट करती है। मनुष्य जड़ और निष्क्रिय स्थायित्व का अतिक्रमण करके प्रगति की ओर चलता है। इसका कारण यह है कि उसमें तमस् और पाप का प्राधान्य है। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह उसे सदा सामाजिक संतुलन को बिगाड़ने पर बाध्य करते रहते हैं। अतः मनुष्य के जीवन में संघर्ष और सामरिकता बनी रहती है। इस द्वन्द्व के सहारे पर ही वह उठता,

बढ़ता और आगे चलता रहता है और नैतिक तथा बौद्धिक उत्कर्ष की ओर उन्नति करता रहता है। कान्त का यह सिद्धांत वोल्तेर के 'कांदिद' की विचारधारा से मेल खाता है। यह यूनानी दर्शन के विपरीत है जिसका विकास पुनरुत्थान तथा उद्बोधन काल में हुआ था और जिसके अनुसार मनुष्य अपनी बुद्धिमता, सात्विकता और सदगुणों के कारण प्रगतिशील माना जाता है। साथ ही साथ यह ईसाई मान्यता के भी प्रतिकूल है, जो मध्यकालीन इतिहास दर्शन की केन्द्र-बिन्दु रही और जिसके अनुसार मनुष्य दैवी प्रसाद और पुष्टि के कारण उन्नति कर रहा है। यह हॉब्स, लॉक आदि के उस मतवाद पर आधारित है जो बौद्धिक विकास में पाप और वासना की क्रीड़ा का दर्शन करता है। इसके अनुसार मानव बौद्धिकता एक ऐतिहासिक क्रम है।

यद्यपि कान्त अतीत के विषय में निराशावादी हैं उन्हें भविष्य के प्रति बड़ी आशा है। उनके विचारानुकूल इतिहास हमें एक ऐसे युग की ओर ले जा रहा है जब बौद्धिकता का पूर्ण साम्राज्य स्थापित हो जायगा, जब पाप और स्वार्थ की भावना नष्ट हो जायगी, जब व्यष्टि और समष्टि का संतुलन स्थापित हो जायगा, राष्ट्रीय जीवन और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का समन्वय सम्पन्न हो जायगा। इस दृष्टिकोण से इतिहास का जो अध्ययन किया जायगा वह निश्चित रूप से सार्वजनिक और विश्वव्यापी होगा। इसमें इतिवृत्तात्मक और दार्शनिक प्रवृत्तियों का सम्मिलन निश्चित है। मानव का आत्मिक विकास इसका मुख्य विषय है। बौद्धिकता की उन्नति इसकी प्रधान धारा है।

९. इतिहास में नैतिकता का विकास—कान्त के मतानुसार व्यक्ति नैतिकता का मूर्तिमान् रूप है। जैसा कि उन्होंने अपने इतिहास-दर्शन विषयक मुख्य लेख, 'इडी त्सू आइनेर आलगेमाइनेन गेशिश्ते इन वेल्तब्युरगेरलिशेर आबशिश्त' (१७८४) में लिखा है, "व्यक्ति का सामाजिक मूल्य ही संस्कृति का मानदण्ड है"। अतः कान्त ने संविधान-युक्त शासन का समर्थन किया। वे सब से पहले जर्मन विचारक थे जिन्होंने "स्वतन्त्रता, समानता और सम्पत्ति" के नारे को ऊंचा किया। उपर्युक्त लेख के सप्तम अवतरण में उन्होंने अपने विचारों को इस प्रकार संक्षिप्त किया—

"कला और विज्ञान ने हमारी संस्कृति को बड़ा ऊँचा उठाया है। शिष्टता और स्वच्छता की दृष्टि से हम बहुत अधिक संस्कृत हो गये हैं। किन्तु नैतिकता की दृष्टि से अभी बहुत कमी है। नैतिकता का भाव संस्कृति से सम्बन्धित है। किन्तु संस्कृति

को हम स्वाभिमान और कृत्रिम स्वच्छता मान बैठते हैं। उस समय तक नैतिकता की उन्नति सम्भव नहीं है जब तक राष्ट्र अपनी शक्तियों को अपने विस्तार की निरर्थक और हिंस्र योजनाओं में नष्ट करके अपने नागरिकों की चिन्तन-पद्धति की वास्तविक शिक्षा के मार्ग को रोकते रहेंगे। नैतिकता नागरिकों के आन्तरिक आत्मिक प्रसार में सन्निहित है। जो कुछ नैतिक भावनाओं पर आश्रित नहीं है वह प्रदर्शनमात्र और कृत्रिमता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब तक मानवता अपनी राजनीतिक सम्बन्ध-भावनाओं में आमूल परिवर्तन नहीं करेगी तब तक यह इसी पतित अवस्था में रहेगी।"

१०. कान्त के इतिहास-दर्शन के चार मुख्य-पक्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि कान्त के इतिहास-दर्शन के चार पक्ष हैं। (१) इतिहास सार्वजनिक और विश्वजनीन प्रक्रिया है, (२) इसमें प्रगति की एक य़ोजना निहित है, (३) इसकी मौलिक प्रवृत्ति बौद्धिकता और नैतिकता का विकास है, (४) यह विकास अज्ञान, स्वार्थ और वासना आदि पर निर्भर तामसिक वृत्ति की क्रीड़ा का परिणाम है।

११. अन्य जर्मन इतिहासकार—इस युग के अन्य जर्मन इतिहासकारों में जस्तस मोयज़ेर (१७२०-९४) का नाम भी उल्लेखनीय है। इनके 'ओसनाबुक के इतिहास' (ओसनाब्रुकिशे गेशिश्ते) में सांस्कृतिक पक्ष पर विशेष दृष्टि डाली गयी है। १७६४ में योहान याओखिम ने 'प्राचीन कला का इतिहास' (गेशिश्ते, देयर कुन्स्त देज़ आल्तेरतुम्स) लिख कर इतिहास को एक नवीन दिशा प्रदान की। उन्होंने पुरातत्त्व शास्त्र की आधारशिला रखी। उनके मतानुसार कला संस्कृति की प्रतिबिम्ब होती है और इसके द्वारा तात्कालिक समाज के सम्पूर्ण जीवन के दर्शन होते हैं। इसी युग में फ्रीडीरिख वोल्फ (१७५९-१८२४) ने भाषा-विषयक अध्ययन को एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया। वोल्फ के शिष्य बोएख़ ने एथेन्स की आर्थिक व्यवस्था पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ और महाकवि होमर के काव्यों की भूमिका लिख कर इतिहास के आर्थिक और साहित्यिक पक्षों को महत्ता प्रदान की। इन लेखकों के अतिरिक्त मौसहाइम (१६९३-१७५५) का धर्म सम्बन्धी इतिहास, गातेरेर (१७२७-९९) का 'विश्व-इतिहास' (वेल्तगोशीश्ते), श्लेत्जेर (१७३५-१८०९) का 'रूस का इतिहास', 'उत्तरी अफ्रीका का इतिहास,' 'व्यापार का इतिहास' और 'विश्व-इतिहास की रूपरेखा', माइकेल इगनात्स शिम्त (१७३६-९४) का 'जर्मन जाति का इतिहास', हीरेन (१७६०-१८४२) का 'यूरोप के राष्ट्रों का इतिहास'

और प्रशा के सम्राट् फ्रीडरिख की 'ऐतिहासिक रचनाएँ' इस युग की उल्लेखनीय इतिहास-कृतियाँ हैं। फ्रीडरिख महान् उस युग का एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व था। एक राजनीतिज्ञ, सेनानायक और विद्याप्रेमी शासक होने के अतिरिक्त वह बुद्धिवादी, सहिष्णु और वोल्तेर-परक विचारक भी थे। उनके 'मेम्वार पूर सर्विर आ लिस्त्वार द् ला मेजों द् ब्राँदनबुर्गे', 'इस्त्वार द् मों तां' (१७४०-१७४५) और 'मेम्वार दुपुइ ला पे द् इयुबर्त्सबुग जुस्का ला फें द्यु पार्ताज़ द् ला पोलोन', तात्कालिक राजनीतिक अवस्था के दर्पण हैं। यद्यपि विद्वत्ता की दृष्टि से इनका इतना अधिक महत्त्व नहीं है, किन्तु तात्कालिक एतिहासिक दृष्टिकोण को समझने में इनसे बड़ी सहायता मिलती है। ये एक ऐसे युग-पुरुष की मनःस्थिति के प्रतिबिम्ब हैं जो उद्बोधनकालीन दर्शन की उत्कृष्ट उपज था।

१२. गेटे और उनका जीवन-दर्शन—अठारहवीं शताब्दी के जर्मन दर्शन के इतिहास में महाकवि योहान वुल्फगांग गेटे (१७४९-१८३२) का भी प्रमुख स्थान है।[२२] यद्यपि ये इतिहास के विद्वान् नहीं थे तथापि इनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक था। स्थिति की अपेक्षा गति में उनकी अधिक रुचि थी। उनका 'जीवित प्रकृति' का सिद्धांत एक गम्भीर इतिहास-दर्शन पर आधारित था। प्रकृति का प्रत्येक पक्ष निर्माण की प्रक्रिया का स्वरूप है। एकरमान से बातचीत करते हुए उन्होंने एक बार कहा था, 'भगवान् जीवित जगत् में कार्यशील है, मृत जगत् में नहीं, यह बनती और बदलती हुई प्रगति में विद्यमान है, निर्मित और निश्चित स्थिति में नहीं। अतः बुद्धि (फेरनुम्फत) बनती, बदलती और जीती प्रकृति द्वारा देवतत्त्व तक पहुँचने का प्रयत्न करती है और ज्ञान (फेरशतान्त) केवल निर्मित और निश्चित परिस्थिति तक सीमित रह जाता है।" अतः घटनाओं के परिवर्तनशील चलचित्र को समझ लेना ही इतिहासकार की परख है। १७९२ में बाल्मी के मैदान में जब फ्रांस के क्रान्तिकारी छोकरों ने ड्यूक ऑव ब्रंजबिक्र के सुशिक्षित सैनिकों को हरा भगाया तो पास ही एक खेमे में आग के पास तापते हुए गेटे ने कहा "आज यहाँ विश्व-इतिहास का एक युग विदाई ले रहा है और तुम यह कह सकते हो कि तुमने ऐसा होते हुए देखा है, (फान हियर उन्द्र हयते गेत आइने इपोरवे देयर बेल्तगेशिश्ते

२२. हेरमान ए, कोर्फ, योहान बुल्फगांग गेटे, 'एनसाईक्लोपीडिया आव दि सोशल साइन्सेज' भाग ६ पृ० ६८६ ।

आउस उन्द ईर कोन्त जागन ईर जाइत दावाई गेवेज़न) ऐसा वाक्य उसी व्यक्ति की वाणी से निकल सकता है जो इतिहास की प्रक्रिया के प्रति बड़ा जागरूक हो। गेटे के इतिहास-दर्शन का स्पेंलगर पर बड़ा प्रभाव पड़ा है जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे। वास्तव में गेटे उद्बोधनकालीन और रोमान्तिक-युगीन इतिहास-दर्शन के संगम पर स्थित हैं। उनसे रोमान्तिक युग प्रारम्भ होता है जिसने जर्मनी के और फलतः यूरोप के सांस्कृतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। उनके बाद हम रोमान्तिक युग में प्रवेश करते हैं जो आगामी परिच्छेद का विषय है।

परिच्छेद ७

रोमान्तिक युग

अनुच्छेद १—रोमान्तिक युग का इतिहास-दर्शन

१. रोमान्तिक शब्द की व्यंजना—उद्बोधन युग के शुष्क आदर्शवाद और नीरस बौद्धिकता की प्रतिक्रिया एक नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण में प्रकट हुई जो भावना और कल्पना पर आश्रित था। जीवन में केवल बुद्धिगम्य स्थिरता, स्पष्टता, व्यवस्था और समन्वय ही नहीं है, वरन् एक भावना-परक तरलता, स्वप्निलता, विप्लव और विद्रोह भी है। जगत् में आश्चर्य, उत्सुकता और उन्माद का भाव निश्चय, स्थिरता और ज्ञान से कहीं अधिक गहरा है। जीवन और जगत् के आंतरिक रहस्य को हम बुद्धि और युक्ति की अपेक्षा भावना और कल्पना से ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं। इस दृष्टिकोण को रोमान्तिक कहते हैं।[1]

२. जीवन और नियति—रोमान्तिक दृष्टिकोण से इतिहास पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि इसमें जीवन की गति है जिसे नियति कहते हैं। इसका साध्य साधन में और लक्ष्य लक्षण में सन्निहित है। इसका उद्देश्य किसी नैतिक अथवा बौद्धिक आदर्श की पूर्तिमात्र नहीं है वरन् सम्पूर्ण जीवन-प्रक्रिया का अनावरण और संविधान है। जीवन का स्रोत इसलिए प्रवाहशील नहीं है कि इसे किसी लक्ष्य की ओर जाना है, बल्कि इसलिए कि प्रवाहित रहना ही इसका स्वभाव है। यह जीवन की अविरल धारा प्रकृति के कण-कण में शतधा होकर फूट रही है। उषा की सुषमा, पुष्पों की शोभा, पक्षियों का सौन्दर्य, मनुष्यों की सर्जन-शीलता सब इसके वाहन, उपकरण और अभिव्यक्तियाँ हैं। स्थावर और जंगम प्रकृति की प्रगति के सूत्र में बाँधने वाली यह जीवन-शक्ति अपने आन्तरिक उन्मीलन और प्रकटीकरण के

१. जी० ए० बोरगेसे, 'रोमान्तिसिज्म, 'एनसाइक्लोपीडिया ऑव दि सोशल साइंसेज' भाग १३, पृ० ४२६-४३४।

जोर से विकसित हो रही है। यह ठीक है कि बाह्य परिस्थिति के अनुरूप इसकी गति का स्वरूप बनता है, किन्तु यह सत्य नहीं है कि बाह्य शक्तियां इसकी नियामक हैं। जीवन की स्वतःप्रसूत और स्वतः संचालित प्रगति अपनी आन्तरिक प्रवृत्ति के अनुसार विभिन्न अवस्थाओं और स्वरूपों में से चलती-निकलती रहती है। प्रत्येक अवस्था का अपना निजी स्थान और महत्त्व होता है जो किसी पहली या बाद की अवस्था पर आश्रित नहीं रहता। अतः अतीत का अपना स्वतन्त्र महत्त्व है जो वर्तमान या भविष्य पर निर्भर नहीं है। वर्तमान काल के आदर्शों या भविष्य की आकांक्षाओं द्वारा अतीत का मूल्यांकन करना भ्रान्तिमूलक है। यह समझ बैठना कि अतीत ह्रास, पतन, निकृष्टता और बर्बरता का काल है, बिलकुल अज्ञानपूर्ण है। अतीत का अपना अलग सौंदर्य और वैशिष्टय है जिसका साक्षात्कार हम तभी कर सकते हैं जब भावना और कल्पना के प्रवाह में बहकर हम उसमें निमग्न हो जायँ। वास्तव में वर्तमान को अतीत द्वारा ही समझा जा सकता है क्योंकि जीवन के उन्मीलन की उन्नतिशील प्रक्रिया की एक अवस्था का नाम ही वर्तमान है। समूची प्रक्रिया को दृष्टि में रखे बिना इस विशेष अवस्था का समझना सम्भव नहीं है। इस प्रकार रोमान्तिक दृष्टिकोण मूलतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण है।

३. **गतिशीलता और अवयवित्व**—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है रोमान्तिक विचारधारा जीवन की गतिशीलता और सम्पूर्णता पर आधारित है। अतः इसमें शरीरी और अवयवी विचारों की प्रधानता है। इसे वनस्पति-जगत् जैसा विभाजन और वर्गीकरण प्रिय है। यह जन्म, विकास, उन्नति, परिपक्वता, क्षीणता और मृत्यु की परिभाषाओं द्वारा जीवन की गति का परिचय देती है। इनके अनुसार प्राकृतिक विकास (नात्यूरलिश गोवाखसन) और कृत्रिम विकास (क्यून्स्तलिश गेमाख्त) में बड़ा अन्तर है। परम्परा और नवीनता में भेद है।

रोमान्तिक मतवाद के अनुसार ऐतिहासिक प्रक्रिया अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्ति के अनुकूल अपने आन्तरिक नियमों की प्रेरणा से विकासशील है। मनुष्य इसका कर्त्ता नहीं है, वरन् उपकरण और उपज है। समाज का जन्म-जरा-मरण-प्रधान जीवन व्यक्ति के जीवन का स्रोत है। अतः इतिहास समष्टिप्रधान है, न कि व्यक्ति-प्रधान। प्रकृति के विशाल प्रांगण में खेलता हुआ जीवन समाज में अवतीर्ण होकर ऐतिहासिक प्रक्रिया द्वारा मनुष्य में गतिमान् हो उठता है। इस प्रकार प्रकृति, समाज और मनुष्य एक ही जीवन-प्रवाह में आप्लावित हैं।

४. **रूसो**—रोमान्तिक प्रवृत्ति का प्रवर्तक फ्रेंच विचारक जाँ ज़ाक रूसो था।

इन्होंने अतीत का स्वर्णिम चित्र प्रस्तुत करके लोगों का ध्यान इसकी ओर आकर्षित किया। इन्होंने स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता, समानता और प्राकृतिकता का जो ज्वलन्त चित्र खींचा उससे यूरोप की श्रांत, क्लान्त संस्कृति को नवीन चेतना और स्फूर्ति प्राप्त हुई। उन्होंने, जन साधारण की इच्छा (वोलोन्ते जेनेराल) के सिद्धांत द्वारा जनता में क्रान्ति का मंत्र फूंक दिया। उन्होंने बर्बर और आदिम जातियों के जीवन में उस सौन्दर्य का साक्षात्कार किया जो सभ्य जीवन में उपलब्ध नहीं है। अतः प्राचीन काल तथा मध्य काल के प्रति एक अभूतपूर्व रुचि और आकर्षण जाग्रत हो गया। इतिहासकार का कर्त्तव्य मानव इतिहास की सम्पूर्ण परिधि को बर्बरता से सभ्यता तक के समस्त विकास को एकता के सूत्र में बाँधना माना जाने लगा है। इस रोमान्तिक इतिहास-दर्शन का अग्रदूत जर्मन विचारक हेरदर था।

अनुच्छेद २—हेरदर

१. **जीवन परिचय**—योहान गोतफ्रीद हेरदर (१७४४-१८०३) पूर्वी प्रशा के एक निर्धन परिवार में उत्पन्न हुए थे। उनका पालन-पोषण धार्मिक वातावरण में हुआ था। उन्होंने क्योनिक्सबर्ग में कान्त के श्रीचरणों में शिक्षा पायी थी और पच्चीस वर्ष की अवस्था में फ्रांस की यात्रा की थी जहाँ उनका सम्पर्क नवीन दार्शनिक विचारधारा के लोगों से हुआ था। उनकी बहुमुखी प्रतिभा दर्शन, भाषाशास्त्र, साहित्य, समाजशास्त्र, कविता, प्रचार आदि के सभी क्षेत्रों में प्रस्फुटित हुई। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की किन्तु उनकी 'इदीन त्सूर फिलोजेफी देयर गेशिश्ते देयर मेनशहाइत' (मनुष्य के इतिहास के दर्शन पर विचार) एक युगान्तरकारिणी कृति सिद्ध हुई।

२. **विश्व-अवयित्व**—हेरदर के मतानुसार मानव जीवन का प्राकृतिक विकास से अभिन्न सम्बन्ध है। समस्त विश्व एक शरीरी है जो अपने भीतर से सूक्ष्म शरीरियों को जन्म देता है। प्राकृतिक जगत् के अन्तराल में एक विशेष क्षण सौर मण्डल का जन्म होता है। फिर इस सौर मण्डल के गर्भ से पृथ्वी का आविर्भाव होता है। पृथ्वी के अन्तराल में भूगर्भ सम्बन्धी और भौगोलिक परिवर्तन होते-होते ऐसी अवस्था आती है जब भौगोलिक शरीरियों की उत्पत्ति होती है जो बढ़ते-बढ़ते महाद्वीपों का रूप धारण करते हैं। इन शरीरियों से एक विशेष प्रकार के अवयवी का विकास होता है जिसे वनस्पति कहते हैं और जो क्रमशः उन्नति करता हुआ जन्तु का रूप ग्रहण कर लेता है और फिर मानव रूप में अवतीर्ण हो जाता है।

मनुष्य उसी प्रकार एक पूर्ण जन्तु है जिस प्रकार जन्तु पूर्ण वनस्पति है। हेरदर का यह सिद्धान्त डार्विन से पहले प्रचलित हो चुका है।

३. मानव विकास का क्रम—मनुष्य विकास के पथ पर चलता-चलता विभिन्न जातियों में बँट जाता है। प्रत्येक जाति की अपनी निजी जीवन-शैली और आदर्श होते हैं। इस प्रकार मानव शरीरी के भीतर से जातीय शरीरी (रेशियल ऑर्गेनिज्म) का जन्म होता है और फिर जातीय शरीरी में से ऐतिहासिक शरीरी (हिस्टॉरिकल ऑर्गेनिज्म) की उत्पत्ति होती है जिसका लक्षण प्रगति और उन्नति होता है। इस ऐतिहासिक शरीरी के विकास का रंगमंच यूरोप है क्योंकि वहीं प्रगतिशील संस्कृत जीवन अग्रसर हुआ, जबकि चीन, भारत, अमेरीका आदि प्रदेश में जीवन की गति बन्द हो गयी।

४. मानव जातियों के मौलिक भेद—हेरदर के मतानुसार सब मनुष्य जातियाँ एक समान नहीं है, वरन् उनमें मौलिक भेद है। प्रत्येक जाति की अपनी वैयक्तिक विशेषताएँ हैं जो उसकी आकृति-प्रकृति के साथ बद्धमूल हो गयी हैं। उदाहरण के लिए चीनी लोगों का अपना अलग व्यक्तित्व है जो केवल भौगोलिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब नहीं कहा जा सकता, वरन् जो उनके जातीय विकास का परिणाम है। यह जातीय व्यक्तित्व मनोवैज्ञानिक विशेषताओं में परिलक्षित होता है जो निश्चित और निश्चल बनी रहती है। ऐसा ही सिद्धांत स्पेंलगर ने बीसवीं शताब्दी में प्रतिपादित किया कि प्रत्येक संस्कृति की आत्मा अपने-अपने विशिष्ट प्रतीकों में व्यक्त होती है। प्रत्येक जातीय व्यक्तित्व अपनी विशिष्ट जीवन-प्रक्रिया को जन्म, जरा, मरण के क्रम से पूरा करके समाप्त हो जाता है। इस प्रकार इतिहास में कोई एक जैसा संविधान नहीं है, बल्कि विभिन्न जातीय व्यक्तियों की जीवन लीला है। किन्तु इन जीवन लीलाओं में एकता का सूत्र बना रहता है। हेरदर के शब्दों में, "प्रथम मनुष्य के मन का प्रथम विचार अन्तिम मनुष्य के मन के अन्तिम विचार से सम्बन्धित है।" इस प्रकार हेरदर स्पेंलगर की अपेक्षा टॉयनबी के अधिक निकट पहुँच जाते हैं।

५. प्रकृति और इतिहास—जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, हेरदर ने प्रकृति और इतिहास में समन्वय स्थापित किया। उन्होंने दोनों के भीतर जीवन और अवयवित्व की धाराएँ बहती देखीं। उन्होंने न्यूटन की विचारधारा के अनुकूल प्रकृति को स्थावर, समन्वित और यांत्रिक नहीं समझा। उनके मतानुसार प्रकृति एक प्रवाह, वायु या लपट के समान है। "इसमें पृथकता नहीं मिलती, सब वस्तुएं

अदृश्य परिवर्तनों द्वारा एक दूसरे के पीछे और एक दूसरे के भीतर प्रवाहित रहती हैं। सकल सृष्टि के शरीरों, स्वरूपों और तंत्रों का जीवन वायु के समान प्रवाहित और दीपशिखा के समान गतिशील रहता है।[2]" एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है "क्या तुम इस प्रवाह को बढ़ते देखते हो। यह किस प्रकार एक छोटे-से स्रोत से निकलता है, उन्नति करता है, आगे बढ़ता है, रुकता है, गहरा और तेज होता है—किन्तु रहता सदा जल ही है। जल, नद, बिन्दु सदा बिन्दु बना रहता है जब तक यह समुद्र में नहीं पहुँच जाता। क्या मानव इतिहास ऐसा ही नहीं है?[3]" इतिहास और प्रकृति दोनों कालमय हैं, गतिशील हैं, जीवित हैं।

६. हेरदर के विचारों का महत्त्व—हेरदर के विचार इतने बिखरे हुए हैं कि उनमें समन्वय का सूत्र ढूंढ़ना सरल नहीं है। कहीं-कहीं वे भगवान् को भी बीच में ले आते हैं। फिर भी हेरदर के विचारों ने तहलका मचा दिया। ऐसा माना जाता है कि रान्के का प्रसिद्ध वाक्य, 'वी एस आइगेन्तलिश गेवेज़न इस्त' हेरदर के मस्तिष्क की उपज थी। स्विटजरलैण्ड के इतिहासकार योहान फान म्यूलर ने हेरदर के लेखों को संगृहीत किया था। फ्रांस में गुइजों और मिशले पर उनका विशेष प्रभाव था। उनके मानवता (हूमानित्यात) व्यक्तित्व (इदेन्तीत्यात) जातीय आत्मा (फोल्वसगाइस्त) और विश्वात्मा (वेल्तगाइस्त) के सिद्धांत एकदम बिलकुल नये थे। उन्होंने मानवता के विकास का काव्ययुग, गद्ययुग और दर्शन-युग में जो विभाजन किया था उसमें विचो के विचारों की गन्ध मिल जाती है।[4]

अनुच्छेद ३—शीलर

१. कान्त का प्रभाव—योहान क्रिस्तोफ फ्रीडरिख शीलर (१७५९-१८०५) येना में इतिहास के प्राध्यापक थे। वे कवि और दार्शनिक भी थे। १७८९ में उन्होंने येना में इतिहास पर, 'बाज हाइस्त उन्द त्सू वेल्खम एन्दे ज्तूदीर्त मान यूनीवर्सालगे-शिश्ते?" (मनुष्य विश्व-इतिहास किस लिए पढ़ता है और यह क्या वस्तु है?)

२. ज्यामतलिशे वेर्के (संगृहीत कृतियां) भाग ८, पृ० १७८।

३. उपर्युक्त, भाग ५, पृ० ५१२।

४. लेबिस स्पित्स, 'नेचुरल ला एण्ड हिस्ट्री इन हेरदर', 'जर्नल ऑव दि हिस्ट्री आइडियाज,' अक्तूबर, १९५५; पृ० ४५३-४७५।

शीर्षक सारगर्भित व्याख्यान दिया। उन्होंने कान्त के मतानुकूल विश्व-इतिहास की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर जोर दिया। उनके मतानुसार इतिहासकार में दार्शनिक-जैसी विचारों की गम्भीरता और कवि-जैसी दूसरों के भावों को हृदयंगम करने की प्रतिभा होनी चाहिए। इतिहासकार की सफलता इसी में है कि वह अतीत काल के जीवन-प्रवाह में पैठ लगाकर उसकी अन्तरात्मा का अन्वेषण और अभिव्यक्ति कर सके। इस प्रकार शीलर ने रोमान्तिक विचारधारा का अनुसरण किया।*

२. **इतिहास की सम्पूर्णता का दर्शन**—शीलर के मतानुसार विश्व-इतिहास बर्बर युग से आधुनिक सभ्य युग तक के विकास का अध्ययन है। इसका लक्ष्य अतीत के आलोक में वर्तमान की गवेषणा है, न कि भविष्य का अनुमान। इस दृष्टि से शीलर की धारणा कान्त से भिन्न है। शीलर केवल राजनीतिक विकास को ही प्रधानता नहीं देते, वरन् कला, धर्म, अर्थशास्त्र, संस्कृति के क्रम को भी प्रमुखता देते हैं। इस विचार से भी उनका दर्शन कान्त के दृष्टिकोण से अधिक समुन्नत है।

अनुच्छेद ४—फिश्ते

१. **युग की आत्मा और विचार**—योहान गोतलीव फिश्ते (१७६२-१८१४) भी कान्त के शिष्यों में से थे। उन्होंने १८०६ में 'गुन्तत्स्यूगे देज़ गेगेनव्येरतिगेन त्साइताल्तेंस' (वर्तमान काल के लक्षण) शीर्षक से बर्लिन में एक व्याख्यान-माला दी जिसमें इतिहास-दर्शन पर कुछ महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये। उन्होंने कान्त के विरुद्ध, किन्तु शीलर के अनुरूप यह विचार सामने रखा कि इतिहास के अध्ययन का लक्ष्य वर्तमान की गवेषणा है, न कि भविष्य का अनुमान। चूंकि प्रत्येक युग की एक विशिष्ट और वैयक्तिक आत्मा होती है जो एक विचार अथवा सिद्धांत में मुखरित और अभिव्यक्त होती है, अतः इतिहासकार का कार्य इस सिद्धांत को खोजना और उसकी विविध अभिव्यञ्जनाओं को निर्धारित करना है। चूंकि प्रत्येक युग किसी विशिष्ट विचार का मूर्तिमान् प्रत्यक्षीकरण होता है, अतः युगों का क्रम सिद्धांतों की संतति बन जाता है। इस प्रकार इतिहास एक बौद्धिक प्रक्रिया है।

***हेरी स्लोखोवर, 'शीलर', एनसाइक्लोपीडिया ऑव दि सोशल साइन्सेज़, भाग १३, पृ० ५६९।**

२. विचार का बौद्धिक ढाँचा ; वाद, प्रतिवाद और समवाद—प्रत्येक विचार का ढाँचा बौद्धिक होता है। इसमें वाद, प्रतिवाद और समवाद विद्यमान रहते हैं। विचार पहले अपने मौलिक, विशुद्ध और अमूर्त रूप में उपस्थित होता है। फिर यह अपने विपक्ष को जन्म देता है और उसके विरोध के रूप में प्रकट होता है। फिर उस विपक्ष का निराकरण होकर वह विरोध लुप्त हो जाता है और उसके स्थान पर एक समन्वय उस विचार का वाहन बन जाता है। इतिहास का आधारभूत विचार बौद्धिक स्वतन्त्रता है। यह विचार भी उपर्युक्त प्रक्रिया द्वारा विकसित होता है। इतिहास के उषाकाल में बौद्धिक स्वतन्त्रता एक अत्यन्त सरल अवस्था में विद्यमान रहती है। इसका रूप अन्ध-भावना-जैसा होता है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छाओं की पूर्ति का खुला क्षेत्र मिल जाता है। ऐसे समाज में न कोई शासन होता है, न बन्धन। परिस्थितियों के अनुकूल मनुष्य मनचाहा जीवन व्यतीत करते हैं। इसे प्राकृतिक काल (स्टेट आव नेचर) कह सकते हैं। किन्तु आन्तरिक कारणों से यह स्वतन्त्रता अपने विपक्ष को उत्पन्न करती है। संघर्ष को दूर करने के लिए और शक्ति को दृढ़ करने के लिए मनुष्य बन्धन और नियमन स्वीकार कर लेता है। राजतन्त्र का युग आ जाता है। ऐसा लगता है कि स्वतन्त्रता लुप्त हो चुकी है, किन्तु वस्तुतः वह अपने विपक्ष के माध्यम द्वारा एक नये रूप में अवतीर्ण होने के लिए अन्तर्धान हो जाती है। इस नये रूप को रूसो ने नागरिक अथवा सभ्य स्वतन्त्रता (सिविल फ्रीडम) का नाम दिया है जो प्राकृतिक स्वतन्त्रता (नेचुरल-फ्रीडम) से भिन्न होती है। इसके बाद तीसरी अवस्था आती है जब विचार और विपक्ष का समन्वय हो जाता है। बाह्य शासन तन्त्र लुप्त हो जाता है। मनुष्य सत्ता को अपने हाथों में ले लेते हैं। यह क्रान्ति का युग होता है। इसमें स्वतन्त्रता एक समन्वित रूप में प्रकट होती है। यह विचार कि अपने ऊपर शासन करने का अधिकार मनुष्य स्वयं अपने हाथों में रखता है, क्रान्ति का केन्द्र विन्दु है।

३. क्रान्ति और विज्ञान—फिश्ते के मतानुसार क्रान्ति का युग बीत चुका है। किन्तु इस क्रान्ति का विचार फिर अपने विपक्ष को जन्म देकर उसके विरोध के रूप में निहित हो जाता है। विचार एक बाह्य यथार्थता को उत्पन्न कर देता है।

५. जोजेस गुरविच, 'फिश्ते,' एनसाइक्लोपीडिया ऑव दि सोशल साइंसेज, भाग ६, पृ० २२३।

यही सत्य का मानदण्ड बन जाती है। इस स्थिति का नाम विन है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रति-क्रान्तिकारी है क्योंकि मनुष्य का विचार बाह्य परिस्थिति में सन्नद्ध होकर अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता खो बैठता है। मन और प्रकृति का यह विरोध पुनः एक नवीन समन्वय में अन्तर्हित हो जाता है। बौद्धिक स्वतन्त्रता एक नूतन रूप में प्रकट हो जाती है जिसे फिश्ते की परिभाषा में 'कलात्मक स्वतन्त्रता' कहते हैं। इसके द्वारा मन और प्रकृति का सामंजस्य हो जाता है। मन प्रकृति में अपना प्रतिबिम्ब देखता है। कर्ता, कर्म और करण का एकीकरण हो जाता है। मनुष्य को एक विचित्र प्रेम और सौहार्द की प्रतीति होती है। यही स्वतन्त्रता की चरम सीमा है। फिश्ते के अनुसार उनका युग इस प्रकार की स्वतन्त्रता का साकार प्रतीक था।

४. **आलोचनात्मक समीक्षा**—फिश्ते के कुछ विचार असंगत से लगते हैं। उदाहरण के लिए यह धारणा कि वर्तमानकाल पूर्णता का अवतार है, बड़ा विचित्र प्रतीत होता है। दूसरे यह कि इतिहास में बौद्धिक एवं तार्किक क्रम गतिमान् है, उपयुक्त नहीं जँचता। हरेदर ने भावनापरक तथ्यों पर विचार करते हुए इसका थोथापन प्रकट किया था। फिर भी फिश्ते का यह सिद्धांत समीचीन है कि वर्त मान की आधारशिला और पृष्ठभूमि में ही अतीत का मूल्यांकन सम्भव है। फिश्ते के लेखों में उद्बोधनकालीन दर्शन की झलक भी मिलती है।

अनुच्छेद ५—हेगल[६]

१. **इतिहास-दर्शन की नवीन अभिव्यक्ति**—हेरदर ने १७८४ में जिस नवीन इतिहास-दर्शन का सूत्रपात किया उसकी चरम सीमा हेगल के व्याख्यानों में मिलती है। जॉर्ज विल्हेल्म फ्रीडरिख़ हेगल (१७७०-१८३१) को जर्मनी के प्रमुख दार्शनिकों और विचारकों में उच्च स्थान प्राप्त है। १८२२-२३ में उन्होंने इतिहास-दर्शन पर सारगर्भित व्याख्यान दिये जो 'फिलोजोफी देयर गेशिश्ते' (इतिहास-दर्शन) के शीर्षक से प्रकाशित हुए।[७] यह एक गम्भीर, मौलिक और युगान्तरकारिणी

६. मोरिस आर० कोहन, 'हेगल', एनसाइक्लोपीडिया ऑव दि सोशल साइंसेज, भाग ७, पृ० ३११।

७. इस ग्रन्थ का पूर्ण शीर्षक, 'फोरलेसुगंन इयूब्रेर दी फिलोजोफी देयर गेशिश्ते' है। जे० सिब्री ने १८९८ में न्यूयार्क से इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया।

रचना है जिसमें इतिहास का दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययनमात्र ही नहीं है, वरन् इतिहास को उठाकर दार्शनिक स्तर तक पहुँचाने का प्रयत्न है। इतिहास केवल घटनाओं का अन्वेषण और संकलन नहीं है, वरन् उनके भीतर छिपी हुई कार्य-कारण प्रक्रिया की गवेषणा है। इतिहासकार केवल घटनाओं को निश्चित नहीं करता बल्कि उनकी आन्तरिक प्रवृत्तियों को हृदयंगम करता है। चूंकि कार्य-कारण की सूक्ष्म प्रक्रिया का जाल सार्वभौम और विश्व-व्यापी है, अतः वास्तविक इतिहास मानवता का सम्पूर्ण प्रगति का वृत्तान्त है और बर्बरता से सभ्यता तक के समस्त विकास का कथानक है। यहाँ कान्त और हेरदर की तरह हेगल विश्व-इतिहास का समर्थन करते हैं।

२. **इतिहास में मानव स्वतन्त्रता के विकास की प्रवृत्ति**—विश्व-इतिहास की मुख्य प्रवृत्ति मानव स्वतन्त्रता का विकास है। मानव स्वतन्त्रता का अर्थ नैतिक बुद्धि का प्रसार है जो सामाजिक सम्बन्धों का बाह्य रूप धारण करता है। ये सामाजिक सम्बन्ध राष्ट्र के रूप में परिणत होते हैं। अतः राष्ट्र नैतिक बुद्धि की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से इतिहास-दर्शन का लक्ष्य राष्ट्र के विकास-क्रम की गवेषणा करना है। किन्तु इतिहास का उद्देश्य भविष्य का अनुमान करना नहीं है। यह वर्तमान के अनुसंधान तक सीमित है। इस विषय में हेगल कान्त के विरुद्ध तथा शीलर के निकट पहुँच जाते हैं।

३. **मानव स्वतन्त्रता का अर्थ**—मानव स्वतन्त्रता का अर्थ स्वतन्त्रता की चेतना है। अतः स्वतन्त्रता का विकास उसकी चेतना का विकास है। यह एक मानसिक प्रक्रिया अथवा बौद्धिक प्रसार है। विचार के जो तीन पक्ष और स्तर-वाद, प्रतिवाद और समवाद—होते हैं, वे इस प्रक्रिया में विद्यमान रहते हैं। अतः ऐतिहासिक प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक होती है। हेगल का यह विचार फिश्ते के दर्शन से मिलता-जुलता है।

४. **इतिहास का आध्यात्मिक रूप**—इतिहास-दर्शन केवल एक मानव-प्रक्रिया ही नहीं है, वरन् एक समस्त विश्व की प्रक्रिया है जिसके द्वारा विश्व-प्रकृति आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच कर आत्म-चेतना में परिणत हो उठती है। हेगल की यह धारणा शीलिंग के तत्त्वज्ञान पर आधारित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हेगल ने अपने इतिहास-दर्शन के सभी तत्त्वों को अपने पूर्ववर्ती अथवा समकालीन विचारकों से ग्रहण किया, किन्तु उन्होंने इन सबको ऐसी सुन्दरता से समन्वित किया कि उनके सिद्धान्त में एक विचित्र व्यापकता और सर्वांगीणता आ गयी।

हेगल के दर्शन की कुछ निजी विशेषताएँ हैं। सर्वप्रथम तो यह कि हेगल प्रकृति और इतिहास की एकता और समानता को स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार ये नितान्त भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। प्रकृति की प्रक्रिया चक्रात्मक है। इसमें तथ्यों की पुनरावृत्ति बनी रहती है। सूर्योदय, बसन्त, ज्वार आदि बारम्बार आते-जाते हैं, किन्तु इनका स्वरूप एक-सा ही बना रहता है। यह कहना गलत है कि निम्न शरीरियों में से उच्च शरीरियों का जन्म और विकास होता है। इस विषय में हम एक तार्किक और सामयिक क्रम को प्राकृतिक और शारीरिक क्रम समझ बैठते हैं। प्रकृति में कोई विकास नहीं होता, विभिन्न चक्रों की गति बनी रहती है जिसकी संतति को देखकर क्रम का भ्रम हो जाता है। इसके विपरीत इतिहास चक्रवत् नहीं घूमता बल्कि रेखावत् चलता है। इसकी आवृत्तियों में नवीनता रहती है। एक युद्ध दूसरे से सर्वथा भिन्न होता है।

५. इतिहास में विचार और बुद्धि की प्रगति—हेगल के मतानुसार इतिहास केवल विचारों के विकास से सम्बन्ध रखता है। घटनाएँ विचारों की बाह्य अभिव्यक्तियाँ होती हैं। अतः उनका वर्णन करते समय इतिहासकार को उनके भीतर के विचारों को हृदयगम करना पड़ता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह घटनाओं के आन्तरिक महत्त्व को नहीं समझ सकता और उनके वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए फ्रेंच क्रान्ति की घटनाओं को समझने के लिए उसके पात्रों की विचारधाराओं को आत्मसात् करना अनिवार्य है। अतः इतिहास मूलरूप से विचारों की संतति का वृत्तान्त है। ऐतिहासिक प्रक्रिया का मुख्य यंत्र बुद्धि है। इतिहास में जो कुछ भी होता है मनुष्य की इच्छा से होता है। मनुष्य की इच्छा कर्म के रूप में उसके विचारों की अभिव्यक्ति होती है। प्रायः कहा जाता है कि मानव कर्म बुद्धि पर आश्रित नहीं होते। हेगल इस विचार से सहमत नहीं हैं। विचार सदा परिस्थिति की अपेक्षा रखता है। किसी विशेष परिस्थिति में किसी विशेष व्यक्ति की बौद्धिक क्रिया को ही चिन्तन कहते हैं। इस चिन्तन के बिना किसी भी घटना का अस्तित्व सम्भव नहीं है। वास्तव में बुद्धि और भावना का विरोध नहीं है बल्कि मेल है। प्रत्येक कार्य में मानव प्रकृति के ये दोनों पक्ष सक्रिय रहते हैं।' भावुकता के प्रत्येक क्षण में बुद्धि की क्रिया भी चलती रहती है। बहुधा बुद्धि भावना को अपना उपकरण बना लेती है। बुद्धि कोई अमूर्त अव्यक्त तत्त्व नहीं है और न इन्द्रियातीत दैवी शक्ति है। यह मनुष्य के जीवन की सामान्य मानसिक स्थिति है। इस प्रकार हेगल ने मनुष्य का एक सजीव और सक्रिय रूप प्रस्तुत

किया। यह धारणा अठारहवीं शती के अमूर्त और स्थावर प्रकृति के सिद्धान्त से बहुत अधिक समुन्नत थी। इसने इतिहास-दर्शन को एक नयी दिशा प्रदान की।

६. इतिहास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया—चूंकि इतिहास विचारों का क्रम और बुद्धि की क्रिया है, अतः इसका स्वरूप मूलतः तार्किक है। ऐतिहासिक संक्रान्तियाँ काल-दण्ड पर सजाया हुआ तार्किक विकास है। इतिहास एक तर्क है जिसमें सामयिकता रहती है। तार्किक प्रक्रिया के द्वन्द्वात्मक और विरोधात्मक होने के कारण अर्थात् वाद, प्रतिवाद और समवाद के क्रम पर आश्रित होने के फलस्वरूप इतिहास की प्रक्रिया भी इसी प्रकार द्वन्द्वात्मक और विरोधात्मक होती है। इसमें एक स्थिति विरोधी स्थिति को उत्पन्न करती है और उन दोनों के संघर्ष से एक नवीन समन्वित स्थिति का जन्म होता है। इसको 'डाइलेक्टिक' कहते हैं।

उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि हेगल का इतिहास-दर्शन तात्कालिक विचारों का सुन्दर समन्वय है। इसके विषय में यदि कोई आपत्ति हो सकती है तो यह कि इसमें मानसिक तत्वों को अत्यधिक प्रधानता दी गयी है। आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार वस्तु-जगत् को विचार-जगत् का प्रतिबिम्ब मात्र मान लिया गया है। इसके अतिरिक्त इस दर्शन में राष्ट्र को प्रमुखता मिलने के कारण इसका स्वरूप राजनीतिक हो गया है। वर्तमान इतिहास-दर्शन में संस्कृति को प्रधानता दी जाती है। इस दृष्टि से हेगल का दर्शन एकपक्षीय प्रतीत होता है।

अनुच्छेद ६—शेलिंग[८]

१. सम्पूर्ण तत्त्व (एबसोल्यूट) का विचार—फ्रीडरिग्व विल्हेल्म योजेफ शीलिंग (१७७५-१८५४) हेगल से छोटे थे, किन्तु उन्होंने इतिहास-दर्शन विषयक अपने विचार हेगल से कुछ पहिले प्रकाशित किये। उन्होंने कान्त और फिश्ते के दर्शन को समन्वित रूप प्रदान किया। उनके मतानुसार वस्तु-जगत् ज्ञेय है अर्थात् बुद्धि का मूर्तिमान् रूप है। उनकी परिभाषा में यह सम्पूर्ण तत्व (एबसोल्यूट) की अभिव्यक्ति है। दो विरोधी प्रक्रियाओं का अन्तर्द्वन्द्व भी सम्पूर्ण का प्रदर्शन है। उनका विरोध अन्त में एकता में परिणत हो जाता है।

८. जेम्स गुटमान, 'शेलिंग' एनसाईक्लोपीडिया ऑव सोशल साइंसेज, भाग १३, पृ० ५६७

२. प्रकृति और इतिहास— शेलिंग के मतानुसार ज्ञेय के दो क्षेत्र हैं— प्रकृति और इतिहास । ये दोनों सम्पूर्ण तत्त्व (एबसोल्यूट) के आकार हैं किन्तु इनके स्वरूप में अन्तर है। प्रकृति में वस्तुएं अवकाश और देश के अनुसार विभक्त रहती हैं । इनके पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित और निर्धारित होते हैं । उनके विभाग और वितरण की स्थिति में ही उनकी ज्ञेयता सन्निहित रहती है। इतिहास मन की क्रियाओं और विचारों की प्रक्रिया है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय की एकता बनी रहती है। क्योंकि मनुष्य में आत्म-ज्ञान और चेतना का स्रोत चलता रहता है। अतः मन बाह्य बन्धनों से मुक्त होता है और इतिहास इसकी मुक्ति की क्रिया है। इतिहास के विकास में मन की मुक्त और नियमित दोनों चेतनाओं की सृष्टि सन्निहित है। इस विकास का क्रम विचार के तार्किक संगठन के अनुरूप चलता है अर्थात वाद, प्रतिवाद, समवाद के अनुसार विपक्षी और विरोधी तत्त्वों की क्रिया द्वारा अग्रसर रहता है।

३. इतिहास में सम्पूर्ण तत्त्व की गति—शेलिंग का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह था कि सम्पूर्ण तत्त्व इतिहास द्वारा अभिव्यक्त हो रहा है। इसकी प्रक्रिया इस ऐतिहासिक विकास में परिलक्षित होती है। अतः सम्पूर्ण तत्त्व (एबसोल्यूट) भी गतिमान् है और इसकी गति ही इतिहास है। इस दृष्टिकोण से इतिहास एक सक्रिय गति है।

अनुच्छेद ७—रोमान्तिक युग का इतिहास-लेखन[१]

१. म्युलर—रोमान्तिक दृष्टिकोण के इतिहास-लेखकों में योहान फोन म्युलर (१७५२-१८०९) का नाम उल्लेखनीय है। उन्हें फ्रीडरिख दि ग्रेट, फ्रीडरिख विलियम तृतीय और नेपोलियन-जैसे महापुरुषों के साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्होंने १७८० में स्विटज़रलैंड का इतिहास लिखा। इसमें उन्होंने मध्यकालीन कृत्यों और प्रवृत्तियों में आदर्श के रंग भरकर स्विस लोगों को जाग्रत करने की चेष्टा की। यह कृति स्वतन्त्रता का कथानक है। इससे शीलर को अपना

९. राइनोल्ड एरिस, 'हिस्ट्री आव पोलिटिकल थॉट इन जर्मनी फ्राम १७८९ टू १८१५ (लन्दन १९३६) जी० पी० गूच, हिस्ट्री एण्ड हिस्टोरियन्स इन दी नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' (नया संस्करण' लन्दन १९३५)

प्रसिद्ध नाटक 'विल्हेल्म तेल' लिखने की प्रेरणा मिली थी। उनके लेख में रूसो की भावुकता चमकती है। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ एक विश्व इतिहास है जिसका शीर्षक 'फियर उन्ट्र त्स्वान्तसिक, ब्यूखेर आलगेमाइनेर गेशिश्तन, बिजोन्देर्स देयर ओरोपाइशन मेन्शहादूत' है। इसे उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके भाई ने प्रकाशित किया था।

३. लूदन, त्वागत, स्तेज्लर आदि—जर्मनी के इतिहासकार मध्यकालीन इतिहास को आदर्शान्वित गौरव प्रदान करके जर्मन जाति में स्वाभिमान और आत्मविश्वास का भाव जाग्रत करने के प्रयास में संलग्न थे। हाइनरिख लूदन (१७८०-१८४७) ने 'गेशिश्ते देज़ दाइत्शेन फोल्केस,' (जर्मन जाति का इतिहास) लिखकर मध्यकालीन सामन्तवाद को गौरव प्रदान किया और जर्मन जाति की आत्मा में अतीत का महत्त्व उद्बोधित किया। लूदन के शिष्य व्वागत ने पोप हिल्देब्रान्त का इतिहास लिखा और प्रशा के विकास पर नवीन प्रकाश डाला। इसी काल में गुस्ताफ एदोल्फ हेरोल्द स्तेज़लर (१७९२-१८५४) ने जर्मनी का इतिहास (गेशिश्ते दाइत्शलान्तस् उन्तेर देन फ्रयेंकिशन काइजेर्न) लिखकर जर्मन अतीत को आलोकित कर दिया। इसमें आलोचनात्मक विद्वत्ता का अद्भुत चमत्कार मिलता है। इनका प्रशिया का इतिहास (गेशिश्ते प्रशन्स) भी उच्च कोटि की रचना है। हाइदलवर्ग सम्प्रदाय के लेखक श्लोसर, गर्विनस और हाउसर रोमान्तिक धारा के प्रसिद्ध लेखक थे। श्लोसर का अठारहवो शती का इतिहास (गेशिश्ते देज आख्तज़ेन्तन यारहुन्दर्स) अच्छी रचना है। इसमें रूसो की भावुकता और कान्त की नैतिकता मिलती है। १८११ में उन्होंने विश्व-इतिहास (वेल्तगेशिश्ते) लिखना प्रारम्भ किया। श्लोसर के शिष्य गेआर्ग गोतफ्रीद गेर्विनस ने 'जर्मन साहित्य का इतिहास,' (गेशिश्ते देयर दाइत्शेन दिशतुंग) और, 'उन्नीसवीं शती का इतिहास' (गेशिश्ते देज नायनजेन्सन यारहुन्र्दुत) लिखकर साहित्य के विकास पर नवीन प्रकाश डाला। हाउसर ने जर्मनी का इतिहास (दाइत्शेगेशिश्ते) शीर्षक सुन्दर ग्रन्थ लिखा। रोमान्तिक परम्परा का सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार लूदविक मोर्ग फोन राउमर (१७८१-१८७३) था। इन्होंने 'प्रशा के नागरिक विधान' (यूबेर दी प्रशिशे श्ताातोर्दनुंग) 'कानून, राज्य और राजनीति के ऐतिहासिक विकास,' (यूबेर दी गेशिश्तलिशे एन्तविक्लुंग देयर बेग्रिफे फान रेख्त, श्तात उन्द्र पोलितिक) 'पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद का यूरोप का इतिहास,' (गेशिश्ते योरोपास जाइत देम एन्दे देज पयुम्फजेन यारहुन्दुर्त), और 'होइन्सताउफन

और उनके युग का इतिहास' (गेशिश्ते देयर होइन्सताउफन उन्द ईरेर त्साइत) शीर्षक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की जिनसे जर्मनी की संस्कृति पर बड़ा प्रकाश पड़ा। इस अन्तिम ग्रन्थ को लिखने के लिए राउमर ने यूरोप का प्रत्येक पुस्तकालय और संग्रहालय छान डाला। इन इतिहासकारों ने अतीत के, विशेषतः मध्यकाल के, अध्ययन में सजीवता और भावुकता के रंग भर दिये।

परिच्छेद ८

इतिवृत्तात्मक युग

अनुच्छेद १——जर्मन इतिहास-लेखन

जैसा कि पिछले अध्याय में देखा जा चुका है, रोमान्तिक युग में इतिहास-लेखन को बड़ी प्रेरणा मिली। धीरे-धीरे इतिहास की उत्सुकता और भावुकता आलोचनात्मकता और इतिवृत्तात्मकता में परिणत हो गयी। इतिहासकार बहुत परिश्रम से तथ्यों का अनुसंधान करने लगे और इनके अध्यवसाय से विद्वत्तापूर्ण इतिहासों की सृष्टि होने लगी। १८१० में बर्लिन के विश्वविद्यालय की स्थापना से इस ऐतिहासिक सम्प्रदाय को बड़ी प्रेरणा मिली। इसने नीबूर और बोइख, म्यूलर और रांके-जैसे अपूर्व विद्वानों और इतिहास-लेखकों को जन्म दिया।[१]

१. **नीबूर**——बार्थोल्ड नीबूर (१७७६-१८३१) न एक व्यवसायी इतिहास-कार थे और न प्रशा के निवासी। वे देन थे और प्रसिद्ध यात्री कार्सतन नीबूर के सुपुत्र थे। १८ वर्ष की उम्र में नीबूर यूरोप की १८ भाषाओं के ज्ञाता हो गये और इनके अतिरिक्त हिब्रू, फारसी और अरबी से भी परिचित हो गये। उनके अन्दर ज्ञान की अतृप्त पिपासा थी। वे अपने काल की समस्त विद्याओं में निष्णात थे। १८०६ में वे कोपेनहेगेन के व्यापार मण्डल के मंत्री थे। १८१० में उन्हें बर्लिन विश्व-विद्यालय में व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया गया। वहाँ उन्होंने रोमन-इतिहास (रोमीशे गेशिश्ते) पर भाषण किये। यह उस युग की निराली कृति थी। इसमें

१. जी० पी० गूच, 'हिस्ट्री एण्ड हिस्टोरियन्स इन दि नाइनटीन्थ सेन्चुरी,' लन्दन, १९२५; अध्याय १-७; जेम्स वेस्टफाल टॉम्पसन, हिस्ट्री ऑव हिस्टोरिक्ल राइटिंग, भाग २ पृ० १४९-२०५, अध्याय ४१-४३; एडबेड फयतेर 'इत्स्वार द् लिस्तोरियोग्राफी मोदर्न,' एमिल ज्यामेर का फ्रेंच अनुवाद (पेरिस १९१४) पृ० ५७४-६०५।

आलोचनात्मक पद्धति का नूतन चमत्कार मिलता है। उन्होंने प्राचीन कथानकों और आख्यानों का सूक्ष्म विश्लेषण करके तथ्यों और घटनाओं को निश्चित किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वतन्त्र रोमन कृषक को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया। उन्हें अभिजात वर्गों से घृणा थी, तथापि उनका दृष्टिकोण एक राजनीतिज्ञ का था। उनके मतानुसार रोम का इतिहासकार वस्तुतः एक राजनीतिज्ञ ही हो सकता है। नीबूर ने पुरातत्त्व और भाषाशास्त्र सम्बन्धी प्रबन्ध भी प्रकाशित किये। १८१५ तक जब वे रोम में राजदूत थे उन्होंने इस कार्य में बड़ी प्रगति की। वापस आकर वे नोन के महाविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हो गये। वहाँ उन्होंने 'कोर्पस--स्क्रिपतोरम हिस्तोरे बाइज़न्तीने' का आयोजन किया। नीबूर ने अपने इतिहास सम्बन्धी मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—"मैं शब्दों का विश्लेषण करता हूँ जिस प्रकार एक शरीरशास्त्री शरीरों का विश्लेषण करता है। मैं प्राचीन अस्थियों के कंकाल को इधर-उधर की सामग्री से निकालने का प्रयत्न करता हूँ।"

२. **बोइख**—आगस्त बोइख़ (१७८५-१८६७) १८११ में बर्लिन विश्वविद्यालय में क्लासिकल साहित्य के प्राध्यापक नियुक्त हुए। नीबूर की प्रेरणा से इन्होंने शिलालेखों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया और १८१७ में अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्तातसहाउसहाल्तुंग देयर अथेनेर' (एथेन्स की अर्थ-व्यवस्था) नीबूर को समर्पित किया। इसमें उन्होंने एथेन्स के वित्तीय और आर्थिक जीवन का दिग्दर्शन किया और एथेन्स के तुला-मान-पौतव-मुद्रा सम्बन्धी विषयों का वैज्ञानिक निरूपण किया। इसके बाद उन्होंने 'कोर्पस इन्सक्रिपशियोनम ग्रेकारूम' में यूनान के सब अभिलेखों का संग्रह किया।

३. **कार्ल म्यूलर**—नीबूर के शिष्यों में सबसे प्रसिद्ध कार्ल म्यूलर (१-७९७-१८४०) थे। 'एजीना' नामक यूनानी राज्य पर इनका प्रबन्ध विद्वत्ता का कोश है। इनकी रचनाओं के अंग्रेजी अनुवाद भी हुए। 'हिस्ट्री एण्ड एण्टीक्वीटी ऑव दि डोरिक रेस,' (डोरिक जाति की प्राचीनता और इतिहास), 'इन्ट्रोडक्शन टु ए साइन्टीफिक सिस्टम ऑव माइथोलॉजी' (आख्यानों के वैज्ञानिक विधान की प्रस्तावना) और 'हिस्ट्री ऑव ग्रीक लिटरेचर,' (यूनानी साहित्य का इतिहास) उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। वे राष्ट्र और जाति के सिद्धान्त से प्रभावित थे। उनके मतानुसार यूनानी संस्कृति मौलिक और आदिम संस्कृति थी। यूनान के जीवन का प्रत्येक पक्षधर्म, राजनीति, शिक्षा और युद्ध समन्वित, संतुलित और सुन्दर थे।

उन्होंने आख्यानों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ किया। म्यूलर विद्वान् होने के अतिरिक्त एक भावुक कलाकार भी थे। नीबूर की शुष्कता के स्थान पर उनमें सरसता थी। ४३ वर्ष की आयु में उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी।

४. **साविग्नी**— फ्रीडरिख कार्ल फोन साविग्नी (१७७९-१८६१) ने रोमन कानून का इतिहास लिखा। जिस प्रकार विंक्लेमान का विचार था कि कला किसी जाति के सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति है और वोल्फ की धारणा थी कि साहित्य सम्पूर्ण जीवन का दर्पण है, इसी प्रकार साविग्नी का मत था कि कानून समूची जीवनधारा को प्रतिबिम्बित करता है। उनके मतानुसार इतिहास के क्रम में अक्षुण्णता रहती है। प्रत्येक परिस्थिति अपने ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। अतः न किसी प्रतिक्रिया का प्रश्न उठता है और न ही क्रान्ति का।

१८१५ में साविग्नी ने रोमन कानून के इतिहास पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, 'गेशिश्ते देज रोमिशन रेख्तस इम मितेल आलतेर' (मध्यकालीन रोमन कानून का इतिहास) लिखी। इसमें उन्होंने यह प्रकट किया कि आदिम काल से वर्तमान राष्ट्रों के अभ्युदय तक कानूनी विकास का क्रम बना रहा। बर्बर आक्रमण-जैसे विप्लव से भी रोमन कानून की परम्परा नहीं टूटी, बल्कि वह लोगों के रीतिरिवाजों में परिणत हो गयी। उसी वर्ष साविग्नी, आइशहोर्न और गोशन ने 'त्साइतश्रिफ्त फ्यूर गेशिश्तलिशे रेख्तस्वाइजनशीफ्त,' (ऐतिहासिक कानून शास्त्र पत्रिका) का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसकी प्रस्तावना में साविग्नी ने सामाजिक विकास की अक्षुण्णता का प्रतिपादन किया। उनके मतानुसार कोई भी युग अपने आप में स्वतंत्र और सम्पूर्ण नहीं होता, बल्कि यह अपने अतीत के साथ दृढ़ और अकाट्य सूत्रों द्वारा बँधा रहता है। प्रत्येक युग में पहले काल के तत्त्व सम्मिलित हो जाते हैं। कानून-जैसे निश्चित क्षेत्र में भी यह एकता और अक्षुण्णता परिलक्षित होती है।

हुम्बोल्त—विल्हेल्म फोन हुम्बोल्त (१७६७-१८४५) चतुर राजनीतिज्ञ, भाषाशास्त्रविद और इतिहासकार थे। १८२१ में उन्होंने बर्लिन एकडेमी के निमंत्रण पर इतिहास पर, 'यूबेर दी आडफगाबे देज़, गेशिश्तश्राइबर्स,' (इतिहास-कार का कार्य) शीर्षक महत्त्वपूर्ण भाषण किया। उनके मतानुसार इतिहासकार का कर्त्तव्य भूतकाल का वर्णन 'दार्सतेलुंग देज़ गेशेनन' है। वर्णन सम्पूर्ण तभी हो सकता है जब इतिहासकार अपनी कल्पनाशक्ति का भी प्रयोग करे। इसके अतिरिक्त

इतिहासकार का एक निश्चित दर्शन और आलोचनात्मक दृष्टिकोण भी होना चाहिए। तभी वह घटनाओं के कार्य-कारणात्मक क्रम को समझ सकता है।

हुम्बोल्त के मतानुसार सामाजिक क्रम में जलवायु, कला, ज्ञान, कानून, राज्य इत्यादि के अतिरिक्त कुछ ऐसी अदृश्य शक्तियाँ भी होती हैं जो उनके आदि और अन्त को निर्धारित करती हैं। ये विचार 'दास जीलेन्दे प्रिन्त्ज़िप'-इन्द्रियगोचर नहीं होते। इन्हें इतिहासकार अपनी कल्पना-शक्ति से पकड़ता है। इस प्रकार इतिहासकार के तीन कार्य होते हैं--उसे सामग्री का संकलन करना चाहिए, फिर आलोचनात्मक दृष्टि से तथ्यों की खोज करनी चाहिए और फिर भावों और विचारों की प्रतीति द्वारा उन्हें सजीवता प्रदान करनी चाहिए।

६. स्ताइन— हाइनराइख फ्रीडरिख कार्ल स्ताइन (१७५७-१८२१) ने अपनी पुत्री थेरीसा की इतिहास-विषयक रुचि को पूर्ण करने के लिए ऐतिहासिक सामग्री का संकलन प्रारम्भ किया। १८१९ में उन्होंने 'गेजेलशाफ्त फयूर आलतेरे दाइत्शे गेशिश्तस्कुन्दे,' (प्राचीन जर्मन इतिहास संस्थान) नामक संस्था की स्थापना की जिसका कार्य मध्यकालीन जर्मन इतिहास की मौलिक सामग्री का संकलन और प्रकाशन था। इसके बाद उन्होंने और हाइनराइख पेर्त्स ने, 'मोनुमेन्ता गेरमानिए हिस्टोरिका' (जर्मन इतिहास संग्रह) का श्रीगणेश किया जो उन्नीसवीं शती का सब से प्रसिद्ध इतिहास सम्बन्धी प्रयास था। इसने वैज्ञानिक और आलोचनात्मक इतिहास-लेखन का एक ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया।

७. रान्के— लियोपोल्द रान्के (१७९५-१८८५) १८२५ में बर्लिन विश्वविद्यालय में इतिहास के प्राध्यापक नियुक्त हुए।[२] उन्होंने एक सम्पन्न मध्यम वर्गीय परिवार में जन्म लिया। आरम्भ में उन्हें इतिहास से प्रेम न था। उनकी रुचि भाषाशास्त्र और धर्मतत्त्व में ही थी। १८१८ में जब वे फ्रेन्कफोर्ट में लातीनी और यूनानी साहित्य पढ़ाने लगे तो उन्होंने अनुभव किया कि अतीत का गम्भीर ज्ञान प्राप्त किये बिना इस साहित्य का सम्यक् मूल्यांकन सम्भव नहीं है। अतः उन्होंने प्राचीन इतिहासकारों की कृतियों का अध्ययन प्रारम्भ किया। इससे उन्हें प्राचीन रोम में रुचि उत्पन्न हुई। फिर मध्यकालीन जर्मनी की ओर ध्यान गया और फिर उसकी संक्रान्ति

२. लार्ड एक्टन, 'जर्मन स्कूल्स ऑव हिस्ट्री' इंगलिश हिस्टॉरिकल रिव्यू (१८८६) पृ० १३-२३।

का प्रश्न सामने आ गया। इस प्रकार रान्के इतिहास में दीक्षित हो गये। वाल्तर स्कॉट के ऐतिहासिक उपन्यासों ने उनकी रुचि को और भी तीव्र कर दिया। रान्के में राजनीतिक भावुकता नहीं थी। उनका स्वभाव धार्मिक और रोमान्तिक था। संध्या के समय भ्रमण करते हुए वे वनस्थली की शोभा पर मुग्ध होकर उसकी अन्तरात्मा के ध्यान में निमग्न हो जाया करते थे। इतिहास का थोथा अध्ययन उन्हें खलता था। एक बार अपने भाई हाइनरिख को एक पत्र में उन्होंने लिखा था, 'इतिहास में भगवान् निवास करता है, जीवित रहता है और देखा जा सकता है। प्रत्येक कार्य उसका साक्ष्य देता है, प्रत्येक क्षण उसके नाम का गुणगान करता है, और ऐतिहासिक अक्षुण्णता उसका सबसे पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।' २९ वर्ष की अवस्था में रान्के ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रोमन और जर्मन जातियों का इतिहास' (गेशिश्ते देयर रोमानिशन उन्द गेरमानिशन फयोल्केर) प्रकाशित किया जिसने विद्वज्जगत् में सनसनी फैला दी। इस ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने अपना मूल-मंत्र "एस बिल ब्लोस त्साइगन वी एस आइगेन्तलिश गेवेजन इस्त" लिखा। इसका अभिप्राय यह है कि इतिहासकार का कर्त्तव्य है कि जैसा भी भूतकाल में हुआ है उसका वैसा ही वर्णन करे। रान्के ने यूरोप के इतिहास की बहुत सी सर्वमान्य धारणाओं को चुनौती दी। उन्होंने लिखा कि सार्वभौम ईसाईयत की धारणा भ्रामक है क्योंकि आरमीनी भी ईसाई हैं। यद्यपि वे यूरोपीय नहीं हैं, साथ ही उन्होंने यूरोपीय इकाई की मान्यता को भी अस्वीकार किया, क्योंकि इससे तुर्कों और रूसियों की समस्या का समाधान नहीं होता। लातीनी ईसाईयत का सिद्धान्त भी भ्रामक है क्योंकि यदि इसे यूरोप का पर्याय मान लिया जाय तो स्लाव, लेत और मगयार जातियाँ यूरोप के क्षेत्र में कैसे समा पायेंगी। रान्के का विचार यह था कि यूरोप की सभ्यता का निर्माण रोमन और जर्मन संस्कृतियों के सम्मिश्रण से हुआ। बर्बर जातियों ने पतनशील रोमन साम्राज्य की संस्कृति को अधिकांशतः ग्रहण कर लिया और उसे अपने जीवन में समाविष्ट किया। इस सम्मिश्रण से राष्ट्र, चर्च और साम्राज्य एवं पोप-संस्था का प्रादुर्भाव हुआ जो यूरोप की सभ्यता के प्रमुख वाहन बने। इस ग्रन्थ के एक परिशिष्ट में रान्के ने इतिहास की आलोचनात्मक पद्धति पर प्रकाश डाला। 'त्सूर क्रितिक नयेरेर गेशिश्तश्राइबेर' (नवीन इतिहास लेखन की पद्धति) नामक लेख में उन्होंने सिद्ध किया कि ख्यातिप्राप्त प्राचीन इतिहासकार निश्चितरूप से प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। मौलिक सामग्री के आधार पर उनकी भ्रान्तियों का पर्दा खोला जा सकता है। मेशिया

वली और गुइचियारदिनी-जैसे प्रख्यात इतिहासकारों पर उन्होंने करारे प्रहार किये।

१८२७ में रान्के की दूसरी कृति, 'फ्यूर्सतन उन्द फ्योल्केर फोन स्यूदयोरोपा इम सेखत्सेन्तन उन्द जीब्त्सेतन यारहुन्दर्त' (१६वीं और १७वीं शती का दक्षिणी यूरोप की जातियों का इतिहास) प्रकाशित हुई। इसमें दक्षिणी यूरोप की सोलहवी और सत्रहवीं शताब्दियों के इतिहास का विस्तृत अध्ययन किया गया। इस ग्रन्थ में रान्के ने राजनीतिक तथ्यों के साथ-साथ वित्तीय और आर्थिक विषयों को भी प्रधानता दी। इसके बाद रान्के ने जर्मनी, इंगलैण्ड, प्रशा, फ्रांस आदि के इतिहास लिखे, बहुत से युद्धों के वृत्तान्त लिपिबद्ध किये और राजनीतिज्ञों के जीवनचरित्र लिखे। इनमें पोपों का इतिहास और रिफार्मेशन का इतिहास विशेष महत्त्व रखते हैं। इनमें उन्होंने इटली के सभी संग्रहालयों की पूरी छान-बीन की। ८२ वर्ष की उम्र में रान्के ने, 'विश्व-इतिहास' का लेखन प्रारम्भ किया। ९१ वर्ष की उम्र में उन्होंने 'इतिहास-दर्शन' शीर्षक ग्रन्थ की योजना बनायी, किन्तु इसे पूरा करने से पहले ही उनका स्वर्गवास हो गया। उनके निधन पर जर्मनी और यूरोप में राष्ट्रीय रूप से सार्वजनिक शोक मनाया गया।

'विश्व-इतिहास,' में रान्के ने अपनी कुछ मान्यतायों पर प्रकाश डाला। उनके मतानुसार इतिहास के नेता और अभिनेता दैवी शक्तियों के वाहन होते हैं। व्यक्ति और जातियाँ विश्व प्रगति के उपकरण हैं। दैवी शक्तियों का आभास विचारों द्वारा मिलता है। इन विचारों की अन्तःप्रक्रिया में इतिहास का रहस्य छिपा हुआ है। क्रोचे ने रान्के के इस दृष्टिकोण की आलोचना की है, किन्तु उन्होंने यह स्वीकार किया है कि रान्के व्यवहारवादी थे। वे मौलिक सामग्री के अन्वेषण और विश्लेषण में बहुत ही सतर्क और कृतनिश्चय थे। वे किसी भी तथ्य के प्रतिपादन के लिए लिखित सामग्री का साक्ष्य अनिवार्य समझते थे। उनकी आलोचना में वैज्ञानिकता थी, तो उनकी शैली में कलात्मकता और उनके चरित्र-चित्रण में सर्वांगीणता। उन्होंने इतिहास-लेखन का जो आदर्श छोड़ा वह समस्त इतिहास जगत् की ललाट-लिपि बन गया।

८. रान्के का सम्प्रदाय—उन्नीसवीं शती के मध्य में जर्मन इतिहास-गगन में रान्के का पूर्ण प्रताप और प्रकाश छाया हुआ था। जर्मनी के प्रायः सभी महान् इतिहासकार रान्के के शिष्य-प्रशिष्य थे। उनके सभी शिष्य उनके आदर्शों पर अटल रहे। उनके प्रति रोशर की श्रद्धा तो पूजा में परिणत हो गयी थी। रान्के का प्रभाव

मुख्यतः राजनीतिक इतिहास-लेखन में परिलक्षित हुआ। रान्के यद्यपि राजनीतिक घटनाओं के इतिहासकार थे और उन्होंने यूरोप के विभिन्न राज्यों के राष्ट्रगत इतिहास लिखे तथापि वे इन राष्ट्रों को यूरोप के विशाल समूह के अंग समझते थे। इसके विपरीत उनके शिष्य-प्रशिष्य अपने ही राज्य को पूरा महत्त्व देने लगे थे। उदाहरणार्थ साइबेल एक 'माख्तपोलितिकेर' थे। त्राइत्श्के और दालमान ने तो इस राष्ट्रवाद को चरम सीमा तक पहुँचा दिया था।

रान्के के लगभग तीस शिष्य प्रसिद्ध इतिहासकार हुए। याफे, कोइपके और द्युमलर ने 'मोनुमेन्टा' में सारगर्भित सामग्री का संचय किया। इस शिष्य-परम्परा में वातनबाख़, गीज़ेब्रेख्ते, बाइत्स और साइबेल के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। विल्हेल्म वातनबाख (१८१९-९७) ने भाषाशास्त्र को छोड़ कर इतिहास में पदार्पण किया। १८४३ में चौबीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने, 'मोनुमेन्टा' पर काम करना आरम्भ किया और सामग्री एकत्रित करने के लिए बहुत सी यात्राएं कीं। उनकी 'दाइत्शलान्तस गेशिश्तस क्वेलन इम मितेलआल्तेर' (मध्ययुगीन जर्मनी के इतिहास की सामग्री) एक अनिवार्य ग्रन्थ है। विल्हेल्म फोन गीज़ेब्रेख्त (१८१४-८९) एक आकर्षक लेखक थे। उनके लेख में विद्वत्ता और साहित्यिकता का सुन्दर संगम मिलता है। उनकी 'गेशिश्ते देयर दाइत्शन काइजेरत्साइत' (जर्मन सम्राटों का इतिहास) एक उत्कृष्ट रचना है। इस ग्रन्थ के प्रणयन में चालीस वर्ष लगे थे। उन्होंने एक विशेष उद्देश्य को लेकर इस ग्रन्थ की रचना की। वे जर्मन जाति में एकता की चेतना जाग्रत करना चाहते थे। १८६६ में सादोवा में ऑस्त्रिया पर प्रशा की विजय का वृत्तान्त सुनकर उनके हर्ष का ठिकाना न रहा, किन्तु पोल, बोहीमी, देन और मगयार उनसे संतुष्ट न थे क्योंकि उनके मतानुसार उनकी संस्कृति का स्रोत जर्मनी था। साथ ही प्रशन-सम्प्रदाय के इतिहासकार भी उनसे खुश न थे, क्योंकि उन्होंने मध्य और दक्षिणी जर्मनी को अत्यधिक महत्त्व दिया था। होहेन्सताउफन सहानुभूति के कारण होहजोंलोर्न वंश के समर्थक साइबेल-जैसे लेखक उनके विरोधी बन गये। वीयना के प्राध्यापक यूलियस फिकर ने साइबेल की आपत्तियों का उत्तर दिया। साइबेल ने इसका प्रत्युत्तर दिया। अन्त में वाइत्स ने इस विवाद का समन्वय किया। इस विवाद ने जेम्स ब्राइस की 'होली रोमन एम्परर' शीर्षक रचना को प्रेरणा दी जिसमें साइबेल के दृष्टिकोण को प्रमुखता दी गयी थी। गेओर्ग वाइत्स (१८१३-८६) ने मध्यकालीन इतिहास का विशेष अध्ययन किया। उन्होंने राजनीति में प्रमुख भाग लिया। उनकी प्रसिद्ध रचना,

'दाइत्शे फेरफासुगस्गेशिश्ते, (जर्मन लेखों का इतिहास) प्रकाण्ड पाण्डित्य की निधि है। उनका निधन रान्के से दो दिन बाद ही हो गया।

रान्के के कुछ समकालीन इतिहासकार उनकी शैली के अनुयायी थे यद्यपि वे उनकी शिष्य-परम्परा में नहीं थे। इन लेखकों में योहान फ्रीडरिख बोइमर (१७९५-१८६३) का नाम उल्लेखनीय है। वे स्ताइन और पेर्त्स के साथियों में से थे और मोनूमेन्ता के संस्थापकों में थे। उनके ग्रन्थ 'रेजेस्ता दिप्लोमातिका कारोलोरम' को लार्ड एक्तन-जैसे विद्वान् ने भी मध्यकालीन जर्मनी के इतिहास का आकर-ग्रन्थ माना है। इसी युग में ऑस्त्रिया में भी फिकर, ओनो क्लोप-जैसे इतिहासकारों ने ग्रन्थरचना की। इन्होंने राजनीतिक पक्षों पर विशेष बल दिया।

९. प्रशा के इतिहासकारों का सम्प्रदाय—दालमान, साइबेल, द्रायसन, त्राइत्शके प्रशन सम्प्रदाय के इतिहासकार रान्के के सम्प्रदाय से फट कर अलग हो गये थे। दालमान, साइबेल, दुन्क्लर, द्रायसन और त्राइत्शके इस सम्प्रदाय के अग्रदूत थे। ये हेगल के दर्शन के अनुयायी थे। इनके मतानुसार राष्ट्र मानव बुद्धि की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति ही नहीं है, बुद्धि का अवतार है, साक्षात् बुद्धि है। विचार और अस्तित्व की एकता के कारण राष्ट्र कोई भी गलती नहीं कर सकता। यह उपासना का पात्र है। अतः राष्ट्र का गुणगान इतिहासकार का पुनीत कर्त्तव्य है।

फ्रीडरिख क्रिस्तोफर दालमान (१७८५-१८६०) उक्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। उनका जन्म राइश और देन्मार्क के सीमावर्ती प्रदेश में हुआ। वे जर्मन एकता के ओजस्वी प्रचारक, राजनीतिक अभ्युदय के प्रबल समर्थक, सहृदय देशभक्त और धारावाहिक प्रवक्ता थे। १८४२ में वे बोन विश्वविद्यालय में इतिहास और राजनीति के प्राध्यापक नियुक्त हुए। इससे पहले उन्होंने सक्रिय राजनीतिक जीवन व्यतीत किया और अपने ग्रन्थों की रचना की। वे संविधान-बद्ध राजतन्त्र के अनुयायी थे। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने अपने अंग्रेजी क्रान्ति तथा फ्रेंच क्रान्ति के इतिहास लिखे। उन्होंने जर्मन-इतिहास के स्रोत ग्रन्थों का पर्यालोचन तैयार किया जो वहुत लोकप्रिय सिद्ध हुआ। यद्यपि दालमान एक प्रतिभाशाली विचारक थे, उनके ग्रन्थों में विद्वता और गाम्भीर्य इतना अधिक नहीं मिलता जितना अन्य समकालीन लेखकों में पाया जाता है।

यद्यपि दालमान प्रशा के इतिहासकारों के सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं, इनके पिता सचमुच हाइनराइख फोन साइबेल (१८१७-९५) थे। उनका जन्म ड्युसलदोर्फ के एक संस्कृत परिवार में हुआ। वे बर्क के बड़े प्रशंसक थे और

रान्के के प्रिय तथा प्रतिभाशाली शिष्य थे । उनका उद्देश्य होहेन्जोलोर्न राष्ट्र की शक्ति दृढ़ करना और उसकी सैद्धान्तिक आधारशिला को बल देना था। लॉर्ड एक्टन के शब्दों में वे साम्राज्यवाद के पुजारी थे और उनकी कृतियां इस मतवाद की ललाटलिपियाँ बन गयीं। उन्हें अपने गुरु रान्के की शीतल निष्पक्षता पसन्द न थी। वे इतिहास को राजनीति और राष्ट्रवाद का साधनमात्र समझते थे । उनके मतानुसार राजनीति में भाग लेना विद्वान् का परम धर्म था। १८४८ के विप्लवों ने उनकी राष्ट्रभक्ति और राजभक्ति को और भी तीक्ष्ण कर दिया। वे क्रान्ति के प्रबल विरोधी बन गये और विप्लव तथा विग्रह से उन्हें आन्तरिक घृणा हो गयी। जर्मनी में वामपक्षीय विचारधारा के प्रसार को रोकना उनके जीवन का मूलमंत्र बन गया। अतः उन्होंने एक प्रज्ञापन प्रकाशित करने का विचार किया। किन्तु यह योजना इतनी बढ़ गयी कि पाँच भागों में प्रकाशित हो पायी। उनका 'गेशिश्ते देयर रेवोल्यूत्सिओनत्साइत' (क्रान्तिकालीन इतिहास) क्रान्ति और प्रतिक्रिया के मध्य-वर्ती पथ का निर्देश करने वाला महान् ग्रन्थ है। यद्यपि इसमें क्रान्ति के आदर्शों की निन्दा और संयम, व्यवस्था, दृढ़ता आदि के प्रशन सिद्धान्तों की प्रशंसा मिलती है, यह त्राइत्शके और ट्रायसन आदि के प्रतिक्रियावाद से बचा हुआ है। इसमें यूरोप के प्रमुख राजकीय अभिलेख-भण्डारों के गम्भीर मन्थन और अनुसंधान का निचोड़ संगृहीत है। अतः विद्वत्ता की दृष्टि से यह एक अपूर्व कृति है। अपने जीवन के अन्तिम भाग में साइबेल ने विलियम प्रथम का इतिहास लिखा। इसकी प्रेरणा और आदर्श उन्हें बिस्मार्क से प्राप्त हुई। इसमें जर्मन राष्ट्रवाद का ज्वलन्त प्रतिपादन मिलता है। साइबेल ने, 'हिस्तोरिशे त्साइतश्रिफत' (इतिहास-पत्रिका) का श्रीगणेश करके ऐतिहासिक अनुसंधान का विशाल द्वार खोल दिया। इसमें इतिहास के परिश्रमी विद्यार्थी अपनी रचनाएँ भेजने लगे। इनसे ऐतिहासिक अध्ययन को बड़ी प्रेरणा और स्फूर्ति मिली। यह पत्रिका पाश्चात्य जगत् की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका सिद्ध हुई।

योहान गुस्ताफ द्रायसन (१८०८-८४) के पिता होहजोंलोर्न सेना के अधि-कारी थे । वे ८ वर्ष के थे, तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। अतः अपने मित्रों के सहयोग और सहायता से ही उनका अध्ययन-क्रम चला। बर्लिन आकर वे अपने पिता के एक मित्र कोप्के के यहाँ रहने लगे और विश्वविद्यालय में अध्ययन करने लगे। उन्हें सिकन्दर महान् के इतिहास में बड़ी रुचि थी। अतः उन्होंने १८३३ में 'गेशिश्ते आलेग्जेन्दरस देस ग्रोसन्' (सिकन्दर महान् का इतिहास) और १८३६

में, 'गेशिश्ते देयर नाखफोल्गर आलेग्जेन्दरस,' (सिकन्दर के परिवर्तियों का इतिहास) लिखे। इन ग्रन्थों से उनकी ख्याति इतनी बढ़ी कि उन्हें कील के विद्यालय में अध्यापक का स्थान मिल गया। वहाँ राजनीति और आधुनिक इतिहास में उनकी रुचि तीव्र हो गयी और वे जर्मन राष्ट्रीय विचारधारा के प्रबल समर्थक बन गये। शीघ्र ही वे होल्स्ताइन राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रणी बन गये और फ्रेंकफोर्त संसद के सदस्य नियुक्त हो गये। वे प्रशा की शक्ति में अटल श्रद्धा रखते थे। और उनका विश्वास था कि प्रशा के तत्त्वावधान में ही जर्मन राष्ट्र की आधारशिला दृढ़ हो सकती है। इस उद्देश्य से उन्होंने अपने महान् ग्रन्थ 'गेशिश्ते देयर प्रशिशन पोलिटिक' (प्रशा की राजनीति का इतिहास) का प्रणयन किया। यह प्रशा के अभिलेख-भण्डारों की समग्र सामग्री का कोश है। इसकी मुख्य स्थापना यह है कि प्रशा का राजतन्त्र जर्मन राष्ट्रीय विकास की आन्तरिक प्रवृत्ति का परिणाम है। द्रायसन ने अपने इतिहास-दर्शन सम्बन्धी विचार अपने छोटे से ग्रन्थ, 'गुन्दरिस देयर हिस्तोरिक' में व्यक्त किये। उनके मतानुसार प्रकृति में ऊर्ध्व गति और अधोगति का क्रम चलता है। यही इतिहास की मुख्य प्रक्रिया है। इतिहास का शास्त्र अन्वेषण, अनुभव और अनुसंधान पर आधारित है। द्रायसन ने इतिहास की नैतिक व्याख्या की। देश, काल, जन, धर्म, राष्ट्र आदि चिरन्तन सम्पूर्ण तत्त्व की अभिव्यक्तियाँ हैं। जगत् में अशान्त अविरल प्रगति चल रही है और इसके साथ मनुष्य का नैतिक स्तर बढ़ रहा है। इसी अभिवृद्धि का नाम इतिहास है। ऐतिहासिक गति का मुख्य स्वर स्वतन्त्रता है।.......स्वतन्त्रता का वास्तविक अभिप्राय जीवन के प्रत्येक नैतिक स्तर और क्षेत्र में मनुष्य का अनर्गल प्रवेश है। राष्ट्र इन नैतिक स्तरों और क्षेत्रों का संगमस्थल है। यह उनका प्रमुख आवास और संस्थान है। इस प्रकार द्रायसन ने इतिहास के हेगलवादी दर्शन का सफल प्रतिपादन किया।

प्रशन सम्प्रदाय का प्रसिद्ध प्रतिनिधि हाइनिरखफोन त्राइश्के (१९३४९६) था। उनका जन्म द्रेस्दन के एक सेक्सन सेनापति के घर हुआ। उनकी शिराओं में सेक्सन और स्लाव रक्त गतिशील था। विश्वविद्यालय में दालमान के सम्पर्क में आने से उनमें देशभक्ति का उन्मेष हुआ। आरम्भ से ही कविता की ओर उनकी विशेष रुचि थी किन्तु उन्हें इस दिशा में कोई सफलता न मिल सकी। उनकी वक्तृता हृदयद्रावी थी। बड़े बड़े विशाल जनसमूहों को वे घण्टों मंत्रुमग्ध रख सकते थे। हाइदेलबर्ग और बर्लिन में शिक्षण-कार्य करने के अनन्तर वे राइश्स्ताक के सदस्य चुने गये और अन्त में रान्के के निधन पर प्रशा के राजकीय इतिहासकार नियुक्त

किये गये। वे आजीवन बिस्मार्क के समर्थक और प्रशंसक रहे। वे जर्मन एकता के देवदूत थे। उनके लेखों में इतिहासकार की अपेक्षा प्रचारक की आत्मा झलकती है। उनके मतानुसार राष्ट्र कोई कला-परिषद् या व्यापार-संसद नहीं है, वरन् शक्ति का पुंज है और सामरिक संगठन है। यह प्रजा की इच्छा पर निर्भर नहीं, बल्कि अपनी आज्ञाओं और आदेशों को लागू करने वाली संस्था है। उनके अनुसार एक तो राष्ट्र का आकार विस्तृत होना चाहिए और दूसरे उसकी नीति युद्ध-परक होनी चाहिए। छोटे-छोटे भागों को आत्मसात् करके उसे अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिए। १८६६ में उन्होंने हेनोवर, हेसे और सेक्सनी के विनाश का प्रचार किया।

त्राइत्शके का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दाइत्शे गेशिश्ते इम नयनत्सेनतन यारहुन्दर्त,' (उन्नीसवी शताब्दी का जर्मन इतिहास) साहित्यिकता और विद्वत्ता का अपूर्व निदर्शन है। यद्यपि इसमें भावना, शक्ति और एकपक्षीय दृष्टिकोण का नग्न नृत्य है, इसकी शैली काव्य की तरह आकर्षक है। त्राइत्शके ने स्वयं लिखा है कि "मेरा खून इतना गर्म है कि मैं सफल इतिहाकार नहीं हो सकता।"

प्रशा के सम्प्रदाय की मुख्य विशेषताएं कार्ल हिलेब्रान्त के एक वक्तव्य से प्रकट होती हैं जिसे फ्रेंच लेखक तेनने इस प्रकार उद्धृत किया है—

"जर्मन लोगों का विश्वास है कि हम ने यूरोप का पुनरुद्धार किया। संसार को रोम के पतन और चौथी-पांचवी शताब्दियों के भ्रष्टाचार से बचाया। सोलहवीं शती में हमने प्रौटेस्टेण्ट धर्म को जन्म दिया जो एक नैतिक नवीकरण था। जर्मन जाति महान् है।[३]

यह सिद्धान्त नात्सी मतवाद में प्रस्फुटित होकर यूरोप भर के लिए घातक बन गया।

१०. **मोमसन और उनके शिष्य**—त्राइत्शके के बाद भी रान्के की वैज्ञानिक निष्पक्षता का बोलबाला बना रहा। उनकी पद्धति और शैली का प्रयोग बढ़ गया। इसी दृष्टिकोण से मोमसन ने प्राचीन रोम का अध्ययन किया। थियोदोर मोमसन (१८१७-१९०३) का जन्म श्लेसविक् प्रान्त में हुआ।[४] उनके पिता एक धनहीन

३. **'लाइफ एण्ड लेटर्स आव तेन' श्रीमती आर० एल० देवनशायर का संस्करण भाग २ पृ० २९९-३००।**

४. **डब्लू वार्ड फाउलर, 'थिडोर मोमसन', रोमन एसेज एण्ड इन्टरप्रेटेशन्स (आक्सफोर्ड १९२०)**

पादरी थे । जिस विद्यालय में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की उसका कार्यक्रम बड़ा कठिन था। यूनानी और लातीनी और वर्तमान भाषाएँ बड़े परिश्रम से पढ़ायी जाती थीं। १८३८ में २१ वर्ष की उम्र में मोमसन ने कील के विश्वविद्यालय में कानून पढ़ना प्रारम्भ किया। १८४४ से ४७ तक उन्होंने इटली में शिलालेखों का संग्रह किया। अगले वर्ष वे लाइपत्सिक में अध्यापक नियुक्त हुए। इसके बाद उन्होंने राजनीति में पद-प्रक्षेप किया। १८५२ में वे त्सूरिच चले गये और १८५८ में स्थायी रूप से बर्लिन विद्यालय में लग गये।

मोमसन की अमर कृति और कीर्ति लातीनी शिलालेखों का संग्रह है। १८५२ में इटली में घूमते हुए ही उन्होंने एक संग्रह प्रकाशित किया था। किन्तु ४१ भागों के विशाल 'कोर्पस इंसक्रिप्शियोनम लातीनारूम' को तैयार करने के लिए जीवन भर का प्रयत्न अपेक्षित था। अभिलेखों की खोज के लिए विद्वान् लोग दक्षिणी और मध्य यूरोप, इंग्लैंड, उत्तरी अफ्रीका, एशिया माइनर, सीरिया, मिस्र आदि देशों में भेजे गये। मोमसन ने स्वयं इटली में ३६००० लेखों का संकलन किया। इस प्रकार इस लेखक ने अतीत की महत्त्वपूर्ण सेवा की। मोमसन ने रोम का एक क्रमबद्ध इतिहास 'रोमिशे गेशिश्ते' भी लिखा। यह ग्रन्थ साधारण जनता के लिए लिखा गया था। इसमें रोमन साम्राज्य के विकास की कथा संग्रथित है। मोमसन के मतानुसार रोम की विजय अनिवार्य परिस्थितियों का परिणाम थी। इनके पीछे कोई निश्चित योजना नहीं थी। मोमसन रोमन जाति की प्रशासन-कुशलता के प्रशंसक थे। 'रोमिशेस श्तातरेख्त' (रोमन कानून) में मोमसन ने रोमन कानून के विकास की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला। मोमसन के अनुसार कानून और संविधान की नींद बहुजनसुख और बहुजनहित के आदर्श पर रहनी चाहिए। यद्यपि वे एकतंत्र के विरोधी थे, किन्तु वे अभिजात वर्ग के शासन के समर्थक थे। उन्हें जंकरवाद और जनतंत्र दोनों ही अरुचिकर थे। वे भौतिकवाद और शाम-विरोधी प्रवृत्तियों के शत्रु थे। १८८१ में वे संसद्-सदस्य बने। एक वार उन्होंने बिस्मार्क तक की नीति का विरोध किया।

मोमसन बड़े परिश्रमी लेखक थे। उनके एक समकालीन विद्वान् ने लिखा है कि मोमसन ने इतनी सामग्री प्रकाशित की कि उसकी नकल करने में पूरे ४०० वर्ष लगेंगे। मोमसन के अध्ययन और अनुसंधान की मौलिकता और विविधता आश्चर्यजनक थी। वे शिलालेखों के अध्ययन, मुद्राशास्त्र, इतिहास, कानून, पुरातत्त्व और भाषा-विज्ञान के निष्णात पण्डित थे। वे अपने काल के एक जीवित आख्यान

बन गये थे। उनका निश्चित समय पर घर से निकल कर ट्राम में चढ़ जाना और वहीं पर बैठे-बैठे पठन प्रारम्भ कर देना और फिर कन्डक्टर के संकेत पर ट्राम से उतर पड़ना और कक्षा में ठीक समय पर पहुँच कर व्याख्यान आरम्भ कर देना एक किंवदन्ती बन गयी थी।

मोमसन के शिष्यों में लुदबिग् फ्रीदलेन्देर (१८२४-१९०९) और शेरमान शीलर (१८३९-१९०२) प्रसिद्ध हैं। इन्होंने रोमन इतिहास के विविध पक्षों पर वांछनीय प्रकाश डाला। उनका सर्वप्रिय शिष्य ओतो सीक (१८५०-१९२१) था। उनका प्राचीन जगत् के पतन का इतिहास (गेशिश्ते देज़ उन्तेरगान्गस् देयर आन्तीकन वेलत) विद्वत्ता और वैज्ञानिकता का एक उत्कृष्ट निदर्शन है।

अनुच्छेद २—फ्रेंच इतिहास-लेखन

१. **उन्नीसवीं शती के इतिहास-लेखन पर क्रान्ति का प्रभाव**—उन्नीसवीं शती के फ्रेंच इतिहास-लेखन पर क्रान्ति का प्रबल प्रभाव पड़ा।[5] बहुत-से इतिहासकार क्रान्ति के वातावरण से निष्पन्न थे। गुइजो ने क्रान्ति के आविर्भाव से दो वर्ष पूर्व जन्म लिया था। मिशले बोनापार्त के प्रथम कोन्सल बनने के एक वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे। लामार्तिन क्रान्ति के दूसरे वर्ष पैदा हुए थे। नेपोलियन के राज्यकाल में इतिहास-लेखन को इतना प्रोत्साहन नहीं मिला जितना इतिहास-निर्माण को। किन्तु उनकी पराजय के पश्चात् फ्रांस के साहित्यक जीवन में रोमान्तिक और राष्ट्रीय धाराओं का सम्मिलित स्रोत फूट पड़ा। इतिहास और साहित्य एक दूसरे के सन्निकट आ गये। शातोब्रियां का 'जेनी द्यु क्रिस्तियानिज्म' (ईसाईयत की आत्मा) रोमान्तिक धारा का प्राण था। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ले मार्तिर' (शहीद) ने ऑगस्ते थियरी का ध्यान इतिहास की ओर आकृष्ट किया। गुइज़ों के नेतृत्व में ऐतिहासिक सामग्री के संकलन और सम्पादन के लिए राजकीय समितियाँ नियुक्त की गयीं। पारी और अन्य प्रांतीय नगरों के भण्डारों की छानबीन के बाद सहस्रों संग्रहों का प्रकाशन हुआ। १९२१ में, 'एकोल दे शार्त' की स्थापना हुई जिसमें अनेक पुरातत्त्वशास्त्रियों और पुस्तकालय-विशेषज्ञों ने दीक्षा प्राप्त की। किशरा, लालान, बूर्कलो और

५. जी० पी० गूच, उपर्युक्त, अध्याय ९-१३, फयतेर पृ० ५५१-६७ लुई बूरदो, लिस्त्वार ए ले-जिस्तोरियां (पारी १८८८)।

इमली-जैसे विख्यात इतिहासकारों को प्रस्तुत करने के गौरव से इस संस्था का नाम सदैव अभिमण्डित रहेगा।

२–थियरी–थियरी[6] का जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ था। उन्होंने 'एकोल नोर्माल' में शिक्षा पायी। जुलाई की क्रान्ति ने उनके इतिहास-प्रेम को जाग्रत किया। उनकी प्रसिद्ध कृति 'इंग्लैण्ड की नार्मन विजय का इतिहास' (इस्त्वार द् ला कोंकेत द् लाइँग्लतेर पार ले नोरमां) है। इसकी शैली बाल्तर स्कॉट की तरह रोचक और सजीव है। थियरी सामाजिक न्याय के दृष्टिकोण के प्रबल समर्थक थे। उनके विचार उदारवादी (लिबरल) थे। अतः वे इतिहास को निर्बल और बलवान के द्वन्द्व की प्रक्रिया समझते थे। उनके मतानुसार एंग्लो सेक्सन लोग साधारण जनता के प्रतिनिधि थे और नॉर्मन अभिजात वर्गों के द्योतक थे। अतः गोडविन और हेरोल्ड देशभक्त वीर थे और विलियम दि कोंकरर और उसके योद्धा नृशंस अत्याचारी थे। इस दृष्टिकोण से लिखे जाने के फलस्वरूप यह ग्रन्थ राजकीय घटनाओं के इतिवृत्त के ऊपर उठकर जनता का इतिहास बन गया है।

३–मिशले–जूल मिशले (१७९८-१८७४) एक निर्धन प्रकाशक के पुत्र थे, किन्तु उनका शैशव विद्वानों की संगति में व्यतीत हुआ था।[7] उन्होंने विद्यालय में विशेष प्रतिभा का परिचय दिया। अतः वे 'एकोल नोर्माल' में शिक्षक नियुक्त हो गये। मिशले ने विचो के ग्रन्थ 'साइँजा नूवा' के संक्षिप्त अनुवाद के प्रकाशन से अपना साहित्य जीवन प्रारम्भ किया। इसके बाद उन्होंने 'प्रेसी द् इस्त्वार मोदर्न' शीर्षक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी जो मौलिक विचारों और नूतन व्याख्याओं से ओत-प्रोत थी। सामन्तशाही व्यवस्था के भंग होने से जिन एकतंत्रीय राष्ट्रों और साम्राज्यों का आविर्भाव हुआ उनके विकास का स्वाभाविक परिणाम यूरोपीय शक्तिसंतुलन (बैलेन्स ऑव पावर) का संविधान था। इस विकास के प्रारम्भिक युग में फ्रांस का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था जितना इटली का, इटली के बाद जर्मनी, फिर स्पेन और फिर फ्रांस और इंग्लैण्ड उन्नति के सोपान पर चढ़े। उपर्युक्त

६. लियों ओबिनो, 'आगस्तें थियरी ए सों सिसतेम इस्तोरीक एसे एरर।

७. गाबरील मोनोद, 'ले मेत्र द् लिस्त्वार, रेना तेन-मिशले' (१९०३)

पुस्तक के बाद ही मिशले ने, 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टु यूरोपियन हिस्ट्री' नामक प्रबन्ध लिखा। इसमें उन्होंने ऐतिहासिक प्रक्रिया को एक आध्यात्मिक द्वन्द्व के रूप में प्रस्तुत किया। यह द्वन्द्व आत्मा और शरीर, स्वतंत्रता और आवश्यकता की अन्तः-क्रिया से उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया में फ्रांस ने क्रान्ति का बिगुल बजाकर विश्व का नेतृत्व किया। अतः फ्रांस का विस्तृत इतिहास तैयार करना मिशले की ऐतिहासिक साधना का चरम लक्ष्य बन गया।

१८३३ में मिशले ने अपने फ्रांस के इतिहास का प्रथम भाग प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने जनजीवन की अजस्र धारा को चित्रित करने का प्रयत्न किया। उनका आशय राष्ट्रीय मनोविज्ञान की गवेषणा था, तथापि वे भूगोल, जलवायु आदि भौतिक तत्त्वों के प्रति उदासीन नहीं थे। उनकी कृति में उपन्यास-जैसी सजीवता और सर्वांगीणता मिलती है। इस ग्रन्थ का उत्कर्षस्थल क्रान्ति के अध्यायों में मिलता है। मिशले का 'फ्रेंच क्रान्ति का इतिहास' उन्नीसवीं शती की अत्यन्त लोकप्रिय रचना थी। इसमें इतिहासकार साहित्यकार में परिणत हो गया था। इसमें घटनाओं के शुष्क विकास के स्थान पर एक रंगीन चल-चित्र दृष्टिपथ पर चलता प्रतीत होता है। कल्पना और भावुकता ने नीरस प्रसंगों में भी रस का कलश उँडेल दिया है। ज्याँनदार्क तथा क्रान्ति के कथानकों में जनजीवन का राग मुखरित हो उठा है। समस्त समाज घटनाचक्र का सूत्रधार बन गया है। यद्यपि उसके कृत्यों में 'तेरर' की भयंकरता है, फिर भी उससे स्वतंत्रता की वे किरणें फूटीं जिन्होंने समस्त विश्व को उद्भासित कर दिया है।[८]

मिशले की अन्तिम रचनाओं में उनकी चर्च-विरोधी भावनाओं का साक्षात्कार होता है। 'ले जेसुइत', 'ल् प्रेत्र' आदि ग्रन्थों में यह भाव प्रबल हो उठा है। 'ल् पप्ल्', उन्नीसवीं शती के जनतंत्र का धर्मग्रन्थ है। इसमें उन्होंने बुर्जुवा वर्गों तथा श्रमिक वर्गों में समन्वय स्थापित करने पर जोर दिया है। मिशले का इतिहास-लेखन रोमान्तिक और राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का उत्कृष्ट संगम है।

मिशले के साथियों में जूल किशरा (१८१४-८२) और एदगर कीने के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। किशरा ने ज्यान दार्क से सम्बन्धित सामग्री का पाँच भागों

८. ओलर, 'मिशले' इस्तोरियां द् लो रेवोल्यूसियों फ्रांसेंज, ला रेवोल्यूसियों फ्रांसेज (१९२८), पृ० १३६-५०, १९३-२१३।

में संकलन किया और मध्यकालीन पुरातत्त्व पर अनेक सारगर्भ लेख, 'रव्यू आर्शेओलोज़िक्' में प्रकाशित किये। कीने ने हेरदर के इतिहास-दर्शन को फ्रेंच में अनूदित करके बड़ा उपकार किया। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ,'ईसाइयत और फ्रेंच क्रान्ति,' (क्रिस्तियानिज्म ए ला रेवोल्यूसियों फ्रांसेज़) में उन्होंने चर्च की धर्मान्धता पर आक्रमण किया और यह सिद्ध किया कि ईसाई केथोलिक मान्यताएँ वर्तमान जीवन-दर्शन के सर्वथा प्रतिकूल हैं।

४. **मीने**—फ्रांसवा आगस्त मारी मीने (१७९६-१८८४) एक लोहार का लड़का था जो एक कट्टर साँकुलोत (निर्धन-दलीय) रहा।[९] मीने को अपने पिता से स्वतंत्रता और जनतन्त्र का प्रेम विरासत में मिला। १८१५ में उन्होंने कानून के विद्यालय में प्रवेश किया। वहाँ तिए से उनकी मित्रता हुई। रेस्तोरेशन की सरगर्मी ने इन दोनों विद्यार्थियों के मस्तिष्कों को इतिहास और राजनीति की ओर मोड़ दिया। १८२४ में उन्होंने, १७८९ से १८१४ तक का 'फ्रांस की क्रान्ति का इतिहास' (इस्त्वार द् ला रेवोल्यूसियों फ्रांसेज़ दुपुई १७८९ जुस्को १८१४) प्रकाशित किया। इसके वर्णन की विशदता और तार्किकता अत्यन्त प्रभावशाली है। इस ग्रन्थ के बाद मीने ने सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के इतिहास के विशेष अध्ययन किये। उनके 'चौदहवें लुई के राज्यकाल का स्पेन के उत्तराधिकार से सम्बन्धित पत्रव्यवहार, (नेगोसियासियो रिलातिव, आ ला सकसेसियों देस्पाइन सू लुई कातोज़), 'मेरी स्टुवर्ट का इतिहास' (इस्त्वार द् मारी स्तुअर्त) फ्राँसवा प्रथम और चार्ल्स क्विन्त की प्रतिद्वन्द्विता का इतिहास (रिवालिते द् फ्रंसवा प्रिमिए ए द शार्ल किन्त) प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

फ्रेंच क्रान्ति के इतिहास के कारण मीने को राष्ट्रव्यापी ख्याति प्राप्त हुई। उनके मतानुसार क्रान्ति कोई आकस्मिक विस्फोट नहीं थी, वरन् सुदीर्घ ऐतिहासिक घटनाचक्र का स्वाभाविक परिणाम थी। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया का प्रतिपादन मीने का महत्त्वपूर्ण कार्य था। यद्यपि १७८९ के परिवर्तन को वह अपने अन्य देशवासियों की तरह अनवद्य और भव्य समझते थे, उन्हें 'तेरर', से ग्लानि थी। इस प्रकार उन्होंने तात्कालिक भावनाओं का पूर्ण प्रतिनिधित्व किया।

५. **तिए**—लुई अदोल्फ तिए[१०] (१७९७-१८७७) मीने के परम मित्र थे।

९. पति, 'फ्राँसवा मीनें' (पारी १८८९)
१०. सेन्त बोब, पोरत्रे कोंतें पोरें, भाग ४, पृ० ६२-१२४।

किन्तु उनकी शैली भिन्न थी। मीने में भव्यता थी, तो तिए में चित्रमयता। तिए का जीवन अधिकतर राजनीति में बीता। उन्होंने 'कोंस्तीत्यूसियोनल' नामक पत्र का सम्पादन भी किया। उनका 'इस्त्वार द् ला रेवोल्यूसियों फ्राँसेज़' (फ्रेंच क्रान्ति का इतिहास) क्रान्ति का एक नाटकीय प्रदर्शन है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण 'उनकी इस्त्वार द्यु कोन्सुला ए द् लाम्पीर', (कौसुलेट और साम्राज्य का इतिहास) है। यह ग्रन्थ उनके बीस वर्ष के परिश्रम का फल है। इसमें उन्होंने नेपोलियन के लगभग ४०,००० पत्रों का मन्थन किया। किन्तु इसकी एक बड़ी कमी यह थी कि इसमें फ्रांसेतर देशों की सामग्री का उपयोग नहीं किया गया।

६. **लामार्तिन**—आलफोन्स मारी लुई लामार्तिन[११] (१७९०-१८६९) एक उत्कृष्ट कवि और 'रोमान्तिक' लेखक थे। इन्होंने १८१४ में नेपोलियन की सेना में काम किया किन्तु बोनापार्त से अधिक उन्हें बाइरन में अभिरुचि थी। उनके, 'मेदितासियों पोइतीक,' ने फ्रांस में धूम मचा दी। इसके तीस संस्करण निकले थे। १८४७ में उन्होंने 'जिरोंदे दल का इतिहास' लिखा। इसे अभूतपूर्व सफलता मिली। द्यूमा ने लेखक को बधाई देते हुए कहा 'तुम ने इतिहास को उपन्यास के स्तर तक पहुँचा दिया है।' लामार्तिन शेक्सपिएर के भक्त थे।

७. **तोकविल तथा क्रान्ति के अन्य इतिहासकार**—आलेक्सी द् तोकविल (१८०५-५९) प्राचीन शासन काल, 'आसियां रेज़मी' के अपूर्व मर्मज्ञ थे।[१२] उनके पिता दार्शनिक और इतिहासकार थे। अतः उद्बोधन-युगीन उदारतावाद उन्हें बिरासत में मिला था। २२ वर्ष की उम्र में वे वेरसाई में एक न्यायाधिकारी बने। इसके २ वर्ष बाद उन्होंने अमेरिका जाकर वहाँ के कानून का गम्भीर अध्ययन किया। १८३५ में उन्होंने अमेरिकन जनतंत्र पर एक ग्रन्थ लिखकर बड़ी ख्याति प्राप्त की। १८५६ में उनकी प्रसिद्ध कृति 'द् लासियां रेज़ीम ए द् ला रेवोल्युसियों' (प्राचीन शासन और क्रान्ति) का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। उनकी प्रमुख स्थापना यह है कि क्रान्ति प्राचीन शासन से प्रादुर्भूत और विकसित हुई। क्रान्ति ने

११. आल्फ्रेद नेतमा, 'लेज इस्तोरियाँ द् ला रेवोल्यूसियों फ्रांसेंज'।

१२. जे० पी० मेयर, प्रोफेट ऑव दि मास एज, ए स्टडी ऑव एलेक्सिस द् तोकविल (लन्दन १९३९)।

केन्द्रित व्यवस्था-जैसे बहुत से शासन के तत्त्व प्राचीन पद्धति से ग्रहण किये। प्राचीन पद्धति ने सामन्तशाही विधान के विनाश की जो प्रक्रिया प्रारम्भ की, क्रान्ति ने उसे पूरा किया। राजशाही के दिनों में कानूनी समानता प्राप्त करने का प्रयत्न चालू किया गया था। यही क्रान्ति का मूल मन्त्र बना। ऐतिहासिक अक्षुण्णता की इस प्रक्रिया का सोरेल ने प्रबल प्रतिपादन किया। उनका 'यूरोप तथा फ्रेंच क्रान्ति' (लोरोप ए ला रेवोल्यूसियों फ्राँसेज़) फ्रांस के सर्वश्रेष्ठ इतिहास ग्रन्थों में से एक है। उनके मतानुसार क्रान्ति फ्रांस और यूरोप के इतिहास का सहज परिणाम थी। क्रांतिकारियों ने प्राकृतिक सीमाओं; राइन, आल्प्स और पिरेनीज़ पर आश्रित जिस विदेशी नीति को अपनाया, उसका सूत्रपात बहुत पहले राजशाही के युग में हो चुका था। इससे यूरोप में बहुत बड़ी विरोध की ज्वाला धधक उठी। क्रान्ति के मूल सिद्धांत संकट में पड़ गये। अतः विवश होकर क्रांतिकारियों को 'तेरर' का आश्रय लेना पड़ा। युद्ध का उत्तरदायित्व मुख्य रूप से जिरोंदें दल पर था।

उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में क्रान्ति के इतिहास का वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ। १८८६ में सोरेबोन विश्वविद्यालय में फ्रांस की क्रान्ति का एक पृथक् विभाग स्थापित किया गया। उसके अध्यक्ष ओलार थे। उन्होंने तथा उनके शिष्यों ने राजधानी, 'ज़ाकोबें क्लब' तथा 'कोमिते द् साल्यू प्युबलिक' का गम्भीर और विस्तृत अध्ययन किया। ओलार ने १९०२ में 'इस्तवार पोलितीक द् ला रेवोल्यूसियों फ्राँसेज़' (फ्रांस की क्रान्ति का राजनीतिक इतिहास) प्रकाशित किया। इसमें क्रान्ति के प्रथम तीन वर्षों का सम्पूर्ण इतिहास है और क्रान्ति के दो मौलिक सिद्धांतों, जनता की समानता और प्रभुत्व के विकास, का मार्मिक विश्लेषण है। उनके मतानुसार गणतन्त्र की भावना बहुत बाद में जाग्रत हुई। 'तेरर' जोकोबें मनोविज्ञान का फल नहीं था, बल्कि शत्रुओं को हटाने तथा सुधारों की सुरक्षा करने की महनीय चेष्टा का परिणाम था। दांतों से उनको विशेष प्रेम था। उसे वे क्रान्ति के नाटक का नायक समझते थे। किन्तु उनके प्रिय और प्रसिद्ध शिष्य आल्बेर्त माथिए इस विषय पर उनसे मतभेद रखते थे। माथिए रोबसपियेर के पक्षपाती और दांतों के विरोधी थे। वे समाजवादी भावनाओं से अत्यधिक प्रभावित थे। उनका फ्रांस की क्रान्ति का इतिहास भी एक उत्कृष्ट कृति है। ओलार और माथिए के बाद क्रान्ति सम्बन्धी अनुसंधान और अध्ययन का नेतृत्व जोज़े लेफेबव्र ने किया। लुई मादलें ने भी इस युग पर सुन्दर पाठ्य-पुस्तकें लिखीं।

नेपोलियन का गम्भीर अध्ययन उसके विस्तृत पत्र-व्यवहार के प्रकाशन के

पश्चात् प्रारम्भ हुआ। फ्रेदरिक मासों की पहुँच बोनापार्त परिवार के लेखों तक थी। उन्होंने अपनी पुस्तक 'नापोलियों, ए सा फामिय' (नेपोलियन और उसका परिवार) में बोनापार्त परिवार का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत किया। उनके मतानुसार इस परिवार की व्यवस्था बड़ी दूषित थी। इसके बहुत से सदस्य अत्यन्त लोभी थे। जोजेफीन भी इन दोषों से मुक्त न थी। मासों की कृति से वाँद्राल की रचनाओं का साहित्यिक महत्त्व अधिक है। उनका 'नापोलियों ए आंलेग्ज़ांद्र' (नेपोलियन और सिकन्दर) एक उत्कृष्ट ऐतिहासिक ग्रन्थ है। वाँद्राल ने रूसी-फ्रेंच मित्रता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनके मतानुसार यही इंग्लैण्ड को परास्त करने का एक सफल साधन हो सकता था। किन्तु नेपोलियन ने स्पेन में अपनी शक्ति को क्षीण कर दिया और इस अवसर का पूर्ण लाभ न उठाया। यद्यपि इस मित्रता के भग्न होने का दायित्व ज़ार की नीति पर था तथापि नेपोलियन की त्रुटियाँ भी इसका कारण थी। वाँद्राल ने अपनी दूसरी कृति 'लावेनमाँ द् बोनापार्त' (बोनापार्त का आगमन) में अपना दृष्टिकोण कुछ बदल दिया। वे नेपोलियन की त्रुटियों और भ्रान्तियों से हटकर उसकी प्रेरणापूर्ण राजनीति और आह्लादकारी सफलताओं के समर्थक बन गये। ब्रूमेर स्वाधीनता के विनाश की घड़ी नहीं थी वरन् समृद्धि और व्यवस्था के संस्थापन का समय था। इसी प्रकार आँरी ऊसेइये का १८१४ और १८१५ के युद्धों का वृत्तान्त रोमांचकारी है। इस युग में थ्यूरो दाँगें ने लुई फिलिप के काल का इतिहास लिखा, ला गोर्स ने द्वितीय साम्राज्य का वृत्तान्त लिपिबद्ध किया और ओनातो ने तृतीय गणतन्त्र की गाथा गायी। इन अनुसंधित्सु इतिहासकारों की शोध के फलस्वरूप लाविस ने अपने महान् 'फ्रांस के इतिहास' की योजना बनायी।[१३]

८.—**गीजों**—फ्रेंच इतिहासकारों में पिएर गुययाम गीजों (१७८७-१८७४) का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।[१४] उनके पिता १८९४ में गिलोतीन की भेंट

१३. जी० पी० गूच, 'हिस्टोरियन्स आव दि फ्रेंच रेवोलूशन,' मेरिया थेरिसा एण्ड अदर स्टडीज।

१४. राबर्ट फ्लिण्ट, 'हिस्टोरिकल फिलोसोफी इन फ्रांस एण्ड जर्मनी', पृ० २१९-४१, जान स्टुअर्ट मिल, 'डिसरटेशन्स एण्ड डिसकशन्स' (न्यूयार्क १८७४-७५), भाग २, पृ० २९७-३६२।

हो गये थे। इसके बाद यह परिवार जनेवा चला गया। उन्होंने पेरिस में कानून की शिक्षा प्राप्त की। १८१२ में 'पॉलीन द् मोलाँ' की प्रेरणा से उन्होंने गिबन की कृति की टीका का अनुवाद करना प्रारम्भ किया। इसी वर्ष वे पेरिस के विश्वविद्यालय में इतिहास के सहायक प्राध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ उन्होंने संस्कृति का इतिहास लिखने की एक बृहत् योजना बनायी। १८३० से १८४८ तक वे राजनीति में संलग्न रहे—शिक्षामंत्री, इंग्लैण्ड में राजदूत, विदेशमंत्री आदि के पदों को उन्होंने दक्षता से सुशोभित किया। उनकी प्रधान कृतियाँ 'इस्त्वार द् ला रेवोल्युसियों द् आल्गंतेर' (अंग्रेजी क्रान्ति का इतिहास), 'कूर द् इस्त्वार मोदर्न' (वर्तमान इतिहास का क्रम) आदि हैं। उन्होंने 'वी कोरस्पोदेंस ए लेज़ेक्री द् वाशिंगतन' (वाशिंगटन की जीवनी, पत्र और लेख)—शीर्षक प्रसिद्ध अमेरिकन नेता जार्ज वाशिंगटन का जीवनेतिहास लिखा।

गीजों की मनोवृत्ति धर्म और बुर्जुवा दर्शन में निमग्न थी। उनके विचारानुसार भगवान् नक्षत्रों की गति की अपेक्षा मानवजाति की प्रगति में अधिक स्पष्टता से व्यक्त होता है। गीजो को मानवप्रगति में बड़ी श्रद्धा थी। उन्हें इतिहास की गति में नैतिक शक्तियों के दर्शन होते थे। प्रत्येक युग की कोई प्रमुख विचारधारा होती है जिसमें दैवी शक्ति अभिव्यक्त होती रहती है। यूरोप के इतिहास की एक अक्षुण्ण प्रक्रिया रही है। रोमन साम्राज्य के भग्नावशेषों से सामन्तशाही संस्कृति का आविर्भाव हुआ। इस युग की अशान्ति और अव्यवस्था से मध्यम वर्ग का विकास हुआ। यह मध्यम वर्ग (बुर्जुवाजी) यूरोप के राष्ट्रों को सभ्यता के सोपान तक ले जा रहा है। गीजो युद्ध के विरोधी और शान्ति के समर्थक थे। उनके मतानुसार प्रतिनिधि राज्य में ही स्थायित्व बना रहता है। एकतन्त्र राज्य स्थायी नहीं होते। अंग्रेजी राज्य एक आदर्श व्यवस्था है।

गीजों के मतानुसार इतिहासकार के तीन कर्तव्य हैं—तथ्यों का अनुसंधान और निरूपण करना, उनके पारस्परिक सम्बन्धों की गवेषणा करना और उनके रूप तथा गति को सजीवता प्रदान करना। गीजों ने इस त्रिविध लक्ष्य की प्राप्ति का सफल प्रयत्न किया।

९. उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध के फ्रेंच इतिहासकार—द्युरूई, मोनोद, देलिल, तेन, लाविस आदि—गीजों के सच्चे उत्तराधिकारी विक्तर द्युरूई (१८११-९४) थे। उनका जन्म गोबलें कार्यालय के एक श्रमिक के घर हुआ था। उन्होंने मिशले, आँपेर, जूफ़ॉय से एकोल नोर्माल में शिक्षा प्राप्त की। वहाँ उन्हें इतिहास के प्रति

रुचि हुई। उनकी 'इस्त्वार द् रोमें' (रोमन जाति का इतिहास), 'इस्त्वार द् ग्रेक' (यूनानी जाति का इतिहास) तथा 'इस्त्वार द् फ्राँस' (फ्रांस का इतिहास) प्रसिद्ध रचनाएं हैं। उनका विचार था कि जो इतिहास केवल वर्णनात्मक होता है वह कलाकृति होती है। किन्तु जो इतिहास व्याख्यापरक भी होता है अर्थात् घटनाओं की कार्य-कारण-शृंखला को स्पष्ट करता है, वह वैज्ञानिक बन जाता है। उनका लक्ष्य ऐसा ही वैज्ञानिक इतिहास लिखना था।

१८७६ में 'रव्यू इस्तोरीक' की स्थापना के बाद बहुत-से इतिहासकार इसके चारों ओर केन्द्रित हो गये। इनमें ग्राबील मोनोद् (१८४४-१९१२) का प्रमुख स्थान है। उन्हें जर्मन इतिहास-दर्शन और लेखन के प्रति विशेष श्रद्धा थी। उनके अतिरिक्त ५३ इतिहासवेत्ता इस पत्रिका के साथ सम्बद्ध थे। उनमें देलिल, तेन, फयूस्तल द् कूलाँज़, लाविस और राबों के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों और लेखकों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये। लाविस द्वारा सम्पादित 'फ्रांस का इतिहास' जो १८ भागों में प्रकाशित हुआ, एक अत्यन्त सराहनीय कृति है।

अनुच्छेद ३—अंग्रेज़ी इतिहास-लेखन

१. इंग्लैण्ड में इतिहास की अवनति—१८०० के लगभग इंग्लैण्ड में इतिहास-चेतना विशेष विकसित नहीं थी। मध्यकाल के प्रति एक गम्भीर उदासीनता फैली हुई थी। इतिहास साहित्य का ही एक अंग समझा जाता था। केम्ब्रिज तथा ऑक्सफोर्ड जैसे विश्वविद्यालयों में इतिहास के लिए कोई स्थान नहीं था। मिटफोर्ड और आर्किबाल्ड एलीसन जैसे टोरी लेखक प्रचलित व्यवस्था के समर्थक थे। अतः इंग्लैण्ड का इतिहास-लेखन यूरोप के अन्य देशों से पिछड़ा हुआ था। तथापि इतिहास की चेतना कुछ बढ़ रही थी। नेपोलियन के आक्रमण की आशंका ने राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन दिया था। रोमान्तिक विचारधारा ने अतीत के प्रति रुचि उत्पन्न की थी। वाल्टर स्काट के उपन्यासों ने मध्यकाल के सौंदर्य का अनावरण किया था। १८१८ में हेलम के 'यूरोप ड्यूरिंग दि मिडिल एजेज' (मध्यकालीन यूरोप), मिटफोर्ड के 'हिस्ट्री ऑव ग्रीस' (यूनान के इतिहास) के अन्तिम भाग और जेम्स के 'हिस्ट्री ऑव ब्रिटिश इण्डिया' (ब्रिटिशकालीन भारतीय इतिहास) के प्रकाशन से अंग्रेजी इतिहास-लेखन को नवीन प्रेरणा मिली।[१५]

१५. बिशप स्टब्स, सेविन्टीन लेक्चर्स आन दि स्टडी ऑव मिडीवल एण्ड

२. **हेलम**—हेलम (१७७७-१८५९) ने इतिहास लेखन को एक नवीन दिशा प्रदान की। उनके पिता ब्रिस्टल के डीन थे। उन्होंने ईटन और ऑक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त की और कानून का गम्भीर अध्ययन किया। उनका सम्बन्ध व्हिग दल से था। यद्यपि वे दास-व्यापार के विरोधी थे और १८३२ के रिफॉर्म बिल को भी शंकापूर्ण दृष्टि से देखते थे। उन्होंने 'कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑव इंग्लैण्ड फ्राम दि एक्सेशन ऑव हेनरी दि सेविन्थ टु दि डेथ ऑव जार्ज दि सेकेण्ड' (हेनरी सप्तम से जार्ज द्वितीय की मृत्यु तक के इंग्लैण्ड के संविधान का इतिहास) लिखकर व्हिग इतिहास-दर्शन का प्रतिपादन किया। इस ग्रन्थ में उन्होंने १६८८ की क्रान्ति का गुणगान किया। जेम्स प्रथम और चार्ल्स प्रथम के तो वे प्रबल विरोधी थे। दस वर्ष बाद हेलम ने 'इन्ट्रोडक्शन टु दि लिट्रेचर ऑव यूरोप इन दि फिफटीन्थ, सिक्सटीन्थ एण्ड सेविन्टीन्थ सेंचुरीज़' (पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के यूरोपीय साहित्य की प्रस्तावना) लिखकर अपने दर्शन-साहित्य-विज्ञान-विषयक अगाध पाण्डित्य का परिचय दिया। उन्होंने धार्मिक और राजनीतिक दासता का कड़ा विरोध किया और जनता के कानूनी अधिकार एवं स्वाधीनता का समर्थन किया।

३. **मेकाले**[१६]—हेलम ने स्टुअर्ट शासकों के प्रति जो यत्किंचित् मृदुता दिखायी मेकॉले ने उसे भी खेदपूर्ण दृष्टि से देखा। टामस बेबिंगटन मेकॉले (१८००-१८५९) ने केम्ब्रिज में शिक्षा प्राप्त की। चार्ल्स आस्टिन के प्रभाव के कारण उन्होंने व्हिग-दल के सिद्धांत ग्रहण कर लिये। आरम्भ से ही उन्हें इतिहास में रुचि थी। 'नाइट्स क्वार्टरली मेगेजीन' और 'एडिनबरा रिव्यू' में उन्होंने इतिहास पर बहुत-से निबन्ध लिखे जिनकी आकर्षक शैली और ज्वलन्त भाषा ने पाठकों को चकित कर दिया। १८३० में वे पार्लिमेंट के सदस्य बने और वहाँ उन्होंने रिफॉर्म बिल के लिए बड़ा यत्न किया। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने 'इंग्लैण्ड का इतिहास' लिखा। यह ग्रन्थ अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इसने स्काट के उपन्यासों तक को मात कर दिया। यह एक प्रकार का चल-चित्र है। इसमें एक चित्र के बाद दूसरा हृदयग्राही चित्र

माडर्न हिस्ट्री (आक्सफोर्ड १८८७), सी० एच० हेरफोर्ड, लिट्रेचर आव दि विक्टोरियन एरा (केम्ब्रिज १९२१)।

१६. जॉन मार्ले, 'क्रिटिकल मिसलेनीज़', सर चार्ल्स फर्थ, 'ए कमेण्ट्री आन मेकालेज हिस्ट्री आव इंगलैण्ड' (लन्दन १९३७)।

दृष्टिपथ पर आता रहता है। इसका मूलमंत्र अंग्रेज जाति का गौरव-वर्णन है। इस जाति ने विश्व को स्वाधीनता और संविधान का प्रसाद देकर जो अपार अनुग्रह किया है, वह मेकॉले की कृति में मुखरित हो उठा है। किन्तु दलबन्दी के कारण कहीं-कहीं उन्होंने अपने प्रतिद्वंद्वियों पर अनुचित कुठाराघात भी किया है। लॉड, मार्लबोरो आदि का उन्होंने यथार्थ चरित्र-चित्रण नहीं किया। क्लेवरहाउस और पेन पर बहुत से बेकार के छींटे फेके। तीसरे अध्याय में जहाँ १६८८ की घटनाओं का वर्णन है, लेखक का दृष्टिकोण विस्तीर्ण हो गया है। वे दलबन्दी से ऊपर उठकर यथार्थ जीवन के वायुमण्डल में श्वास लेने लगे हैं, साहित्य और संस्कृति की ओर भी उनका ध्यान गया है। यह ग्रन्थ इतनी बड़ी योजना को लेकर चला कि लेखक अपने जीवनकाल में इसे पूरा न कर पाया। सन्तुलन का अभाव इस ग्रन्थ में प्रायः खटकता है। किन्तु शैली की सरसता इसे विचित्र सौंदर्य और आकर्षण प्रदान करती है। साहित्यिकता की दृष्टि से यह एक अपूर्व कृति है।

४. **कारलाइल**—टामस कारलाइल[१७] (१७९५-१८८१) का दृष्टिकोण मेकॉले की विचारधारा से एकदम भिन्न था। वे व्हिग-दर्शन के विरोधी थे। जनतंत्र में उन्हें श्रद्धा न थी। वे एकतंत्र में विश्वास रखते थे। अतः अपने ग्रन्थ 'हीरोज़ एण्ड हीरोवर्शिप', (वीर और वीर-पूजा) में उन्होंने एकतंत्रीय नेतृत्व का समर्थन किया। इतिहास जन-साधारण के विकास की प्रक्रिया नहीं है, वरन् किसी जन्मसिद्ध नेता या अधिनायक की क्रीड़ा है। जनता का कार्य तो उनका अनुसरण और अनुगमन करना है। मुहम्मद, लूथर, क्रॉमवेल, नोक्स इतिहास के नियन्ता और निर्माता थे। कारलाइल ने अपने 'फ्रेडरिक दि ग्रेट' के इतिहास में ऐसे ही एक महापुरुष की जीवन-लीला प्रस्तुत की। यह ग्रन्थ उनके गम्भीर अध्ययन पर आधारित है। इसमें इस महापुरुष के जीवन का संपूर्ण परिचय मिलता है। क्रॉमवेल की तरह फ्रेडरिख भी कारलाइल की प्रशंसा का पात्र बना है। इस ग्रन्थ में युद्धों का वर्णन बड़ा विस्तृत और हृदयग्राही है। विशेषतः तोरगाऊ के युद्ध का वर्णन बड़ा मर्मस्पर्शी है।

कारलाइल का उपर्युक्त दृष्टिकोण उनकी 'हिस्ट्री ऑव फ्रेंच रेवोल्यूशन' (फ्रेंच क्रान्ति के इतिहास) में भी प्रतिबिम्बित है। इसमें उन्होंने क्रांतिकारियों के

१७. जी० एम० ट्रैवेलियन, 'कारलाइल ऐज़ एन हिस्टोरियन, नाइटींथ सेन्चुरी' (१८९९), पृ० ४९३-५०३।

अन्याय, अत्याचार, अनैतिकता और अक्षमता पर जोर डाला है। वे इस क्रान्ति को गन्दगी और पापों की एक महान् होली समझते थे। इसके रचनात्मक पक्षों की उन्हें अनुभूति नहीं थी। यूरोप की घटनाओं को ठीक से न समझने के कारण वे 'तेरर' के यथार्थ रूप को पहचानने में असमर्थ रहे। इस ग्रन्थ का विशेष गुण यही है कि इसमें घटनाओं को सजीवता प्रदान की गयी है। नाटक की तरह प्रत्येक दृश्य दृष्टिपथ पर छा जाता है।

कारलाइल नैतिक उन्नति को ही वास्तविकता समझते थे। 'पास्ट एण्ड प्रेजेण्ट' में एक स्थान पर उन्होंने लिखा था—'मैं सस्ते वस्त्र और तेज रेलें नहीं चाहता, मैं भगवान्, स्वतंत्रता और अमरत्व चाहता हूँ'। यही भाव १८३० में लिखे गये उनके इतिहास (हिस्ट्री)—शीर्षक प्रबन्ध में मिलता है। क्रॉमवेल के पत्रों और भाषणों का उन्होंने जो संग्रह प्रकाशित किया उसमें यही भाव दृष्टिगोचर होता है। कारलाइल एक निराशावादी, मननशील और आलोचनाप्रधान व्यक्ति थे। यह दृष्टिकोण उनकी कृतियों के प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित मिलता है।

५. **फ्रूड**—कारलाइल के शिष्य और प्रशासक जेम्स एनथोनी फ्रूड (१८१८-८४) थे।[१८] उन पर न्यूमैन, कारलाइल तथा जर्मन लेखकों का गहरा प्रभाव पड़ा। फ्रूड का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑव इंग्लैण्ड फ्राम दि फाल ऑव वोल्ज़े टू दि डिफीट ऑव दि स्पेनिया आरमेडा' (वोल्ज़े के पतन से स्पेन के आरमेडा की पराजय तक का इंग्लैण्ड का इतिहास) है। यह ग्रन्थ गम्भीर अध्ययन और अनुसंधान पर आधारित है। फ्रूड सबसे पहला अंग्रेज विद्वान् था जिसने स्पेन के सीमान्कसे के आरकाइब्स की पूरी छानबीन की। किन्तु इसमें कुछ अभिलेखों को बड़ी असावधानी से उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त दलबन्दी की भावना ने ग्रन्थ के गौरव में बट्टा लगा दिया है। रोमन चर्च आत्मा और मन की दासता का संविधान था। सुधारवादी आन्दोलन (रिफारमेशन) अंग्रेज़ी इतिहास के स्वर्णयुग का श्रीगणेश था। हेनरी अष्टम ने विवश होकर जो दमननीति अपनायीं वह पूर्णतः युक्तिसंगत थी। मेरी ने स्मिथफील्ड में जो सुधारवादियों की चिताएँ लगवायीं उनसे कैथोलिक चर्च का भण्डाफोड़ हो गया। एलिजबेथ में कोई विशेष प्रतिभा नहीं थी। उसके गौरव और महत्त्व का निर्माता वस्तुतः बर्गले था जिसने सुधारवादी विचारधारा को

१८. हरबर्ट पाल, 'लाइफ ऑव फ्रूड,' पृ० १४७-१९८

सुदृढ़ आधारशिला पर प्रतिष्ठित किया। स्काटलैण्ड में नोक्स और मेरी स्टुबर्ट का विरोध पुण्य और पाप, सत्य और अनृत का प्रतीक था। इस दलबन्दी की भावनाओं से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत फीका पड़ गया है। फ्रीमैन ने फ्रूड की बहुत-सी भ्रान्तियों का दिग्दर्शन कराया। किन्तु फ्रूड का दृष्टिकोण भी मूलतः नैतिक था।

६. **स्टब्स**—विलियम स्टब्स[१९] (१८२५-१९०१) ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के वरिष्ठ प्राध्यापक थे। नेवस्टोक में उन्होंने १८५७ से ६६ तक १७ वर्ष निवास किया। इस काल में उन्हें मध्यकालीन इतिहास में बड़ी रुचि उत्पन्न हो गयी। ए० डब्लू० हेडन के साथ मिलकर उन्होंने 'काउन्सिल्स एण्ड एक्लीजियास्टीकल डाक्युमैण्टस' का सम्पादन किया। सेक्सन युग से उन्हें बड़ी रुचि थी। इस युग पर पहले ही थोर्प की 'एंशिएण्ट लॉज एण्ड इन्स्टीट्यूट्स ऑव इंग्लैण्ड' (इंग्लैण्ड के प्राचीन कानून और विधान), केम्बल की 'सेक्सन्स इन इंग्लैण्ड' (इंग्लैण्ड का सेक्सन युग) और पालग्रेव की 'हिस्ट्री ऑव नार्मण्डी एण्ड इंग्लैण्ड' (नार्मण्डी तथा इंग्लैण्ड का इतिहास) कृतियाँ उपलब्ध थीं। स्टब्स ने इस सामग्री का विशेष अध्ययन किया। उन्होंने 'डिक्शनरी ऑव क्रिश्चियन बायोग्रेफी' में सेक्सन काल के सन्तों, पादरियों और राजाओं पर अनेक महत्त्वपूर्ण लेख लिखे। उनका बीड़ी का जीवन-चरित्र एक आदर्श रचना है। 'सिलेक्ट चार्टर्स' में उन्होंने ऐसी सामग्री का संकलन किया जो कानून के इतिहास के अध्ययन के लिए अनिवार्य बन गयी। यह ग्रन्थ स्टब्स की महत्तम कृति 'कांस्टीट्यूशन हिस्ट्री ऑव इंग्लैण्ड' (इंग्लैण्ड के संविधान के इतिहास) की पूर्वपीठिका थी। यह इतिहास गिबन की कृति के पश्चात् अंग्रेजी भाषा की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना थी। इसकी तुलना इस विषय का कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं कर सकता। अंग्रेजी इतिहास के तारतम्य और अक्षुण्णता का भाव इस ग्रन्थ की विशेषता है। नार्मन लोगों ने एँग्लो सेक्सन संस्थाओं को अपनाया और बलवान् बनाया। तभी से अंग्रेजी संविधान के विकास का श्रीगणेश हुआ। ओजेविन युग का वृत्तांत तो इस ग्रन्थ का उत्कृष्टतम भाग है। इस ग्रन्थ में चर्च, राष्ट्र, कानून, न्याय, शासन, राजस्व आदि अनेक विषयों की चर्चा है। पहले भाग की बहुत-सी स्थापनाएँ अब विवादास्पद हो गयी हैं। स्टब्स का विचार था कि अंग्रेजी समाज ट्यूटन आधार

१९. विलियम एच० हटन ने विलियम स्टब्स के पत्रों का संकलन किया है और उनकी जीवनी प्रकाशित की है (लन्दन १९०४)।

पर स्थित है। हण्ड्रड, बोरो, स्वाधीन सभाओं आदि की उनकी धारणाएँ आजकल अमान्य-सी हो गयी हैं। वे इन सामाजिक परम्पराओं की गहनता और जटिलता को समझने में असमर्थ-से रहे। तथापि उनका अध्यवसाय श्लाघनीय था।

७. **फ्रीमैन**—एडवर्ड ऑगस्टस फ्रीमैन[२०] (१८२३-९२) स्टब्स के साथी और परम मित्र थे। दस वर्ष की आयु में ही उन्होंने रोमन और यूनानी इतिहास पढ़ डाला था। उन्हें लातीनी और यूनानी भाषाओं का बचपन में अच्छा ज्ञान हो गया था। स्नातक होने के बाद ग्लाउसेस्टर में उन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास का अध्ययन किया। १८४९ में उन्होंने 'वास्तुशास्त्र का इतिहास' (हिस्ट्री ऑव आर्कीटेक्चर) लिखा। फिर खिड़कियों की बनावट पर 'एन एसे ऑन विण्डो ट्रेसरी' शीर्षक एक निबन्ध लिखा। 'हिस्ट्री ऑव फेडरल गवर्नमेंट' (संघ राज्य का इतिहास) तथा 'हिस्ट्री ऑव दि नॉर्मन कोंक्वेस्ट ऑव इंग्लैण्ड' (इंग्लैण्ड की नार्मन विजय का इतिहास) से उनकी ख्याति बहुत बढ़ गयी। 'हिस्टॉरिकल ज्योग्रेफी' (ऐतिहासिक भूगोल), 'विलियम रयूफस' और 'हिस्ट्री ऑव सिसली' (सिसली का इतिहास) भी उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। स्टब्स के ऑक्सफोर्ड का पादरी बन जाने पर ग्लेडस्टन ने उनको आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में रेजियस प्राध्यापक का पद प्रदान किया।

फ्रीमैन कानून, आर्थिक व्यवस्था, सांस्कृतिक वातावरण और पुरातन लिपियों में रुचि नहीं रखते थे। उनके ग्रन्थ में ट्यूटन भावनाएँ अधिक मिलती हैं। फ्रीमैन का अध्ययन विशाल था। वे इतिहास के युगमूलक वर्गीकरण के विरोधी थे। उन्होंने मध्यकाल और वर्तमान काल की विभाजन-भित्ति को नष्ट कर दिया था। उन्होंने 'इतिहास की एकता' (यूनिटी ऑव हिस्ट्री) के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस विषय पर उन्होंने एक खोजपूर्ण निबन्ध लिखा जो 'कम्पेरेटिव पोलिटिक्स' शीर्षक उनके संग्रह में प्रकाशित हुआ। उनके मतानुसार मानव जाति वस्तुतः एक-जैसी है। अतः जहाँ कार्यकारण-परम्परा का सीधा क्रम नहीं मिलता तथा देश और काल की भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वहाँ भी प्रकृतिगत समानता के कारण मानव-कार्यकलाप में निकट साम्य मिलता है। तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन से इन

२०. डब्लू० आर० डब्लू० स्टेफेन्स ने फ्रीमैन के पत्रों का संग्रह और जीवनी प्रकाशित की है (लन्दन १८९५)।

समानताओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इतिहास का वास्तविक दर्शन यही है कि उन समानताओं पर विचार किया जाय और उनके अन्दर निहित उन नियमों को हृदयंगम किया जाय जो मानव कार्यकलाप को एकता प्रदान करते हैं। साधारण विषमताओं में निमग्न होने से इतिहास के आन्तरिक मर्म को समझना संभव नहीं होता। अतः फ्रीमैन राष्ट्रवाद की विचारधारा से उत्पन्न भौगोलिक सीमाओं से परिबद्ध इतिहास-क्षेत्र को लाँघने में समर्थ हुए और साथ-साथ उन्होंने रोमन, यूनानी और यूरोपीय इतिहास के भेद को भी छिन्न-भिन्न कर दिया। उनके विचार से अर्वाचीन यूरोप का इतिहास प्राचीन यूनान के इतिहास का विकसित रूप है। वस्तुतः रोम का इतिहास यूरोपीय जगत् का इतिहास है। रोम में प्राचीन काल के सब राज्य और राष्ट्र विलीन हुए। रोम से ही अर्वाचीन काल के सब राज्यों और राष्ट्रों का आविर्भाव हुआ। किन्तु यूरोप का इतिहास एशिया के इतिहास से भिन्न है। रोमन साम्राज्य का क्रम अरब खिलाफत के विकास से नहीं मिलता। मंगोल साम्राज्य से भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु फिर भी उनकी प्रवृत्तियों में एक आधारभूत समानता है। कृषि के उपकरण, रक्षा के शस्त्रास्त्र, आदिम जीवन के उपादान सभी जगह अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर समान रूप से विकसित हुए हैं। इससे ज्ञात होता है कि मानवजाति की सहजात प्रवृत्ति में एक मौलिक एकता है। फ्रीमैन का सिद्धांत अपने युग के इतिहासदर्शन से बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

८. **ग्रीन**—ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के तीसरे महान् लेखक जान रिचार्ड ग्रीन (१८३७-८३)[२१] थे। उन्हें बचपन से ही ऑक्सफोर्ड की पुरानी गलियों और सड़कों के अनुसंधान का शौक था। उनका सबसे पहला लेख 'ऑक्सफोर्ड इन दि लास्ट सेंचुरी' था, जो ऑक्सफोर्ड क्रानिकिल में छपा। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण रचना 'ए शार्ट हिस्ट्री ऑव दि इंग्लिश पिपुल' (अंग्रेज जाति का संक्षिप्त इतिहास) थी। यह बहुत लोकप्रिय ग्रन्थ था। पहले ही वर्ष इसकी ३२००० प्रतियाँ बिकीं और १९०९ तक इसका फ्रेंच, जर्मन, इतालियन, रूसी, जापानी तथा चीनी भाषाओं में अनुवाद हो गया। इसमें व्यक्तियों का नहीं जाति का इतिहास था, जैसा कि इसके शीर्षक से प्रकट होता है। युगों का वर्गीकरण, बोझिल सूक्ष्मताओं का निराकरण, आकर्षक शैली और जीवन के सर्वांगीण पक्षों का विवेचन इस ग्रन्थ की विशेषताएँ

२१. लेसली स्टेफन ने ग्रीन के पत्रों का संग्रह किया है (लन्दन १९०१)।

हैं। एक ही जिल्द में समूचे इतिहास का समावेश करना ग्रीन के कौशल का परिचायक है। ग्रीन ने बाद में इसका बृहत् संस्करण 'ए हिस्ट्री ऑव दि इंग्लिश पिपुल' नाम से प्रकाशित किया। किन्तु यह इतना लोकप्रिय न हो सका।

ग्रीन को शासकों से कुछ विरक्ति थी। एडवर्ड प्रथम से तो उन्हें घृणा थी, एलिजबेथ के 'निर्लज्ज मिथ्याचार' के वे विरोधी थे। जार्ज तृतीय उन्हें क्षुद्र बुद्धि का मनुष्य दिखाई देता था। एंग्लो-सेक्सन जाति के गौरव के आवेश में वे डेन और नार्मन आक्रमणों के महत्त्व को भूल गये। प्राचीन अंग्रेज जाति के आदर्श जनतंत्र की उनकी कल्पना भ्रान्तिमूलक थी ।

९. **गार्डिनर**—सेमुएल रॉशन गार्डिनर (१८२९-१९०२) ने चालीस वर्षों के अथक परिश्रम से सत्रहवीं शती का इंग्लैंड का इतिहास लिखा।[२२] गार्डिनर अर्वाचीन अंग्रेजी इतिहास के निष्णात पण्डित थे। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। वे सीले के इस मत के विरोधी थे कि इतिहास राजनीति का अनुचर है। वे घटनाओं को तात्कालिक दृष्टि से देखते थे। वे यूरोप की सभी प्रधान भाषाओं के ज्ञाता थे और उन्होंने फ्रांस, स्पेन, इटली, नीदरलैण्ड और स्वेडन की समग्र ऐतिहासिक सामग्री का अनुशीलन किया था। सत्रहवीं शती के राजनीतिक परिवर्तनों के पीछे जो धार्मिक द्वन्द्व कार्य कर रहा था, गार्डिनर ने उसका सम्यक् अवलोकन और निरूपण किया। उन्होंने स्टुअर्ट सम्राटों के प्रति भी संतुलित दृष्टिकोण रखा। व्हिग इतिहासकारों की तरह वे उन्हें एकदम निकृष्ट नही समझते थे। उनके मतानुसार उनकी गलती केवल यही थी कि वे मध्यम वर्ग के विकास की प्रक्रिया को नहीं समझ सके और ट्यूडर विचारधारा से चिपके रहे जो बेकार हो चुकी थी। इधर क्रॉमवेल का उच्च आदर्श, उदात्त चरित्र और संयम-भाव इस क्रान्ति को सफल बनाने का उपादान बन गया। गार्डिनर ने 'हिस्ट्री ऑव दि ग्रेट सिविल वार' (गृहयुद्ध का इतिहास), 'हिस्ट्री ऑव दि कामनवेल्थ एण्ड प्रोटेक्टोरेट' (कामनवेल्थ का इतिहास) और कई पाठ्य पुस्तकें लिखीं, जिनमें 'थर्टी इयर्स वार' (तीस-वर्षीय युद्ध), 'दि फर्स्ट टू स्टुअर्ट्स एण्ड दि प्यूरिटन रेवोल्यूशन' (प्रथम दो स्टुअर्ट और प्युरिटन क्रान्ति) और 'स्टुडेण्ट्स हिस्ट्री ऑव इंग्लैण्ड' (विद्यार्थियों के लिए इंग्लैंड का इतिहास) उल्लेखनीय हैं।

२२. आर० जी० ऊशर, 'क्रिटिकल स्टडी आव दि हिस्टॉरिकल मेथड आव सेमुएल राशन गार्डिनर' (१९०)।

१०. पोवल, फर्थ, डेवीज, किंग्सले और सीले आदि—उक्त लेखकों की रचनाएँ भी इस युग की प्रधान इतिहास-कृतियाँ हैं। फ्रेडरिक योर्क पोवल (१८५०-१९०४) फ्रूड के बाद आक्सफोर्ड में प्राध्यापक नियुक्त हुए। उन्होंने स्केन्दीनेविया के विद्वान् गुडब्रान्त् विग्फूसन के साथ मिलकर आइसलैण्ड के इतिहास का अध्ययन किया और इस विषय पर कई ग्रन्थ लिखे। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'स्कूल हिस्ट्री ऑव इंग्लैण्ड' और 'अर्ली इंग्लैण्ड' नामक पुस्तकें भी लिखीं। सर चार्ल्स हार्डिंग फर्थ (१८५७-१९३५) गार्डिनर के शिष्य और अनुयायी थे। उन्होंने ओलिवर क्रॉमवेल का इतिहास लिखा। इसके अतिरिक्त 'डिक्शनरी ऑव नेशनल बायोग्राफी' तथा 'इंग्लिश हिस्टोरिकल रिव्यू' में महत्त्वपूर्ण लेख लिखे। हेनरी विलियम कारलस डेवीज (१८७४-१८२८) एक विद्वान् इतिहासकार थे। उनके 'शार्लमाइन का जीवनचरित्र', 'नार्मन और आंजेविन काल का इंग्लैण्ड का इतिहास', 'त्राइत्शके के राजनीतिक विचार' आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं। चार्ल्स किंग्सले (१८१९-७५) की 'दि रोमन एण्ड दि ट्यूटन' भी एक उत्कृष्ट कृति है। सर जॉन सीले (१८३४-९५) के 'स्ताइन का जीवन-चरित्र', 'ब्रिटिश राजनीति का विकास' (ग्रोथ ऑव ब्रिटिश पोलिसी) और 'इंग्लैण्ड का प्रसार' (दि एक्सपेन्शन ऑव इंग्लैण्ड) महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। सीले ब्रिटिश साम्राज्यवाद के भक्त थे। वे राजनीति और इतिहास को पर्यायवाची समझते थे। उनका यह कथन प्रसिद्ध है कि इतिहास फूल है और राजनीति फल है। प्राचीन राजनीति इतिहास है और वर्तमान इतिहास राजनीति है। आजकल सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन के कारण इस विचारधारा की मान्यता कम हो गयी है।

११. एक्टन—लार्ड एक्टन (१८३४-१९०२) कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के वास्तविक संस्थापक थे।[२३] वर्तमान काल के इतिहासकारों में उनका सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उनके पिता एक बैंरन थे और उनकी माता जर्मन थी। उनका जन्म नेपिल्स में हुआ और शिक्षा-दीक्षा पेरिस, ओस्कोट तथा एडिनबरा में हुई। १८ वर्ष की आयु में वे म्यूनिख के प्रसिद्ध कैथोलिक चर्च के इतिहासकार द्योलिंगर के सम्पर्क में आये। उन्होंने अमेरिका, इटली और रूस की यात्रा की और वे १८५९ से ६५

२३. एस० ए० एल० फिशर, 'लार्ड एक्टन्स हिस्टॉरिकल वर्क' (क्वारटरली रिव्यू, १९११) पृ० १६६-८८।

तक 'हाऊस ऑव कामन्स' के सदस्य रहे। १८९५ में लार्ड रोजबरी ने उनको सर जान सीले के स्थान पर केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में रेजियस प्राध्यापक के पद पर नियुक्त किया। उन्होंने 'केम्ब्रिज मोडर्न हिस्ट्री' की योजना बनायी, किन्तु काल के कराल हाथों ने उन्हें इसका पहला अध्ययन भी पूरा न करने दिया। उन्होंने स्वतन्त्रता का इतिहास लिखने का विचार किया, किन्तु वे उसे भी पूरा करने में असमर्थ रहे। वर्तमान इतिहास और फ्रेंच क्रान्ति पर उनके सारगर्भित व्याख्यान उनकी सूक्ष्म दृष्टि और गम्भीर अध्ययन के द्योतक हैं। उनका एक एक वाक्य कहावत बन गया है। हर्बट पाल ने लिखा था कि उनके सम्पर्क में रहने से उत्तम ऐतिहासिक पुस्तकालयों तथा उनके उत्कृष्ट सूचीपत्रों के अध्ययन-जैसी अनुभूति होती है। उनका व्यक्तित्व नितान्त आकर्षक और रोचक था। लार्ड मोर्ले कहा करते थे कि यदि वे अपने किसी मित्र को कब्र से वापिस बुला सकें तो वे एवटन को बुलायेंगे। ग्लेडस्टन तो उनसे बातें करते हुए कभी नहीं थकते थे।

एक्टन का दृष्टिकोण नैतिक था। वे ईसाई धर्मनीति के प्रबल समर्थक थे। अधार्मिकता से उन्हें ग्लानि थी। मनुष्य, संस्था और विचारधारा का मूल्यांकन वे इसी नैतिक दृष्टिकोण से करते थे। १८९५ में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में उन्होंने जो उद्घाटन-भाषण दिया उसमें उन्होंने स्पष्ट कहा कि मनुष्य का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य धर्म है और उसके बाद स्वतन्त्रता है। धर्म और स्वतन्त्रता परस्पराश्रित हैं। १८७८ में 'हिस्ट्री ऑव फ्रीडम' (स्वतन्त्रता के इतिहास) पर अपने दो भाषणों में उन्होंने स्वतन्त्रता की व्याख्या इस प्रकार की थी—

"स्वतन्त्रता से मेरा अभिप्राय इस आश्वासन से है कि प्रत्येक व्यक्ति को सत्ता, बहुमत, परम्परा और विचारधारा के प्रभाव के विरुद्ध उठने के अपने कर्तव्य को पूरा करने का अधिकार और संरक्षण प्राप्त हो। राज्य अपने निकटवर्ती क्षेत्र में ही अच्छे और बुरे के बीच की रेखा को स्पष्ट कर सकता है और जनता के कर्त्तव्यों का निर्णय कर सकता है। इसकी भलाई के लिए जो कार्य आवश्यक हैं उनसे परे तो राज्य केवल अव्यक्त रूप से सहायता दे सकता है।...सबसे अधिक निश्चित मानदण्ड जिससे यह जाना जा सकता है कि कोई देश वस्तुतः स्वतन्त्र है या परतन्त्र, यह है कि वहाँ के अल्पसंख्यक लोगों को कितनी स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता किसी अन्य राजनीतिक लक्ष्य की पूर्ति का साधन नहीं है। यह स्वयं सर्वोच्च राजनीतिक लक्ष्य है। समाज का लक्ष्य नैतिक कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए स्वतन्त्रता की स्थापना करना है। इस प्रकार एक्टन लॉक, जेफ़रसन, बर्क और मिल के

अनुयायी थे; हॉब्स, रूसो, हेगल और जोजफ दे मेस्त्र के मार्ग पर चलने वाले नहीं थे।

एक्टन मानवप्रगति में अगाध श्रद्धा रखते थे। 'लेक्चर्स ऑन माडर्न हिस्ट्री' में उन्होंने लिखा थाकि "अधिकाधिक परिपूर्ण और विश्वस्त स्वतन्त्रता तथा स्वतन्त्र पुरुषों के दैवी अधिकार की ओर प्रगति के भाव के अतिरिक्त वर्तमान राजनीति की अपार जटिलता को सुलझाने का और कोई सूत्र नहीं है।" यह भाव सभ्यता और संस्कृतिके विकास की प्रक्रिया में सन्निहित है। संस्थाओं का ह्रास-विकास, उन्नति-अवनति इसी की प्रक्रिया के फल हैं।

एक्टन इतिहास की आर्थिक और राजनीतिक दोनों व्याख्याओं के विरुद्ध थे। साम्राज्यों के उत्थान-पतन, समाजों के आवर्तन-परिवर्तन और संस्थाओं के आलय-विलय के पीछे विचारों का संघर्ष छिपा रहता है। प्राचीन काल में व्यक्ति पूर्णतः राज्य के अधीन था। स्तोइक दार्शनिकों ने सबसे पहले उसकी स्वतन्त्रता की पताका ऊँची की। उनका दर्शन प्राचीन यूनानी, रोमन तथा ईसाई जगत् के बीच की कड़ी है। इसने स्वतन्त्रता के सोपान का कार्य किया। इसने सिद्ध किया कि एक ऐसा कानून है जो मनुष्यों की सामूहिक इच्छाशक्ति से ऊपर है और सोलन तथा लाइकुरगस के कानूनों से ऊँचा है। यह अमर, अटल नियम भगवान् की सम्पूर्ण सत्ता है। अतः वास्तविक स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि हम भगवान् की आज्ञा का पालन करें। इस सिद्धान्त को ईसाई धर्म से अभूतपूर्व प्रेरणा मिली। यद्यपि चर्च के भीतर भी काफी बुराइयाँ थीं तथापि यह राज्य के क्षेत्र को सीमित करने का सफल साधन था। चर्च और राज्य के द्वन्द्व और वैमनस्य से नागरिक स्वतन्त्रता का उदय हुआ, क्योंकि दोनों को अपनी सत्ता दृढ़ करने के लिए जनता के संबल और सहयोग की आवश्यकता थी। एक तीसरा साधन, प्रतिनिधि राज्य की विचारधारा का जन्म था। न तो प्राचीन दर्शन की उदात्त भावना, न रोम की राजनीतिक प्रबुद्धता, न ईसाइयों की ही आस्था और धर्म प्राचीन काल की असाध्य परम्परा को दूर कर सके। इसके लिए किसी और व्यावहारिक विधान की आवश्यकता थी। यह विधान ट्यूटन लोगों की देन था। इन्होंने स्वायत्त शासन की परम्परा द्वारा प्रतिनिधि राज्य की भावना को दृढ़ किया। प्राचीन काल का राज्य जिस दासता की भित्ति पर आधारित था उसके विरुद्ध सामन्तशाही, नगरों और चर्च ने मिलकर धावा बोला। मध्यकाल में सर्वत्र राज्य के अधिकारों को सीमित करने की प्रवृत्ति थी। इसे रोकने के लिए मेकियावली, बोंदे, होब्स और प्रोटेस्टेण्ट सुधारकों ने

भगीरथ प्रयत्न किया। उनका विचार था कि सर्वशक्तिमान राज्य ही मध्यकाल की संकीर्णता और अत्याचार को दूर कर सकता है। अतः सोलहवीं शती में फिर से केन्द्रित सशक्त राज्यों का बोलबाला हो गया। किन्तु इंग्लैण्ड तथा अमेरिका ने फिर मानव का मार्ग-दर्शन किया। इन्होंने फिर राज्य के सर्वभक्षी दानव को चुनौती दी। लॉक और मोंतेस्क्यू इस विचारधारा के देवदूत थे। इधर फ्रांस ने इसके संरक्षण के लिए रक्तदान दिया। इस प्रकार स्वतन्त्रता की चेतना फिर से जाग्रत हो गयी। संक्षेप में यह एक्टन के इतिहास के दर्शन का सार है।

एक्टन एकतंत्र को तो स्वतंत्रता का शत्रु समझते ही थे, वे राष्ट्रवादी को भी इसका बैरी मानते थे। शक्ति का केन्द्रीकरण उन्हें अखरता था। उनकी प्रसिद्ध उक्ति थी "सब प्रकार की शक्ति भ्रष्टाचार की ओर ले जाती है, सम्पूर्ण शक्ति सम्पूर्ण रूप से भ्रष्ट करती है। महापुरुष प्रायः सर्वदा दुष्ट होते हैं। थोड़े व्यक्तियों का अत्याचार बुरा है, लेकिन अधिक संख्या के व्यक्तियों का अत्याचार इससे भी बुरा है।" एक्टन के मतानुसार अधिक संख्यक जनता के राज्य के साथ-साथ व्यक्ति के अधिकारों की भी समुचित सुरक्षा होनी चाहिए। शक्ति का विकेन्द्रीकरण स्वतंत्रता के संरक्षण के लिए अनिवार्य है। फेडरल संविधान उनकी प्रिय और आदर्श व्यवस्था थी। १८६४ की दक्षिणी राज्यों की पराजय और १८७० में जैस्विटों की विजय से एक्टन को गहरा धक्का लगा। उनका सहिष्णु कैथलिक धर्म का स्वप्न-भंग हो गया। उनके जीवन के अन्तिम भाग पर अवसाद की छाया पड़ गयी। तथापि उनकी यह उक्ति—"सत्ता से आत्मा की मुक्ति इतिहास का मूल मंत्र है", एक आदर्श सिद्धांत बन गयी।

जी० पी० ग्रूच ने एक्टन के सिद्धान्तों को संगृहीत करते हुए लिखा है--"हम कोई भी मंत्र ग्रहण करें, हमारे लिए उन सत्यों को ध्यान में रखना लाभप्रद होगा जिनकी घोषणा करते हुए एक्टन कभी नहीं रुके; यह कि मनुष्य केवल भोजन पर जीवित नहीं है, राज्य मनुष्य के लिए है न कि मनुष्य राज्य के लिए, प्रत्येक नागरिक का अपना महत्त्व है, ईसाई धर्मनीति इसकी विश्वस्त मार्ग-दर्शक है, आकाश के नीचे अल्पसंख्यकों का एक निश्चित स्थान है। स्वतंत्रता केवल एक राजनीतिक तथ्य नहीं है वरन् एक आध्यात्मिक सिद्धांत है जो आत्मा के लिए रसायन का काम करता है, संयमित स्वतंत्रता सभ्य-समाज की सबसे अधिक मूल्यवान् निधि है, फूलों की तरह पुरुषों और स्त्रियों को भी अपने सर्वोत्तम तत्त्व प्रकट करने के लिए वायु और प्रकाश की आवश्यकता है और चूंकि सब प्रकार की शक्ति भ्रष्टाचार

की ओर ले जाती है, इसके दुरुपयोग को रोकने का सहज उपाय इसे छोटे टुकड़ों में विभक्त कर डालना है।"[२४]

१२. इंग्लैंड के अन्य इतिहासकार—इंग्लैण्ड में बहुत-से ऐसे इतिहासकार भी हुए जो विद्यालयों के प्राध्यापक नहीं थे, वरन् शौक के लिए इतिहास का अध्ययन करते थे। इन लेखकों में विलियम एडवर्ड हार्टपोल लेकी (१८२८-१९०३) का नाम अग्रगण्य है। वे डबलिन के एक स्काट परिवार में उत्पन्न हुए थे। २२ वर्ष की आयु में उन्होंने 'दि रिलिजस टेण्डन्सीज ऑव दि एज' (युग की धार्मिक प्रवृत्तियाँ) शीर्षक निबन्ध अपने नाम से प्रकाशित किया, जो 'हिस्ट्री ऑव रेशनेलिज़म' (बुद्धिवाद का इतिहास) का केन्द्रबिन्दु बना। इसमें लेकी ने विस्तारपूर्वक यह प्रतिपादित किया कि यूरोपीय संस्कृति की प्रगति इतिहास की धार्मिक व्याख्या की प्रतिक्रिया का परिणाम था। लेकी के अन्य ग्रन्थों में 'हिस्ट्री ऑव यूरोपियन मोरल्स फ्राम आगस्टस टु शार्लमेन' (ऑगस्टस से शार्लमेन तक यूरोपियन धर्मनीति का इतिहास), 'हिस्ट्री ऑव इंग्लैण्ड इन दि एट्टीन्थ सेंचुरी' (अठारहवीं शती का इंग्लैण्ड का इतिहास) तथा 'डेमोक्रेसी एण्ड लिबर्टी' (जनतंत्र और स्वतन्त्रता) प्रसिद्ध हैं।

टामस होज़किन (१८३१-१९१३) एक क्वेकर परिवार से सम्बन्धित थे। उन्होंने लन्दन में शिक्षा पायी और बैंकर का जीवन व्यतीत किया। १८५९ में उन्होंने न्यूकेसिल में एक बंक चालू किया। उन्होंने रोमन तथा इटालियन इतिहास का विशेष अध्ययन किया और इस पर कई लेख लिखे। 'इटली एण्ड हर इन्वेडर्स' (इटली और उसके आक्रमणकारी), 'थियोडोरिक दि गाथ' (थियोदोरिक गाथ), 'चार्ल्स दि ग्रेट' आदि उनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

जान एडिगंटन साइमोण्ड्स (१८४०-९३) ने अपना जीवन स्विटजरलैण्ड में बिताया। उन्होंने इटली के सांस्कृतिक पुनरुत्थान का विशेष अध्ययन किया। 'रिनेसांस इन इटली' उनकी प्रसिद्ध रचना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने दातें का अध्ययन प्रकाशित किया और यूनानी कवियों का वृत्तान्त लिखा।

जॉन होरेस राउण्ड (१८५४-१९२८) एक प्राइवेट कार्यकर्त्ता थे। उन्होंने

२४. जी० पी० गूच, 'लार्ड एक्टन: एपोसिल ऑव लिबर्टी,' मेरिया थोरीसा एण्ड अदर स्टडीज़, पृ० ३३२-३४७, विशेषतः पृ० ३४६-३४७।

'डिक्शनरी ऑव नेशनल बायोग्राफी' में अनेक लेख लिखे। ज्योफ्रे द् मान्देविल का वृत्तान्त लिपिबद्ध किया। उन्होंने प्राचीन चार्टरों का विशेष अध्ययन किया। प्राचीन वृत्तों में उन्हें विशेष श्रद्धा न थी। वे फ्रीमैन के आलोचक थे 'दि कोम्यून ऑव लन्दन (लन्दन की कोम्यून), 'पियरेज एण्ड फैमिली हिस्ट्री' (अभिजात परिवारों का इतिहास', 'पियरेज एण्ड पेडिग्री', आदि उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

जेम्स हैमिलटन वाइली (१८४४-१९१४) २५ साल तक विद्यालय-निरीक्षक रहे। उनकी 'हिस्ट्री ऑव इंग्लैण्ड अन्डर हेनरी दि फोर्थ', (हेनरी चतुर्थ के राज्यकाल का इंग्लैण्ड का इतिहास) 'हेनरी दि फिफ्थ', (हेनरी पंचम) प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

जोन ब्रूबर (१८१०-७९), डयूफस हार्डी (१८०४-७८), जेम्स गेर्डनर (१८२८-१९१२) ने प्राचीन अभिलेखों के संग्रह प्रकाशित किये जिनसे अंग्रेजी इतिहास पर विस्तृत प्रकाश पड़ा।

१३. अमेरिकी इतिहास-लेखन—अर्ध शताब्दी तक अमेरिकन पाठक ब्रेंक्रोफ्ट की 'हिस्ट्री ऑव दि यूनाइटेड स्टेटस' (१८३४-७४) से अपना इतिहास विषयक ज्ञान प्राप्त करते रहे। यह अमेरिका तथा अन्य देशों की नवीन सामग्री पर आधारित था। यह जफरसन का अनुयायी जनतंत्री इतिहासकार राजनीतिक और धार्मिक स्वतन्त्रता की उपलब्धि पर मुग्ध था। इसमें इंग्लैण्ड को स्वतन्त्रता का विरोधी प्रकट किया गया है। हिलड्रेथ, ओसगुड, एन्ड्रूज, बीयर, एडम्स आदि ने बेंक्राफ्ट के बहुत-से विचारों का खण्डन किया। हेनरी ऐडम्स ने जफरसन और मेडीसन का सर्वांगीण इतिहास लिखा। निकोलाई और जोन हे ने लिंकन के इतिहास की सूक्ष्मताएँ चित्रित कीं और जेम्स फोर्ड रहोड्स ने दासता-आन्दोलन का कथानक लिपिबद्ध किया। चानिंग की रचनाओं ने बेंक्रोफ्ट की कृति का स्थान ले लिया। मोरिसन की 'हिस्ट्री ऑव दि यूनाइटेड स्टेट्स', (संयुक्त राज्यों का इतिहास) में परम्परागत इंग्लैंड-विरोधी भाव कम हो गये और राष्ट्रीय निश्चिन्तता के भावों में भी कमी आयी।

कुछ अमेरिकन विद्वानों ने विदेशों के भी सुन्दर इतिहास लिखे। वाशिंगटन इर्विंग ने स्पेन के विषय में रुचि जाग्रत की। प्रेस्कोट ने स्पेन का सुन्दर इतिहास लिखा। मेरीमैन ने फर्डीनेण्ड और इजाबेल, चार्ल्स पंचम और फिलिप द्वितीय के युग का उत्कृष्ट चित्रण किया। मोटले ने डच देशप्रेमियों द्वारा स्पेन की पराजय

का मनोहर वर्णन किया। उनके 'दि राइज़ ऑव दि डच रिपब्लिक' (डच गणतंत्र का उदय) में काव्य-जैसा सौष्ठव और लालित्य है। किन्तु वे एक राष्ट्रीय क्रान्ति को प्रोटेस्टेण्ट विद्रोह समझकर भारी भूल कर बैठे जिससे उनकी कृति का महत्त्व कुछ कम हो गया। पार्कमैन का फ्रेंच द्वारा केनाडा की विजय और उपनिवेशीकरण का वृत्तान्त और सप्तवर्षीय युद्ध में इंग्लैण्ड द्वारा इसकी पुर्नविजय का इतिहास एक स्थायी महत्त्व की रचना है चाहे यह मोटले के इतिहास-जैसी उत्तेजक न हो। १८८९ में प्रकाशित एडमिरल माहान की 'इन्फ्लूएन्स ऑव सी पावर आन हिस्ट्री १६६०-१७८३', (१६६० से १७८३ तक के इतिहास पर समुद्री शक्ति का प्रभाव) ने संसार की चिन्तन-पद्धति में एक युगान्तरकारी परिवर्तन किया और विलियम द्वितीय को एक महान् जंगी बेड़ा तैयार करने की प्रेरणा दी। फ्रेंच क्रान्ति और नेपोलियन और नेलसन के युगों के समुद्री युद्धों पर माहान ने जो रोचक ग्रन्थ लिखा उससे इस युग के समुद्री संघर्ष पर नवीन प्रकाश पड़ा। १८१२ के अंग्रेजी अमेरिकन युद्ध पर भी माहान ने एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। यह युद्ध नेपोलियन सम्बन्धी युद्धों की उपज था। उन्होंने फेरागूट का जीवनचरित्र भी लिपिबद्ध किया। इससे अमेरिका के गृहयुद्ध में समुद्री शक्ति के महत्त्व पर बड़ी रोशनी पड़ी।[२५]

अनुच्छेद ४—रूसी इतिहास-लेखन

१. रूसी इतिहास-लेखन का प्रारम्भ, म्यूलर और श्लोइत्जर—प्राचीन जार युग में रूसी इतिहास-लेखन[२६] राजकीय प्रतिबन्ध, साधारण निरक्षरता और अज्ञान के कारण कुण्ठित रहा। जब पीतर महान् ने रूस में आमूल परिवर्तन और सुधार किये तो उन्होंने बहुत-से जर्मन प्रशासकों को नियुक्त किया। इनमें थियोफीलस सीगफ्रीड बेयर एक इतिहास-प्रिय विद्वान् भी थे। उन्होंने १७२६ में 'ओरिजिनेस रूसिके' लिखकर रूस में ऐतिहासिक अध्ययन का सूत्रपात किया। उनके

२५. एलेन नेविन्स, 'हिस्ट्री एण्ड हिस्टोरियोग्राफी, अमेरिका' एनसाईक्लोपीडिया आंव दि सोशल साइंसेज, भाग ७, पृ० ३८५-३८९।

२६. ए० जी० माजूर, 'मॉडर्न रशियन हिस्टोरियोग्राफी,' जर्नल आव मॉडर्न हिस्ट्री, भाग ९ (१९३७) पृ० १६९-२०२); 'एन आउटलाइन ऑव मॉडर्न एशियन हिस्टोरियोग्राफी (बर्कले १९३९)।

बाद सम्राज्ञी एन के राज्यकाल में गैरहार्त फ्रीडरिख म्यूलरने१७३२-६५ में 'जामलुंग रूसिशेर गेशिश्ते' (रूस का सम्पूर्ण इतिहास) शीर्षक विस्तृत इतिहास दस भागों में प्रकाशित किया। म्यूलर के उत्तराधिकारी आगस्त लुदविक श्लोइत्जर थे। उन्हें सम्राज्ञी केथरीन ने इम्पीरियल एकादमी में इतिहास का प्राध्यापक नियुक्त किया। उन्होंने १८०२-९ में ५ भागों में 'नेस्तर के वृत्त' का सटीक सम्पादन किया। इससे पहले सम्राज्ञी के प्रभावशाली परामर्शदाता लोमोनोसोव से लड़ झगड़ कर श्लोइत्जर वापस ग्योतिंगन आ गये थे। इन जर्मन इतिहासकारों के अध्यवसाय के फलस्वरूप रूस में विद्वत्ता की परम्परा बन गयी। बहुत से रूसी इस बात से क्षुब्ध थे कि इनके देश के वैज्ञानिक क्षितिज पर जर्मन छाये हुए हैं। अतः उन्होंने स्वयं अपने इतिहास का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। इन प्रारम्भिक लेखकों में वासिलिई किरिलोविच त्रेदियाकोवस्की अग्रगण्य हैं।

२. **त्रेदियोकोवस्की और बोल्तिन**—त्रेदियाकोवस्की ने पेरिस में शिक्षा प्राप्त की और १७७६ में यह प्रतिपादित किया कि नवीं शताब्दी के रूसी सामाज्य के संस्थापक वारंजियन वस्तुतः स्वेड नहीं थे जैसा कि बेयर, म्यूलर और श्लोइत्सर ने सिद्ध किया, वरन् वे स्लाव थे। इस नवीन व्याख्या का सबल समर्थन बोल्तिन (१७३५-९२) ने अपने 'रूस की उत्पत्ति' शीर्षक ग्रन्थ में किया।

३. **कारामजिन**—रूस के प्रथम साहित्यिक इतिहासकार का नाम निकोलाइ मिखाइलोविच कारामजिन (१७६५-१८२६) था। वे कवि, उपन्यासकार, निबन्धलेखक और इतिहासकार थे। वे तातारवंश से सम्बन्धित थे और रूसी सेना के एक अधिकारी के आत्मज थे। उन्होंने मोस्को और सेण्ट पीतर्सबर्ग में शिक्षा पायी। २४ वर्ष की उम्र में १७८९ में उन्होंने पश्चिमी यूरोप की यात्रा की। उनके पत्रों, कविताओं और उपन्यासों से रूस में भावुकता की एक लहर सी दौड़ गयी जो अठारहवीं शताब्दी के क्लासिक युग की एक प्रतिक्रिया सी थी। उनका 'इस्तोरिया गोसुदार्स्तवा रोसिस्कागो', (रूसी साम्राज्य का इतिहास) एक अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रामाणिक रचना है। ज़ार एलेग्जेन्द्र ने उनका बड़ा सम्मान किया और उनकी वार्षिक वृत्ति निश्चित कर दी। उन्होंने भाषा का परिष्कार किया और इसमें फ्रेंच जैसी विशेषता और प्रवाह उत्पन्न किया।

कारामज़िन एक अत्यन्त परिश्रमी विद्वान् और संग्रहकर्ता थे। उन्होंने जिस सामग्री का उपयोग किया उसमें से बहुत कुछ तो अब लुप्त हो चुकी है। जैसा कि स्वाभाविक था, यह ग्रन्थ जारवाद और एकतंत्र का धर्मग्रन्थ बन गया। इसमें

'ईवान दि टेरिबिल' और उनके पितामह ईवान तृतीय को रूस की महत्ता और गौरव के स्तम्भों के रूप में चित्रित किया गया है। कारामजिन ने घटनाओं की अपेक्षा व्यक्तियों का अधिक विशद वर्णन किया। उनके नायक गुणों या अवगुणों के प्रतीक हैं। इस ग्रन्थ का चरित्रचित्रण अपूर्व है। यह पुराणपन्थियों का प्रिय ग्रन्थ रहा है।

४. **स्त्रोयेफ और सोलोव्येफ**—धीरे-धीरे पुराने ऐतिहासिक वृत्तों के प्रति श्रद्धा बढ़ने लगी। स्त्रोयेफ ने प्राचीन रूसी इतिहास की तथाकथित सामग्री की अविश्वस्तता प्रकट की। १८६४ में पूरी छानबीन के बाद एक राजकीय कमीशन ने रूसी वृत्तों का एक सम्पूर्ण संग्रह प्रकाशित किया जिससे इतिहासलेखन को बड़ी प्रेरणा मिली। सरगेइ मिखा इलोविच सोलोव्येफ (१८२०-७९) ने वैज्ञानिक पद्धति से २९ जिल्दों में वृहदाकार रूस का इतिहास लिखा। इनका जन्म मास्को में हुआ था। उन्होंने पेरिस की यात्रा की और फिर मास्को में ही अध्यापन कार्य में लग गये। वे एक तटस्थ विद्वान् थे। राजनीति आदि से उन्हें कोई वास्ता न था। अतः उनकी रचना में एक अद्भुत निष्पक्षता पायी जाती है। कारामजिन ने तो राजदरबारों का ही चित्रण किया था, किन्तु सोलोव्येफ ने सम्पूर्ण जीवन का अंकन किया। वे रूस की पूर्ण तटस्थता और एकान्तप्रियता के भी विरोधी थे।

५. **कोस्तोमोरोफ**—निकोलाइ इवानोविच कोस्तोमोरोफ (१८१७-८५) यूक्रेन के निवासी थे। उन्होंने खारकोफ में अध्ययन किया। पश्चिमी रूस में चर्चों के एकीकरण पर उनका डाक्टरेट का प्रबन्ध खारकोफ के आर्कबिशप की आज्ञा से जलवा दिया गया था। वे किएफ और सेन्त पीतर्सबर्ग में प्राध्यापक रहे। उन्होंने नोवगोरोद, प्स्कोफ, यूक्रेन आदि के इतिहासों पर विशेष जोर दिया। वह राज्य की अपेक्षा जन साधारण के जीवन के चित्रण को अधिक महत्त्व देते थे। 'जीवनचरित के रूप में रूस का इतिहास' उनकी प्रसिद्ध रचना है।

६. **क्लिउचेव्स्की और अन्य इतिहासकार**—सोलोव्येफ के शिष्य क्लिउचेव्स्की (१८७९-१९११) ने सामाजिक और आर्थिक इतिहास में विशेष दक्षता प्राप्त की। उनके शिष्यों में मिलिउकोफ ने आर्थिक आधार को ग्रहण किया, कृषि और राजस्व के इतिहास पर विशेष ध्यान दिया। कुछ ने मार्क्स की भौतिक व्याख्या को स्वीकार कर लिया। कोस्तोमोरोफ के प्रशिष्य मिखाइल हुशेव्स्की (१८६६-१९३४) ने ९ भागों में यूक्रेनी भाषा में यूक्रेन का बृहद् इतिहास लिखा जो विद्वत्ता का अपूर्व कोश है। बेस्तुज्हेव रिउमिन ने भी रूस का आलोचनात्मक इतिहास लिखा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में कोवलेव्स्की ने आर्थिक विषयों पर, पिपिन

और स्पासोविच ने स्लाव साहित्य के इतिहास पर, वासिलिएव्सकी ने बाइजन्ताइन इतिहास पर और जाबेलिन ने रीतिरिवाजों के इतिहास पर महत्त्वपूर्ण रचनाएँ कीं। बाइजन्ताइन और अरब सामग्री के अन्वेषण से रूसी इतिहास का चित्रपट और भी अधिक विस्तीर्ण हुआ।

७. **मार्क्सवाद का प्रभाव**—क्रान्ति के बाद रूसी इतिहासलेखन पर मार्क्स की भौतिक व्याख्या का गहरा प्रभाव पड़ा। मार्क्स के इतिहास-दर्शन की हम आगे चलकर विस्तृत चर्चा करेंगे। यहाँ इतना लिखना पर्याप्त है कि मार्क्स के विचार रोशर, नित्शे और हेगल की स्थापनाओं पर आधारित थे। यह दर्शन दो प्रमुख सिद्धान्तों पर स्थित था—१. वर्ग-संघर्ष इतिहास का नियामक और निर्णायिक तत्त्व है; २. सब सामाजिक कार्यकलाप, राजनीतिक गतिविधि, कला, विज्ञान और धर्म का विकास आर्थिक विधान पर निर्भर है। लेनिन ने इस दर्शन को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"इतिहास की भौतिक व्याख्या ने या सामाजिक कार्यकलाप के क्षेत्र में भौतिकवाद के प्रयोगों ने इतिहास के सिद्धांत के दो मुख्य अवगुणों को दूर कर दिया है। इतिहास के अब तक मानव जाति की ऐतिहासिक प्रक्रिया के आदर्श हेतुओं का इन हेतुओं के कारणों की गवेषणा किये बिना, सामाजिक सम्बन्धों के संविधान के विकास के पीछे प्रच्छन्न नियमों का अनुसंधान किये बिना और इन सम्बन्धों की जड़ों को भौतिक उत्पादन के विकास के अनुपात से टटोले बिना, अध्ययन किया है। दूसरे, अब तक के सिद्धान्तों ने जनता के कार्यकलाप की अवहेलना की है। ऐतिहासिक भौतिकवाद ने सर्वप्रथम हमें प्राकृतिक विज्ञान की सूक्ष्मता के साथ-साथ उन सामाजिक परिस्थितियों का अन्वेषण करने की सामर्थ्य प्रदान की है जो जनता के जीवन को प्रभावित करती है और उसके परिवर्तनों का नियमन करती हैं।"[२७]

त्रात्स्की का 'रूसी क्रान्ति का इतिहास' इस दृष्टिकोण से लिखे गये इतिहास का उत्कृष्ट निदर्शन है।

अनुच्छेद ५—प्रवृत्तिमूलक इतिहास लेखन

१. **वैज्ञानिक उत्कर्ष का स्वर्णयुग**—हमने इतिवृत्तात्मक इतिहास-लेखन

२७. वी० आई० लेनिन, 'मेटिरियलिस्ट कन्सेप्शन ऑव हिस्ट्री', लेबर मन्थली ४ (१९२३) पृ० २६५।

की कुछ मुख्य प्रवृत्तियों का अध्ययन किया। वस्तुतः वैज्ञानिक विचार धारा की उन्नति के फलस्वरूप इतिहास-लेखन दो दिशाओं में अग्रसर हुआ, (१) इतिवृत्तात्मक दिशा, जिसका मुख्य लक्षण तथ्यों का अनुसंधान और निरूपण मात्र था और (२) प्रवृत्तिमूलक दिशा, जिसका मुख्य लक्ष्य तथ्यों के सम्बन्ध और उनमें निहित नियमों की गवेषणा थी। उन्नीसवीं शती के इतिवृत्तात्मक इतिहास की चर्चा करने के बाद अब प्रवृत्तिमूलक इतिहास के विषय में कुछ लिखना आवश्यक है।

यह हम ऊपर कह आये हैं कि सत्रहवीं शती विज्ञान के उत्कर्ष का स्वर्ण-युग थी। व्हाइटहेड के शब्दों में इस शताब्दी में विचारों की जो पूंजी जमा की गयी थी यूरोप अभी तक उसे ही खा रहा है।[२८] इस अध्ययन के पहिले भाग में हम सत्रहवीं शती के विज्ञान की प्रगति का सिंहावलोकन कर चुके हैं। इस काल में विज्ञान का स्वर वायुमंडल में ऐसा फैल गया था कि प्रत्येक कला और विद्या की व्याख्या इसकी शब्दावली में की जाने लगी थी। अतः इतिहास-दर्शन पर भी इस विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ गया था। इतिहास भी एक प्रकार का विज्ञान माना जाने लगा था और इतिहासकार का कार्य घटनाओं की प्रक्रिया और प्रगति के नियमों की गवेषणा करना हो गया था। यह इतिहास-दर्शन एक नवीन विचारधारा पर आधारित था। मध्यकालीन धर्म और दर्शन के अनुसार विचार का ही प्रमुख स्थान था। किन्तु कोपरनिकस, गेलिलियो, न्यूटन आदि ने यह सिद्ध किया था कि तथ्यों का प्रमुख स्थान है। अतः इतिहासकार भी तथ्यों के निर्धारण को प्रमुख स्थान देने लगे। यह रिवाज इतना बढ़ा कि बहुत से इतिहासकार वैज्ञानिक अध्ययन की ओर रुचि प्रकट करने लगे। गिबन ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि अपने 'रोमन साम्राज्य के ह्रास और पतन' के प्रथम भाग और द्वितीय भाग लिखने के बीच में उन्होंने शरीर-विज्ञान के सम्बन्ध में डाक्टर हण्टर के और रसायन-शास्त्र के विषय में हिगिन्स के व्याख्यान सुनने आरम्भ कर दिये। उस समय वे एक रसायन-शास्त्री बनने का स्वप्न देख रहे थे। विज्ञान के प्रचार के साथ साथ विज्ञान-पूरक इतिहास का भी प्रचलन हुआ। किसी किसी लेखक ने तो वैज्ञानिक इतिहास को उपहास की सीमा तक पहुंचा दिया। उदाहरण के लिए पोलैण्ड के अर्थशास्त्री सीएजोवस्की ने 'इतिहास की प्रस्तावना' (प्रोलगोमेना त्सूर हिस्टो-

२८. एल्फ्रेड नॉर्थ व्हाइटहेड, साइन्स एण्ड दि मॉडर्न वर्ल्ड, पृ० ५७-५८

रियोग्राफी) में लिखा कि "प्राचीन ईरान प्रकाश जैसा है, चीन यंत्रशास्त्र के वर्ग का है, एथेन्स गतिमान् विद्युत् श्रेणी का है, स्पार्ता स्थिर विद्युत के प्रकार है, सिकन्दर कालीन मैसीदोन विद्युत्-चुम्बकत्व की कक्षा का है।"

२. आगस्त कोम्ते—सेंसिमों (१७६०-१८२५) और फूरिए (१७७२-१८३७) ने यह विचार प्रकट किया कि राजनीतिक तथ्य भी अन्य तथ्यों के समान नियमबद्ध किये जा सकते हैं। दर्शन और विज्ञान का वास्तविक लक्ष्य सामाजिक है तथा विचारक का वास्तविक अभिप्राय भौतिक विज्ञान की पद्धति द्वारा समाज की व्याख्या और पुनर्निर्माण करना है। इस विचारधारा को आगस्त कोम्ते से एक नवीन प्रेरणा प्राप्त हुई। उन्होंने १८२२ में समाज के पुनर्निर्माण की एक योजना प्रकाशित की जो परीक्षणात्मक दर्शन का आकर-ग्रन्थ है। उनका विचार था कि राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र से तत्त्वावधान सम्बन्धी आदर्शों का पूर्ण निराकरण किया जाय जिससे कल्पना को परीक्षण के अधीन करके तथ्यों का सूक्ष्म अध्ययन सम्भव हो सके। इस प्रकार के अन्वेषण द्वारा उन नियमों का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा जो सामाजिक कार्यकलायका नियंत्रण करते हैं। इतिहास के विषय में उनकी धारणा थी कि सूक्ष्म तथ्यों के निर्धारण की प्रचलित प्रवृत्ति ने इतिहास को असम्बद्ध घटनाओं का संग्रह मात्र बना दिया है जिसमें घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का सूत्र अस्पष्ट वर्णनों में लुप्त हो गया है। यदि वैज्ञानिक पद्धति से सभ्यता के विभिन्न युगों की ऐतिहासिक तुलना करनी है तो सामाजिक विकास की सामान्य पृष्ठभूमि में उनका अध्ययन करना अनिवार्य है। अतः कोम्ते ने 'सामाजिक भौतिकविज्ञान' की परिभाषा का आविष्कार किया। उनका विश्वास था कि जिस प्रकार भौतिकशास्त्र, रसायनशात्र आदि के अध्ययन से इनके नियमों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है जिससे प्रस्तुत तथ्यों की सुसम्बद्ध व्याख्या की जा सके तथा उनकी आगामी दिशाओं तथा प्रवृतियों का संकेत किया जा सके, उसी प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों के विवेचन से भी उन आन्तरिक नियमों की स्थापना की जा सकती है जिनके द्वारा भावी गति-विधि का आभास मिल सके।[२९]

कोम्ते ने भौतिक विज्ञान से जिन परिभाषाओं को ग्रहण किया उनमें, मिल्यू

२९. एमिल फागे, 'आगस्त कोंत, सेज़िदे जेनेराल ए सा मेथोद' रव्यू दे दो मोंद (१८९५)। पृ० २९५-३१९

(परिस्थिति) का विशेष महत्त्व है। इस शब्द का प्रथम प्रयोग लामार्क ने, 'फिलोज़ोफी ज़ूओलोलीक्' में किया था। कोम्ते ने जन्तुशास्त्र से इसे ग्रहण करके समाजशास्त्र में प्रचलित कर दिया। तेन और कितले पर तो इस परिभाषा का गम्भीर प्रभाव पड़ा। इसके अनुसार प्रत्येक सामाजिक घटना या तथ्य को उसकी परिस्थिति में ही ठीक प्रकार से समझा जा सकता है।[३०]

३. बकिल और तेन—उपर्युक्त विचारधारा को इतिहास के क्षेत्र में कार्यान्वित करने का श्रेय हेनरी टॉमस बकिल (१८२१-६२) और हिप्पोलाइत ए तेन (१८२८-९२) को है। बकिल का 'इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन और स्काटलैण्ड की सभ्यता का इतिहास' (हिस्ट्री ऑव सिविलिजेशन इन इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन एण्ड स्काटलैण्ड) एक विशाल सभ्यता के इतिहास की भूमिका मात्र है। बकिल तथ्यों के संग्रह मात्र से पूर्णतः असंतुष्ट थे। वे 'इतिहास विज्ञान' (साइन्स ऑव हिस्ट्री) में विश्वास रखते थे। बकिल ने सिद्ध किया था कि सभ्यता का विकास भौतिक परिस्थितियों और कारणों पर निर्भर होता है।

तेन एक कुशल इतिहासकार, आलोचक, दार्शनिक और मनोविज्ञानवेत्ता थे। उन्होंने शरीरशास्त्र और जन्तुशास्त्र का व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त किया था। उनकी धारणा थी कि "व्यक्ति अथवा जाति की आत्मा एक पौदे-जैसी होती है। यह वैज्ञानिक अध्ययन का विषय है। जब मनुष्य को इसकी चालक और नियामक शक्ति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह तर्कयुक्त चिन्तन द्वारा इसके निर्माण की प्रक्रिया को समझ सकता है।" किसी जाति की शिक्षा, चरित्र, विचारधारा, भाव, दर्शन और सौन्दर्यानुभूति पूर्णतः जलवायु, देश, काल आदि परिस्थितियों पर निर्भर रहते हैं। १८५५ में तेन ने लिखा कि हमें विज्ञान को काव्य और व्यावहारिक नैतिकता से पृथक् करना चाहिए। विज्ञान को हमारी रुचि के अनुकूल नही बनना चाहिए, बल्कि हमारी रुचि को उसके अनुरूप होना चाहिए। 'वह सम्राट् है सेवक नही।' तेन एक कुशल आलोचक थे। उनकी शैली वर्णनात्मक न होकर विश्लेपणात्मक थी। उनके विचारों और सिद्धान्तों का विवेचन उनके 'अंग्रेजी साहित्य के इतिहास' (इस्त्वार द् ला लितेरात्युर आंग्लेज) में मिलता है। इस ग्रन्थ में उन्होंने भूमि

३०. जॉर्ज बर्टन आदम्स, 'हिस्ट्री एण्ड दि फिलोसोफी आव हिस्ट्री', एमेरिकन हिस्टॉरिकल रिव्यू (१९०९), पृ० २२१-२३६।

जलवायु, खाद्य-सामग्री आदि के प्रभाव की विस्तृत चर्चा की है। यह ग्रन्थ वास्तव में इतिहासदर्शन का प्रबन्ध है। इसमें अंग्रेजी जाति और सभ्यता के इतिहास का दार्शनिक पर्यालोचन मिलता है। इसी प्रकार उनकी 'ल् आसियाँ रेजीम' (प्राचीन व्यवस्था) जन्तुशास्त्रीय दृष्टिकोण मे लिखी गयी एक अनुपम कृति है।

४. **प्रवृत्तिमूलक इतिहासकार**—प्रवृत्तिमूलक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लिखे गये इतिहास-ग्रन्थों में जेकोव बुर्कहार्द (१८१८-९७) की 'इटली की पुनरुत्थान-कालीन संस्कृति', (दि कल्चर ऑव दि रिनेसांस इन इटली) एक ऊँचा स्थान रखती है। लार्ड ऐक्टन इसके बड़े प्रशंसक थे। इसमें पुनरुत्थान के ऐतिहासिक, राजनीतिक, नैतिक, बौद्धिक, आर्थिक तथा सामाजिक पक्षों का सर्वांगीण विवेचन है। बुर्कहार्द की विचारधारा व्यक्तित्व (पर्सनेलिटी) और संस्कृति (कल्चर) इन दो केन्द्रविन्दुओं पर आधारित है। उनके मतानुसार इनआ अभिन्न सम्बन्ध है। यूनान, रोम, पुनरुत्थान-कालीन इटली आदि संस्कृतियों का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। संस्कृति से उनका तात्पर्य आन्तरिक आध्यात्मिक विकास से है। यह विकास इतिहास की आत्मा है। अतः बुर्कहार्द को कुल्तूरगेशिश्ते का प्रतिष्ठापक समझना चाहिए। राष्ट्र और धर्म की अन्तःप्रक्रिया से संस्कृति के विकास का सूत्रपात होता है। बुर्कहार्द के दर्शन में इनका वही स्थान है जो तेन के दर्शन में जाति और परिस्थिति का।

हाइनराइख फोन साइबेल के 'फ्रेंच क्रान्ति और जर्मन साम्राज्य की स्थापना के इतिहास, वैज्ञानिक दृष्टिकोण के सुन्दर निदर्शन है। प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक रेनाँ ने भी इस विषय में सुन्दर विचार प्रस्तुत किये। उनकी धारणा थी कि धार्मिक विश्वास और बौद्धिक विकास सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव डालते है और स्वयं उससे प्रभावित होते हैं। प्राचीन राष्ट्रों की संस्कृति का सम्यक् मूल्यांकन मानव सभ्यता की पृष्ठभूमि में ही सम्भव हो सकता है। उनकी उत्पत्ति और अन्त के भीतर मानव विकास की प्रक्रिया प्रच्छन्न है। इसी प्रकार फ्यूस्तल द् कूलांज इतिहास को गणित की तरह एक विज्ञान समझते थे। उनके विचारों की विस्तृत चर्चा आगे की जायगी। डार्विन के विकासवाद के प्रचलन के फलस्वरूप इतिहासकारों के दृष्टिकोण पर भी इसकी छाया पड़ी जैसा कि ओतो सीक के 'प्राचीन जगत के पतन के इतिहास, और रोस्तोवेत्जफ के 'रोमन जगत् के सामाजिक और आर्थिक इतिहास' से प्रतीत होता है। वाल्टर बेजहोट की 'राजनीति और भौतिकशास्त्र', (फिजिक्स एण्ड पोलिटिक्स) में डार्विन के सिद्धान्तों के समाजशास्त्र और इतिहास

सम्बन्धी प्रयोगों का दिग्दर्शन मिलता है । आजकल यह विचारधारा स्पगलर और टॉयनबी के दर्शन में संक्रान्त हो गयी है, जिसकी चर्चा हम अगले अध्यायों में करेंगे ।[३१]

३१. पी० एस० मार्विन, 'साइन्स एण्ड हिस्ट्री,' कन्टेम्पोरेरी रिव्यू (१९१८) पृ० ३२५-३३, जे० टी० शोटबल, 'दि इण्टरप्रेटेशन आव हिस्ट्री', एमेरिकन हिस्टॉरिकल रिव्यू (१९१३) पृ० ६९२-७०९, एलबिन हेन्सन, 'दि टेक्नोलॉजिकल इण्टरप्रेटेशन ऑव हिस्ट्री,' क्वारटरली जर्नल ऑव इकॉनॉमिक्स (१९२१), पृ० ६९-९३, जे० बी० बरी, 'डार्विनिजम् एण्ड हिस्ट्री' (१९११) पृ० २४६-६३।

परिच्छेद ९

वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रमुखता के फलस्वरूप इतिहास को भी एक विशेष प्रकार का विज्ञान मान लिया गया। जिस प्रकार बाह्य प्रकृति निष्पक्ष विश्लेषण, वर्गीकरण और अध्ययन का विषय है, उसी प्रकार इतिहास भी परीक्षण, विवेचन और अनुसंधान का विषय समझा गया। इस दृष्टिकोण से इतिहास के इतिवृत्तात्मक और प्रवृत्तिमूलक अध्ययन हुए। किन्तु गत शताब्दी के उत्तरार्ध में कुछ विचारक इस वस्तुवाद और वैज्ञानिकता से इतने ऊब गये कि उन्होंने इतिहास को परीक्षणात्मक और विश्लेषणात्मक चिन्तन-शैली से मुक्त करके एक स्वतंत्र विचार-पद्धति प्रदान की। इस विचारधारा के विस्तार में जर्मन दार्शनिकों का गहरा हाथ था।

अनुच्छेद १—'गाइस्तेजवाइसनशाफतन' और दिल्थी[1]

१. लोत्जे और द्रायसन—कान्त और हेगल के समय से ही जर्मन विचारक प्रकृति और इतिहास को विभिन्न समझते थे। १८५६ में लोत्ज़े ने अपनी 'माइक्रो-कोजमक' शीर्षक पुस्तक में यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि प्रकृति में अटलता और अनिवार्यता का साम्राज्य है और इतिहास स्वतन्त्रता और ऐच्छिकता का क्रीड़ा-क्षेत्र है। मानव जीवन के दो पक्ष हैं—शरीर और मन। शरीर यांत्रिक प्रक्रियाओं का समूह है और प्राकृतिक अटलता के शासन के अधीन है। मन स्वतन्त्र शक्ति का क्षेत्र है और इतिहास की क्रियात्मक प्रगति में अभिव्यक्त होता है। लोत्ज़े की तरह

१. बी० टेपर, 'दिल्थीज़ मेथोडोलोजी ऑव दि गाइस्तेजवाइसनशाफतन,' फिलॉसॉफिकल रिव्यू (१९२५), पृ० ३३३-४९, एच० एल० फ्राइस, 'विल्हेल्म दिल्थी, जर्नल ऑव फिलॉसॉफी, (१९२९), पृ० ५-२५।

द्रायसन ने अपनी पुस्तक 'ग्रून्दरिस देयर हिस्तोरीक' (इतिहास की पृष्ठभूमि) में जो येना से १८५८ में प्रकाशित हुई, प्रकृति को 'वस्तुस्थिति का सह-अस्तित्व' (दास नेबेल-आइनेन्देर देज़ जाइएन्देन) घोषित किया और इतिहास को निर्माण की संतति (दास नाख़आइनेन्देर देज़ गेवोर्दनन) सिद्ध किया। उनका आशय यह था कि प्रकृति में स्थायी तत्त्वों का संविधान मिलता है और इतिहास में निर्माण की प्रक्रिया की गति सन्निहित है। अतः दोनों की चिन्तन-पद्धतियाँ विभिन्न हैं।

२. नव-कान्तीय दर्शन और दिल्थी—उपर्युक्त विज्ञान-विरोधी दृष्टिकोण का विकास वस्तुतः नव-कान्तीय दर्शन में हुआ। जॉन स्टुअर्ट मिल की 'नैतिक विज्ञान' की परिभाषा को 'गाइस्तेजवाइसनशाफतन' द्वारा अनूदित करके इसमें समस्त मानसिक विद्याओं का समावेश किया गया। इस विचारधारा के प्रबल समर्थक और प्रतिपादक विल्हेम दिल्थी (१८३३-१९११) थे। उन्होंने बोइख़ और रान्के के आलोचना-प्रधान ऐतिहासिक सम्प्रदाय में दीक्षा प्राप्त की और साथ ही साथ त्रेन्देलनबर्ग की दार्शनिक परम्परा का अनुसरण किया। वे १८६६ में बासल विश्वविद्यालय में दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त हुए। उन्होंने कील और ब्रेस्लाउ में भी शिक्षण कार्य किया। १८८२ में उन्होंने बर्लिन विश्वविद्यालय में लोत्ज़े का पद सम्भाला और 'आइनलाइतुंग इन दि गाइस्तेजवाइसनशाफतन' (१८८३) (मानसिक विद्याओं की भूमिका) तथा 'देयर आउफबाउ देयर गेशिश्तलिशन वेल्त इन देन गाइस्तेजवाइसन शाफतन' (मानसिक विद्याओं में इतिहास जगत् का निर्माण (१९१०) शीर्षक कृतियों में नवीन चिन्तनपद्धति और समाज और संस्कृति की नूतन व्याख्या प्रस्तुत की। उनके मतानुसार सामाजिक विद्याएँ और प्राकृतिक विज्ञान एक दूसरे से भिन्न हैं। प्राकृतिक विज्ञान का कार्य केवल वर्णन करना और नियमों की गवेषणा (बेग्राइफन) करना है, किन्तु सामाजिक विद्याओं का कार्य लक्ष्य और मूल्य निर्धारित करना है। विज्ञान नियमों को खोजते हैं और सामाजिक विद्याएँ वस्तुओं को समझने का प्रयास करती हैं। इन विद्याओं का वास्तविक मानदण्ड निश्चित करने के लिए वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान की आवश्यकता है जिसके द्वारा चेतना के स्वरूप और मानव तथा सामाजिक जीवन की आन्तरिक एकता और इसके विकास की प्रक्रिया का सम्यक् साक्षात्कार किया जा सके। दिल्थी 'तार्किक चिन्तन' (वेरनुम्पतवाइसनशाफत) की अपेक्षा, 'जीवनदर्शन', (लेबेन्सफिलोजोफी) के अनुयायी थे। वे बुद्धि और वस्तु, सत्य तथा आत्मा और भूत में कोई अन्तर नहीं समझते थे। उनके मतानुसार

इतिहासकार का कर्त्तव्य ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियों की आध्यात्मिक प्रक्रिया को पुनः अपनी मानसिक क्रिया द्वारा अनुभव और आत्मसात् करना है। अतः इतिहासकार अतीत के घटनाचक्र में जीवन उँडेल देता है। किन्तु दिल्थी के अनुसार इतिहासकार का अनुभव सीधा और सरल है और चिन्तन की दुरूहता से मुक्त है। उनके मतानुसार इतिहास मानसिक जीवन की अक्षुण्णता है और मानसिक तथा आध्यात्मिक प्रयास से इसका पुनः अनुभव करने से ही इसे समझा जा सकता है। अर्थात् जूलियस सीज़र को समझने के लिए इतिहासकार को भी जूलियस सीज़र ही बनना पड़ता है।

दिल्थी का 'स्वतः अनुभव' (फेर्सेतेहन सुफ़ जेनेरिस) का सिद्धांत पूर्णतः व्यावहारिक नहीं है। बिना विश्लेषणात्मक बुद्धि की प्रक्रिया के किसी भी गति या वस्तु को समझना असम्भव है। इस प्रक्रिया में वही विवेचन और वर्गीकरण की पद्धति रहती है जो वैज्ञानिक चिन्तन की विशेषता है। वस्तुतः दिल्थी ने स्वयमेव मनोविज्ञानशास्त्र की आवश्यकता को स्वीकार करके इस पद्धति को मान लिया है।

३. **विन्देलबान्त और रिकर्त**[२]—वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया दक्षिण-पश्चिमी जर्मन दर्शन के विचारकों में भी प्रमुख रूप से दृष्टिगत होती है। डब्ल्यु० विल्देलबान्त ने १८९४ में स्त्रासबुर्ग में गेशिश्ते उन्द नातूरवाइसनशाफ़त' (इतिहास और प्राकृतिक विज्ञान) शीर्षक व्याख्यान दिया और इसमें उक्त विचारधारा की रूपरेखा प्रस्तुत की। उनके मतानुसार—ज्ञान के दो भाग हैं, नोमोथेटिक विज्ञान, जो सार्वभौम और विश्व-व्यापी तथ्यों का अध्ययन करके उनके विषय में नियम निर्धारित करते हैं और आइडियोग्राफिक विज्ञान जो वैयक्तिक और विशिष्ट तथ्यों का अध्ययन करके उनके स्वरूप और स्वभाव को स्पष्ट करते हैं। प्रथम कोटि का अध्ययन प्राकृतिक विज्ञानों को जन्म देता है और दूसरी श्रेणी का अध्ययन इतिहास का निर्माण करता है। विज्ञान का कार्य नियम-निर्धारण है और इतिहास का कार्य मूल्यांकन। किन्तु यह विभाजन व्यावहारिक नहीं है और इसमें निहित सामान्य और विशेष का भेद भी भ्रामक है। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति के ज्वर से मरने के वृत्तान्त में ज्वर के प्रकोप के सामान्य पक्षों का अध्ययन भी अवश्यमेव

२. **एच० एल० फ्राइस, 'दि प्रोग्रेस आव जर्मन फिलॉसॉफी इन दि लास्ट हण्ड्रेड इयर्स' जर्नल आफ फिलॉसॉफी (१९३०) पृ० ३६९-४१५**

निहित हो जाता है। इनका पूर्ण पृथक्करण असम्भव है। हाइनराइख रिकर्त ने १८९६ में फ्राइबुर्ग में 'दी ग्रेन्त्सन देयर नातूरवाइसनशाफतलिशन बेग्रिफसबिल्दुंग' (प्राकृतिक विज्ञानों की विचार-पद्धति की सीमाएँ) शीर्षक पुस्तक प्रकाशित की थी और उसमें विन्देलबान्त की स्थापनाओं में बहुत-से सुधार किये। उन्होंने सामान्य और विशेष, मूल्यांकन और नियमनिर्धारण की प्रवृत्तियों को मिलाकर ज्ञान के ४ विभाग किये (१) सामान्यपरक, नियमनिर्धारक और मूल्यांकन रहित (विशुद्ध विज्ञान) (२) विशेषप्रधान, नियमनिर्धारक और मूल्यांकन रहित (अर्ध ऐतिहासिक विज्ञान) जैसे, भूगर्भशास्त्र (३) सामान्यपरक और मूल्यांकन प्रधान (अर्ध, ऐतिहासिक विज्ञान जैसे समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि) (४) विशेष-प्रधान और मूल्यांकन प्रधान (जैसे इतिहास)। इस प्रकार उन्होंने विन्देलबान्त द्वारा प्रतिपादित सामान्य-विशेष के विभाजन के दोषों को दूर करने की चेष्टा की। किन्तु इन दोषों से पूरी तरह बचने में वे भी असमर्थ रहे।

४. **जिमल**—जॉर्ज[३] जिमल (१८५८-१९१८) ने बर्लिन के एक यहूदी परिवार में जन्म लिया। २७ वर्ष की उम्र में वे बर्लिन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुए और फिर स्त्रासबुर्ग चले गये। १८९२ में उन्होंने, 'दी प्रोब्लेमे देयर गेशिश्तस्फिलोजोफी (इतिहास-दर्शन की समस्या) शीर्षक प्रबन्ध प्रकाशित किया। उनका विचार है कि इतिहासकार के लिए अपने वर्ण्य-विषय को जानना असम्भव है क्योंकि वह तो अतीत के गर्त में पहुँच चुका है। अतः ऐतिहासिक तथ्य वैज्ञानिक तथ्यों से स्वभावतः भिन्न है। इतिहास मन और आत्मा का व्यापार है। यह मानव-व्यक्तित्वों की चर्चा है। इतिहासकार स्वयं एक आध्यात्मिक और मानसिक इकाई होने के कारण ही इन व्यक्तियों के कार्यकलाप को हृदयंगम कर सकता है। साक्ष्य के सहारे वह अपने मनःपटल पर अतीत के धुँधले चित्रों को अंकित करने की चेष्टा करता है। यही उसका इतिहास है। किन्तु यह समझ में नहीं आता कि यह आत्मीय चित्र किस प्रकार एक वास्तविक चित्र बन जाता है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो इतिहास में कोई भी सामान्य मान्यता का आधार नहीं हो सकता। यह तो विभिन्न इतिहासकारों को वैयक्तिक भावाभिव्यक्ति ही बना रहेगा।

३. रयूदोल्फ हेबरले, 'जॉर्ज जिमल,' हेनरी एमर बार्नेस द्वारा सम्पादित हिस्ट्री आव सोशियोलोजी, पृ० २४९

५. श्तामलर फेर आदि—इन विचारों का प्रभाव जर्मन लेखकों पर काफी दूर तक पड़ा। रियूदोल्फ श्ताम्लर और हाज फेर ने कानून के क्षेत्र में और त्राल्तश, माइनेके आदि ने इतिहास-लेखन में इनका प्रभाव व्यक्त किया। मेक्स बेबर ने सामान्य नियमों के स्थान पर जो 'आदर्श शैलियां' निर्धारित की उस पर भी समाजशास्त्र और भौतिक विज्ञान के विभाजन की छाप है। किन्तु अब धीरे धीरे यह विचारधारा अमान्य हो रही है। एदमन्द हुर्लस, मेक्स शेलर, निकोलाई हार्तमान आदि जर्मन लेखकों में यह भेद लुप्त सा हो गया है।

अनुच्छेद २—फ्रेंच विचारक

१. आध्यात्मिक जीवन की स्वतंत्रता— फ्रांस में रूढ़ियों पर सदा से प्रहार होते रहे हैं। जब धर्म एक रूढि और ढोंग बन गया तो बोल्तेर ने इस पर आक्रमण किया। जब विज्ञान और बुद्धिवाद में कट्टरता आयी तो इनका भी विरोध प्रारम्भ हुआ। यद्यपि इस विरोध में इतिहास का प्रमुख स्थान नहीं था किन्तु इसके मूल में इतिहास की समस्या थी। इस विचारधारा के दार्शनिकों ने एक ओर प्राकृतिक विज्ञानों की आलोचना की और दूसरी ओर आध्यात्मिक जीवन का प्रतिपादन किया। प्राकृतिक विज्ञान वस्तु जगत् को प्रक्रियाओं का संविधान समझते हैं जो कार्य-कारणवाद के नियम के अधीन है। इसके विपरीत आध्यात्मिक जीवन का लक्षण स्वतन्त्रता या स्वतःप्रसार है। यह नियमहीन और अव्यवस्थित नही होता, किन्तु इसके नियम इसी से प्रादुर्भूत होते हैं, किसी बाह्य तंत्र के अधीन नही होते।

२. रावेसों और लाशलिए— रावेसों ने, 'शपोर स्यूर ला फिलोजोफी आँ फ्राँस आँ दि नफिएम सिएक्ल' (पारी १८६७) (उन्नीसवी शती के फ्रेंच दर्शन का विवरण) में उपर्युक्त दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उनके मतानुसार विज्ञान कारणों का परिचय तो दे देते हैं, किन्तु उस समग्र तंत्र से अनभिज्ञ रहते हैं जिसमें वे कारण कार्य करते हैं। इस समग्र तंत्र का परिचय देने के लिए अन्तिम कारण (टेलियोलॉजी) की खोज करना आवश्यक है। रावेसों के विचारों को प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक लाशलिए ने और भी आगे बढ़ाया। उनकी सब कृतियाँ (अव्र) पारी से १९३३ में प्रकाशित हुईं। उनका विचार था कि आत्मा का जीवन केवल जीवन-क्रिया नहीं है, वरन् चिन्तन-क्रिया भी है। प्राकृतिक विज्ञान के दृष्टिकोण से जो मनोविज्ञान का अध्ययन किया जाता है, वह चेतना के प्रत्यक्ष स्वरूपों, भावों और संवेदनाओं को तो स्पष्ट कर देता है, किन्तु मन के आन्तरिक स्वरूप को इसकी

चिन्तनक्रिया के रहस्य को और इसकी स्वतन्त्र सर्जन प्रक्रिया को खोजने में असमर्थ रहता है। आत्मा और मन की स्वतन्त्र स्थिति और क्रिया से ही ज्ञान की सृष्टि होती है। विज्ञान स्वयं वैज्ञानिक की आध्यात्मिक क्रियाओं के परिणाम हैं।

३. **बर्गसाँ**—आँरी बर्गसाँ ने 'एसे स्यूर ले दोने इमेदियात द् ला कों स्यांस' में जो १९१३ में 'टाइम एण्ड फ्री विल' शीर्षक से अंग्रेजी में प्रकाशित हुई मन की क्रिया का सारगर्भ विवेचन किया। उनके अनुसार जीवन मानसिक अवस्थाओं की संतति है। एक अवस्था दूसरे के बाद नहीं आती, न एक के आने पर दूसरे की समाप्ति हो जाती है। वरन् एक अवस्था दूसरी अवस्था में प्रविष्ट हो जाती है और दोनों एक दूसरे में घुलमिल जाती है। इस प्रकार भूत और वर्तमान एक दूसरे में घुले-मिले हैं। इस घुलने-मिलने की प्रक्रिया का नाम काल है। इसमें मन की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती है क्योंकि वर्तमान अतीत से नियंत्रित नहीं है, अपितु वर्तमान एक स्वतन्त्र और जीवित प्रक्रिया है जो अपने अतीत को अपनी ही क्रिया से अपने साथ समेटे चलती है। विज्ञान इस आन्तरिक प्रक्रिया को समझे बिना बाह्य स्वरूपों का मनगढ़न्त वर्गीकरण और वर्णन कर डालता है। बर्गसाँ मानसिक क्रिया को भावनाओं और संवेदनाओं की संतति मात्र मानते हैं। उनके मतानुसार इसमें चिन्तन, विचार और बौद्धिकता का स्थान नहीं है। अतः अतीत का वर्तमान से जो अन्तर्मिलन होता है उसके फलस्वरूप अतीत की गूँज को मनुष्य प्रतिक्षण अनुभव करता है, इसका आनन्द भी लेता है, किन्तु इसे चिन्तन द्वारा नहीं समझ सकता। इस दृष्टिकोण से अनुसंधान-परक इतिहास भी ऐसा ही भ्रान्तिमूलक है जैसा चिन्तन-प्रधान विज्ञान। इतिहासकार का कर्त्तव्य यही है कि वह अतीत की जिस प्रवृत्ति का अध्ययन करे उसके अनुभव में अपने को पूर्णतः विलीन कर दे सें स्ताले दाँ ल्, मूवमां) और ऐसा माने जैसा कि वह प्रवृत्ति स्वयं उसके मन में गतिशील हो। कामिल जूलियाँ के, 'इस्त्वार द् ला गॉल,' (गॉल का इतिहास) और एली ऑलेवी के 'इस्त्वारद्यु पप्ल आँग्ले' (अंग्रेजी जाति के इतिहास) में अतीत के प्रति जो भावनामयी और कल्पनामयी सहानुभूति दृष्टिगत होती है वह इस प्रकार की विचारधारा का फल है।

बर्गसाँ इतिहास को विशिष्ट व्यक्तित्वों की क्रीड़ा मानते थे। इन्हें 'स्रष्टा आत्माएं,' (क्रिएटिव सोल) कहते हैं। उनके कुछ विचारों को ट्वायनबी ने अपनाया है। इसकी चर्चा आगे की जायगी।

अनुच्छेद ३—अंग्रेज़ विचारक

१. **ब्रेडले**—इंग्लैण्ड में वस्तुवाद और विज्ञानवाद की प्रतिक्रिया विशेष रूप से ब्रेडले इत्यादि विचारकों के दर्शन में प्रस्फुटित हुई।[४] इनमें फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रेडले का नाम अग्रगण्य है। ब्रेडले (१८४६-१९२४) ने आक्सफोर्ड में शिक्षा पायी। वे १८७६ में रिटायर होकर मर्टन कॉलेज के फेलो हो गये और चिन्तन में लगे रहे। १८७४ में उन्होंने 'दी प्रिसपोज़िशन्स ऑव क्रिटिकल हिस्ट्री' (आलोचनात्मक इतिहास की मान्यताएँ) शीर्षक प्रबन्ध लिखा। उनके विचार से इतिहासकार साक्ष्य तो प्रस्तुत करता ही है, किन्तु साथ-साथ उसकी व्याख्या भी करता चलता है। यह व्याख्या उसके अपने अनुभव पर निर्भर होती है। इससे वह यह जान पाता है कि किन घटनाओं का अस्तित्व सम्भव है और किन का नहीं। यह अनुभव इतिहासकार को प्राकृतिक नियमों के ज्ञान से प्राप्त होता है। यहाँ ब्रेडले जिस वस्तुवाद का विरोध करने चले हैं उसे ही पिछले द्वार से घुसा लाये हैं।

ब्रेडले ने सामान्य और विशेष के भेद का खण्डन किया। उनके मतानुसार वास्तविक वस्तु सदा व्यक्ति है। व्यक्ति का अस्तित्व ऐतिहासिक है। सामान्य और विशेष इसी के दो पक्ष हैं। वास्तविकता मन की क्रिया है, प्रत्यक्ष का साक्षात्कार है। प्रत्यक्ष रूप से परे और कुछ वास्तविक नहीं है। यह अनुभव से जाना जा सकता है, चिन्तन से नहीं। यहाँ ब्रेडले का विचार बर्गसाँ के निकट पहुँच जाता है। अतः उनके अनुयायी बोसान्के ने इतिहास को घटनाओं का संदिग्ध वृत्तान्त बताया।[५]

२. **ओकशोट**—माइकेल बी० ओकशोट कायस कॉलेज में अध्यापक थे। १९३३ में उनकी कृति 'एक्सपीरियन्स एण्ड इट्स मोड्स' (अनुभव और इसके रूप) प्रकाशित हुई। उन्होंने ब्रेडले के मत का खंडन करते हुए यह सिद्ध किया कि अनुभूति केवल भावनाओं और संवेदनाओं की संतति ही नहीं है, वरन् विचार, चिन्तन, निर्णय आदि की भी क्रिया है। ऐसी कोई भी अनुभूति नहीं है जिसमें चिन्तन का तत्त्व न हो और ऐसी कोई भी संवेदना नहीं है जो निर्णय से रहित हो।

४. अर्नेस्ट बारकर, 'पोलिटिकल थॉट इन इंग्लैण्ड फ्राम हर्बर्ट स्पेन्सर टु दि प्रेजेण्ट एज' (लन्दन १९१५), पृ० ६१-६६।

५. बी० बोसान्के, 'दि प्रिंसपिल ऑव इन्डीविड्वेलिटी एण्ड वेल्यू' (लन्दन १९१२), पृ० ७९।

दर्शन स्वयं अनुभूति है। इतिहास और विज्ञान इसकी विविध शैलियां हैं, इतिहास में अनुभूति के जगत् को अतीत की घटनाओं के रूप में सँवारा जाता है और विज्ञान में इसे माप-तोल द्वारा व्यक्त किया जाता है। इतिहास अपने आप में पूर्ण है, अपना स्वतन्त्र जगत् है। यह पृथक् घटनाओं का संग्रहमात्र नहीं है। यह भावनाओं और विचारों की अक्षुण्ण परम्परा है, मानसिक जीवन की समूची प्रक्रिया है। इसे मन की क्रिया द्वारा ही समझा जा सकता है। वैज्ञानिक पद्धति से घटनाओं के पृथक्करण, वर्गीकरण और विश्लेषण द्वारा नहीं जाना जा सकता। जो वस्तु आन्तरिक है उसे बाह्य समझ बैठना ग़लती है। इतिहास का अतीत वह भाव जगत् है जिसे वर्तमान साक्ष्य के आधार पर वर्तमान काल में बनाया जाता है।

३. **कोलिंगवुड**—विज्ञान-विरोधी दृष्टिकोण की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति आर० जी० कोलिंगवुड की विचारधारा में हुई है। उनके लेखों का संग्रह 'द्वि आइडिया ऑव हिस्ट्री' नाम से उनकी मृत्यु के अनन्तर १९४६ में प्रकाशित हुआ। इसके प्रथम चार भागों में लेखक ने अन्य विचारकों के सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया और पंचम भाग में अपने स्वतन्त्र विचारों का प्रतिपादन किया। कोलिंगवुड की धारणा है कि ज्ञान और निर्माण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य उसी वस्तु को समझ सकता है जिसे उसने बनाया हो। अतः उसका मन अपने द्वारा निर्मित विचारों को ही जान सकता है, उन वस्तुओं को नहीं जान सकता जिनके निर्माण की प्रक्रिया उसके कार्यक्षेत्र से बाहर हो। फलतः बाह्य प्राकृतिक जगत् का ज्ञान भ्रान्तिमूलक है और विज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है। सच्चा ज्ञान विचारों का ही हो सकता है जो मानव मन की उपज है और यह ज्ञान किसी बाह्य प्रक्रिया की सतर्कता नहीं है, प्रत्युत आन्तरिक प्रक्रिया की तन्मयता है। ज्ञाता और ज्ञेय पृथक् नहीं हैं। मन की क्रिया का पुनरुत्थान, पुनरवतरण, पुनः प्रजनन और पुनरुज्जीवन ही ज्ञान है। मन द्वारा विचारों का पुर्नविचारण ज्ञान की प्रक्रिया है। चूंकि विचारों का क्रम इतिहास में प्रकट होता है, इसलिए इतिहास ही सच्चा ज्ञान है। इतिहासकार इतिहास का अध्ययन करता हुआ विगत विचारों में अपने मन की शक्तियों को विनिमज्जित करके उनसे पूर्ण तादात्म्य प्राप्त करता है। अतीत के विचार उसकी मानसिक प्रक्रिया में फिर से जीवित हो उठते हैं। इतिहास का नाटक उसके मन के रंगमंच पर प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार इतिहास का अध्ययन एक आत्मिक अनुभूति है, बाह्य तथ्यों का निरूपण नहीं है। कोलिंगवुड उदाहरण देते हैं कि टॉमस बैकेट का अध्ययन करते समय इतिहासकार अपने आपको

टॉमस बेकेट समझकर उनके विचारों को अपने मन में दोहराता है और इस दोहराने में उसका आलोचनापरक चिन्तन भी करता है।

उपर्युक्त स्थापना के फलस्वरूप कोलिंगवुड यह मानते हैं कि समस्त इतिहास विचारों का इतिहास है।[६] विचारों के अतिरिक्त और कोई वस्तु इतिहास का विषय हो ही नहीं सकती। प्रत्येक विचार नहीं, अपितु बौद्धिक चिन्तन द्वारा प्रसूत विचार, जिसका लक्ष्य और दिशा निश्चित हो, इतिहास का विषय होता है। जैसा कि ट्वायनबी ने सिद्ध किया है, यह धारणा अव्यावहारिक तो है ही, साथ ही भ्रान्तिमूलक और एकपक्षीय भी है। मनुष्य का कार्यकलाप बौद्धिक चिन्तन पर इतना अधिक निर्भर नहीं रहता जितना भावना, वासना और इच्छाशक्ति पर आधारित होता है। दूसरे यह कि प्रत्येक विचार को अपने मन में पुनर्जीवित करना कठिन तो है ही अव्यावहारिक भी है। तैमूर लंग ने जिरिह नगर के परकोटे के बाहर जब ५०० मनुष्यों के शिरों की मीनार बनायी उस समय उसके मन में जो जिघांसा उत्पन्न हुई उसे यदि इतिहासकार अपने मन में दोहराये तो पागल तो कहलायेगा ही, साथ ही कानून द्वारा दण्डित भी किया जायेगा। इतिहासकार का कर्त्तव्य तो यह है कि वह उन परिस्थितियों की खोज करे जिसमें तैमूर की उपर्युक्त ताण्डवलीला प्रकट हुई और उनके आलोक में इसे समझने की चेष्टा करे।[७] इस प्रकार कोलिंगवुड का विचार सर्वथा अव्यावहारिक है।

अनुच्छेद ४—इटली के विचारक

१. **क्रोचे**—इटली में विज्ञान-विरोधी विचारधारा बेनेदित्तो क्रोचे के लेखों में मुखरित हुई। क्रोचे ने १८९३ में २७ वर्ष की उम्र में अपना प्रथम प्रबन्ध 'ला स्टोरिया रिदोत्ता सोत्तो इल कोनसेत्तों जनराले देल्ले आर्ते' (कला के विचार से इतिहास का अनुशीलन) प्रकाशित किया। क्रोचे अभिव्यंजनावाद (एक्सप्रेशनिज्म) के प्रतिपादक माने जाते हैं। उनके मतानुसार कला व्यक्तित्व की अनुभूति और

६. आर० जी० कोलिंगवुड, दि आइडिया आव हिस्ट्री' पृ० २९६-७ वही पृ० ३०७-३०८

७. आर्नोल्ड जे० ट्वायनबी, 'कोलिंगवुडस्व्यू आव हिस्ट्री,' ए स्टडी आव हिस्ट्री, भाग ९, पृ० ७१८-७३७

अभिव्यंजना है। इस अनुभूति में अभिज्ञान भी सन्निहित रहता है। इसके विपरीत विज्ञान सामान्य नियमों की गवेषणा है। वैज्ञानिक वैयक्तिक तथ्यों और घटनाओं को भी सामान्य नियमों के दृष्टिकोण से देखता है। इतिहास भी एक प्रकार की कला है, क्योंकि इसका कार्य वैयक्तिक तथ्यों का विवरण है। किन्तु कलाकार जो कुछ देखता है उसका वर्णनमात्र कर देता है, इतिहासकार को यह भी विचार करना पड़ता है कि जो कुछ वह देखता है वह सत्य है या नहीं। कला सम्भाव्य सत्य की अभिव्यक्ति है तो इतिहास वस्तु सत्य की। चूंकि वास्तविकता सम्भावनाके अन्तर्गत ही रहती है, इसलिए इतिहास कला का ही एक पक्ष है। १९०२ में क्रोचे ने अपने 'सौन्दर्यशास्त्र' (इस्थीटिक) सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी उक्त विचारों को दोहराते हुए यह सिद्ध किया कि इतिहास व्यक्तित्व की प्रक्रिया को प्रकट करता है।

२. **क्रोचे के दर्शन के मुख्य सिद्धांत**—१९०९ में क्रोचे ने तर्कशास्त्र (लॉजिक) पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया। उनके समक्ष यह प्रश्न था कि चूंकि विचार सत्य और मिथ्या के भेद को स्पष्ट करता है और इतिहास भी सत्य का ही निरूपण है, अतः इतिहास विशुद्ध कला के क्षेत्र से दूर होना चाहिए। विचार का कार्य निर्णय करना होता है। निर्णय दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष नियमपरक अथवा व्यक्ति-प्रधान। क्रोचे के मतानुसार यह भेद भ्रान्तिमूलक है। अभिज्ञान की प्रक्रिया में सामान्य और विशेष अभिन्नरूप से सन्निहित रहते हैं। सामान्य तभी तक सार्थक है जब वह विशेष में प्रकट हो। अमूर्त परिभाषाओं के पीछे भी विचारक की दृष्टि, समस्या की विशिष्टता और समाधान की वैयक्तिकता प्रच्छन्न रहती है। इसी प्रकार विशेष ऐतिहासिक तथ्य के साक्षात्कार में निर्णय की प्रवृत्ति सक्रिय रहती है। अतः सामान्य और विशेष का भेद व्यर्थ है। इतिहासकार केवल वैयक्तिक तथ्य का साक्षात्कार नहीं करता, उसका निर्णय भी करता है। अतः इतिहास में सामान्य और विशेष दोनों का समन्वय हो जाता है। निर्णय केवल एक ही प्रकार का होता है, ऐतिहासिक, अतः ज्ञान भी केवल ऐतिहासिक ही हो सकता है। दर्शन इतिहास का ही एक पक्ष है।

क्रोचे प्राकृतिक विज्ञान को ज्ञान नहीं, क्रिया समझते हैं। विज्ञान के विचार काल्पनिक होते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—वस्तुपरक और अमूर्त। प्रथम श्रेणी के विचार अपने इच्छानुसार तथ्यों का वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति से निष्पन्न होते हैं और दूसरी श्रेणी के विचारों का कोई मूर्त आधार नहीं होता और वे पूर्णतः

कल्पना-प्रसूत होते हैं। विज्ञान के तथाकथित नियम इसी प्रकार के काल्पनिक विचार हैं।

क्रोचे के मतानुसार इतिहासकार का कार्य किसी व्यक्ति के जीवन को अपने भीतर संक्रान्त करना है। उन्होंने लिखा है कि "यदि तुम नवपाषाण युग के सिसली के निवासी का इतिहास जानना चाहते हो तो तुम स्वयं नवपाषाणयुग के व्यक्ति बन जाओ। यदि तुम ऐसा नहीं कर सकते या करने की चेष्टा नहीं करते तो तुम उस काल के लोगों की खोपड़ियों, औजारों और चित्रों के वर्गीकरण और वर्णन मात्र से संतोष करो। क्या तुम घास की पत्ती का सही इतिहास जानना चाहते हो? स्वयं घास की पत्ती बनने की चेष्टा करो, यदि ऐसा नहीं कर सकते तो इसके अंगों का ही विश्लेषण करके संतुष्ट रहो।"[८] यह विचार कोलिंगवुड के सिद्धान्त से मेल खाता है। यह कितना अव्यावहारिक है इसकी विशद चर्चा हम कोलिंगवुड के प्रसंग में ऊपर कर चुके हैं। स्वयं कोलिंगवुड आश्चर्य करते हैं कि मनुष्य कैसे घास की पत्ती या पाषाण बनने का यत्न कर सकता है।[९]

क्रोचे के दर्शन को हम निम्नलिखित सूत्रों में उपनिबद्ध कर सकते हैं। (१) इतिहास वैयक्तिक तथ्यों के जीवन-क्रम के हृदयंगम करने तथा अभिव्यक्त करने की क्रिया है। (२) चूंकि इन्हीं तथ्यों के काल्पनिक वर्गीकरण द्वारा विज्ञान अपने नियमों का निरूपण करता है, अतः वह इतिहास का ही एक पक्ष है। वैयक्तिक तथ्य और इतिहास में कोई अन्तर नहीं है। ये एक ही हैं। (३) समस्त इतिहास समसामयिक है क्योंकि इतिहासकार अपनी मानसिक क्रिया द्वारा व्यक्तियों और घटनाओं के जीवन का साक्षात्कार करता है। क्रोचे के शब्दों में इतिहास, जीवित मन का अभिज्ञान है। (४) इतिहास अतीत के उसी अंश का अध्ययन करता है जिसका साक्ष्य वर्तमान है क्योंकि इसी के संकेत से वह तथ्यों और व्यक्तियों की जीवन-लीला को अपने मन के रंगमंच पर अवतीर्ण और अभिनीत कर सकता है। क्रोचे के उक्त विचार उनके आदर्शवाद और अभिव्यंजनावाद के प्रतीक हैं।[१०]

८. क्रोचे, 'तेओरिया ए स्टोरिया देल्ला इस्तोरियोग्राफिया' पृ० ११९। अंग्रेजी अनुवाद (लन्दन १९२१), पृ० १३४-१३५।

९. आर० जी० कोलिंगवुड, 'दि आइडिया आव हिस्ट्री' पृ० २००।

१०. क्रोचे, 'ला इस्टोरिया कोमे पुन्सीरो ए कोमे अजियोने' (हिस्ट्री

उपर्युक्त विवरण में वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया का जो अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उससे ज्ञात होता है कि यह प्रतिक्रिया विशेषतः आलोचनात्मक और खण्डनप्रधान ही रही। इसका व्यावहारिक पक्ष निर्बल था और प्रयोगात्मक रूप नगण्य था। अतः यह विचारधारा अधिक सम्मत और प्रचलित न हो पायी। दार्शनिक चाहे जिन सिद्धान्तों पर आरूढ़ रहे, लेकिन इतिहासकार अपनी पद्धति से ही अपना कार्य करते रहे। आधुनिक इतिहास-दर्शन के प्रमुख सम्प्रदायों में इस विचारधारा का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

एज़ दि स्टोरी आव लिबर्टी' शीर्षक सिलविया स्प्रिग्गे का अंग्रेजी अनुवाद (लन्दन १९४१) में इन विचारों का परिपुष्ट रूप मिलता है।

परिच्छेद १०

आधुनिक इतिहास-दर्शन की मुख्य धाराएँ

अनुच्छेद १—यांत्रिक व्याख्या

आधुनिक इतिहास-दर्शन विभिन्न और प्रायः परस्पर-विरोधी सम्प्रदायों और विचारधाराओं का समूह है। अतः इसका अध्ययन व्यक्तिक्रम से न करके सम्प्रदाय-क्रम से करना अधिक समीचीन रहेगा। वस्तुतः वर्तमान काल में इतिहास के विषय में इतना लिखा जा चुका है कि इसका सर्वांगीण परिचय एक पृथक् ग्रन्थ में दिया जा सकता है। प्रस्तुत कृति में इसकी कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों पर ही दृष्टिपात किया जा सकता है। सबसे पहले हम यांत्रिक व्याख्या का अध्ययन प्रारम्भ करते हैं।

१. विश्व-यंत्र का भाव—पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि भारतीय और यूनानी विचार-पद्धति के अनुसार विश्व को एक यंत्र माना गया है। दिन और रात का क्रम, ऋतुओं का निश्चित परिवर्तन, वनस्पति का वार्षिक प्रादुर्भाव और विनाश और नक्षत्रों की नियमित गति विश्व की यांत्रिक प्रक्रिया का साक्ष्य देते हैं। इस यंत्र की गति वृत्तात्मक है। अफलातूं, हिसियोद और अरातस के विचारों में इस यांत्रिक प्रक्रिया का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। सत्रहवीं शती में विज्ञान की अभ्युन्नति के फलस्वरूप इस भावना को बड़ी प्रेरणा मिली जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में वृत्तात्मक विचारधारा के स्थान पर रेखात्मक विचारधारा का प्रचलन हुआ। ऑगस्त कोम्ते के 'त्रिस्तरीय नियम' के बाद सामाजिक विचारकों ने ऐसे अनेक नियमों, सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों का प्रतिपादन किया। किन्तु वर्तमान बीसवीं शती में फिर से रेखात्मक विचारधारा के स्थान पर वृत्तात्मक विचारधारा का श्रीगणेश हुआ। बर्गसों के लक्ष्यहीन सर्जनात्मक विकास के सिद्धान्त से इस विचारधारा को पर्याप्त बल मिला। समाजशास्त्र के क्षेत्र में 'सामाजिक विकास' के स्थान पर 'सामाजिक परिवर्तन,' पद का प्रयोग प्रचलित हुआ। व्यापार की उन्नति-अवनति के वृत्तों के अध्ययन से, बीमा-निगमों की तुलनात्मक तालिकाओं के अनुशीलन से तथा अर्थशास्त्रीय आवर्तनों और

परिवर्तनों के विश्लेषण से इस विचारधारा की दिशाएँ निश्चित हुईं। आजकल प्रायः यह माना जाता है कि इतिहास भी अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं की तरह यंत्र की तरह वृत्तवत् घूमता है।

२. पारेतो—वर्तमान काल में यांत्रिक व्याख्या के सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक इटली के विचारक विलफ्रेदो पारेतो हैं। उनका जन्म १८४८ में पेरिस में हुआ। उनके माता-पिता इटली के थे। वे स्विटज़रलैण्ड के लासान विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के प्राध्यापक रहे। १९२३ में उनका देहावसान हुआ। वे सामाजिक विद्याओं को 'तार्किक परीक्षणात्मक विज्ञान' समझते थे। वे सामाजिक गति को वृत्तात्मक समझते थे। इतिहास में विविध कालविधियों और शक्ति-पुंजों का परिवर्तन संचित है। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को रेखाचित्रों, गणित-सारणियों और तथ्य-संकलन द्वारा प्रकट किया।

३. अन्य विचारक—पारेतो का प्रभाव अनेक विचारकों पर पड़ा। ओ० लोरेंज, के० जोएल, ए० बारतेल्स आदि ने १०० वर्षीय वृत्तों का प्रतिपादन किया। उनके मतानुसार सामाजिक विप्लव, उदाहरणार्थ फ्रेंच क्रान्ति, नेपोलियन के युद्ध, विश्व-युद्ध, सांस्कृतिक पुनरुत्थान और धार्मिक सुधार सौ वर्षों के वृत्तों के अनुसार चलते हैं। डब्ल्यु शेरर ने अपने 'गेशिश्ते देयर दायत्शन लितरातूर' (जर्मन-साहित्य के इतिहास) में यह सिद्ध किया कि साहित्यिक और दार्शनिक विचार--परम्पराएँ तीन-तीन सौ वर्ष बाद उन्नति और अवनति करती हैं। इनकी गति का वृत्त तीन सौ वर्ष में पूरा होता है। लोरेंज़ और जोएल की यह भी धारणा है कि बहुत-से राजवंश तथा सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक संस्थाएँ तीन सौ वर्ष के वृत्त के अनुसार चलती हैं। कर्नल मिलर्डने 'एसे द् फिजिक सोसियाल ए द् कोसत्रक्सियों इस्तोरिक' (सामाजिक स्वरूप और ऐतिहासिक निर्माण सम्बन्धी प्रबन्ध) शीर्षक निबन्ध में जो फरवरी, १९१७ में 'रव्यू एँ तरनासियोनाल द् सोसियोलोजी' में प्रकाशित हुआ था, यह सिद्ध किया कि ईरान और यूनान के इतिहास की प्रवृत्ति पाँच सौ वर्ष के वृत्त के अनुसार चलती है। इसी प्रकार सर डब्लू० एम० फ्लिन्डर्स पेट्री ने 'दि रेवोल्यूशन्स ऑव सिविलीज़ेशन्स,' (सभ्यताओं के परिवर्तन) शीर्षक सारगर्भित ग्रन्थ में १९११ में यह प्रतिपादित किया कि सभ्यता के इतिहास में १३३० वर्ष का वृत्त चलता है। अर्थात् इतने काल में उसके ह्रास-विकास का एक चक्र पूरा होता है।

उक्त कालबद्ध वृत्तों और चक्रों के अतिरिक्त कुछ लेखकों ने ऐसे वृत्तों का

प्रतिपादन किया है जो काल की अपेक्षा नहीं रखते। पारेतो गुइगनेबर्त आदि ने विचार, विश्वास, मत, रीति-रिवाजों में उन्नति और अवनति के चक्रों की गवेषणा की है। वेबर ने 'ल् रिद्म द्यु प्रोग्रेस' (प्रगति का स्वर) में आध्यात्मिक और भौतिक संस्कृतियों के चक्रवत् उत्थान-पतन का क्रम निश्चित किया है। के० लियो-नतीएफ, दानिलेव्स्की, द् लापूज, जिनि, अमोन और स्पेंगलर ने प्रत्येक जाति और संस्कृति के जीवन में जन्म, विकास और पतन की वृत्ताकार प्रवृत्ति के दर्शन किये हैं। ट्वायनबी ने यह विचार प्रकट किया है कि प्रत्येक 'सिविलिज़ेशन,' (संस्कृति) का विकास, पतन और क्षय चक्रवत् चलता है। किन्तु वे मानते हैं कि इस चक्रवत् गति के साथ-साथ एक रेखात्मक प्रगति भी होती रहती है। उदाहरण के लिए पहिये की गति धुरी के सम्बन्ध में चक्रवत् होती है, किन्तु इस गति के फल-स्वरूप गाड़ी की प्रगति सीधी और रेखावत् होती है। अतः यद्यपि इतिहास में संस्कृतियों के उत्थान-पतन का अनवरत क्रम दृष्टिगत होता है, इसके साथ-साथ मानवता की निरन्तर प्रगति भी अक्षुण्ण रूप से अग्रसर है[१]। साम्राज्य और संस्कृतियाँ पहियों की तरह घूमती हैं, किन्तु उन पर टिकी धर्म की गाड़ी आगे बढ़ती जाती है[२]। अतः इतिहास में भौतिक चक्राकार परिवर्तनों की अटलता और एक-रसता नहीं मिलती।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के संक्षिप्त विवरण से इतिहास की यांत्रिक व्याख्या पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है[३]। इसके अनुसार इतिहास एक यंत्र है जो वृत्तवत् या रेखावत् गतिमान् है और जिसकी प्रवृत्ति, पद्धति और दिशा निश्चित है। ट्वायनबी ने इस यंत्रवाद में कुछ संशोधन अवश्य किया है। किन्तु इसके प्रभाव से वह अछूते नहीं रहे।

अनुच्छेद २—भौगोलिक व्याख्या

१. यांत्रिक और भौगोलिक व्याख्याओं का पारस्परिक सम्बन्ध—इतिहास

१. आर्नोल्ड जे० ट्वायनबी, ए स्टडी आव हिस्ट्री, भाग ४ पृ० ३५।

२. आर्नोल्ड जे० ट्वायनबी, सिविलीज़ेशन आन ट्रायल, पृ० १५-२३५

३. उक्त सिद्धांतों के विस्तृत विवरण के लिए देखिए, पितिरिम ए० सोरो-किन, ए सर्वे आव डिसाईक्लिकल कन्सेप्शन्स् ऑव सोशल एण्ड हिस्टोरिकल प्रोसेस, 'सोशल फोर्सेज' सितम्बर, १९२७।

की यांत्रिक और भौगोलिक व्याख्याएँ परस्पराश्रित और एक दूसरे की पूरक हैं। प्राकृतिक क्रम और परिस्थितियों की प्रक्रिया की समता पर ही इतिहास की यांत्रिक व्याख्या आधारित है। जब इस दृष्टिकोण से विचार करते हुए हम संस्कृति और समाज की विविधता को भौतिक परिस्थितियों की विभिन्नता से सम्बन्धित करते हैं तो इतिहास की भौगोलिक व्याख्या सामने आती है। इस व्याख्या के अनन्त रूप प्राचीन काल से मिलते हैं और इतिहास-दर्शन का प्रत्येक विद्यार्थी उनसे परिचित है । यहाँ उन सब का वर्णन न करके आधुनिक काल के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा करना पर्याप्त है।

२. **ल्प्ले**—गत शताब्दी में प्रसिद्ध फ्रेंच समाजशास्त्री फ्रैदरिक ल् प्ले ने मानव समाज के विकास की प्रक्रिया में भौगोलिक और भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव पर बहुत जोर दिया था। ल् प्ले (१८०६-१८८१) एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक और खनिजविज्ञान के आचार्य थे । उन्होंने यूरोप के विभिन्न देशों में खनिज सम्बन्धी योजनाओं का संगठन किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक समाजों का अध्ययन किया और उनकी प्रवृत्ति सामाजिक विद्याओं की ओर बढ़ी। 'ला रिफोर्म सोसियाल आँ फ्रांस' (फ्रांस के सामाजिक सुधार) 'कोंसतीत्यूसियों आसाँसिएल', (मौलिक संविधान) आदि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं । उन्होंने 'ला रेफोर्म सोसियाल' शीर्षक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया जिसमें महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है। ल् प्ले स्थान, व्यवसाय और जन (परिवार) के पारस्परिक सम्बन्ध को बहुत महत्त्व देते थे। उनके मतानुसार किसी परिवार या जाति का स्वरूप और व्यवसाय उसकी भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर होता है। इन परिस्थितियों की खोज और पर्यवेक्षण से सामाजिक प्रक्रिया का ज्ञान हो सकता है।

३. **देमूलें**—ल् प्ले के विचारों को एदमों देमूलें (१८५२-१९०७) ने ग्रहण किया। उनका जन्म मार्सेई के एक चिकित्सक के यहां हुआ था। १८७३ में उन्हें पेरिस इस उद्देश्य से बुलाया गया कि वे फ्रेंच समाज का इतिहास लिखें और अभिजात वर्गों के इस आरोप का उत्तर दें कि सामान्य जनता का फ्रांस के इतिहास में कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं रहा। अतः उन्होंने ४ भागों में फ्रांस का इतिहास लिखा और एक 'मध्यकालीन नागरिक आन्दोलनों का इतिवृत्ति' (ल् मूवमाँ कोम्यूनाल ए म्युनिसिपाल आँ मोइयानाज़) तैयार किया। १८८० से वे ल् प्ले और तूरविल के विचारों से प्रभावित हुए। उनकी प्रसिद्ध कृतियों में, आ क्वा त्यां ला स्युपेरियोरिते दे आंग्लो-साक्सों' (एग्लों सेक्शन जाति के महत्त्व का कारण)' लेदुकासियों नूवल

(नवीन शिक्षा), 'लॅं फ्राँसे दोजूरदुई',(आजकल की फ्रेंच जाति) और 'कोमा ला रूत क्रे ल् तिप सोसियाल '(मार्गों से समाज कैसे बनते हैं) महत्त्वपूर्ण हैं।

देमूलें की प्रमुख स्थापना यह है कि समाज और जाति का स्वरूप उस मार्ग की भौगोलिक अवस्था पर निर्भर होता है जिससे उसके पुरखों ने संचरण किया हो। मध्य-एशिया और पूर्वी-यूरोप के स्तेपों की प्रमुख पैदावार घास है। घास के सार्वभौम अस्तित्व के फलस्वरूप वहाँ के निवासियों का सार्वजनिक व्यवसाय भी पशुपालन ही है। वहाँ के जीवन में घोड़े की प्रमुखता है क्योंकि यह उन परिस्थितियों के अनुरूप मनुष्य की सब आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है। खान, पान, निवास, वेश, कला, मनोरंजन आदि संस्कृति के सभी पक्ष इन परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करते हैं। चूंकि भूमि अनायास ही घास का उपहार प्रस्तुत करती है, अतः वह सब की सामूहिक सम्पत्ति मानी जाती है। वैयक्तिक सम्पत्ति का प्रादुर्भाव तो वहाँ होता है जहाँ मनुष्य को भूमि से आहार ग्रहण करने के लिए परिश्रम करना पड़ता है।[४] स्तेपों का साम्यवाद पितृसत्ताक व्यवस्था पर आधारित होता है। व्यक्ति परिवार का और परिवार समाज का एक कोशा-मात्र होता है। पारस्परिक संगठन और संतुलन चरम सीमा पर पहुँचा होता है। रूढ़िवाद और परम्पराप्रियता दृढ़ता से बद्धमूल होती है। ये समाज घास की परिवर्तनशील हरीतिमा के साथ-साथ घूमते रहते हैं। जब ये कारवाँ किसी योग्य नेता के नेतृत्व में आ जाते हैं तो इनकी सामूहिक शक्ति साम्राज्यों का निर्माण करती है। अतीला, चिंगीस और तीमूर आदि के साम्राज्य इसी प्रकार विकसित हुए। किन्तु स्थायी जीवन से अनभिज्ञ होने के कारण वे इन साम्राज्यों को सम्भालने में असमर्थ रहते हैं। फलतः पुच्छल तारे की तरह वे अपनी क्षणिक चमक दिखाकर लुप्त हो जाते हैं। इस प्रकार स्तेप के भूगोल ने घुमक्कड़ समाजों के स्वरूप को पूर्णतः निर्धारित किया है।[५]

घुमक्कड़ समाजों का एक समूह उत्तर की ओर बढ़ता हुआ टुण्ड्रा के प्रदेश में जा पहुँचा। अतः सील, मत्स्य और रेनडीयर के प्रदेश ने उनके सामाजिक स्वरूप में आमूल परिवर्तन कर दिये। एसकीमो और लाप जाति का जीवन इस परिवर्तन को परिलक्षित करता है। बहुत दिन हुए इन जातियों के लोग बेरिंग स्ट्रेट को पार

४. देमूलें, कोमां ला रूत क्रे ल् तिप सोसियाल, भाग १, पृ० ५९।
५. वही, भाग १, पृ० १९५।

करके अमेरिका में प्रविष्ट हुए। वे घास के मैदान (सवन्ना) में से गुजर कर दक्षिण पूर्व के सरोवर-प्रदेश में आये। उनका स्वरूप फिर बदला और वे प्रेरीज़ के शिकारी बन गये। उनमें पितृसत्ताक व्यवस्था बनी तो रही, किन्तु कुछ क्षीण हो गयी। जो लोग पहाड़ी इलाकों में बस गये उनका स्वरूप एकदम भिन्न हो गया। दक्षिणी अमेरिका के जंगलों में पहुँच कर तो परिवार को साथ रखना असम्भव हो गया। अतः परिवार-व्यवस्था भंग हो गयी। पति और पत्नी का ही एक जगह निर्वाह हो सकता था।[६] बच्चे बड़े होते ही उनसे पृथक् हो जाते थे। इस प्रकार विभिन्न भूभागों और प्रदेशों के भूगोल ने सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप निश्चित किया।

देमूले का विचार आदिम जातियों के विषय में तो चरितार्थ हो सकता है, किन्तु उससे संस्कृत जीवन की जटिलताओं की व्याख्या करनी कठिन है। जब वे पिथागोर के दर्शन को इटली के पादवर्ती समुद्र के व्यापार की कुंजी से सुलझाने का यत्न करते हैं तो उनकी व्याख्या हास्यास्पद हो जाती है।[७] इस प्रकार हम देखते हैं कि उनका प्रयत्न और सिद्धान्त एक-पक्षीय है।

४. **तूरविल**—आँरी द् तूरविल (१८४२-१९०३) ने इतिहास की शिक्षा प्राप्त की। १८६५ में उन्होंने पादरी का व्यवसाय आरम्भ किया और १८७३ में पेरिस के सन्त ऑगस्तीन के गिरजे के विकार बन गये। उन्होंने ल् प्ले के विचारों को अपनाया और उनकी परिधि को विस्तृत किया। उनकी रचनाओं में 'इस्त्वार द् ला फोर्मासियों पर्तिकुलारिस्त' 'लोरोजीन दे ग्रां पप्ल आक्त्वल' जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'दि ग्रोथ ऑव मॉडर्न नेशन्स,' शीर्षक से प्रकाशित हुआ, उल्लेखनीय है।

तूरविल ने व्यक्तिवादी समाज के विकास का गम्भीर अध्ययन किया। उनके मतानुसार पितृसत्ताक व्यवस्था के कुछ लोग ओदीन के नेतृत्व में दोन के प्रदेश से चले जो रूस के दक्षिण-पूर्वी भाग में स्थित है और स्केन्दीनेविया में जा बसे। वहाँ स्केन्दीनेविया के पश्चिमी भाग की भौगोलिक स्थिति ने पितृसत्ताक समाज को व्यक्तिवादी समाज में बदल दिया। नॉर्वे में उर्वर भूमि की कमी और फियोर्दों की बहुतायत के कारण वे नवागन्तुक मछली पकड़ कर अपना जीवनयापन करने लगे। इन फियोर्दों में छोटी किश्तियाँ ही चल सकती थीं जिनमें अधिक से अधिक

६. वही, भाग १, अध्याय ४।

७. आर्नोल्ड जे० ट्वायनबी, 'ए स्टडी आव हिस्ट्री,' भाग ३, पृ० १९४।

पति-पत्नी और एक दो छोटे बच्चे बैठ सकते थे। इन लोगों में आत्मनिर्भरता, साहस और स्वतन्त्रता का भाव बद्धमूल हो गया। व्यक्तिवादी समाज का प्रादुर्भाव हो गया। स्केन्दीनेविया से कुछ लोग वैयक्तिक रूप से सेक्सनी में जा बसे और वहाँ से धीरे-धीरे पश्चिमी यूरोप में फैल गये। वे फ्रेंक कहलाये। पहले वे रोमन सम्राटों के अनुचर और कर्मचारी बने। फिर मेरोविंजियन और केरोलिंजियन सम्राटों के यहाँ काम करने लगे। उन्हें जो भूमि और सम्पत्ति मिली उस पर वे स्वतंत्र रूप से कार्य करते थे। उन्होंने एकतन्त्रीय शासन पर विजय पायी और अपना स्वतन्त्र संविधान प्रचलित किया जिसे सामन्तशाही (फ़्यूडलिज्म) कहते हैं। धीरे-धीरे यूरोप में फिर से पितृसत्ताक व्यवस्था का जोर हो गया किन्तु जो लोग इंग्लैण्ड में जा बसे थे उन्होंने व्यक्तिवादी व्यवस्था को जीवित रखा। वहाँ से ये लोग अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि में जा बसे।[८]

५. **हंटिंगडन**— एलस्वर्थ हंटिंगडन (१८७६-) ने सिद्ध किया है कि जलवायु ऐतिहासिक परिवर्तनों का आधार है। उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ 'सिविलिज़ेशन एण्ड क्लाईमेट,' (सभ्यता और जलवायु), 'वर्ल्ड पावर एण्ड एवोलूशन', (विश्व शक्ति और विकास) और 'दि केरेक्टर ऑव रेसेज़,' (जातियों का स्वरूप) हैं। उनके सिद्धान्तों पर मोँतेस्क्यू और बकिल का गहरा प्रभाव है। उनके मतानुसार इतिहास की प्रक्रिया और सभ्यता का उत्थान-पतन जलवायु पर निर्भर है। उनका सिद्धान्त यह है कि आदर्श तापमान ६४ डिग्री फारनहाइट और आदर्श नमी ८० डिग्री है। जब जलवायु इस आदर्श के निकट पहुँचता है तो सभ्यता की उन्नति होती और जब वह इससे हटता है तो सभ्यता का ह्रास होता है। जलवायु, स्वास्थ्य, शारीरिक शक्ति और मानसिक क्षमता का अभिन्न सम्बन्ध है। चूंकि इन तत्त्वों और तथ्यों के विकास और अभिव्यक्ति का नाम ही सभ्यता है इसलिए जलवायु और सभ्यता का भी घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है। हंटिंगडन ने यूनान, रोम, तुर्की, जर्मनी, आदि देशों का इतिहास इस दृष्टिकोण से समझने की चेष्टा की। किन्तु उनके सिद्धान्त बहुत कुछ कल्पना-प्रसूत हैं। कैलीफोर्निया के वृक्षों की परिधियों से उन्होंने जलवायु के परिवर्तन का जो अनुमान किया है वह सार्वजनिक नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल के जलवायु का निश्चय करना पूर्णरूप से

८. आँरी द् तुरविल, 'दि ग्रोथ आव मॉडर्न नेशन्स' पृ० ४९-६८-६९ ।

सम्भव नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि अनुकूल और उपयुक्त जलवायु का मानव विकास की प्रक्रिया पर गहरा प्रभाव पड़ता है परन्तु यह मानना कि जलवायु ही एकमात्र इतिहास की प्रक्रिया का उपकरण है, एक-पक्षीय और असंगत प्रतीत होता है।

६. **रातज़ल और भू-राजनीति**—फ्रीडरिख रातजल (१८४४-१९०४) एक प्रसिद्ध जर्मन भूगोलशास्त्री थे। उनके विचार 'शारीरिक विकास' के सिद्धान्तों से संश्लिष्ट थे। उनकी विचारधारा 'एन्थ्रोपोज्योग्रेफी' कहलाती है। वे मानव भूगोल की गतिशीलता और सक्रियता में विश्वास करते थे। उनके मतानुसार वातावरण संस्कृति के स्वरूप को निर्धारित करता है। मानव जाति के संचरण और पार्थक्य में सामूहिक अवयवी (ऑर्गेनिक) शक्तियाँ काम करती हैं और उन्हीं से ऐतिहासिक प्रक्रिया का संचालन होता है।

रातज़ल की प्रमुख विचारधारा 'स्थान' (राउम) से सम्बन्धित थी। जिस राष्ट्र का 'स्थान,' प्रदेश और क्षेत्र विस्तीर्ण होते हैं उसके सदस्यों की 'देश-धारणा' (स्पेस कन्सेप्शन) भी प्रसरणशील होती है और फलतः उनमें प्रसार ,युद्धप्रियता, आशावाद, यौवनोल्लास, उन्नति और प्रगति का भाव बद्धमूल हो जाता है, इसके विपरीत छोटे आकार के राष्ट्रों की 'देश-धारणा' संकुचित होती है। जिससे निराशावाद , उत्साहहीनता, वार्द्धक्य, विश्रान्ति, संकीर्णता और वैमनस्य का भाव जड़ पकड़ता है। प्रत्येक जाति अपनी 'देश-धारणा, (स्पेस कन्सेप्शन) को विस्तीर्ण करने की चेष्टा करती है। इसी से ऐतिहासिक परिवर्तन होते हैं। रातज़ल के मतानुसार संस्कृति और स्थान अथवा देश का अवयवित्वमय (ऑर्गेनिक) सम्बन्ध है।[१]

रातजल के विचारों की छाया उनके शिष्य हांज हेलमोत के 'वेल्तगेशिश्ते,' (विश्व-इतिहास) में परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त वर्तमान नात्सी-युग के भू-राजनीति (जियोपोलिटिक्स) के सिद्धान्त पर इनका गम्भीर प्रभाव पड़ा है। इस सिद्धान्त को म्युनिख के भूगोलशास्त्री कार्ल हाउजहोफेर ने विकसित किया और कहा जाता है कि हिटलर की युद्ध-नीति पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इस सिद्धान्त के अनुयायी यह मानते हैं कि किसी राष्ट्र का जीवन और नीति उसकी भौगोलिक परिस्थिति और देश-धारणा पर निर्भर होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

१. एफ० रातजल, 'पोलिटीशे गेओग्राफी' अध्याय १२-१५।

देश-धारणात्मक सम्बन्धों की प्रतिबिम्ब है। प्रत्येक संस्कृति एक अवयवी है जो अपनी मातृभूमि में बद्धमूल रहती है। इस भूमि का स्वरूप, रचना स्थिति और देश-विस्तार उसके जीवन की दिशा और गति को निर्धारित करते हैं। अतः राष्ट्रीय नीति के निर्माण के भौगोलिक तत्त्वों का प्राधान्य रहता है। रूस और जर्मनी का प्रदेश 'विश्वद्वीप' का 'हृदयस्थल' है। जो राष्ट्र इस प्रदेश पर अधिकार करेगा वह 'विश्वद्वीप' का स्वामी होगा और फलतः विश्व-साम्राज्य का अधिकारी होगा। अतः भू-राजनीति के अनुयायी जर्मनी के प्रसार और जर्मन-रूसी एकीकरण के प्रबल समर्थक थे। कहा जाता है कि जर्मनी और रूस में द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ में जो संधि हुई थी वह इन विचारकों की सबसे बड़ी सफलता थी। ऑस्त्रिया, चेकोस्लोवाकिया और पोलेण्ड आदि देशों में जर्मनी ने जो प्रसार और अधिकार की नीति अपनायी उसकी घोषणा भू-राजनीति के अनुयायी बहुत पहले कर चुके थे। प्रसिद्ध जर्मन विचारक ओस्वाल्ड स्पेंगर इस सिद्धान्त से काफी प्रभावित हुए थे। किन्तु रयुडोल्फ हेस के निष्कासन और जर्मन-रूसी युद्ध के आवि-र्भाव से इन विचारकों की भावना पर तुषारपात हो गया। आजकल वैज्ञानिक और आर्थिक प्रसार की प्रवृत्ति ने इस दर्शन को निरर्थक सिद्ध कर दिया है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसकी युद्ध-विषयक मान्यताएँ बड़ी मार्मिक थीं[१०]।

७. **मूजिओल**—पी० मूजिओल ने अपने ग्रन्थ 'ले प्रोब्लेम द् लिस्त्वार' (इतिहास की समस्या) और 'स्तातिक दे सिविलिज़ासियो' (सभ्यताओं का स्थिति-शास्त्र) में 'उँचाई का नियम' निर्धारित किया। उनके मतानुसार सबसे अधिक उन्नत और जनाकीर्ण प्रदेश तथा नगर ऊँचे प्रदेशों से निचले प्रदेशों की ओर सरकने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं। उत्तर के पर्वतीय प्रदेशों से सदा दक्षिण की ओर आक्रमण होते रहे हैं और इनसे इतिहास का ताना-बाना बनता रहा है। विशेषतः ट्यूटन जातियों के इतिहास में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। किन्तु इसके अपवाद भी अनेक हैं। भारत में मराठों ने दक्षिण से उत्तर की ओर अभियान किया और चोलों ने उनसे पहले उत्तर की ओर प्रसार किया।

१०. भू-राजनीति के सिद्धान्त की मीमांसा के लिए देखिये— डब्ल्यु० डब्ल्यु० वाइगर्ते, 'जर्मन जियोपोलिटिक्स' (अमेरिका फेसेस दि वर्ल्ड सीरीज) 'जर्नल्स एण्ड ज्योग्राफर्स' बुद्ध प्रकाश, 'दि ईस्टर्न क्वेश्चन इन यूरोपियन पोलि-टिक्स' मॉडर्न रिव्यू, अगस्त, १९४८।

८. **मत्तिऊजी**—एo मत्तिऊजी ने सिद्ध किया कि प्राचीन मिस्र, असुरिया, ईरान, यूनान, रोम आदि के राजनीतिक संगठन का आधार इन देशों की भौतिक परिस्थिति थी। मिस्र और खल्दिया में नील और दजला-फ़ात नदियों का प्रवाह अनियमित था। बाढ़ के दिनों में कहीं ज्यादा पानी हो जाता था, कहीं कम। अतः कुछ जनपद तो समृद्ध हो जाते थे और कुछ तंगी में आ जाते थे। उनमें पारस्परिक संघर्ष भभक उठता है। इस अशांति और अव्यवस्था को दूर करने के लिए सुदृढ़ केन्द्रीय प्रशासन की आवश्यकता थी। अतः मिस्र और सुमेर के साम्राज्यों का अभ्युदय हुआ। ईरान में नदियों का कार्य पर्वतों ने किया। उन्होंने प्रदेश को अनेक भूखण्डों में बाँट कर वैमनस्य को जन्म दिया और केन्द्रीयकरण की समस्या को तीव्र कर दिया। फिनिशिया में समुद्रतट और पर्वतमालाओं ने पृथकता की परिस्थिति उत्पन्न करके जनराज्य की परम्परा को दृढ़ किया। यूनान का राजनीतिक संगठन समुद्र, भूमि और पर्वतों का परिणाम था। मत्तिउजी ने अपने विचार अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ले फाक्तर द् लेवोल्यूसियों द्पप्ल' (जातियों के विकास के तत्त्व) में प्रकट किये।

मत्तिऊजी के विचार आंशिक रूप से ही ग्राह्य हैं। यह तथ्य कि एक ही प्रकार के केन्द्रीय शासन को वे नदी और पर्वत-जैसे विभिन्न तत्त्वों द्वारा समझाने की चेष्टा करते हैं उनके सिद्धान्त की दुर्बलता का परिचय देता है।

९. **वार्ड और गिलफिलन**—बहुत-से यूरोपीय विचारकों ने यह मत प्रकट किया है कि उत्तर के शीत कटिबन्ध के लोग दक्षिण के उष्ण कटिबन्ध के लोगों से अधिक समृद्ध, समुन्नत और पुष्ट होते हैं। मोंतेस्कयू, वाले, आदि के लेखों में इन विचारों की आवृत्ति मिलती है। वर्तमान काल में आर० वार्ड ने अपने 'क्लाइमेट' (जलवायु) शीर्षक ग्रन्थ में इन विचारों को वैज्ञानिकता का चोला पहनाने की चेष्टा की है। आर्य आदि उत्तरी जातियों ने भारत पर विजय प्राप्त करके जो साम्राज्य स्थापित किये, मंगोल, मंचू-जैसी जातियों ने चीन पर अधिकार करके जो व्यवस्थाएँ बनायीं और यूनानी, रोमन तथा ट्यूटनों ने यूरोपीय संस्कृति के निर्माण में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया वह इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए प्रमाणरूप से प्रस्तुत किया जाता है[11]।

११. आर० वार्ड०, क्लाईमेट, पृ० २३४-२३५।

प्रगति के फलस्वरूप यौद्धिक-पद्धति में जो युगान्तरकारी परिवर्तन हुए उनका भौगोलिक परिस्थिति से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार भू-राजनीति का सिद्धान्त भी थोथा हो जाता है। मत्तिऊजी के विचार इसी से खण्डित हो जाते हैं कि एक स्थान पर केन्द्रीय प्रशासन की व्याख्या वे नदियों द्वारा करते हैं तो दूसरी जगह पर्वतों द्वारा। एक-सी ही भौगोलिक परिस्थितियों में समोअन और माओरी जातियों ने सामन्ती और अभिजात व्यवस्थाओं को विकसित किया और पपुअन जाति ने सामूहिक साझे की पद्धति को अपनाया जिसमें शासक के लिए कोई स्थान नहीं था। वार्ड की धारणा के तो अनेक अपवाद हैं। पल्लव, चोल, मराठों को छोड़ते हुए भी यह स्पष्ट है कि सुमेरी और अक्कड साम्राज्यों के निर्माता दक्षिण के लोग थे और मिस्र में प्रारम्भ से दक्षिण के लोगों ने उत्तरी प्रदेशों पर आधिपत्य स्थापित किया। यदि गिलफिलन के सिद्धान्त पर विश्वास किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि एक दिन एस्कीमो और लैप संसार का आधिपत्य प्राप्त कर लेंगे जिसकी सम्भावना नहीं दीखती। मिस्र में ह्रास के युगों में राजनीतिक सत्ता का केन्द्र दक्षिण की ओर नहीं, उत्तर की ओर गया। इसी प्रकार पतनकाल में यूनानी सत्ता का केन्द्र दक्षिण के एथेन्स और स्पार्ता से उत्तर में मकदूनिया और बोतिया की ओर गया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त सब सिद्धान्त एकांगदर्शी हैं। मोरिस आर० कोहन ने इनकी समीक्षा करके लिखा है—

"इतिहासकार को भौगोलिक तथ्यों को इतिहास और संस्कृति के स्थायी नियामक तत्त्व नहीं समझ बैठना चाहिए, अपितु ऐसे तथ्य मानना चाहिए जो वैज्ञानिक प्रक्रियाओं तथा मानव बुद्धि और क्षमता के योग से महत्त्व प्राप्त करते हैं।"[१३]

अनुच्छेद ३—जातीय व्याख्या

१. जाति और संस्कृति—सामाजिक कार्य-कलाप में रक्त, जाति, पैतृकता आदि का महत्त्व बहुत प्राचीन काल से आँका जाता रहा है। ऋग्वेद में आर्य और दास की जातीय व्यंजना स्पष्टरूप से मिलती है। पतंजलि (दूसरी शती पू० ख्री०) तक के समय तक आर्य और शूद्र के भेद को श्वेत और कृष्ण वर्ण के अन्तर पर आधारित किया जाता रहा। वर्तमान काल में जातीय धारणाओं के अनेक रूप दृष्टिगत

१३. मोरिस आर० कोहन, 'दि मीनिंग आव ह्यूमन हिस्ट्री' पृ० १४८

होते हैं। बफन का विचार था कि समस्त जातियाँ एक आदिम श्वेत जाति की उपज हैं। विभिन्न जलवायु में इन्होंने विभिन्न रूप ग्रहण किये। ब्लूमनबाख ने वर्ण केश, मुख और शिर के भेद के आधार पर मानवता को काकेशी (यूरोपीय), मंगोल, हब्शी, अमेरिकी और मलयी इन पाँच जातियों में विभक्त किया। इसी साक्ष्य पर देनीकर ने सत्रह वर्ग निर्धारित किये जो उनतीस उपवर्गों में विभाजित किये गये। इसी आधार पर दकवर्थ ने सात प्रधान जातियों का वर्गीकरण किया। रिपले ने केवल तीन ही भेद बताये——नीलनेत्र सुदीर्घ नोर्दिक, श्याम वर्ण लघु-शिरस्क एलपीन और दीर्घशिरस्क मेदीतरेनियन। इस प्रकार हम देखते हैं कि जातिशास्त्रियों में कोई मतैक्य नहीं है।[१४]

जातियों के निर्धारण और वर्गीकरण के साथ जो संस्कृति का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है उसके द्वारा इतिहास की बहुत-सी व्याख्याएँ की गयी हैं। प्रायः प्रत्येक जाति के लोगों ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए इस विभाजन पर जोर दिया है। फ्रांस में आँरी द् बूलेंविए ने सिद्ध किया कि फ्रेंच अभिजात वर्ग फ्रेंक या जर्मन है और विजित वर्ग केल्त है और इनके सहजात गुणों में इतना अन्तर है कि पहले का दूसरे पर शासन करना अनिवार्य है। इसके विपरीत आबे सिएस ने यह सिद्ध किया कि तृतीय वर्ग (तिए एता) के लोग वास्तविक फ्रेंच हैं और अभिजात वर्ग विदेशी आगन्तुक है। अतः फ्रेंच क्रान्ति मूलतः फ्रांस देशवासियों द्वारा विदेशियों को निकालने का प्रयत्न है। वर्तमान काल में ऐसे ही कितने सिद्धांतों द्वारा सामाजिक और राजनीतिक भेदों को समझाने की चेष्टा की गयी है। यहाँ केवल चार-पाँच मतों का उल्लेख करना पर्याप्त है।

२. **गोबिनो**—जोज्फ् आर्थर द् गोबिनो (१८१६-८२) ने एक फ्रेंच अभिजात परिवार में जन्म लिया। १८४९ में उन्हें कूटनीति-विभाग में स्थान मिल गया और उन्होंने काफी यात्राएँ कीं। 'ले रिलिजियों ए ले फिलोसोफी दाँ लाजी साँत्राल', (मध्य-एशियाके धर्म और दर्शन) तथा 'इस्त्वार दे पर्स' (ईरान का इतिहास) उनके एशियाई भ्रमण के परिणाम थे। उन्होंने नाटकों और उपन्यासों के रूप में विश्व-संस्कृति का इतिहास लिखने की योजना बनायी। 'ला रिनेसांस'

१४. फ्रान्स्स बोआस, रेस, एनसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल सांइसेज, भाग १३, पृ० २५।

इस दृष्टिकोण से लिखी गयी उनकी प्रमुख रचना है। परन्तु गोबिनो की ख्याति उनके बृहदाकार ग्रन्थ 'एसे स्यूर लिनेगालिते दे रास इयुमें' (मानव जातियों की असमानता का प्रबन्ध) पर निर्भर है। इसमें उन्होंने रूढ़िवादी कैथोलिक के दृष्टिकोण से जनतंत्र की उमड़ती हुई भावना का विरोध किया।

गोबिनो के मतानुसार आरम्भ में तीन प्रमुख जातियाँ थीं—श्वेत, पीत और श्याम। इनमें श्वेतजाति सब से अधिक बुद्धिमान् और सर्जनशील थी। इसी ने दोनों गोलार्धों में दस प्रधान संस्कृतियों को जन्म दिया। किन्तु इस विकास और प्रसार की प्रक्रिया में अन्य जातियों से इसका सम्मिश्रण बढ़ा। अतः बहुत-से जातीय वर्ग और उनसे सम्बन्धित संस्कृतियों की उत्पत्ति हुई। किन्तु साथ ही साथ श्वेत जाति की पवित्रता नष्ट हो गयी और इसका ह्रास प्रारम्भ हो गया। ईसु मसीह के समय तक मानवता के इतिहास का स्वर्णयुग समाप्त हो गया। तब से सभ्यता पतनोन्मुख है। समानता की विचारधारा, जनतंत्र के आन्दोलन, जातीय संमिश्रण और वर्ण-संकर इस पतन के प्रतीक हैं।

गोबिनो पूर्वज-पूजा के समर्थक थे क्योंकि उनके मतानुसार इसके द्वारा जातीय चेतना को जाग्रत रखकर जाति की पवित्रता सुरक्षित रखी जा सकती है। वे जर्मनी के आधिपत्य के भी माननेवाले थे क्योंकि वे ट्यूट्न जाति में विशिष्ट गुणों का अस्तित्व मानते थे।[१५]

३. **चेम्बरलेन**—हाउसटन स्टीवार्ट चेम्बरलेन (१८५५-१९२७) जन्म से अंग्रेज थे, किन्तु जर्मनी के नागरिक बन गये थे। उन्होंने फ्रांस और जर्मनी में शिक्षा पायी, जनेवा में अनेक विद्याओं का अध्ययन किया और वेगनर के संगीत-क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्हें जर्मन जाति के नैसर्गिक गुणों में बड़ी निष्ठा थी। उन्होंने 'दी गुन्तलागन देज नयनत्सेन्तन यारहुन्दर्तस' (उन्नीसवी शती की पृष्ठभूमि) में अपने विचार प्रकट किये। यद्यपि वे जातियों की प्राकृतिक असमानता के समर्थक थे वे गोबिनों की तरह मौलिक और आदिम जातियों के अस्तित्व को नहीं मानते

१५. गोबिनो, 'एसे स्यूर लिंनगालिते दे रास इयुमें,' ४ भाग, बाद का संस्करण दो भागों में प्रकाशित हुआ। प्रथम भाग का अंग्रेजी अनुवाद कोलिन्स ने किया। जीवन-वृत्त के लिए सालोमीन का लेख एन साईक्लोपीदिया आव सोशल साइंसेज भाग ६, पृ० ६८३ में दष्टव्य है।

थे बल्कि उनका विचार यह था कि अनुकूल परिस्थितियों में जन-सम्मिश्रण की प्रक्रिया से जातियों का आविर्भाव हुआ। इस दृष्टि से श्वेत जाति सर्वाधिक भाग्यशाली सिद्ध हुई। इसी ने प्रमुख संस्कृतियों को जन्म दिया। यूनानी और रोमन संस्कृति इस जाति के एक विशेष आर्यनामधारी दल की कृति थी। उनके पतन पर यहूदी यूरोपीय इतिहास के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए और इसे अपने अच्छे और बुरे तत्त्व प्रदान किये। अन्त में फिर श्वेत जाति के ट्यूट्न नामधारी दल ने नेतृत्व सम्भाला और यूनानी, रोमन और यहूदी तत्त्वों के समन्वय से यूरोप की भव्य संस्कृति का सूत्रपात किया। रिनेसांस और रिफोर्मेशन दोनों ट्यूट्न जाति की उपज थी। विश्व का कल्याण इसी में है कि यह सकल संसार का नेतृत्व करती रहे।'[१६]

४. **गाल्टन**—सर फ्रांसिस गाल्टन (१८२२-१९११) इरेजमस डारविन के पौत्रों में से थे। उन्होंने चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करके अफ्रीका और सूडान में भ्रमण किया। जातिशास्त्र में उनकी विशेष रुचि थी। उनके मतानुसार मनुष्यों की शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियों के भेद के भीतर परम्परा और पैतृकता का अन्तर प्रच्छन्न रहता है। जातियों के पैतृक गुणों के परिवर्तन के फलस्वरूप समाज की ऐतिहासिक गतिविधि चलती रहती है। जाति के अनुरूप ही व्यक्तियों की प्रतिभा होती है। नीग्रो जाति ने किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति को जन्म नहीं दिया, यह जाति के प्रभाव का ही फल है। गाल्टन के विचार उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हेरेडिटरी जीनियस' (पैतृक प्रतिभा) में उपलब्ध हैं।

५. **पियरसन**—कार्ल पियरसन (१८५७-) ने सामाजिक, शारीरिक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों के अध्ययन के लिए गणितात्मक पद्धति को अपनाया। उनका सिद्धान्त यह है कि मानव-भेद पैतृक-प्रक्रिया द्वारा संक्रान्त होते हैं। पियरसन की तालिकाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। 'दि फन्कशन ऑव साइन्स इन दि मॉडर्न स्टेट', (वर्तमान राष्ट्र में विज्ञान का स्थान) उनकी प्रसिद्ध रचना है।

६. **अमोन**—एलफ्रेद ओतो अमोन (१८४२-१९१६) जर्मन समाज-शास्त्री थे। उन्होंने जनशास्त्र (एन्थ्रोपोलॉजी) के व्यावहारिक परीक्षण किये। बादन,

१६. चेम्बरलेन, 'दि फाउन्डेशन्स आव दि नाइनटीन्थ सेंचुरी' जॉन लीज का अंग्रेजी अनुवाद। एन्साइक्लोपीडिया आव सोशल साइंसेज में भाग ३ पृ० ६८३ में फ्रेंक हेन्किन्स का लेख।

कार्लसरूहे और फ्राइबुर्ग के सैनिकों और विद्यार्थियों के शारीरिक नापतौल से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि नगर के लोगों की खोपड़ि ाँ लम्बी होती हैं और ग्राम के लोगों की छोटी और चौड़ी। उनके मतानुसार लम्बी खोपड़ी प्रतिभा और उत्कृष्टता का लक्षण है। जब तक किसी समाज में लम्बी खोपड़ी वालों की संख्या अधिक रहती है तब तक उस समाज का उत्कर्ष होता है और चूंकि नागरिक अभिज्ञात और उच्च वर्गों के लोगों की ही खोपड़ियाँ लम्बी होती हैं अतः उनका उत्कर्ष ही सामाजिक उन्नति का परिचायक है। आजकल चूंकि यूरोप में उच्च वर्गों का निम्न वर्गों से सम्मिश्रण बढ़ रहा है और फलतः लम्बी खोपड़ी वालों की संख्या घट रही है, इसलिए सामाजिक ह्रास का श्रीगणेश हो गया है। अमोन ने अनेक ग्रन्थ लिखे, किन्तु उनका महत्त्वपूर्ण लेख 'इत्स्वार द्युन इदे, 'लाथ्र ोपोसोसियोलोज़ी' जो फ्रेंच भाषा में 'रव्यू ऍतरनासियोनाल द् सोसियोलोजी', भाग ६ (१८९८)। पृ० १४५-१८१ पर प्रकाशित हुआ, विशेष महत्त्व रखता है।

७. **लापूज**—अमोन से मिलते जुलते विचार फ्रेंच समाजशास्त्री वाशे द् लापूज ने अपने ग्रन्थ, 'ले सिलक्सियों सोसियाल' (पारी १८९६) (सामाजिक निर्वाचन), 'लायीं' सों रोल सोसियाल', (पारी १८९८) (आर्य और उनका सामाजिक कार्य) और 'रास ए मिल्यू सोसियाल' (पारी १९०९) जाति और सामाजिक परिस्थिति में अभिव्यक्त किये। लापूज आदिम और प्राकृतिक विशुद्ध जातियों के सिद्धांत में विश्वास नहीं करते। प्रत्येक व्यक्ति की शिराओं में विभिन्न जातियों का रक्त गतिशील रहता है। किन्तु फिर भी शारीरिक और मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के आधार पर विभिन्न जातीय वर्गों को निश्चत किया जा सकता है। यूरोप की जनता तीन जातियों में विभक्त की जा सकती है--(१) होमो यूरोपियस अथवा आर्य, इनका कद लम्बा, रंग चिट्टा और खोपड़ी लम्बी होती है, (२) होमो एलपियस, इनका कद कुछ छोटा, रंग कुछ कत्थई और खोपड़ी कुछ चौड़ी होती है और (३) होमो कन्ट्रेक्टस, इनका कद कुछ अधिक छोटा, रंग काला और खोपड़ी होमो यूरोपियस से ज्यादा और होमो एलपियस से कम चौड़ी होती है। इन जातियों के अलग-अलग गुण है—पहली महत्त्वाकांक्षी, कर्मण्य, प्रगतिशील और साहसी होती है, दूसरी परिश्रमी, मितव्ययी, सतर्क, भूमिप्रिय, संतोषी और परम्परा-वादी होती है, और तीसरी कर्मठ, आज्ञाकारी, प्रतिभारहित होती है। चरित्र का मानदण्ड मस्तिष्क और खोपड़ी की लम्बाई है। जब खोपड़ी ०. १९ से कम होती है तो शक्ति का लोप हो जाता है। अतः जब समाज में लम्बी खोपड़ी

वाले आर्यों की संख्या और प्रभुत्व बढ़ना है तो समाज की उन्नति होती है, अन्यथा इसका ह्रास होता है। आर्य जाति की यह उन्नति-अवनति सामाजिक निर्वाचन की प्रक्रिया पर निर्भर होती है जो सामरिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और व्यावसायिक परिस्थितियों पर आश्रित रहती है। किन्तु धीरे-धीरे सामाजिक सम्मिश्रण बढ़ रहा है और आर्यों की पृथकता और संख्या लुप्त होती जा रही है, फलतः संस्कृति का पतन हो रहा है।

८. आलोचनात्मक समीक्षा—उपर्युक्त जिन जातीय सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है उनमें बहुत कम सार है। आर्नेल्ड ट्वायनबी ने इन सिद्धान्तों का पूर्णतः खण्डन कर दिया है। ग्यारहवीं से सोलहवीं शतियों तक यूरोप के इतिहास में इटली की जो प्रमुखता रही उसका श्रेय बहुत-से जातिशास्त्री बर्बर आक्रमणों के फलस्वरूप इटली के लोगों के रक्त में गॉथ और लोम्बार्द रक्त के सम्मिश्रण को देते हैं। किन्तु सत्रहवीं और अठारहवीं शतियों के पतन और पराभव के पश्चात् उन्नीसवीं शती में इसका जो पुनरुत्थान हुआ, इसका कारण किस जाति का रक्त सम्मिश्रण माना जाये, इस विषय में ये सब जातिशास्त्री मूक हैं। वस्तुतः इस युग में कोई ऐसा आक्रमण नहीं हुआ जो इटली को स्फूर्ति प्रदान कर सकता। इसके अतिरिक्त जातीय महत्त्व का दृष्टिकोण वैयक्तिक और भावात्मक है। यदि यूरोपीय श्वेत-वर्ण और कंजी आँख और लम्बी खोपड़ी को महत्त्वपूर्ण समझते हैं तो जापानी केशहीनता को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। बहुत-सी जातियों का अस्तित्व ही संदेहास्पद है। मेक्स मूलर ने सिद्ध किया है कि वैज्ञानिक परिभाषा में 'आर्य' शब्द जातिवाचक नहीं है,अपितु भाषावाचक है।[१७] यदि हम पेन्का, कोसीना और उनके सम्प्रदाय के विद्वानों की स्थापना को मानते हुए यह भी स्वीकार करें कि आरम्भ में कोई न कोई ऐसा जातीय समूह अवश्य रहा होगा जो आदिम आर्य-भाषा का वाहन बना,[१८] तब भी यह अज्ञात रह जाता है कि उस वर्ग का ऐतिहासिक कार्य क्या रहा, वह कब तक जीवित रहा और कब अन्य जातियों में विलीन और संक्रान्त

१७. मेक्समूलर, 'कलेक्टेड वर्क्स' (१८९८), भाग १०, पृ० ९८।

१८. आर० एन० दाण्डेकर, 'दि एण्टीसीडेन्ट्स एण्ड दि अर्ली बिगिनिंग्स ऑव दि वैदिक पीरियड' 'प्रोसोडिंग्ज ऑव दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस (बम्बई) १९४७, पृ० २४।

हो गया।[१९] लापूज और अमोन ने सिद्ध किया कि आर्य जाति ही लम्बी खोपड़ी वाली है और इस कारण यह विश्व का नेतृत्व करने की क्षमता रखती है। किन्तु वर्तमान जन-शास्त्रियों ने यह प्रतिपादित किया है कि आस्ट्रेलियन, एस्कीमो, न्यू केलिडोनियन, होतनतोत, काफिर और पश्चिमी अफ्रीका के नीग्रो लोगों की खोपड़ियाँ काफी लम्बी होती हैं। फिर भी इन्होंने इतिहास में कोई प्रमुख भाग नहीं लिया।[२०] इस प्रकार जाति की मौलिक स्थापना असंयत और असंगत है और इसके आधार पर इतिहास की व्याख्या करना भ्रान्तिमूलक है।

आधुनिक विद्वानों ने विशेषतः दोबजन्सकी और होगबन आदि ने यह सिद्ध किया है कि मानव शरीर का ९० प्रतिशत भाग, तन्तु, पेशी, शिरा, अंग आदि सब जातियों में एक-जैसा है। आकस्मिक घटनाओं, पृथकता और परिस्थितियों के फल-स्वरूप शरीर के केवल ५ प्रतिशत भाग में अन्तर मिलता है। इन्हीं से आकृति सम्बन्धी भेद उत्पन्न हो गये हैं जो जातियों के लक्षण माने जाते हैं। किन्तु इन भेदों का कोई सम्बन्ध मानसिक या सांस्कृतिक विकाससे नहीं है। सीधे बाल या घुँघराले बाल, लम्बा तंग सिर या छोटा चौड़ा सिर इत्यादि शारीरिक भेद ऐतिहासिक प्रक्रिया से सर्वथा असम्बद्ध हैं। जहाँ तक खाल के रंगीन या काली होने का प्रश्न है, जिस पर जाति-शास्त्री बहुत जोर देते हैं, यह सिद्ध हो चुका है कि भूमध्यरेखा के प्रदेशों में यह सूर्य की किरणों से सुरक्षित रहने का एक प्राकृतिक आवरण है।[२१] इसके साथ कोई ऐसा भाव या गुण नहीं है जिसके आधार पर इन जातियों का तिरस्कार किया जाय।[२२] वास्तव में जैसा कि मोरिस ओपलर ने लिखा है—"मानव इतिहास शरीर के ह्रासोन्मुख महत्त्व और मन तथा संस्कृति के विकासोन्मुख महत्त्व की कथा है।"[२३]

१९. बटकृष्ण घोष, दि आर्यन प्रॉब्लम,' 'हिस्ट्री एण्ड कल्चर आव दि इण्डियन पीपुल,' भाग १, पृ० २०१-२०२।

२०. तोपिनार्द, 'एन्थ्रोपोलोजी' पृ० २४०-२४२।

२१. एशले मोटेंगू, 'मेन्स मोस्ट डेन्जरस मिथ' (१९४५) पृ० ३८-३९

२२. डब्ल्यु इ० केसिल, 'बायोलॉजिकल एण्ड सोशल कॉन्सीक्वेंसेज आव रेस क्रासिंग,' (अमेरिकन जर्नल ऑव फिजिकल एन्थ्रोपोलॉजी', भाग ९ (१९२६), पृ० १४५-१४६।

२३. मोरिस ओपलर, 'कल्चरल एण्ड ऑर्गेनिक कन्सेपशन्स, इन हिस्ट्री,' 'अमेरिकन एन्थ्रोपोलॉजिस्ट' (१९४४), भाग ४६, पृ० ४५५।

जाति का सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक तो है ही, साथ ही संकट-जनक भी है जैसा कि नात्सी-जर्मनी के उदाहरण से सिद्ध हो चुका है।

अनुच्छेद ४——जनसंख्यात्मक व्याख्या

१. **पृष्ठभूमि**—संस्कृति के उत्थान-पतन में जनसंख्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अफलातूं के 'गणतंत्र' में जनसंख्या और लोकमंगल का घनिष्ठ सम्बन्ध निर्धारित किया गया है। उनके मतानुसार जनसंख्या को शारीरिक और स्वास्थ्य-सम्बन्धी आधार पर नियंत्रित करना आवश्यक है, किन्तु अरस्तूं ने इस आधार को अस्वीकार करके सम्पत्ति के दृष्टिकोण से जनसंख्या को नियमित करने का विधान प्रस्तुत किया। रोमन युग में विवाह और वंशवर्धन को प्रोत्साहन दिया जाने लगा क्योंकि अभिजात वर्गों का विस्तार कम होता जा रहा था। मध्यकाल में इस विषय की विशेष चर्चा नहीं हुई। किन्तु पुनरुत्थान युग में मेकियावली ने दुर्भिक्ष और महामारी द्वारा जनसंख्या के नियमन के सिद्धान्त को स्वीकार किया और बोतेरो ने यौन-प्रवृत्ति की उग्रता और खाद्य-सामग्री की सीमित उपलब्धि की चर्चा करके मालथस के कुछ विचारों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। इसके बाद सर मैथ्यू हेल, सर विलियम पेटी और योहान पीतर स्यूसमिल्स के लेखों में जनसंख्या के गुणात्मक वृद्धि के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। १७८९ में मालथस ने 'एसे आन दि प्रिंसिपिल ऑव पॉपुलेशन' (जनसंख्या के सिद्धान्त पर निबन्ध) प्रकाशित किया। उनका विचार था कि जनसंख्या में गुणात्मक वृद्धि होती है और खाद्य-सामग्री में योगात्मक वृद्धि होती है। फलतः जनसंख्या खाद्य-साधनों से आगे निकल जाती है और इसका भरण-पोषण कठिन हो जाता है। यदि बुद्धिमत्ता से इसकी वृद्धि को नियत्रित न रखा जाय तो युद्ध, दुर्भिक्ष, महामारी और क्षय द्वारा इसमें प्राकृतिक कमी होने लगती है। उनके मतानुसार साम्यवाद, निर्धन-सहायता-अधिनियम आदि व्यर्थ के ढंकोसले हैं। वास्तविक प्रश्न जनसंख्या के नियंत्रण का है। मालथस के सिद्धान्त बहुत प्रचलित हुए, किन्तु उनका कड़ा विरोध भी चल पड़ा। कुछ लोगों ने यह सिद्ध किया कि जनसंख्या स्वयमेव प्राकृतिक कारणों द्वारा नियंत्रित रहती है। सर आर्चिबाल्ड एलीसन ने यह विचार प्रकट किया कि यद्यपि खाद्य सामग्री के साधनों में स्वाभाविक वृद्धि होती है, जनसंख्या का नियमन भी आवश्यक है और समुन्नत समाज में बौद्धिक नियंत्रण और कृत्रिम उपायों द्वारा यह आवश्यकता पूरी होती है। वृद्धि की प्रवृत्ति निस्सन्देह प्रबल है, किन्तु नियमन की प्रवृत्ति भी कुछ कम प्रबल

नहीं है। १८५० के पश्चात् औद्योगिक उन्नति और यूरोपीय प्रसार के फलस्वरूप जनसंख्या की समस्या से ध्यान हट गया और मालथस के विचारों को उपहासास्पद तथा निराशामय माना जाने लगा। इधर यूरोप में जन्म-स्तर गिर गया और युद्ध-शास्त्रियों तथा राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञों को चिन्ता होने लगी। प्रथम महायुद्ध से पहले जनसंख्या की अवनति इस विषय के साहित्य का प्रमुख केन्द्रस्थल था। कुछ विचारकों की धारणा थी कि जन्म-विरोधक सामग्री के प्रचार और प्रयोग से जनसंख्या घट रही है, किन्तु टॉमस जेरोल्ड आदि का विचार था कि मानव उत्पादकता और उर्वरता दोनों में प्राकृतिक और शारीरिक कारणों से कमी हो रही है। इधर मार्क्स और उनके अनुयायियोंने मालथस के सिद्धान्तों का खण्डन किया और यह सिद्ध किया कि समाजवादी व्यवस्था में खाद्य सामग्री की कमी और जनसंख्या की वृद्धि का कोई प्रश्न नहीं रहेगा क्योंकि आर्थिक समृद्धि समान सार्वजनिक वितरण के लिए प्रस्तुत होगी। आजकल मालथस के सिद्धान्त को अतीत का गल्प समझ लिया गया है, किन्तु जनसंख्या के दृष्टिकोण से इतिहास की प्रक्रिया की कई व्याख्याएँ सामने आ गयी हैं।[२४] इनमें से कुछ की चर्चा यहाँ अभीष्ट है।

२. आदोल्फ कोस्त—आदोल्फ कोस्त (१८४२-१९०१) फ्रेंच समाजशास्त्री और समाजशास्त्र सभा के प्रधान थे।[२५] उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ले प्रिंसिप द्युन सोसियोलॉजी आब्जेक्टिफ', (पेरिस १८९९) तथा 'लेक्सपीरियांस दे पप्ल ए ले प्रेविजियों केल ओतोरिज़' हैं। उनका विचार था कि सामाजिक तथ्य विकास के रेखात्मक पथ का अनुसरण करते हैं। जनसंख्या की वृद्धि और घनत्व से इस विकास की दिशा निश्चित होती है। जैसे जैसे जनसंख्या की वृद्धि होती है, सामाजिक विभाजन और संतुलन बढ़ता है और आदान-प्रदान की प्रक्रिया तीव्र होती है, संस्कृति और सभ्यता उन्नति करती है। नील, खल्दिया, भारत और चीन में जनसंख्या की वृद्धि से सभ्यता का विकास हुआ। जब तक जनसंख्या का आकार और

२४. ए० एम० कार साउन्डर्स, 'दि पॉपुलेशन प्रॉब्लम ए स्टडी इन ह्यूमन एवोलूशन' (आक्सफोर्ड १९२२)

२५. आ० एल० द्युप्रा, 'आदोल्फ कोस्त,' एन्साइक्लोपीडिया आव दि सोशल साइन्सेज भाग ४ पृ० ४८४

घनत्व बढ़ता रहा ये समाज उन्नति के पथ पर आरूढ़ रहे और जनसंख्या का ह्रास होते ही इनकी अवनति प्रारम्भ हुई।

३. **गिनी**—कोरदो गिनी रोम विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्राध्यापक रहे। ये इटली की सांख्यिकी संसद के प्रधान, 'मेत्रोन' पत्रिका के सम्पादक और अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों के लेखक हैं। उनकी प्रसिद्ध रचना 'ई फत्तोरी देमोग्राफिची देल एवोलूजियोन देल्ले नाजियोनी', (जातियों के विकास के जनसंख्यात्मक तत्त्व) हैं। इसमें उन्होंने जनसंख्या की उन्नति-अवनति द्वारा संस्कृति के उत्थान-पतन और इतिहास की गतिविधि की व्याख्या प्रस्तुत की है। उनकी विचारधारा इस प्रकार है।

सामाजिक विकास के प्रारम्भ में जनता की उत्पादकता और उर्वरता बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है। इससे जनसंख्या में वृद्धि होती है और सामाजिक विभाजन बढ़ता है। धीरे-धीरे अभिजात और निम्नवर्गों की उर्वरता में अन्तर होने लगता है। किन्तु अभिजात वर्गों की तीव्र वृद्धि से देश की जनसंख्या अधिक हो जाती है। जनता निवास के लिए नूतन प्रदेश ढूंढ़ने लगती है। उपनिवेश, प्रसार, साम्राज्य और सामरिकता का बोलबाला हो जाता है। राष्ट्रीय और जातीय भावना दृढ़ हो जाती है। युद्ध और उन्नति की दुन्दुभि बजने लगती है। किन्तु युद्ध और निष्कासन तथा बहिर्गमन से समाज के उत्तम तत्त्व क्षीण हो जाते हैं। निम्न वर्गों की उर्वरता कम हो जाने के कारण जनसंख्या घटने लगती है। निम्न वर्गीय लोग समाज पर छा जाते हैं। उनकी प्रतिभा और क्षमता साधारण होती है। वे समाज के केन्द्रस्थलों पर अधिकार करके कार्यस्तर को गिरा देते हैं। अभिजात और निम्न वर्गों के भेद दूर हो जाते हैं। जनतंत्र का आगमन होता है। जनसंख्या की अवनति और उपनिवेशों के शोषण के कारण आर्थिक समृद्धि तो बढ़ती है, जीवन का स्तर भी उठता है। विलासिताएँ बढ़ती हैं, कला, व्यापार और उद्योगों की उन्नति होती है, किन्तु शान्तिप्रियता और सार्वजनिकता भी छा जाती है। इससे राष्ट्रीयता का ह्रास और कर्मण्यता का क्षय होता है। पतन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। पतन का प्रथम लक्षण जनसंख्या की कमी होता है। ग्राम से लोग नगर की ओर अधिक बढ़ते हैं और खेतीबाड़ी में कमी आ जाती है। फलतः आर्थिक विपन्नता पैदा होती है। नागरिक और औद्योगिक वस्तुओं के खरीदार लुप्त हो जाते हैं। अतः आर्थिक-संकट, श्रम-विप्लव, जनक्रान्ति, अधिनायकशाही आदि का साम्राज्य हो जाता है। समाज पतित और मृत हो जाता है। गिनी ने इस दृष्टि-

कोण से रोम, यूनान और फ्रांस के इतिहास का अध्ययन किया है। उनका विचार है कि फ्रांस और यूरोप का इतिहास पतन की ओर चल रहा है।

४. कार्ली—गिनी से मिलते-जुलते कार्ली के विचार हैं। वे मानते हैं कि समाज की उर्वरता के कम होने से आविष्कारों की संख्या में कमी हो जाती है और जाति की 'आशा और सम्भावना' (ला फेदे नेल्ले पोसीविलीता) फीकी पड़ जाती है। इससे आर्थिक क्षेत्र में भयानक प्रतिक्रिया होती है। मनोविज्ञान ही बदल जाता है। समाज की एकता लुप्त हो जाती है। व्यक्तिवाद और स्वार्थ बढ़ जाता है। राष्ट्र के उत्कर्ष और महत्त्व के आदर्श के स्थान पर धनलिप्सा और जिघृक्षा बढ़ जाती है। सामरिक वीरता का पद शान्तिमय विलासिता को मिल जाता है। जैसे-जैसे अभिजात वर्ग क्षीण होते जाते हैं, समाज का पतन और संस्कृति का क्षय होता जाता है, क्योंकि अभिजात वर्गों की एकता और वृद्धि ही सामाजिक उत्कर्ष का लक्षण और कारण हैं। कार्ली ने अपने विचार अपने ग्रन्थ 'लेक्वीलिब्रियो देल्ले नाजियोनी' में व्यक्त किये हैं।

५. आलोचनात्मक समीक्षा—जनसंख्या-सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्तों में इतना सार तो अवश्य है कि इसकी वृद्धि की चुनौती से जातियाँ नवीन सर्जन कार्य में प्रवृत्त होती हैं। यूनान में जब जनसंख्या बढ़ी तो कोरिन्थ और केलिसस ने उपनिवेशीकरण की नीति अपनाग्री, स्पार्ता ने अपने पड़ोसियों को लूटने-खसोटने का काम शुरू किया और एथेन्स ने अपनी आर्थिक व्यवस्था और राजनीतिक संगठन को ठीक करके उत्पादन में वृद्धि की और निर्यात को बढ़ाया। परन्तु यह बात कि एक ही चुनौती की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुई इस तथ्य की द्योतक है कि ऐतिहासिक गतिविधि का सार मनुष्य की सर्जनशक्ति है।

गिनी और कार्ली का सिद्धान्त यूनान और रोम के इतिहास पर आधारित है। यह चीन और भारत पर लागू नहीं होता। पतन और अवनति के अनन्तर भी चीनी और भारतीय समाज अब तक जीवित है और इतिहास के संग्रहालय की वस्तु नहीं बने। यदि यह माना जाय कि इन देशों के उच्च वर्गों की उर्वरता में कमी नहीं आयी तो इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि उर्वरता की न्यूनता या अधिकता कोई सार्वभौम नियम नहीं है। यह सत्य है कि परिवार और संतति के प्रति विरक्ति और फलतः जनसंख्या का ह्रास पतन का एक लक्षण है, किन्तु यह इस प्रक्रिया का कारण नहीं बन सकता। बहुधा यह भी देखने में आया है कि जनसंख्या की कमी-बेशी से संस्कृति की गति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। आधुनिक जनसंख्या-

विशेषज्ञ वाल्टर एफ० विलकोक्स ने सिद्ध किया है कि १७५० से पहले एशिया की जनसंख्या अन्य प्रदेशों की जनसंख्या से ज्यादा बढ़ रही थी। १७५० के बाद यूरोप की जनसंख्या का स्तर बढ़ा। किन्तु एशिया में मध्यकालीन अन्धकार मंगोलों के ठीक बाद ही शुरू हो चुका था जबकि यूरोप में पुनरुत्थान के प्रभात में आधुनिक संस्कृति का अरुणोदय हो रहा था।[२६] अतः यह निश्चित-सा है कि जनसंख्या की उन्नति-अवनति द्वारा इतिहास की बोधगम्य व्याख्या नहीं हो सकती।

अनुच्छेद ५—शारीरिक व्याख्या

१. पृष्ठभूमि—इस प्रबन्ध में हमने अनेक स्थलों पर समाज और संस्कृति की शारीरिक व्याख्याओं की ओर संकेत किया है। इनके अनुसार समाज एक जीवधारी शरीरी है और इसका इतिहास शरीरी के जीवन के सदृश उत्पत्ति, विकास, प्रौढ़ता, ह्रास और क्षय की प्रक्रियाओं में से होकर चलता है। अफलातूं और अरिस्तू ने 'पोलिस' के अवयवित्व के यथेष्ट संकेत किये। ईसाई विचारकों ने अपने धर्म-संघ को ईसु मसीह का 'कोर्पस मिस्तिकम' (रहस्यमय शरीर) घोषित किया। अलथूसियस ने, 'कोर्पस मिस्तिकम' के सिद्धान्त के स्थान पर 'कोपर्स सिम्बियोतिकम' की विचारधारा को प्रस्तुत करके समाज के अवयवित्व का प्रतिपादन किया और इसे व्यक्तियों के अस्तित्व से पृथक् और स्वतन्त्र सिद्ध किया। पुनरुत्थान काल के विचारकों ने भी इस दृष्टिकोण को महत्त्व दिया। हॉब्स की, 'लेवियाथान' के मुख-पृष्ठ पर समाज को एक विशाल दानव के रूप में चित्रित किया गया जिसके अंग-प्रत्यंग में अनेक व्यक्तियों के शरीर सन्निहित हैं। जर्मन रोमान्तिक विचारधारा भी समाज और राष्ट्र के अवयवित्व पर आधारित थी। इसे तार्किक, बौद्धिक, यांत्रिक दृष्टिकोण पसन्द न था। कारूस और काप यंत्र और अंग की समानता पर जोर देते थे और बर्क और हेरदर समस्त प्रकृति और संस्कृति को शरीरी के समान विकास और विलय की प्रक्रिया के अधीन समझते थे। नोवालिस, म्यूलर और साविग्नी ने बुद्धिप्रधान व्यक्ति के स्थान पर अटल

२६. डब्ल्यु० एफ० विलकोक्स, 'इण्टरनेशनल माइग्रेशन्स' भाग २, पृ० ८०; आर० आर० कुजिंस्की, 'पॉपुलेशन,' एनसाइक्लोपीडिया ऑव दि सोशल साइन्सेज, भाग १२, पृ० २४२-२४८।

सामूहिकता को महत्त्व दिया। ये विचारक प्राकृतिक शासन और सामाजिक समय (सोशल कन्ट्रैक्ट) की मान्यताओं को भ्रामक समझते थे। निमित्त कारण के स्थान पर उपादान कारण (टेलियोलोज़ी) इनकी गवेषणा का मुख्य विषय था। अतः शरीर सम्बन्धी प्रतीकों, विचारों और धारणाओं का बोलबाला हो गया। उन्नीसवीं शती के समाजशास्त्रियों ने इस विचारधारा को समाज के स्वतंत्र अध्ययन की आधारशिला बनाया। फिजियोक्रेट अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक प्रक्रिया को रक्त-वहन-प्रक्रिया के समान सिद्ध किया। ऑगस्त कोम्ते ने तो समाजशास्त्र को जीवशास्त्र पर आधारित कर दिया। उन पर बिशा के विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार स्पेन्सर, मिलने-एडवर्डस् और फान बायर के सिद्धान्तों पर मुग्ध हो गये जिन्होंने समान (होमोजेनस) स्तर से विभिन्न (हेटरोजेनस) स्थिति तक के शारीरिक विकास का प्रतिपादन किया था। इसी प्रकार श्येफले ने श्लाइदन और श्वान की मान्यताओं को आत्मसात् किया। डार्विन के विकासवाद ने सामाजिक और ऐतिहासिक अध्ययन की दिशा ही बदल दी।[२७] प्रत्येक विचारक पर किसी न किसी रूप में इन मान्यताओं का प्रभाव पड़ा। जो विचारक स्पष्टतः इनका विरोध करते थे उन्होंने भी किसी न किसी रूप में उनका प्रभाव स्वीकार किया। बाल्श ने सिद्ध किया है कि यद्यपि ट्वायनबी शरीरी भावना के विपरीत हैं; फिर भी वे अवयवी दृष्टिकोण के लेखकों, उदाहरणार्थ स्मट्स और व्हाइटहैड, की बारम्बार चर्चा करते हैं। जब वे किसी संस्कृति (सिविलिजेशन) को किसी चुनौती (चैलेंज) के उत्तर (रेस्पॉन्स) के रूप में प्रस्तुत करते हैं तो वे शारीरिक व्याख्या के बहुत निकट पहुंच जाते हैं। इब्नखल्दून और स्पेंगलर तो इस भावना से पूरी तरह ओतप्रोत हैं। यहाँ हम कुछ प्रमुख विचारकों की चर्चा करना पर्याप्त समझते हैं।

२. **स्पेन्सर**—हर्बट स्पेन्सर (१८२०-१९०३) ने जीव और यंत्र विज्ञान की

२७. एफ० डब्ल्यु० कोकर, 'ओर्गेनिज्मिक थियरीज़ ऑव दि स्टेट' (न्यूयार्क १९१०); हेरी एमर बर्निस, 'रिप्रेज़ेन्टेटिव बायोलोजिकल थ्योरीज़ ऑव सोसायटी,' सोशियोलोजिकल रिव्यू, भाग १७ (१९२५), पृ० १२५-३०, १८२-९४, २९४-३००।

२८. डब्ल्यु एस० वाल्श, 'एन इन्ट्रोडक्शन टु फिलोसोफी ऑव हिस्ट्री' (लन्दन १९५८) पृ० १६६

शिक्षा प्राप्त की और १० वर्ष तक इंजीनियिर का कार्य किया।[२९] उनके ग्रन्थों में, 'सोशल स्टेटिक्स', 'प्रिंसिपिल्स आ़व सोशियोलॉजी' और 'मैन वर्सस दि स्टेट' महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने डार्विन से छः वर्ष पूर्व प्राकृतिक निर्वाचन (नेचुरल सिलेक्शन) और योग्यतम का संरक्षण (सरवाइवल ऑव दि फिटेस्ट) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। स्पेन्सर का प्रश्न है कि 'समाज क्या है?'। उनका उत्तर है कि 'समाज एक शरीरी है'। समाज और जीवधारी शरीरी के विकास और क्षय की समान प्रक्रिया है। इनके अवयवों और व्यापारों का प्रभेद समान रूप से प्रकट है और इनके अंगों का संतुलन भी समान सिद्धान्त पर आधारित होता है। इसी प्रकार इनके पोषक, वितरणकारी और नियामक विधानों का संगठन एक-जैसा होता है।

३. **लिलिनफेल्द**—पावेल फेदोरोविच लिलिनफेल्द (१८२९-१९०३) एक अभिजात स्वेदिश परिवार के रूसी समाजशास्त्री थे। सन्त पीतर्सबर्ग में शिक्षा प्राप्त करके उन्होंने अनेक न्याय-पदों पर कार्य किया। इसके बाद वे कुरलैण्ड के राज्यपाल रहे। उन्होंने शौकिया समाजशास्त्र का अध्ययन किया। वे १८९७ से १८९८ तक समाजशास्त्र की अन्तर्राष्ट्रीय संसद के प्रधान रहे। उनकी मुख्य कृति 'गेदान्कन युबेर डी सोसियाल विज़नशाफट डेयर त्सुकुत्सुकुम्फत' (भविष्य के समाजशास्त्र पर कुछ विचार) हैं। लिलिनफेल्द समाज को शारीरिक व्याख्या की चरम सीमा तक ले गये। उन्होंने सामाजिक विवेचन में अधिकतर जीव-विज्ञान की शब्दावली का प्रयोग किया। वे समाज को प्रकृति का ही एक रूप समझते थे। समाज में उन्हीं तत्त्वों की उच्चतम अभिव्यक्ति है जो प्राकृतिक वस्तुओं और विधानों में प्रच्छन्न हैं। वरवोर्न की परिभाषा का उपयोग करते हुए उन्होंने शरीरियों के पाँच विभाग किये हैं। कोशा (सेल), स्नायु (टिशु) अर्थात् कोशाओं का समूह, अंग (ऑर्गन) अर्थात् स्नायुओं का समूह व्यक्ति (परसन) अर्थात् अंगों का समूह और समाज (सोसायटी) अर्थात् व्यक्तियों का समूह। यदि समाज और सामान्य शरीरी में कोई भेद है भी तो उसका कारण यह है कि समाज एक विशेष प्रकार का शरीरी है जिसमें संतुलन और एकीकरण कुछ ढीला होता है। यह ठीक है कि समाज

२९. सी० ई० एम० जोड, 'हर्बट स्पेन्सर,' एनसाइक्लोपीदिया ऑव दि सोशल साइन्सेज़, भाग १४, पृ० २९५।

के अंग अर्थात् व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से विचरण-शील होते हैं, किन्तु इसी प्रकार शरीर के कुछ कोशा भी होते हैं जिन्हें 'स्परमेटोजोइड्स' कहते हैं।

४. **श्याफले**—एलबर्ट एबरहार्ड फ्रेडरिख श्याफले (१८३१-१९०३) जर्मन समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री थे। आरम्भ में वे साधारण अध्यापक और पत्रकार थे, किन्तु बाद में त्यूबिंगन में प्राध्यापक हो गये। उनकी मुख्य कृतियों में समाज की शारीरिक व्याख्या को दोहराया गया है। कहीं कहीं तो उनके विचार बड़े विचित्र हो गये हैं। उदाहरण के लिए वे सेना, पुलिस, दुर्ग आदि को 'रक्षात्मक स्नायु' बताते हैं जो जीवधारियों के, 'एपीडरमल टिशु' का कार्य करता है। शिक्षा-सम्बन्धी और बौद्धिक संस्थाएं शिरा-तंत्र का कार्य करती हैं, किन्तु उन पर हेगेल और शीलिंग के आदर्शवाद की गहरी छाप है। वे व्यक्तिवाद के विरुद्ध हैं और सामूहिकता से वैयक्तिकता की ओर चलते हैं। प्रगति में भी उनकी निष्ठा है और वे समाजवाद के समर्थक हैं।

५. **वर्मेस्**—रने वर्मेस (१८६९-१९२६) प्रसिद्ध फ्रेंच अर्थशास्त्री एमिल वर्मेस के पुत्र थे। उन्होंने विविध विषयों का गम्भीर अध्ययन किया। उन्होंने, 'रव्यू ऍतरनासियोनाल द् सोसियोलॉजी', का प्रवंतन किया और १८९५ में 'सोसिएते द् सोसियोलॉजी', की स्थापना की। 'ऑर्गेनिज्म ए सोसिएते' उनका प्रमुख ग्रन्थ है। उन्होंने शारीरिक व्याख्या को परिपुष्ट रूप प्रदान किया। उनके मतानुसार सामान्य शरीरी और समाज में यदि कुछ भेद है तो इस कारण कि समाज एक विशेष प्रकार का शरीरी है जिसका व्यवहार एवं व्यापार विचित्र है। किन्तु इसके विकास और ह्रास की प्रक्रिया एक-जैसी है। युद्ध-काल में समाज का अवयवित्व पूर्णतः प्रकट हो जाता है।

६. **नोविकोव**—याकोव एलेग्जेन्द्रोविच नोविकोव (१८४९-१९१२) रूसी समाजशास्त्री थे जिन्होंने फ्रेंच भाषा में लेखन-कार्य किया। उन्होंने अपने अनेक ग्रन्थों में शारीरिक व्याख्या का प्रतिपादन किया। समाज और शरीरी की समानता को सिद्ध करते हुए उन्होंने अभिजात वर्ग को तन्तु-विधान सिद्ध करने की चेष्टा की। उनकी धारणा है कि शरीरियों का समूह निश्चित रूप से शरीरी है। समाजशास्त्रियों के प्रबल विरोध के पश्चात् भी वे इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। उनके विचारों को ला फेरिएर, क्येलेन और रॉबर्ट्स ने ग्रहण किया है। इतिहास के क्षेत्र में इन स्थापनाओं पर स्पेंगलर ने भव्य प्रासाद खड़ा किया है जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

७. आलोचनात्मक समीक्षा—इसमें संदेह नहीं कि शरीरियों के समूह का व्यवहार बहुत कुछ उनकी जीवनचर्या पर निर्भर होता है।[३०] शरीरियों के व्यवहार के अनुरूप ही समाज का व्यवहार होता है। जब शरीरी कार्यशील होते हैं तो समाज भी कार्यशील होता है और जब शरीरी सुषुप्त हो जाते हैं तो समाज भी अकर्मण्य बन जाता है। व्यक्तियों की शक्ति, सदाचार और सद्व्यवहार पर ही समाज की उन्नति और प्रगति निर्भर होती है। जब व्यक्तियों में शिथिलता आ जाती है, दरिद्रता और भ्रष्टाचार बढ़ जाता है, पारस्परिक कलह और वैमनस्य भभक उठता है, युद्ध छिड़ जाते हैं, जनशक्ति का क्षय होने लगता है तो समाज की हानि और पतन होने लगता है। मिस्र, सुमेर, खत्ति आदि समाज इसी प्रकार पतन के पथ पर चल कर लुप्त हो गये। अतः समाज के विकास और ह्रास की प्रक्रिया व्यक्तियों के विकास, ह्रास की प्रक्रिया के अनुरूप चलती है। इस दृष्टि से शारीरिक व्याख्या में कुछ सार तो अवश्य है, किन्तु इसके समर्थक सिद्धान्तों की बाढ़ में बहकर यथार्थ स्थिति से इतने दूर पहुँच जाते हैं कि उनके विचार उपहासास्पद हो जाते हैं।

समाज व्यक्तियों का समूह अवश्य है किन्तु इसकी उपज नहीं है। व्यक्तियों की उन्नति समाज के विकास के साथ साथ चलती है। डी रोबर्टी, एसपीनास, इजूले, कूले, द्राविस्को आदि समाज-विचारकों ने सिद्ध किया है कि मानव व्यक्तित्व के बहुत-से महत्त्वपूर्ण पक्ष सामाजिक प्रक्रिया से उत्पन्न होते हैं।[३१] समाज का संग-ठन व्यक्तियों की इच्छा-शक्ति पर निर्भर न रहकर अपने जीवन की आन्तरिक प्रवृत्तियों से निष्पन्न होता है। अतः व्यक्ति समाज से विच्छिन्न नहीं हो सकता। समाज का अस्तित्व व्यक्ति से परे है। यहाँ तक भी समाज के विकास और ह्रास की बात समझ में आती है किन्तु समाज को शरीरी के रूप में प्रस्तुत करने की कल्पना वाग्जाल के अतिरिक्त कुछ नहीं है। किसी सामाजिक शरीरी का अस्तित्व निरीक्षण

३०. पितिरिम ए० सोरोकिन, 'कन्टेम्पोरेरी सोशिलॉजिकल थियरीज,' पृ० २०१

३१. डी० रोबर्टी, 'नूवो प्रोग्राम द् सोसायोलोजी' अध्याय १–४, जे० इजूले, 'ला सिते मोदर्न पृ० ५८८-६००, डी० द्राधिस्को, 'द्यु रोल द् लेंदिविद्यु दाँ ल् देतार्मिनिज्म सोसियाल' पृ० १२१ आदि

अथवा परीक्षण द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। द्युपार ने इस प्रकार के प्रयत्न का हास्यमय व्यंगचित्र खींचा है।

अनुच्छेद ६—सामरिक व्याख्या

१. **पृष्टभूमि**—अति प्राचीन काल से युद्ध को मानव कार्यकलाप में अत्यन्त महत्त्व दिया जाता रहा है। हिरेक्लीतस ने लिखा है कि युद्ध सब वस्तुओं का पिता है। एम्पीदोक्लीज़ ने जीवन-संघर्ष और योग्य-निर्वाचन के सिद्धान्त की व्यंजना की। सिनेका ने युद्ध के महत्त्व का प्रतिपादन और समर्थन किया। एशिया में जिन्दावेस्ता का प्रमुख सिद्धान्त ही यह था कि 'विश्व का इतिहास सतत संघर्ष का कथानक है'। वेद में इन्द्र और वृत्र के युद्ध को प्रमुखता दी गयी है और गीता में युद्ध करना क्षत्रिय का सहजात धर्म घोषित किया गया है। किन्तु यूरोप में उन्नीसवीं शती में स्पेन्सर और डार्विन की गवेषणाओं के फलस्वरूप युद्ध की विचारधारा को सैद्धान्तिक रूप प्राप्त हुआ। तब से समाजशास्त्र के क्षेत्र में, संघर्ष (स्ट्रगल आॅव एग्जिस्टेन्स), योग्य-निर्वाचन, (सरवाइवल आॅव दि फिटेस्ट) और संतुलन, (एडेप्टेशन) की बड़ी चर्चा हुई। नोवीकोव्, फेरी, बर्नहार्दी, वकारो, मुसोलिनी, सोफिसी आदि के लेखों में इस विषय का विशद विवेचन मिलता है।

२. **गुमप्लोविज**—लुडविक् गुमप्लोविज (१८३८-१९०९) पोलैण्ड के समाजशास्त्री थे। उन्होंने एक यहूदी परिवार में जन्म लिया, १८६३ की पोलिश क्रान्ति में भाग लिया, फिर वे ग्राज में कानून के अध्यापक रहे और अन्त में केन्सर की पीड़ा से बचने के लिए उन्होंने विष द्वारा आत्महत्या कर ली। उनके अनेक ग्रन्थों में 'रासे उन्द स्तात' (जाति और राष्ट्र) और 'देयर रासनकाम्फ' (जातियों का संघर्ष) प्रसिद्ध हैं। उनके मतानुसार सभ्यता का इतिहास विभिन्न तत्त्वों के अनन्त संघर्ष की कथा है। पहले विभिन्न जातियों में युद्ध हुए, फिर राष्ट्रों के उत्थान के पश्चात् उनमें युद्ध चले और अब प्रत्येक के अन्तर्गत वर्गों में युद्ध छिड़ रहा है। युद्ध मानव विकास का एक आवश्यक स्वरूप है।

३. **रातजनहोफर**—गुस्ताफ रातजनहोफर (१८४२-१९०४) ने गुमप्लोविज के विचारों को ग्रहण किय। उनके पिता ऑस्त्रिया के एक घड़ीसाज थे। १८५९ में उन्होंने सेना में प्रवेश किया। १९०१ तक वे वियना के उच्च सैनिक न्यायालय के प्रधान रहे। उन्होंने समर-शास्त्र के अतिरिक्त समाजशास्त्र का भी गम्भीर अध्ययन किया।

उनका विचार था कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आत्म-रक्षण और प्रसार की प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है। संघर्ष सामाजिक प्रक्रिया का मुख्य आधार है। जातियों के संघर्ष से ही राष्ट्र और राज्य का अभ्युदय हुआ। मानव जाति की उन्नति और प्रसार की कथा युद्ध और रक्तपात का वृत्तान्त है। कालान्तर में व्यापार द्वारा शान्तिपूर्ण संतुलन की प्रक्रिया चली। सामरिक राष्ट्र के स्थान पर सांस्कृतिक राष्ट्र का अभ्युदय हुआ। किन्तु इन से सामाजिक दृढ़ता शिथिल हो गयी क्योंकि युद्ध और संघर्ष ही सामूहिक चेतना को अक्षुण्ण रख सकते हैं।[३२]

४. ब्रुक्स आदम्स—ब्रुक्स आदम्स (१८४८-१९२७) प्रसिद्ध अमेरिकी इतिहासकार हेनरी आदम्स के भाई थे। उनका जन्म बोस्टन में हुआ। उन्होंने समाजशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे। अपनी प्रसिद्ध कृति 'दि लॉ ऑव सिविलिजेशन एण्ड डिके' (सभ्यता और पतन के नियम) में उन्होंने सामाजिक सिद्धान्त का प्रयोग किया। उनके मतानुसार इतिहास, शक्ति, भय और लोभ की अन्तःप्रक्रिया का वृत्तान्त है। उनके ग्रन्थ का निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है—

"शक्ति और बल का नियम प्रकृति में सर्वत्र लागू होता है। और शक्ति के वितरण का एक माध्यम प्राणियों का जीवन भी है।.....विचार मानवशक्ति का एक रूप है। विचार के प्रारम्भिक और सरल स्वरूपों में भय और लोभ प्रमुख रहते हैं। भय से मानव-कल्पना अदृश्य की ओर आकृष्ट होती है और फलतः धार्मिक तथा पुरोहित वर्ग का अभ्युदय होता है और लोभ से युद्ध और व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है जो संचित शक्ति का वितरण करते है।[३३]

जब समाज की शक्ति और बल क्षीण होने लगता है तो इसका पतन आरम्भ हो जाता है। फिर नूतन बर्बर रक्त के सम्मिश्रण से इसकी शक्ति बढ़ती है और इसका परिचय युद्धों में मिलता है। युद्ध एक आवश्यक व्यायाम है जिसके द्वारा समाज का आलस्य और प्रमाद दूर हो जाता है। इतिहास युद्ध के परीक्षणों, इनकी

३२. गुमप्लोविज और रातजन-होफर पर 'एन्साइक्लोपीदिया आव दि सोशल साइन्सेज' भाग ७ पृ० २२७ भाग १३ पृ० १२१ पर लेख दृष्टव्य है।

३३. आदम्स, 'दि ला आव सिविलिजेशन एण्ड डिके,' (प्रस्तावना पृष्ठ०९) हैरोल्ड डी लैसवैल, 'ब्रुक्स आदम्स', एन्साइक्लोपीदिया आव सोशल साईन्सेज भाग १ पृ० ४२९।

परिभाषाओं और उपकरणों, इनके द्वारा वीरता, भ्रातृत्व और बलिदान की भावनाओं की वृद्धि और फलतः संस्कृति के उत्कर्ष का कथानक है।

५. सोफिची और मुसोलिनी—युद्ध सम्बन्धी उक्त विचारों को जर्मनी में क्लाउजविटज़ बर्नहार्डी, नित्शे, रातजल, स्पेंगलर और हाइजहोफर ने ग्रहण किया और इटली में मुसोलिनी तथा उनके दल के लेखकों ने अपना जीवन-दर्शन बनाया। मुसोलिनी इटली की फासिस्ट पार्टी के नेता थे और १९२० के बाद यूरोप के राजनीतिक रंगमंच के एक प्रमुख अभिनेता रहे। द्वितीय महायुद्ध के अन्त में एक हत्यारे द्वारा उनका प्राणान्त हुआ। ७ मार्च, १९२० के 'इल पोपोलो द् इतालिया' नामक पत्र में इन्होंने लिखा था—

"मानवता सदा से देश और काल की एक अमूर्त धारणा रही है। मनुष्य आज भी भाई-भाई नहीं हैं, न होना चाहते हैं और न हो सकते हैं। अतः शान्ति व्यर्थ का ढकोसला है, इसे युद्ध का विराम कहा जा सकता है। कोई न कोई ऐसी शक्ति है जो मनुष्य को उसके संघर्षशील भाग्य से परिबद्ध रखती है। संघर्ष के आशय बदल सकते हैं; आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं भावनामय हो सकते हैं, किन्तु आबल और केन का कथानक एक अकाट्य सत्य है और भ्रातृत्व संधिकाल में सुनने की एक लघुकथा है।"[३४]

इन विचारों का विशेष विवेचन करते हुए मुसोलिनी के साथी सोफिची ने लिखा है—

"युद्ध जो वन्द हृदयों में शोक का भाव जाग्रत करता है, संकट और कष्ट को सामने खड़ा कर देता है, मृत्यु को आँखों के सामने प्रतिष्ठित कर देता है, सबसे अधिक गूढ़ और रहस्यमय सत्य का उद्‌बोधक है। मृत्यु के दर्शन करके ही मनुष्य की आत्मा गम्भीर तत्त्वों का ध्यान और अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करती है। वीरता में उनका उत्कर्ष सम्भव है. . .युद्ध का अर्थ न्याय, सौजन्य और भ्रातृ स्नेह है।"[३५]

इस प्रकार फाशिस्त और नात्सी दर्शन पूर्णतः सामरिक भावना पर आधारित

३४. हर्बर्ट डब्लू० श्नाइदर, 'मेकिंग ऑव दि फाशिस्त स्टेट' पृ० २७७ पर उद्धृत।

३५. वही, पृ० २५९-६०।

है। भू-राजनीति में, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, सामरिक और भौगोलिक व्याख्याओं का संगम है। नोविकोफ आदि कुछ विचारकों ने युद्ध के संहारक पक्ष का विरोध करके मनोवैज्ञानिक और स्पर्धा प्रधान पक्ष पर जोर दिया है।[३६] किन्तु उनकी मौलिक मान्यताओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

६. आलोचनात्मक समीक्षा—यद्यपि यह सत्य है कि इतिहास में बराबर युद्ध चलते रहे हैं, बालवर्ट ने सिद्ध किया है कि १४९६ पू० ख्री० से १८६१ ख्री० तक ३३५८ वर्षों में से ३१३० वर्ष युद्ध के और केवल २२७ वर्ष शान्ति के रहे हैं, और इसमें भी सन्देह नहीं है कि युद्ध का गम्भीर प्रभाव विज्ञान, धर्म, संस्कृति, कला आदि पर दृष्टिगोचर होता है, फिर भी यह मानना कि केवल युद्ध की भावना ही इतिहास की एकमात्र प्रवृत्ति रही है, एकपक्षीय है। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ सहयोग का भाव विरोध से अधिक प्रबल हुआ। मनुष्य अपने पूर्वजों की तरह संघर्षशील अवश्य रहा, किन्तु कृषि, व्यापार, विनिमय, वितरण, नागरिकता, साक्षरता आदि की संस्कृत प्रक्रियाओं में शान्तिमय सहयोग और संतुलन का अधिक कार्य रहा। इन्हीं का विकास और प्रसार वस्तुतः इतिहास की मुख्य प्रवृत्ति है। अर्नोल्ड ट्वायनबी ने सिद्ध किया है कि जब कोई संस्कृति पतन की ओर अग्रसर होती है तभी उसके सदस्यों में सामरिक भावना और मान्यता बढ़ती है। संस्कृति के विकास का युग इसके समस्त अंगों के समन्वय की प्रक्रिया है, किन्तु पतन के युग में यह समन्वय नष्ट हो जाता है और इसके अंग विघटित हो जाते हैं। तब आन्तरिक संघर्ष भभक उठता है और उसके फलस्वरूप बाह्य युद्ध छिड़ते हैं। चूंकि ट्वायनबी के विचारों की विस्तृत चर्चा हमें अगले परिच्छेद में करनी है, इसलिए यहाँ उनका उल्लेखमात्र पर्याप्त है जिससे यह प्रतीत हो जाये कि युद्ध सांस्कृतिक विकास की अनिवार्य प्रक्रिया नहीं है।

७. इतिहास और अहिंसा—महात्मा गांधी का इतिहास-दर्शन—जिस प्रकार इतिहास की व्याख्या सामरिक दृष्टिकोण से की गयी है उसी प्रकार इसको व्याख्या अहिंसात्मक दृष्टिकोण से भी की जा सकती है। ऐसी व्याख्या के लिए मोहनदास कर्मचन्द गांधी का निम्नलिखित लेख द्रष्टव्य है—

३६. नोविफोक, 'वार एण्ड इट्स एलेज्ड बेनिफिट्स' पृ० १०२-१०३, ११३, ११९, १२५

"यदि हम अपनी दृष्टि उस काल से, जिसका इतिहास पता लगा पाया है, अपने युग तक घुमायें तो हमें ज्ञात हो जायगा कि मनुष्य अहिंसा की ओर नियमित रूप से प्रगति कर रहा है। हमारे प्राचीन पुरखे मनुजाद थे। फिर एक ऐसा समय आया जब वे अपनी जाति के प्राणियों को खाने से ऊब गये और शिकार पर गुजारा करने लगे। उसके बाद ऐसी अवस्था आयी जब मनुष्य को घुमन्तू शिकारी का जीवन व्यतीत करते हुए लज्जा आयी। अतः उसने कृषि आरम्भ कर दी और वह अपने भोजन के लिए मुख्यतः पृथ्वी माता पर निर्भर हो गया। घुमन्तू जीवन छोड़कर उसने स्थायी संयत जीवन स्वीकार कर लिया, ग्रामों और नगरों की स्थापना की और वह परिवार का सदस्य बन गया। ये सब बढ़ती हुई अहिंसा और घटती हुई हिंसा के चिह्न हैं। यदि इतिहास की प्रवृत्ति इसके प्रतिकूल होती तो मानव जाति कभी की समाप्त हो गयी होती, जिस प्रकार और बहुत से जीवधारियों की जातियाँ लुप्त हो चुकी हैं।"[३७]

उपर्युक्त उद्धरण में इतिहास की जो व्याख्या उपलब्ध है वह पूर्णतः संगत और तर्कयुक्त है। इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ सहयोग और सहकारिता के कथानक को आगे ले जा रहा है। यदि हम युद्ध के कार्य-कलाप को भी गहरी दृष्टि से देखें तो हम निश्चित रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि सामरिकता की अपेक्षा सहयोग अधिक प्रबल रहा है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि यद्यपि एक जाति ने युद्ध-भूमि पर एक दूसरी जाति को परास्त करके उस पर राजनीतिक प्रभुत्व जमा लिया तथापि वह उसकी संस्कृति पर मुग्ध होकर उसी में घुलमिल कर अपना अस्तित्व खो बैठी। रोम ने यूनान को पराजित कर दिया, किन्तु एक रोमन कवि के शब्दों में, 'ग्रेसिया केप्ता फेरूम विक्तोरम केपित एत आर्तस इन्त्युलित आरगेस्ती लेतियो,' अर्थात् 'बन्दी यूनान ने विजेता रोम को बन्दी बना लिया और ग्राम्य लेतिनों में कलाओं का सूत्रपात किया। इसके बाद बर्बर जातियों ने रोम का विध्वंस किया, किन्तु वे भी रोम की उपासक बन गयी। उसके बाद वाइकिंग आक्रान्ताओं ने उत्तरी यूरोप को रौंद डाला, किन्तु वे ईसाई संस्कृति और धर्म के ऐसे प्रबल समर्थक बने कि धर्म-युद्धों (क्रूसेडों) की अग्रिम पंक्तियों में यूरोप की संस्कृति की रक्षा के लिए खून बहाने को तत्पर हो गये। भारत में आर्य, शक, यवन, हूण आदि अनेक जातियाँ

३७. 'हरिजन ११-८-१९४०, पृ० २४५।

विजेताओं के रूप में आयी किन्तु इसकी संस्कृति और जनता में घुलमिल कर सदा के लिए लुप्त हो गयीं। इसी प्रकार चीन में स्यान-पी, जुर्चट, खिताई, मंगोल और मंचू अपनी सामरिकता छोड़कर संस्कृति के प्रवाह में विलीन हो गये। विदेशी नीति में भी कहीं-कहीं अहिंसा की विजय देखी गयी है। श्री सेदेस ने सिद्ध किया है कि दक्षिणी-पूर्वी द्वीपसमूह में चीन ने सैनिक प्रसार की नीति अपनायी और भारत ने सांस्कृतिक प्रसार की। अन्त में भारतीय नीति सफल हुई और एक सहस्राब्दि तक यह द्वीपसमूह भारतीय संस्कृति का अंग रहा।[३८] कहीं-कहीं तो बड़े-बड़े विजेताओं ने शान्ति और प्रेम के दूतों के सामने घुटने टेक दिये। सिकन्दर तक्षशिला के सन्त दाण्डायन (देन्देमिस) और कल्याण (केलेनोस) के सामने हारा तो जूलियस सीज़र केतो के सामने क्षुब्ध हुआ। अशोक ने कलिंगविजय के पश्चात् रणभेरी के स्थान पर धर्म-दन्दुभि बजवाकर धर्मघोष किया[३९], तो भीष्म ने सारी उम्र लड़ने पर भी अपने अनुभव का सार इन शब्दों में व्यक्त किया—

> अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद्वसुधाधिपः।
> जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप॥
>
> महाभारत, शान्तिपर्व

इस प्रकार हम देखते है कि इतिहास की अहिंसात्मक व्याख्या में भी काफी सार है।

१. पृष्ठभूमि—प्राचीन काल में विश्व की धार्मिक व्याख्याओं के स्थान पर ज्ञात स्थूल तत्त्वों के आधार पर इस की प्रक्रिया समझने के बहुतसे प्रयत्न हुए। यूनानी शब्द, 'फिजिस' जो विश्व के मौलिक तत्त्व का परिचायक है, जल, वायु और अग्नि आदि का पर्यायवाची रहा। यद्यपि इस विषय की गवेषणाओं में भौतिकवाद के प्रथम दर्शन होते हैं, इस दृष्टिकोण का प्रथम वैज्ञानिक प्रतिपादन देमोक्रितु द्वारा हुआ। उनका विचार था कि शून्याकाश में परमाणुओं की गति द्वारा ही विश्व का

३८. जॉर्जे सेदेस, 'इत्स्वार आंजसियान देजेताजेन्दूइजे देक्स्त्रेम ओरियां' पृ० ४१

३९. अशोक का तेरहवाँ शिलालेख, शाहबाजगढ़ी की प्रतिलिपि, गौरीशंकर ही० ओझा, 'अशोक की धर्मलिपियां' भाग १ पृ०।

सर्जन हुआ है। इस प्रक्रिया में किसी दैवी शक्ति का हाथ नहीं है। देमोक्रितु के विचारों को एपीक्यूर ने ग्रहण किया। किन्तु उनका और उनके सम्प्रदाय का ध्येय मनुष्य के वैयक्तिक क्लेश को मानसिक संतुलन और चेतना के व्यायाम द्वारा दूर करना था। उनके दर्शन में दैवी शक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था, क्योंकि वे जीवन को भी उन्हीं नियमों द्वारा नियंत्रित समझते थे जो विश्व का नियमन करते हैं। अरिस्तु ने देमोक्रितु आदि के दर्शन का खण्डन किया, क्योंकि इसमें सम्भावित सत्य से यथार्थ सत्य के संक्रमण का स्पष्टीकरण नहीं था, किन्तु उन्होंने भी भौतिकवाद की बहुत-सी स्थापनाओं को स्वीकार किया। यहूदी-ईसाई स्रष्टा और सर्जन के द्वन्द्व का तिरस्कार करते हुए उन्होंने विश्व और इसकी गति को शाश्वत सिद्ध किया। यह विचारधारा तेरहवीं शती के इब्न रुश्द के दर्शन के स्फुटित हुई। इसके अतिरिक्त उन्होंने आत्मा को भी शरीर का एक रूप माना। यह भाव सन्त टॉमस एक्वीनास् की इस मान्यता का आधार बना कि भूत पुद्गल का स्रोत और सिद्धान्त है। अरिस्तु की विचारधारा का 'नोमिनलिज्म' के दर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इन विचारकों ने मूर्त वैयक्तिक सत्त्वों को यथार्थ मानते हुए आदर्श अथवा सार्वभौम स्थापनाओं का खण्डन किया। उनके मतानुसार सामाजिक संस्थाएँ व्यक्तियों पर निर्भर होती है। व्यक्तियों के प्राकृतिक सहजात अधिकार होते हैं जिनसे संस्थाओं का स्वरूप निश्चित होता है। अतः इन विचारकों के मतानुसार स्थानीय चर्च-संस्थाएँ, रोम और आवीनियों जैसी केन्द्रीय संस्थाओं की अपेक्षा अधिक प्राकृतिक और न्यायसंगत हैं।

आधुनिक यूरोपीय चिन्तन-पद्धति में भौतिकवाद का विकास सोलहवीं, सत्रहवीं शतियों में परीक्षणात्मक प्रणाली और यांत्रिक परमाणुवाद के प्रसार के फलस्वरूप हुआ। लियोनार्दो दा विंची और गेलिलियो ने प्रकृति के परीक्षणात्मक अध्ययन का सूत्रपात किया और देकार्त तथा बेकन ने चिंतन जगत् में इसका श्रीगणेश किया। हॉब्स ने भौतिक-दर्शन की आधरशिला पर अपने राजनीतिक एकतंत्रवाद के सिद्धान्त का प्रासाद खड़ा किया। इन विचारों का प्रभाव लॉक, लामेत्री, दिदेरो और होलबास पर पड़ा। दिदेरो के मतानुसार चेतना अथवा अनुभूति भौतिक तत्त्वों का स्वरूप है और इनके संविधान की उपज है। मनुष्य परिस्थिति की उपज है। अतः पुण्य और पाप, ज्ञान और अज्ञान आदि वातावरण और परिस्थिति के परिवर्तन के अनुरूप बदलते रहते हैं। मौलिक पाप और परित्राण (ओरिजिनल सिन एण्ड ग्रेस) का सिद्धान्त नितान्त भ्रामक है।

उन्नीसवीं शती में यूरोप के चिन्तन-जगत् में आर्थिक तत्त्वों के अध्ययन की प्रमुखता थी। नीबूर, ब्लोइख, नित्श, रोदबरतस, लासाल, रयूगे आदि ने आर्थिक परिस्थितियों का गम्भीर अध्ययन करके इनके द्वारा सामाजिक जीवन की व्याख्या की। विशेषरूप से १८३७ में विल्हेल्म राउमर ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या की जो मार्क्स की विचारधारा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। उनका विचार था कि राजनीतिक परिवर्तन उत्पादन की परिस्थिति के परिवर्तनों की छायामात्र होते हैं और धर्म, संस्कृति, आचार आदि के परिवर्तन भी इन मौलिक आर्थिक प्रवृत्तियों के सहगामी होते हैं। फोन बेलो ने इस युग की चिन्तन-पद्धति का विश्लेपण करते हुए लिखा है--

"उन्नीसवीं शती के मध्य के ऐतिहासिक और आर्थिक साहित्य में आर्थिक समस्याओं में इतनी रुचि प्रकट की गयी थी कि प्रत्येक लेखक इससे प्रभावित होकर आर्थिक प्रश्नों के प्रति अत्यन्त जागरूक हो जाता था। राउमर, मार्क्स और एंगिल्स इसी चिन्तन-धारा में बह रहे थे। उनकी मौलिकता अन्य लेखकों के विचारों के स्पप्टीकरण और विश्लेपण में सन्निहित हैं।"[४०]

२. **कार्ल मार्क्स**—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भौतिकवाद को सर्वोत्तम और सर्वोन्नत वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय कार्ल मार्क्स को है। मार्क्स (१८१८-८३) का जन्म एक जर्मन यहूदी परिवार में हुआ। उन पर अंग्रेजी औद्योगिक क्रान्ति, फ्रेंच राजनीतिक क्रान्ति और जर्मन बौद्धिक क्रान्ति का गम्भीर प्रभाव पड़ा। आर्नोल्ड रूज और लुडविक् बाखहोफर के विचारों के प्रभाव से उन्होंने हेगल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की नवीन व्याख्या की। १८३९-४१ में उन्होंने एपीक्यूर के भौतिकवादी दर्शन पर एक प्रबन्ध लिखा। इसके बाद वे पत्रकारिता के क्षेत्र में आये और 'रहाइनीशे त्साइतुंग' के सम्पादक बन गये। १८४४ में उन्होंने रेमेल के सामाजिक दर्शन का विशद विश्लेषण किया। उनका विचार था कि कानून-

४०. जी० फोन, बेलो, 'दी दायत्शे गेशिश्तेसश्राइबुंग' पृ० १७९।

भौतिकवाद के इतिहास के लिए निम्नलिखित ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं--रॉबर्ट फिलण्ट, 'एण्टी-थीइस्टिक थियरीज' (१८८०), जेम्सवार्ड, 'नेचुरलिज्म एण्ड एगनोस्टीसिज्म (लन्दन १९१५),' एच० एस० ईलियट, 'माडर्न साइन्स एण्ड मेटीरियलिज्म' (लन्दन १९१९) जर्मन भाषा में इस विषय का प्रचुर साहित्य है।

सम्बन्धी और राजनीतिक-विधान मानव आत्मिक विकास के स्वरूप नहीं हैं' वरन् भौतिक परिस्थितियों के प्रतिबिम्ब हैं। इस दृष्टिकोण को लेकर मार्क्स ने १८४४ में पेरिस में अर्थशास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया और वहाँ से निर्वासित होने पर १८४८ तक इसे पेरिस में जारी रखा। १८४८ में जर्मनी में एक क्रान्तिकारी आन्दोलन किया लेकिन वह तुरन्त ही समाप्त हो गया। इसके बाद मार्क्स इंग्लैण्ड चले गये और वहाँ जीवनपर्यन्त अध्ययन में व्यस्त रहे। इस अध्ययन का निष्कर्ष उनके महान् ग्रन्थ 'दास कापिताल' (पूंजी) में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त प्रुधों के 'फिलोजोफी द् ला मिज़ेर' के उत्तर में लिखा हुवा 'मिज़ेर द् ला फिलोजोफी' शीर्षक ग्रन्थ, 'त्सूर क्रितिक देयर पोलिटिशन ओयकोनोमी' शीर्षक वृहत प्रबन्ध, 'मानिफेस्त देयर कोमूनिसतिशन पारताई' शीर्षक क्रान्ति का आवाहन आदि उनकी प्रख्यात रचनाएँ हैं। 'न्यू यार्क ट्रिब्यून' और 'न्यू अमेरिकन एन्साइक्लोपीडिया' में उनके अनेक सारगर्भ लेख प्रकाशित हुए। मार्क्स के बहुत-से ग्रन्थ एंगिल्स के सहलेखन में प्रकाशित हुए। अतः एंगिल्स का संक्षिप्त परिचय भी अपेक्षित है[४१]।

३. **एंगिल्स** — फ्रीडरिख़ एंगिल्स (१८२०-९५) का जन्म बारमन के एक समृद्ध व्यापारिक परिवार में हुआ। यद्यपि उनके परिवार का वातावरण धार्मिक था, उन पर ब्योर्ने गुत्सकोव, स्त्राउस, ब्रूनो बावर और फयूरबाख़ आदि का गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने प्रथम ग्रन्थ 'शीलिंग उन्द दी ओफनबारूगं' में शीलिंग पर भयंकर आक्रमण किया। १८४० के लगभग 'ओसवाल्ड उपनामसे उन्होंने साहित्य, राजनीति और दर्शन पर सुन्दर लेख लिखे। १८४२ में मेन्चस्टर की एक फर्म में काम करने के लिए वे इंग्लैण्ड आये। वहाँ उन्होंने व्यक्तिवादी अर्थनीति का गम्भीर अध्ययन किया और 'उमरिसे त्सू आइनेर क्रितिक देयर नात्सियोनाल आईकोनोमी' शीर्षक ग्रन्थ में इसकी मुख्य स्थापनाओं का खण्डन किया। १८४४ में जर्मनी लौटते समय पेरिस में उनकी मार्क्स से भेंट हुई और दोनों का साहचर्य इतना घनिष्ठ हो गया कि जीवन-पर्यन्त उन्होंने एक साथ साहित्य-रचना की और क्रान्तिकारी आन्दोलनों में भाग लिया। १८४५ से ५० तक उन्होंने फ्रांस, जर्मनी और बेल्जियम के गुप्त क्रान्तिकारी दलों में कार्य किया और १८४९ में बादन के गणतंत्री विद्रोह

४१. मार्क्स के विषय में फ्रांस मेरिंग का, 'कार्लमार्क्स' और द् रयाजानोक का 'मार्क्स इ एंगिल्स' कुनित्स द्वारा अंग्रेजी अनुवाद (न्यूयार्क १९२७) द्रष्टव्य हैं।

का संगठन किया। १८५० में यूरोपीय क्रान्ति की विफलता के पश्चात् वे इंग्लैण्ड आकर व्यापार करने लगे और अपनी आय से मार्क्स की सहायता करते रहे। १८६९ में उन्होंने व्यापार छोड़कर साहित्यिक और क्रान्तिकारी जीवन अपनाया। उन्होंने मार्क्स के साथ मिलकर भौतिक दर्शन पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे और मार्क्स के निधन के पश्चात् उनकी टिप्पणियों के आधार पर 'दास कापिनाल' के दूसरे और तीसरे भाग प्रकाशित किये। 'एण्टी-डयूरिंग' अर्थात् 'लैण्ड-मार्क्स ऑव साइण्टिफिक सोशलिज़म' शीर्षक से अनुवादित उनका महत्त्वपूर्ण दर्शनग्रन्थ तथा 'बुदविग्फयूरबाख़े' पर उनकी टीका अत्यन्त श्लाघनीय और प्रख्यात कृतियां हैं। इसके अतिरिक्त मोर्गन की 'एंशेण्ट सोसाइटी' के आधार पर और मार्क्स द्वारा इसकी टिप्पणी को लेकर उन्होने परिवार और राष्ट्र के ऐतिहासिक विकास की गवेषणा की।

४. **भौतिकवाद के मुख्य सिद्धांत**— मार्क्स् और एंगिल्स के अभिलेखों के आधार पर भौतिक-दर्शन के निम्नलिखित सिद्धान्त निश्चित किये जा सकते हैं:—

(१) **यथार्थवाद**—किसी वस्तु या तथ्य का अस्तित्व उससे सम्बन्धित चेतना या अनुभूति पर निर्भर नहीं है, वरन् अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है। देश, काल, हेतु आदि उसी समय चेतना के स्वरूपों का स्पष्टीकरण कर सकते हैं जब वे भौतिक तत्त्वों के सम्बन्धों को व्यक्त करें।

(२) **द्वन्द्ववाद**—मार्क्स ने हेगल का द्वन्द्ववाद तो ग्रहण किया, किन्तु इसका आशय एकदम बदल दिया। मार्क्स के अनुसार भाव मनःपटल पर भौतिक जगत् की छाया से उत्पन्न होते हैं। जगत् से पृथक् उनका कोई अस्तित्व नहीं है। अतः वाद, प्रतिवाद और समवाद की प्रक्रिया भौतिक जगत् की गति को व्यक्त करती है जिसका प्रतिबिम्ब मन की चिन्तन-पद्धति में व्यक्त होता है।

(३) **नियतिवाद**—यद्यपि संसार में आकस्मिक घटनाएँ भी होती हैं, किन्तु मुख्यतः इसकी गति-विधि नियमों के अनुकूल चलती है। इन नियमों को जान लेने पर इस गति-विधि के आगामी रूप की गवेषणा की जा सकती है। इतिहास की प्रक्रिया एक निश्चित लक्ष्य को लेकर एक निश्चित दिशा में चल रही है जो अटल, अचल और अनिवार्य है।

(४) **प्रगतिशील विकासवाद**—भौतिक तत्त्वों का निरन्तर विकास और परिवर्तन हो रहा है। मात्रा के भेद से गुण का भेद उत्पन्न हो जाता है। जैसे-जैसे तत्त्वों के सम्बन्धों और मात्राओं में अन्तर होता जाता है वैसे-वैसे नवीन गुणों का आविर्भाव

होता है। अतः प्रत्येक गुण को आदिम शाश्वत तत्त्वों के सम्बन्धों द्वारा समझना असम्भव है। इस गुण की पृष्ठभूमि में तत्त्वों का जो मात्रात्मक सम्बन्ध निहित है वही उसके स्वरूप का निर्णायक है। उदाहरण के लिए भौतिक नियम निर्जीव जगत् पर लागू होते हैं। इस जगत् के तत्त्वों के विभिन्न मात्रात्मक सम्बन्धों से जीव-जगत् का विकास होता है जिसकी व्याख्या जीव-शास्त्र (बायोलोजी) द्वारा होती है। किन्तु जीवशास्त्र भौतिक शास्त्र पर निर्भर होते हुए भी उससे भिन्न होता है। इसी प्रकार जीव-जगत् के तत्त्वों के सम्बन्ध-विपर्यय और विकास से मानव की मानसिक क्रिया की सृष्टि होती है जिसका अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है। किन्तु मनोविज्ञान जीवशास्त्र पर आधारित होते हुए भी उससे भिन्न है। इस प्रकार प्रत्येक गुणात्मक परिवर्तन मात्रात्मक परिवर्तन का अनुसरण करता है। इस सिद्धान्त को 'एमरजेन्स, का सिद्धान्त' कहते है।

(५) **कालवाद**—समस्त विश्व परिवर्तनशील है। काल परिवर्तन का मानदण्ड है। भाव और विचार भी भौतिक परिस्थितियों के अनुरूप बदलते रहते हैं। अतः प्रत्येक वस्तु का स्वरूप ऐतिहासिक है। भौतिक विचारधारा ऐतिहासिक चेतना से ओतप्रोत है।

(६) **पारस्परिक प्रक्रिया का सिद्धान्त**—ज्ञान कोई विशुद्ध चिन्तन नहीं है, वरन् मन और जगत् की पारस्परिक क्रिया की उपज है। व्यक्ति और जगत्, समाज और संसार, एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

(७) **ऐतिहासिक भौतिकवाद**—सामाजिक परिवर्तन और राजनीतिक क्रान्तियाँ मनुष्य के मस्तिष्क की उपज-मात्र नहीं होते और न इसके द्वारा शाश्वत सत्य के साक्षात्कार से उत्पन्न होते हैं, वरन् उत्पादन तथा वितरण की प्रक्रिया के बदलने से पैदा होते हैं।

(८) **भावों की सामाजिक पृष्ठभूमि**—विचार, भाव, संस्कृति सब भौतिक और सामाजिक परिस्थितियों के द्योतक हैं। कान्त की "दिङआॅन शिश' जैसी कोई वस्तु नहीं है, न ही दैवी शक्ति का कोई अस्तित्व है।

(९) **विचार और आचार की एकता**—सिद्धान्त और व्यवहार, चिन्तन और कर्म, विचार और आचार में मौलिक एकता है। मनुष्य, प्रकृति और इतिहास की विशिष्ट समस्याओं के समाधान की पद्धति से ही सिद्धान्त बनते हैं। सिद्धान्त का उपयोग इसकी व्यावहारिकता में ही सन्निहित है। विशुद्ध सिद्धान्त काल्पनिक है।

(१०) **क्रान्ति का जयघोष**—चूंकि सिद्धान्त का मूल्य व्यवहार में ही सन्निहित है, अतः सामाजिक ज्ञान का आशय सामाजिक परिस्थिति के सुधार की क्रिया में हाथ बॅटाना है। अतः प्रत्येक विचारक क्रान्तिकारी है।[४२]

५. इतिहास की भौतिक व्याख्या—मार्कस-एंगिल्स की मौलिक धारणा यह है कि सामाजिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक जीवन का स्वरूप मुख्यतः उत्पादन की विधि पर निर्भर होता है। इस विषय में मार्क्स का निम्नलिखित उद्धरण दृष्टव्य है—

"मनुष्य जब उत्पादन की प्रक्रिया में संलग्न होते हैं तो उनके कुछ निश्चित सम्बन्ध बन जाते हैं जो अनिवार्य और उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं। ये उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास के स्तर के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन के सम्बन्धों के समूह से समाज का आर्थिक ढाँचा बनता है। यही वह आधारशिला है जिस पर वैधानिक और राजनीतिक प्रसाद खड़े होते हैं और जिसके अनुरूप सामाजिक चेतना का विकास होता है। भौतिक जीवन में उत्पादन की विधि जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं की निर्णायक होती है। अपने विकास के एक निश्चित स्तर पर पहुँच कर उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ उत्पादन के सम्बन्धों से टकराने लगती है अर्थात् कानूनी शब्दावली में वे सम्पत्ति के सम्बन्धों के विपरीत हो जाती हैं। ये सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों के विकास के रूप न रहकर, उनके बन्धन बन जाते हैं। तब सामाजिक क्रान्ति का युग आता है। आर्थिक आधार के परिवर्तन के साथ-साथ समस्त विशाल प्रासाद जल्दी से बदल जाता है. . . .स्थूल रूप से हम समाज के आर्थिक विकास की प्रगति को एशियाई, प्राचीन, सामन्तशाही और पूंजीवादी युगों में बाँट सकते हैं। उत्पादन के पूंजीवादी सम्बन्ध उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया मे अंतिम विरोध रखते हैं. . . . साथ ही साथ पूँजीवादी समाज के गर्भ में उन उत्पादन की शक्तियों का विकास हो रहा है जो इस विरोध का समाधान करने की सामर्थ्य रखती हैं। यह सामाजिक निर्माण मानव-इतिहास के प्रागैतिहासिक युग का अन्तिम अध्ययन है।"[४३]

४२. सिडनी हुक, 'टुवर्डस एन अण्डरस्टैण्डिग ऑव कार्ल मार्क्स'।

४३. कार्ल मार्क्स, ए कन्ट्रीब्यूशन टु दि क्रिटिक ऑव पोलिटिकल इकोनोमी, एन० आई० स्टोनका अंग्रेजी अनुवाद पृ० ११-१३, फ्रीडरिख एंगिल्स, 'हर यूजन, ड्यूरिंग्स रेवोलूशन इन साइन्स,' एमिल बर्नस का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ३२।

मार्क्स के सिद्धान्त के निरूपण से यह प्रकट होता है कि आर्थिक उत्पादन और उपयोग के विधान से मानव-इतिहास का स्वरूप निश्चित होता है। जब कोई आर्थिक विधान अपनी उपयोगिता से आगे निकल जाता है तो इसके स्थान पर दूसरा विधान आ जाता है। इस परिवर्तन में सामाजिक वर्गों का विरोध उग्र रूप धारण कर लेता है। शोषक और शोषित एक दूसरे के विरुद्ध उठ जाते हैं। प्रथम वर्ग नष्ट-प्रायः आर्थिक ढाँचे को खड़ा रखने की चेष्टा करता है और दूसरा वर्ग इसे उखाड़ फेंकने की जल्दी करता है। अतः वर्ग युद्ध भड़क उठता है। इस युद्ध, विरोध और संघर्ष से एक नूतन व्यवस्था का जन्म होता है। मानव-इतिहास वर्ग-युद्धों का वृत्तान्त है।

६. इतिहास की मुख्य प्रवृत्तियाँ—मार्क्स ने मानव-इतिहास को चार विभागों में वर्गीकृत किया है—(१) एशियाई, (२) प्राचीन यूरोपीय (३), सामन्तशाही और (४) पूंजीवादी (बुर्जुवा)। इन चारों विभागों को उन्होंने, 'प्रोगैतिहासिक' बताया है। उनके मतानुसार मानव का वास्तविक इतिहास तो साम्यवाद के आगमन से प्रारम्भ होगा।[४४]

एशियाई सामाजिक व्यवस्था के निदर्शन स्लाव ग्राम और भारतीय समाज है। इनका लक्षण सामूहिक सम्पत्ति और श्रम है और इनके मुख्य व्यवसाय कृषि और उद्योग हैं। इन समाजों में व्यक्ति का पूर्ण विकास नहीं मिलता। कुछ कारणों से इस आदिम साम्यवाद का अन्त हो गया। यूथ-विवाह का रिवाज कम होने लगा। मातृसत्ताक व्यवस्था के स्थान पर पितृसत्ताक कानून लागू होने लगा। अतः धनवान् और निर्धन का भेद उत्पन्न हो गया। लोहे के आविष्कार ने आर्थिक और सामाजिक विकास को एक नवीन दिशा प्रदान की। फलतः उक्त व्यवस्था का अन्त हो गया और दासता का आविर्भाव हुआ।

दासता उत्पादन की एक विशेष विधि थी। इसका लक्ष्य औद्योगिक विकास, व्यापारिक प्रसार और दानसंचय था। युद्ध में पकड़े हुए व्यक्तियों को जब भूमि पर मुफ्त काम करने के लिए लगाया गया तो स्वतन्त्र कृषक की जीविका कठिन हो गयी। वह ऋण के भार से दब गया और जमीन बेचकर या गिरवी रखकर स्वयं

४४. एम० एम० बोबर, 'कार्ल मार्क्स इण्टरप्रटेशन ऑव हिस्ट्री' पृ० ४६-६३।

दास बनकर बिकने लगा। एथेन्स में ९०,००० स्वतन्त्र नागरिक थे तो ३६५,००० दास। कोरिंथ और एजीना में दासों की संख्या ५००,००० थी और वे नागरिकों से दसगुने अधिक थे। दुकानों और कार्यालयों में उनका बोलबाला था। नागरिक श्रम को बुरा समझते थे। सूदखोरी और मुनाफाखोरी ही उनका एकमात्र धर्म था। निर्धनता और दरिद्रता बढ़ रही थी। अतः उत्पादन की शक्तियों का पूर्ण उपयोग सम्भव न रहा और उक्त सामाजिक व्यवस्था का अन्त हो गया क्योंकि विवश होकर स्वामी अपने दासों को मुक्त करने लगे।

सामन्तशाही युग में छोटी मात्रा में कृषि और छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों का विकास हुआ। दासों के स्थान पर कर्मकर काम करने लगे। कर्मकरों को जमीन्दारों को लगान देना पड़ता था और साथ में उनकी बेगार भी करनी पड़ती थी। वैसे वे स्वतन्त्र थे। नगरों में श्रेणियों के द्वारा उद्योग और व्यवसाय का नियंत्रण होता था। कारीगर इन श्रेणियों के अधीन होते थे। यह श्रेणी-विधान पूँजी-निर्माण की प्रक्रिया में बाधक था। अतः इस व्यवस्था का अन्त होने लगा। वेनिस और जनोवा में व्यापारी अपने निगम और संस्थान बनाने लगे जिससे भूमि और नाविक व्यापार में पूंजी का विशेष उपयोग होने लगा। चौदहवी शती में इंग्लैण्ड में कर्मकर व्यवस्था का अन्त होने लगा।

पन्द्रहवी शती के भौगोलिक अनुसंधान से व्यापार और वितरण का क्षेत्र विस्तीर्ण होने लगा। उत्पादन और विनिमय में बड़ी-बड़ी धनराशियों की आवश्यकता पड़ने लगी। पूँजीवाद का जन्म हो गया। सामन्तशाही समाजके छोटे छोटे स्वतन्त्र कर्मकर-कृषकों को भूमि से उखाड़ और निकाल कर बड़े-बड़े फार्म तैयार किये जाने लगे। इंग्लैण्ड में यह 'एन्क्लोजर आन्दोलन' बड़ी तेजी और सख्ती से चला। उजड़े और उखड़े हुए लोग वैतनिक श्रमिक बन गये। इनका उत्पादन के साधनों पर कोई भी स्वामित्व नहीं रहा जैसा कि सामन्तशाही युग में था। फलतः श्रम-दल (प्रोलीटेरियट) का जन्म हो गया। इधर अमेरिका के चाँदी-सोने ने यूरोप को शराबोर कर दिया। मूल्य बहुत बढ़ गये। जमीन्दार और ग्रामीण मजदूर का पतन हो गया। नगरों के उद्योगों में अभूतपूर्व उन्नति हुई। औद्योगिक सम्पत्ति का विकास हुआ। पूँजीवाद ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को जन्म दिया। राज्य और राष्ट्र पूँजीपतियों के साधन और सहायक बन गये। दो सौ वर्ष तक पूँजीवादी व्यवस्था यंत्रों के बिना चली। इसके बाद यंत्रों के प्रचलन ने इसकी प्रक्रिया को तीव्र कर दिया।

उपर्युक्त व्यवस्था अपने दोषों के फलस्वरूप नष्ट होने लगी। श्रमिक दल की दरिद्रता और संगठन बढ़ने लगा। इधर पूँजीपतियों की प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने लगी और मुनाफे कम होने लगे। उपनिवेशों और साम्राज्यों की होड़ में विभिन्न देश एक दूसरे से लड़ने लगे। विश्व-युद्ध जारी हो गये। आर्थिक विधान आर्थिक विकास का सहायक न होकर, बाधक हो गया। फलतः समाजवाद और साम्यवाद की लहर दौड़ गयी और श्रमिक फिर से श्रम के साधनों का अधिकारी हो गया।

७. आलोचनात्मक समीक्षा—मार्क्स की भौतिक व्याख्या का क्षेत्र यद्यपि बड़ा विस्तीर्ण है तथापि इसमें आर्थिक तत्त्वों को अधिक महत्त्व दिया गया है। किन्तु बहुत-सी आदिम जातियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें भौगोलिक तत्वों और जीवन-सम्बन्धी धारणाओं का प्रभाव आर्थिक तत्वों की प्रक्रिया से पहिला और अधिक शक्तिशाली रहा। बुद्धि, अनुभूति, धर्म, अन्धविश्वास, आचार, विधि-निषेध (तबू) कला इत्यादि की आदिम जातियों के जीवन पर गहरी छाप पड़ी। इन तत्त्वों के विश्लेषण के बिना इन जातियों के उत्पादन और वितरण की विधि को समझना असम्भव है।[४५] ऐतिहासिक युग के सम्बन्ध में मेक्स वेवर ने सिद्ध किया है कि धर्म का अर्थनीति पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। विशेष रूप से चीन, भारत, यूनान के मध्यकाल की अर्थनीति पर धार्मिक विश्वास, परम्परा और मनवादों का गम्भीर प्रभाव परिलक्षित होता है। वर्तमानकालीन पूजीवादी व्यवस्था भी मेक्सवेवर के मतानुसार प्रोटेसटेण्ट ईसाई धर्म द्वारा प्रभावित हुई है। वेबर के विचारों की चर्चा आगामी अनुच्छेद में की जायगी। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि ऐतिहासिक विकास में धर्म का भी इतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है जितना अर्थतन्त्र का। रोस्तोवेतजफ ने सिद्ध किया है कि प्राचीन रोमन जगत् के ह्रास का कारण सर्जनशक्ति का ह्रास था। वास्तव में मानव विकास का क्रम संगठित और समूचा रहा है। सब तत्त्वों के सामूहिक और पारस्परिक प्रभाव द्वारा इस विकास का स्वरूप बनता है। इसमें सन्देह नहीं कि ये सब तत्त्व वास्तविक और यथार्थ हैं। इनका स्वरूप व्यावहारिक है। इस दृष्टि से इन सब को भौतिक कहा जा सकता है। यही मार्क्स का वास्तविक

४५. ए० एपीनास, 'लैंज-ओरिजीन द् ला तेकनोलोजी' पृ० १०-११, बी० मेनिलोवस्की, 'आर्गोनोट्स इन दि वेस्टर्न पेसिफिक' (लन्दन १९२२) डब्ल्यू० डी० वालिस, 'एन इण्ट्रोडक्शन टू ए.थ्रोपोलॉजी' (न्यूयार्क १९२६)।

मन्तव्य भी है। किन्तु इस सामाजिक संतुलन के किसी एक तत्त्व को एकपक्षीय महत्त्व देना अनुचित है। भौतिक-वादी सम्प्रदाय में आर्थिक तत्त्व को जो एकपक्षीय महत्त्व दिया गया है वह ऐसा ही है जैसा भूगोल, जाति, जनसंख्या, युद्ध आदि तत्त्वों का एकांगदर्शी मूल्यांकन। उदाहरण के लिए ब्रुक आदम्स ने समस्त इतिहास की व्याख्या बाजारों और उनके मार्गों द्वारा की है,[४६] सिन्खोविच ने रोमन संस्कृति के पतन को भूमि की बढ़ती हुई ऊसरता का फल बताया है।[४७] फ्रीमैन ने वर्तमान यूरोपीय संस्कृति को उत्पादन की यांत्रिक पद्धति द्वारा समझाने की चेष्टा की है।[४८] ये सभी आर्थिक और भौतिक व्याख्याएँ एकपक्षीय हैं। मार्क्स के दर्शन में वे तत्त्व प्रस्तुत हैं जिनके द्वारा इतिहास की संतुलित और सर्वांगपूर्ण व्याख्या हो सकती है। वस्तुतः भौतिकवाद एक विस्तीर्ण दर्शन है, किन्तु उसकी व्याख्या एकपक्षीय हुई है।

अनुच्छेद ८—धार्मिक व्याख्या

१. **पृष्ठभूमि**—यह विश्वास कि धर्म मानव कार्य-कलाप का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है आरम्भ से ही मनुष्य के मस्तिष्क में बद्धमूल रहा है। विश्व का समस्त कार्य दैवी और अलौकिक शक्तियों के द्वारा चलता है, यह मनुष्य की प्रथम मान्यता रही है। अतः सामाजिक गतिविधि, राजनीतिक उथल-पुथल, सैनिक और सामरिक उतार-चढ़ाव, यह सब दिव्य शक्तियों की लीलाएँ समझी जाती रही हैं। समूचे प्राचीन साहित्य में यह मान्यता व्याप्त है। इलियद और ओदेसी जैसे प्राचीन काव्यों में भी राजनीतिक और सामरिक कार्य-कलाप को दैवी शक्तियों की क्रीड़ा बताया गया है। सन्त ऑगस्तीन, सन्त तॉमस एक्वीनास, बुसुए इत्यादि ने तो, जैसा कि हम देख चुके हैं, इतिहास की पूरी प्रक्रिया को भगवान् की लीला सिद्ध किया है। ऑगस्त कोम्ते तक ने सामाजिक विकास के त्रिस्तरीय सिद्धान्त को धार्मिक विकास की कड़ियों का नाम दिया। इस अनुच्छेद में हमें धार्मिक व्याख्या के वर्तमान स्वरूपों का अध्ययन करना है।

४६. ब्रुक आदम्स, 'दि न्यू एम्पायर' पृ० १११-१९३-२११।

४७. बी० जी० सिन्खोविच, 'रोम्स फाल रिकन्सीडर्ड' पोलिटीकल साइन्स क्वारटरली, जून, १९१६।

४८. आर० ए० फ्रीमैन, 'सोशल डिके एण्ड रीजेनेरेशन' पृ० १९९-२०३।

२. फयूस्तल द् कूलांज— फयूस्तल द् कूलाँज (१८३०-१८८९) फ्रांस के प्रसिद्ध इतिहासकार थे। वे त्रासबुर्ग, सोरबोन आदि में अध्यापक रहे। उन्होंने 'ला सिते आँतीक' (प्राचीन नगर) और 'इस्त्वार देज़ एँस्तीत्यूसियों पोलितिक द् ल् आँसियान फ्रांस' (प्राचीन फ्रांस की राजनीतिक संस्थाओं का इतिहास) में प्राचीन इतिहास के सांस्कृतिक रूप की गम्भीर गवेषणा की। उनकी धारणा थी कि प्राचीन जातियों के विकास में धर्म का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। राष्ट्र एक प्रकार का धार्मिक संघ था, राजा इसका महापुरोहित था, न्यायाधिकारी पुरोहित था और कानून धर्म-मंत्र था। राज्य और कानून में धर्म के अनुरूप परिवर्तन होते थे। सबसे पहले यूनानी और रोमन मृत पितरों की पूजा करते थे और अग्नि को उनका प्रतीक मानते थे। इन विश्वासों से सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप निर्धारित होता था। परिवार, विवाह, तलाक, पुत्र और पुत्री की असमानता, कुल और वंश, सम्पत्ति का विभाजन आदि सब सामाजिक और आर्थिक भावनाएँ इसी मौलिक विश्वास से निष्पन्न थीं। धार्मिक विकास के दूसरे स्तर पर पहुँच कर इन प्राचीन जातियों ने पितर-पूजा के साथ-साथ प्रकृति के तत्त्वों और स्वरूपों पर देवत्व का आरोपण करके उनकी उपासना आरम्भ की। जियस, जूनो, एथेने आदि देवी-देवताओं की पूजा का रिवाज बढ़ा। अतः धर्म का क्षेत्र परिवार और कुल से आगे निकलकर विशाल सामाजिक परिधि तक फैल गया। नगरों की स्थापना हुई। राज्य, न्याय, कानून, संस्था और वर्ग उत्पन्न हुए। सुधार और क्रान्तियों का युग आया। इसके बाद ईसाइयत का प्रचार हुआ। नवीन भाव, विचार, संस्था, सम्बन्ध सामने आये। प्राचीन नगरों का ह्रास हो गया, उनके साथ प्राचीन संस्कृति लुप्त हो गयी। धार्मिक विश्वास पर संगठित विशाल सामाजिक सम्पर्कों का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार धर्म प्राचीन इतिहास का केन्द्र-बिन्दु रहा।[४९]

३. दुर्खाइम—एमिल दुर्खाइम (१८५८-१९१७) का जन्म एपीनाल के एक परिवार में हुआ जिसे बहुत-से रबियों को जन्म देने का श्रेय प्राप्त है। १८७९ में फयूसतल दू कूलाँज के साथ उन्होंने पेरिस के एकोल नोमोल सुपेरियोर में प्रवेश किया। उन्होंने जर्मनी में काफी यात्राएँ कीं। १८९३ में उनका प्रबन्ध, 'द् ला

४९. फयू स्तल द् कूलांज, 'दि एंशेण्ट सिटी,' डब्लू० स्माल का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ११-१२, ४९-१५३, १५४-४६९, ५२९।

दिविजियों दू त्रावाइ सोसियाल' (सामाजिक श्रम-विभाजन) प्रकाशित हुआ। इसके बाद उन्हें पेरिस में समाजशास्त्र के प्रशिक्षण के लिए निमंत्रित किया गया। १८९८ में उन्होंने 'आने सोसियोलोजिक' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। उन्होंने सामाजिक सम्बन्धों के विविध पक्षों का अध्ययन किया। धर्म के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

दुर्खाइम का विचार है कि धर्म में सामाजिक भावना का सर्वोत्तम और सर्वोन्नत रूप केन्द्रित रहता है। सामाजिक भावना को दृढ़ करने में धर्म का सबसे बड़ा हाथ रहा है। समस्त सामाजिक संस्थाओं का जन्म धर्म के द्वारा हुआ। सब विचारों का मौलिक रूप धर्म में सन्निहित है। धर्म के बिना सामाजिक संस्थाओं का विकास और संरक्षण सम्भव नहीं है।[५०]

४. ल् बों—गुस्ताफ ल् बों (१८४१-१९३१) एक फ्रेंच चिकित्सक थे। उन्हें सामाजिक मनोविज्ञान में बड़ी रुचि थी। उनका विचार था कि मानव कार्य-कलाप में बुद्धि का इतना योग नहीं होता जितना भावना और विश्वास का। प्रायः देखा जाता है कि जब मनुष्य भावावेश में होता है तो बुद्धि उसे रोकने में असफल रहती है। भावना से धर्म का जन्म होता है। अतः समाज और इतिहास में धर्म का स्थान प्रमुख है। धर्म का स्वरूप बदल सकता है, किन्तु इसका आशय नहीं बदलता। किसी न किसी रूप में भगवान् का विश्वास अवश्य मनुष्य के मन में रहता है। यह मानव इतिहास का सबसे प्रमुख तत्त्व रहा है।[५१]

५. फ्रेजर—जे० जी० फ्रेजर [जन्म १८५४] प्रसिद्ध समाजशास्त्री और आदिम मानव जातियों की संस्कृतियों के अन्वेषक हैं। उनकी 'गोल्डन बो' (स्वर्णिम शाखा) इस युग की प्रधान कृतियों में गिनी जाती है। यह ग्रन्थ १९०७ से १९१५ तक कई भागों में प्रकाशित हुआ।

फ्रेजर की मुख्य धारणा यह है कि सामाजिक कार्य-कलाप में विश्वास और मान्यता का सब से प्रमुख स्थान है। ये विश्वास सामाजिक नियमन और नियंत्रण के सर्वश्रेष्ठ साधन रहे हैं। अन्धविश्वास ने राजनीतिक सत्ता को स्थायित्व प्रदान किया है। बहुत से समाजों में सम्पत्ति के सम्बन्ध विश्वास और मान्यता पर आधा-

५०. एमिल दुर्खाइम, 'एलीमेण्ट्री फॉर्म्स ऑव रिलीजस लाइफ' पृ० ४१७
५१. गुस्ताफ ल् बो, 'साइकोलॉजी ऑव सोशलिज्म, अध्याय १, ३

रित रहे हैं। यौन और वैवाहिक सम्बन्ध तो निश्चित रूप से विश्वास के परिणाम हैं। अनेक समाजों में विश्वास ने मानव-जीवन की पवित्रता को दृढ़ किया है। अतः जातियों के कार्य-कलाप का भौगोलिक आधार धर्म-जनित विश्वास है।[५२]

६. **किड** — बेंजामिन किड (१८५८-१९१६) अंग्रेज दार्शनिक थे। उनके जीवन के बहुत से वर्ष राजकीय सेवा में व्यतीत हुए। वे माल-विभाग में कर्मचारी थे। सामाजिक और आर्थिक अध्ययन के हेतु उन्होंने अनेक यात्राएँ कीं। उन्होंने १८९८ में अमेरिका का भ्रमण किया और १९०२ में दक्षिणी अफ्रीका की यात्रा की। उनके विचारों में रोमान्तिक धारा की प्रतिबुद्धिवादी प्रवृत्ति की गहरी पुट थी।

किड की धारणा थी कि विश्व में सतत जीवन-संघर्ष चल रहा है। इस संघर्ष में केवल बुद्धि-बल से ही मनुष्य सफल नहीं हुआ है। धार्मिक विश्वास ने भी उसकी शक्ति को दृढ़ किया है। इतिहास में बुद्धि का महत्त्व तो रहा ही है, लेकिन इससे भी अधिक भाव और विश्वास की प्रधानता रही है। अतः बहुधा देखा गया है कि जिन जातियों की धार्मिक भावना दृढ़ रही, उनकी सफलता उन जातियों की अपेक्षा अधिक रही जो बौद्धिक दृष्टि से समुन्नत थे। इस्लाम के मानने वाले अरबों का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। वस्तुतः समाज में जितना स्थायित्व और दृढ़ता है वह धार्मिक विश्वास का ही परिणाम है क्योंकि यही एक ऐसी शक्ति है जो स्वार्थ को परमार्थ की ओर मोड़ने की क्षमता रखती है। सदाचार, परोपकार, बलिदान आदि के उदात्त-भाव धार्मिक विश्वास से उत्पन्न होते हैं। धर्म सामाजिक विकास की कुंजी है।[५३]

७. **मेक्सवेबर** — मेक्सवेबर (१८६४-१९२०) का जन्म थुरिंजिया में एरफुर्त नामक स्थान पर हुआ। इनके पिता एक कुशल न्यायशास्त्री थे। बचपन में उनका स्वास्थ्य खराब था, किन्तु वे परिश्रमी और अध्ययनशील थे। तेरह वर्ष की उम्र में उन्होंने ऐतिहासिक निबन्ध लिखे। १८८२ में प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके उन्होंने हाइदलबर्ग के विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने और विषयों के अतिरिक्त कानून का गम्भीर अध्ययन किया। बर्लिन और गोतिंजन में

५२. जे० जी० फ्रेजर, 'साइकीज टास्क, ए डिस्कोर्स कनसर्निंग दि इन्फ्लुएन्स ऑव सुपरस्टीशन आन दि ग्रोथ ऑव इन्स्टीट्यूशन्स' (लन्दन १९१३) पृ० १५

५३. बेन्जामिन किड, 'सोशल इवोलूशन' पृ० ६६-७२, १०६-१०७।

भी उन्होंने अध्ययन किया। उनका डाक्टरेट का प्रबन्ध 'मध्यकालीन व्यापार-निगमों के इतिहास' पर था। १८९४ में वे फ्राइबर्ग विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुए। फिर उन्होंने स्काटलैण्ड और आयरलैण्ड की यात्रा की और अमेरिका का भ्रमण किया। अमेरिका से लौटकर वे हाइदलबर्ग में काम करने लगे। उन्हें कभी-कभी भयंकर मानसिक कष्ट के दौरे पड़ते थे। १९१८ में वे वियना रहे और जून, १९२० में उनका निधन हो गया। उनकी प्रमुख कृतियों में 'रिलिजंस-सोसियोलोजी,' और, 'विर्तशाफतसगेशिश्ते,' शीर्षक उनके लेख-संग्रह हैं।

मेक्स वेबर यह मानते थे कि धर्म और अर्थव्यवस्था परस्पराश्रित हैं। किन्तु इनमें से एक को सक्रिय तत्त्व मानकर दूसर तत्त्व पर इसके प्रभाव का अध्ययन किया जा सकता है। वेबर ने अर्थव्यवस्था पर धर्म के प्रभाव का विशेषाध्ययन किया। वे धर्म को विश्वासों और मान्यताओं के रूप में ग्रहण नहीं करते थे, वरन् उसकी अर्थनीति (विर्तस्शाफतसएथिक) को निर्धारित करने की चेष्टा करते थे। धर्म की अर्थनीति से उनका अभिप्राय उसके उस व्यावहारिक रूप से है जो उसके, अनुयायियों के चरित्र और चर्या का निर्माण करता है। कन्फ्यूशियसी, हिन्दू, बौद्ध ईसाई, मुसलमान और यहूदी धर्मों की विशिष्ट व्यवहार-परम्परा और अर्थनीति है जो इनके अनुयायियों की अर्थव्यवस्था को निर्धारित करती है। कन्फ्यूशियसी धर्म साहित्यिक शिक्षा प्राप्त करने वाले लोगों की व्यवहार-पद्धति था और बुद्धिवाद इसका प्रमुख लक्षण था, हिन्दू धर्म संस्कृत और शिक्षित जातियों का परम्परागत आचार था, और वर्णव्यवस्था इसका प्रमुख लक्षण थी, बौद्ध धर्म मननशील और विचरणशील भिक्षुओं की नियमावली था और त्याग तथा सार्वजनिकता इसके प्रमुख लक्षण थे, इसलाम आरम्भ में विजेता-वीरों का संगठन था और बाद में इसपर मननशील रहस्यवादी सूफियों का प्रभाव पड़ा, यहूदी धर्म एक पददलित जाति की रीति-नीति था और ईसाइयत घुमक्कड़ कारीगरों द्वारा फैला था। बाद में प्रोटेस्टेण्ट सुधार से बुद्धिवाद, व्यवसाय-कुशलता और गणितप्रधान मनोवृत्ति का प्रचलन हुआ। इन्हीं तथ्यों से आधुनिक पूंजीवाद का जन्म हुआ। जीवन के प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण, अपने कर्त्तव्य को क्षमता और कुशलता के साथ पूरा करने का भाव, रूढ़िवादी-मनोवृत्ति की अवहेलना, संन्यास का तिरस्कार, व्यक्तिवाद और स्वतन्त्रता की प्रधानता और व्यापारिक गणनात्मक मनोवृत्ति प्रोटेस्टेण्ट ईसाई धर्म की अर्थनीति (विर्तस्शाफतसएथिक) के प्रमुख लक्षण हैं और इन्हीं पर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का प्रासाद खड़ा है। लूथर, कालविन आदि धार्मिक नेताओं की शिक्षाओं का व्याव-

हारिक रूप पूंजीवादी व्यवस्था की पृष्ठभूमि है। बेन्जामिन फ्रेंकलिन के कथन कि 'समय ही पूंजी है,' 'साख ही धन है' 'धन से धन की वृद्धि होती है,' 'ईमानदारी सब से अच्छी नीति है,' 'अच्छे आचार, सत्यप्रियता, अध्यवसाय, क्षमता, तल्लीनता और ईमानदारी से जीवन में और विशेषतः व्यापार में सफलता मिलती है,' आदि पूंजीवादी व्यवस्था के मूलमंत्र हैं। प्रोटेस्टेण्ट धर्म और पूंजीवादी व्यवस्था के आन्तरिक सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए मेक्सबेवर ने यह प्रमाण प्रस्तुत किया है कि प्रोटेस्टेण्ट देश विशेष रूप से व्यापार में उन्नत रहे हैं। रोमन कैथोलिक देश व्यापार में उनसे पिछड़े रहे हैं। यहाँ तक कि रोमन कैथोलिक देशों में प्रोटेस्टेण्ट वर्ग व्यापारिक क्षेत्र में विशेष प्रगतिशील रहा। फ्रांस के हुजनोट, आस्त्रिया के प्रोटेस्टेण्ट और इंग्लैण्ड के क्वेकर व्यापार में विशेषरूप से समृद्ध और समुन्नत रहे। वेबर ने सोम्बार्त के इस मत का खण्डन किया है कि वर्तमान पूंजीवाद यहूदियों की देन है।

इतिहास की धार्मिक व्याख्याओं में मेक्सवेबर का मतवाद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में आर्नोल्ड ट्वायनबी का सिद्धान्त भी विशेषरूप से उल्लेखनीय है किन्तु उसकी चर्चा अगले अध्याय में की जायगी।[५४]

८. आलोचनात्मक समीक्षा—उपर्युक्त मतों के सम्बन्ध में सबसे पहली आपत्ति यह की जा सकती है कि ये एकपक्षीय हैं। सामाजिक और ऐतिहासिक प्रक्रिया एक सर्वांगीण गति है। इसमें समाज के प्रत्येक तत्त्व और अंग की क्रिया सन्निविष्ट रहती है। जैसा धर्म का अन्य तत्त्वों पर प्रभाव पड़ता है ऐसी ही अन्य तत्त्वों की धर्म पर छाया रहती है। एडवर्ड मेयर जैसे सूक्ष्मदर्शी इतिहासकार की धारणा है कि धर्म आचार का स्रोत नहीं है अपितु मानव जाति के सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति और प्रकटीकरण है। इसी प्रकार डब्लू० जी० समनर का विचार है कि धर्म आचार से उत्पन्न होता है, आचार धर्म से प्रादुर्भूत नहीं होता। वास्तव में धर्म और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध है। एक दूसरे का नियन्ता और निर्णायक है। मेक्सवेबर ने तो स्पष्टतः स्वीकार किया है कि धर्म के साथ साथ और भी अनेक सामाजिक तत्त्व ऐतिहासिक प्रक्रिया में सक्रिय रहते हैं।

जहाँ तक एलवुड आदि विचारकों की इस मान्यता का प्रश्न है कि धर्म की

५४. मेक्सवेबर के ग्रन्थों के संक्षिप्त और सारगर्भ उद्धरण अंग्रेजी अनुवाद में एच० एच० गर्थ और राइट मिल्स की पुस्तक, 'फ्राम मेक्सवेबर,' (लन्दन रूतलिज और केगनपाल १९५२) में प्राप्य हैं।

परिच्छेद ११

प्रमुख आधुनिक इतिहास-विचारक

अनुच्छेद १—दानिलेव्स्की

१. जीवन-परिचय—निकोलाइ इयाकोवलेविच दानिलेव्स्की (१८२२-१८८५) ने सन्त पितर्सबर्ग के विश्वविद्यालय में अध्ययन किया और १८४९ में वनस्पतिशास्त्र में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद पेत्राशेव्स्की-राजनीतिक-कार्यकलाप में सम्मिलित होने के संदेह में उन्हें पेत्रोपारलोवस्काया दुर्ग में १०० दिनों तक बन्दी रखा गया। उनके साथी दोस्तोइएवस्की आदि को तो साइबेरिया में निष्कासित किया गया, किन्तु उन्हें थोड़े दिन बाद ही छोड़ दिया गया और वोलोग्या के राज्यपाल के कार्यालय में नियुक्त कर दिया गया। इसके बाद वे समारा प्रान्त में नियुक्त हुए। उन्होंने इसके बाद अनेक राजकीय पदों को सुशोभित किया। वे कृषि-विभाग में इंजीनियर और अर्थशास्त्री रहे और १८५३ से १८८५ तक मस्य-विशेषज्ञ के रूप में मत्स्य-आयोग के अध्यक्ष रहे। उन्होंने मत्स्य-विज्ञान पर कई ग्रन्थ लिखे और साथ ही डार्विन के विकासवाद पर दो भागों में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तैयार किया। उनकी बहुमुखी प्रतिभा उनके विविध-विषयक ग्रन्थों में प्रकट हुई। अर्थशास्त्र पर उन्होंने 'रूसी-मुद्रा' एक पुस्तक लिखी, राजनीति पर 'सामान्य यूरोपीय हित' (१८७८) और 'रूस तथा पूर्व का प्रश्न', (१८७९) शीर्षक रचनाएँ कीं, इतिहास पर 'मगियारों का मार्ग' नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ प्रस्तुत किया, भाषाशास्त्र विषयक 'रूसी-भाषा का शब्दकोष' तैयार किया और इतिहास-दर्शन पर 'रूस और यूरोप', 'स्लाव और जर्मन-रोमन जगत् के राजनीतिक सम्बन्धों पर एक दृष्टि' नामक अमरकृति लिपिबद्ध की। यह अन्तिम ग्रन्थ दानिलेव्स्की की प्रखर प्रतिभा और प्रकाण्ड पाण्डित्य का निदर्शन है। इसने मानव-चिन्तन की दिशाओं को नया मोड़ दिया है।[1]

१. दानिलेव्स्की का ग्रन्थ 'रोसिया इ इवरोपा' रूसी पत्रिका, जारिया,

१८९० में सकूपिएटस्की में नोइत्जल ने 'रूसलान्त उन्द यूरोपा', शीर्षक इसका जर्मन अनुवाद प्रकाशित किया। इन्हीं दिनों स्पेंगलर की 'पश्चिम का पतन', नामक महत्त्वपूर्ण कृति प्रकाशित हुई। वस्तुतः स्पेंगलर और दानिलेव्सकी के विचारों में इतना घनिष्ठ साम्य है कि स्पेंगलर के ग्रन्थ के प्रचलन से दानिलेव्स्की का महत्त्व बहुत बढ़ गया। आधुनिक रूस और यूरोप के संघर्ष ने इस ग्रन्थ के महत्त्व को एक सामयिक रूप प्रदान किया।

२. **दार्शनिक स्थापनाएँ**—दानिलेव्स्की के मतानुसार यूरोप एक भौगोलिक इकाई नहीं है, वरन् जर्मन-रोमन संस्कृति का क्षेत्र है। यूरोप और जर्मन-रोमन-संस्कृति समानार्थक है। यह संस्कृति विश्व की एकमात्र संस्कृति नहीं है। इसके समान और भी संस्कृतियाँ रही हैं और हैं। इस संस्कृति के उत्थान-पतन और उन्नति-अवनति के क्रम का शेष संसार से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहा। ४७६ ई० में जब रोमन साम्राज्य का पतन हुआ तो मानवता के एक बड़े भाग को इसका पता तक नहीं चला। जिस प्रकार यूरोप की जर्मन-रोमन-संस्कृति में प्राचीन, मध्य और अर्वाचीन कालों का क्रम आया उसी प्रकार अन्य संस्कृतियों में भी यह प्रक्रिया चालू रही। दानिलेव्स्की ने दस संस्कृतियां निर्धारित की है—(१) मिस्री (२) चीनी (३) असुरी-बाबुली-फिनिशी-खल्दी या प्राचीन शामी (४) हिन्दू (५) ईरानी (६) इब्रानी (७) यूनानी (८) रोमन (९) नव-शामी अथवा अरबी और (१०) जर्मन-रोमन अर्थात् यूरोपीय। इसके अतिरिक्त अमेरिका में दो संस्कृतियाँ पल्लवित हुईं। १—मेक्सीकन और (२) पीरूवियन। किन्तु ये दोनों अपना पूरा जीवन-काल बिताये बिना ही बाह्य हत्यारों के प्रहारों से काल-कवलित हो गयीं। इन बारह संस्कृतियों के अतिरिक्त एक तेरहवीं रूसी या स्लाव संस्कृति उदीयमान हो रही है जो भविष्य में विश्व-इतिहास का नियमन और संचालन करेगी।

(ऊषा) में प्रकशित हुआ था। उनकी रचनाओं का पूर्ण परिचय, स्बोंनिक पोलितिचेस्किख इ इकोनोमीचेस्किख स्तातेइ, (राजनीतिक और आर्थिक निबन्ध) (सन्त पीतर्सबर्ग १८९०) में मिलता है। आलोचनात्मक अध्ययन के लिए देखिए पीतिरिम ए० सोरोकिन, 'सोशल फिलोसोफीज आव एन एज आव क्राइसिस,' पृ० ४९-७१।

३. सांस्कृतिक-ऐतिहासिक इकाइयाँ—दानिलेव्स्की ने उक्त संस्कृतियों को सांस्कृतिक-ऐतिहासिक इकाइयां (कल्चर-हिस्टोरिकल-टाइप) बताया है। उन्होंने इनको सोलिटरी (अकेली) और, ट्रांसमिटेबिल (संक्रामक) संस्कृतियों में विभक्त किया है। सोलिटरी (अकेली) संस्कृतियाँ वे हैं जो अपनी अपनी भूमि पर फूलती-फलती रही हैं; जैसे, चीनी और हिन्दू। ट्रांसमेटेबिल (संक्रामक) संस्कृतियाँ वे हैं जो अपनी भूमि पर समाप्त होकर वहीं विकसित होने वाली अन्य संस्कृतियों में संक्रान्त हो गयीं, जैसे मिस्री, असुरी-बाबुली, फिनिशी, यूनानी, रोमन, इब्रानी, जर्मन-रोमन अथवा यूरोपियन। इनके अतिरिक्त इतिहास में ऐसी जातियाँ भी सक्रिय रही हैं जिनका कार्य केवल मृत-प्राय संस्कृतियों के देहावसान में सहायता देना और उनके अवशेषों को इधर-उधर बिखेरना रहा है। ऐसी जातियाँ हूण, तुर्क, मंगोल आदि हैं। इनका कार्य निषेधात्मक अथवा नकारात्मक रहा है। अतः दानिलेव्स्की ने इन्हें निगेटिव एजेन्सीज, (निषेधात्मक शक्तियाँ), बताया है। कुछ जातियों ने निषेधात्मक कार्य के अतिरिक्त रचनात्मक कार्य भी किया। ऐसी जातियों में जर्मन और अरब आते हैं। साथ ही अनेक ऐसी जातियाँ रहीं जो उठते ही दब गयीं और न कोई रचनात्मक कार्य कर सकीं और न निषेधात्मक प्रक्रिया में ही भाग ले सकीं। ऐसी जातियों में फिन शामिल हैं। दानिलेव्स्की की परिभाषा में इन्हें 'एथनोग्राफिक मेटीरियल' (जातीय सामग्री) कहा गया है। जब कोई संस्कृति विघटित और विकीर्ण होती है तो उसमें सम्मिलित होने वाली जनता, जातीय सामग्री की श्रेणी में आ जाती है। इस प्रकार दानिलेव्स्की के मतानुसार किसी जाति के तीन रूप हो सकते हैं—(१) संस्कृति, (२) निषेधात्मक शक्ति अथवा (३) जातीय सामग्री।

४. संस्कृति की उत्पत्ति और विकास के नियम—संस्कृति की उत्पत्ति और विकास में दानिलेव्स्की के मतानुसार चार नियम कार्यशील होते हैं—(१) प्रत्येक जाति जो एक भाषा या समान भाषाओं के समूह से परिबद्ध हो और अपने मानसिक और आध्यात्मिक विकास के योग्य हो संस्कृति का आधार बन सकती है। (२) यदि वह जाति राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र हो तभी वह संस्कृति में परिणत हो सकती है। (३) एक संस्कृति के मौलिक सिद्धान्त दूसरी संस्कृति में संक्रान्त नहीं हो सकते क्योंकि इनकी अपनी विशेषताएँ वैयक्तिक होती हैं। यद्यपि संस्कृतियाँ आपस में एक दूसरे पर प्रभाव डालती रहती हैं और उपनिवेशीकरण, उर्वरीकरण (पारस्परिक आदान-प्रदान) और अन्तर्वपन (ग्राफ्टिंग) की प्रक्रियाओं

द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित होती रहती हैं तथापि उनकी वैयक्तिक विशेषताएँ एक दूसरे से नहीं मिल पातीं। (४) संस्कृतियाँ तभी विविधता, सम्पूर्णता और ऐश्वर्य प्राप्त करती हैं जब उनकी जातीय सामग्री में स्वतन्त्रता, संगठन और समन्वय का भाव होता है। एक राज्य की भावना से संघवाद की विचारधारा अधिक उपयोगी है। (५) संस्कृति का जीवन-क्रम जीवधारी शरीरियों के समान चलता है। इसमें एक सुदीर्घ विकास-काल के पश्चात् एक संक्षिप्त परिपाक-काल आता है और इसके बाद संस्कृति समाप्त हो जाती है। तदनन्तर संस्कृति की शक्ति नष्ट हो जाती है और यह मर जाती है।

५. संस्कृति के जीवन के तीन युग—दानिलेव्स्की के मतानुसार संस्कृति के जीवन के तीन युग होते हैं—प्राचीन युग, जब संस्कृति जातीय सामग्री से उभर कर अपना निश्चित स्वरूप ग्रहण करती है; मध्ययुग, जब यह अपनी सांस्कृतिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता स्थापित करती है और परिपाक युग अथवा सभ्यता युग या अर्वाचीन युग, जब वह अपनी समस्त सर्जन शक्तियों का पूर्ण विकास करके न्याय, स्वाधीनता और लोकमंगल के आदर्शों की पूर्ति करती है। इस युग के अन्त में संस्कृति की सर्जन शक्ति समाप्त हो जाती है। फिर या तो यह चीनी संस्कृति की तरह एक जड़ कंकाल बन जाती है या मिस्री और यूनानी की तरह अन्य संस्कृतियों में संक्रान्त हो जाती हैं। इस प्रसंग में दानिलेव्स्की ने 'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्दों का प्रयोग उसी अर्थ में किया है जिसमें कि स्पेंगलर ने किया है।

संस्कृति का 'प्राचीन युग' सहस्रों वर्ष लम्बा होता है और 'मध्ययुग' भी पर्याप्त लम्बा होता है, किन्तु 'अर्वाचीन युग' अथवा 'सभ्यता पक्ष' केवल ४०० से ६०० वर्ष तक चलता है। विभिन्न संस्कृतियाँ विभिन्न तत्त्वों की प्रधानता पर आधारित रहती हैं और इनके विकास और परिपाक में अपनी पूरी सर्जन शक्ति लगा देती हैं। यूनानी संस्कृति 'सौन्दर्य' की अनुभूति और अभिव्यक्ति पर आश्रित थी, यूरोपियन अथवा जर्मन-रोमन संस्कृति विज्ञान के उत्कर्ष से शृंखलित थी, शामी संस्कृति धर्म पर अवलम्बित थी, रोमन संस्कृति कानून और राजनीतिक व्यवस्था पर केन्द्रित थी, चीनी संस्कृति व्यावहारिक उपयोगिता पर अवस्थित थी और भारतीय संस्कृति कल्पना और रहस्यवाद पर निर्भर थी। चूंकि इन संस्कृतियों ने उपर्युक्त एक-एक तत्त्व के विकास और वृद्धि में अपनी सारी शक्तियाँ लगायीं और इन तत्त्वों का मूल्य कालक्रम से घटता-बढ़ता रहा, इसलिए इन संस्कृतियों की शक्ति भी इन तत्त्वों के साथ-साथ बढ़ी और घटी।

संस्कृतियों की एकपक्षीयता इनके विकास, परिपाक और फिर विनाश की मुख्य कारण बनी।

मानवता की सर्जन-शक्ति संस्कृतियों द्वारा अभिव्यक्त होती है। कला, विज्ञान, दर्शन, न्याय और व्यवस्था प्रत्येक संस्कृति के वैयक्तिक और विशिष्ट तत्त्व से रँगी हुई होती है। वस्तुतः ज्ञान की सामाजिक पृष्ठभूमियाँ संस्कृतियों के अनुरूप अलग-अलग होती हैं, जैसा कि मानहाइम ने सिद्ध किया है।

६. यूरोपीय और रूसी-स्लाव संस्कृतियों के भेद—दानिलेव्स्की के मतानुसार विश्व का भविष्य रूसी स्लाव संस्कृति के हाथ में है। यह संस्कृति अपने परिपाक युग में प्रवेश कर रही है और अपने इतिहास के सर्वोन्नत सर्जन-काल का द्वार खोल रही है। इस संस्कृति की विशेषता यह है कि यह धर्म, राजनीति, अर्थव्यवस्था, विज्ञान-कला-यंत्र इन चारों तत्त्वों पर आधारित है। इस संस्कृति का मुख्य लक्षण यह है कि यह मानव इतिहास में पहली बार सांस्कृतिक सर्जनात्मकता के चारों तत्त्वों का समन्वय कर पायी है। इसके विपरीत जर्मन-रोमन (यूरोपियन) संस्कृति केवल राजनीतिक और वैज्ञानिक तत्त्वों का अवलम्बन करके अग्रसर हुई है। अतः यह संस्कृति अपने परिपाक काल से गुजर कर, उपयोगिता का अतिक्रमण कर ह्रास के पथ पर चल पड़ी है और उन्नतिशील रूसी स्लाव संस्कृतिसे ईर्ष्यापूर्ण और निरर्थक संघर्ष कर रही है।

यूरोपियन और रूसी-स्लाव संस्कृतियों का उपर्युक्त भेद इतना गहरा है कि इसे दूर करने के समस्त प्रयत्न असफल सिद्ध हुए हैं। विज्ञान और यंत्र-शास्त्र जैसे तटस्थ विषयों के आदान-प्रदान को छोड़कर रूस में यूरोपियन संस्कृति प्रचलित करने की सारी चेष्टाएँ निरर्थक रहीं। स्लाव-पोलैण्ड ने स्लाव आदर्शों को छोड़कर यूरोपियन आदर्श ग्रहण करने का प्रयास किया किन्तु वह स्लाव आदर्शों को भूलकर भी यूरोपियन आदर्शों को आत्मसात् न कर सका और फलतः दोगला बन गया। वस्तुतः यूरोप और रूस का विरोध शाश्वत, आन्तरिक और ऐतिहासिक है। यूरोप में कितने ही पारस्परिक वैमनस्य हों या दल हों वे रूस के विरोध में सब एक हो जाते हैं। कैथोलिक, प्रोटेस्टेण्टों से मिल जाता है, रूढ़िवादी और प्रगतिवादी एक दूसरे के साथ हो जाते हैं, राज्यवादी और अराजकतावादी गले मिल जाते हैं, अभिजातवर्गी और जनतन्त्री अपना भेद खो देते हैं और इस प्रकार सब लोग एक होकर रूस के विरोध में डट जाते हैं। क्रीमिया के युद्ध में ऐसा ही हुआ किन्तु अन्ततोगत्वा रूस की ही विजय निश्चित है।

७. रूसी-स्लाव संस्कृति का भविष्य—रूस की विजय का कारण यह है कि यह दूसरी से तीसरी अवस्था में पदार्पण कर रहा है। इसके सामने परिपाक और सर्जन का सारा युग खुला हुआ है। इसका प्रतिद्वन्दी यूरोप अपने परिपाक और सर्जन युग के अन्त में पहुँच चुका है। सत्रहवीं शती से इसका क्षय आरम्भ हो चुका है किन्तु इसकी क्षीणता के लक्षण हाल में ही प्रस्फुटित हुए हैं। ये लक्षण हैं—निराशावाद की वृद्धि, ईसाई आदर्शों का त्याग और विश्व-प्रभुत्व एवं शक्ति संचय की अतृप्त पिपासा। जैसे-जैसे यूरोप की सर्जनशक्ति कम होती जाती है, वैसे-वैसे इसकी शक्ति-तृष्णा बढ़ती जाती है। यह विश्व पर अपनी क्षीणता फैलाना चाहता है। किन्तु युवक स्लाव संस्कृति इसके विरोध के लिए कटिबद्ध है। यह एकतामय और संघीभूत रूसी-स्लाव संस्कृति मानव प्रगति को आगे ले जाने का भार सम्भाले हुए है। यह निश्चित रूप से यूरोप को अभिभूत करके मानवता के विकास और उन्नति को आगे ले जायगी।

८. आलोचनात्मक समीक्षा—हमने दानिलेव्स्की के विचारों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। उनके विचार अत्यन्त सूक्ष्म और वैज्ञानिक पद्धति से उपस्थित किये गये हैं। वर्तमान-काल के प्रसिद्ध इतिहासशास्त्री स्पेंगलर और ट्वायनबी से उनका घनिष्ठ साम्य है, जैसा कि आगामी अनुच्छेदों में स्पष्ट हो जायगा। किन्तु उनकी अनेक स्थापनाएँ विवादास्पद भी हैं। उनका यह विचार कि संस्कृति जीवधारी शरीरियों की तरह उत्पन्न, विकसित, वृद्ध और नष्ट होती है, स्पष्टतः सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस विषय में जो तर्क या आक्षेप किये जा सकते हैं, उनकी चर्चा पिछले परिच्छेद के, 'शारीरिक व्याख्या' शीर्षक अनुच्छेद में की जा चुकी है। उनकी यह धारणा भी एकपक्षीय है कि प्रत्येक संस्कृति अपने विशिष्ट तत्त्वों के ही विकास और अभिव्यक्ति में दत्तचित्त रहती है। इस आपत्ति का एक प्रमाण तो यह है कि दानिलेव्स्की और ट्वायनबी सौन्दर्य, धार्मिकता और वैज्ञानिकता को क्रमशः यूनानी, भारतीय और यूरोपीय संस्कृतियों के प्रधान तत्त्व सिद्ध कर देते हैं, किन्तु अन्य संस्कृतियों के ऐसे ही प्रधान तत्त्वों के प्रतिपादन में असमर्थ रहते हैं। उनके विषय में इनकी धारणा यह है कि ये विभिन्न तत्त्वों के सम्मिश्रणों पर अवलम्बित हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या ऐसे ही सम्मिश्रण यूनानी, भारतीय और यूरोपियन संस्कृतियों में नहीं मिलते। क्या यूनानी संस्कृति ने अरस्तू, थेल्स और आर्कमेदिस को जन्म नहीं दिया, क्या भारत में आर्यभट्ट और भास्कराचार्य नहीं हुए और अजन्ता, एलोरा आदि की कलाकृतियाँ नहीं बनीं

और क्या यूरोप में लूथर, कालविन, बाख और बिठोवन ने अपना कार्य नहीं किया ? संस्कृतियों का उपर्युक्त विभाजन भी नितांत काल्पनिक और वैयक्तिक है। उदाहरणार्थ जिसे दानिलेव्स्की प्राचीन शामी संस्कृति कहते हैं उसे स्पेंगलर मेजियन और बाबुली इन दो भागों में बाँटते हैं और जिसे स्पेंगलर मेजियन संस्कृति कहते हैं उसे दानिलेव्स्की ईरानी और अरब इन दो भागों में बाँटते हैं। इस सारे क्षेत्र को ट्वायनबी कई भागों में बाँट डालते हैं—सुमेरी, बाबुली, हिट्टी, सीरियाई, अरबी, ईरानी आदि। इस प्रकार इन विचारकों में संस्कृतियों के व्यक्तित्व के विषय में मतैक्य नहीं है। अतः संस्कृतियों के विभाजन और वर्गीकरण का कोई सुनिश्चित वैज्ञानिक और प्रत्यक्ष आधार नहीं है। यह प्रत्येक विचारक की वैय-क्तिक अभिरुचि पर निर्भर है। जिस प्रकार इन लेखकों में संस्कृतियों की संख्या या वर्गीकरण के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है, इसी प्रकार इनकी आयु के विषय में भी सहमति नहीं है। संस्कृति के जन्म की परिस्थितियों के विषय में तो इनके विचार अत्यन्त अस्पष्ट हैं। इसी प्रकार संस्कृति के क्षय और ह्रास के विषय में वे एक दूसरे के विरोधी हैं। वस्तुतः इन्होंने इतिहास को मानवता की पृष्ठभूमि में रखने का प्रयत्न नहीं किया है। उनका ध्यान समानता और सहयोग से हटकर विरोध और वैमनस्य पर चला गया है। इसीलिए वे रूस और यूरोप के शाश्वत वैर पर जोर देते हैं। दानिलेव्स्की की तरह स्पेंगलर और ट्वायनबी ने भी इन विचारों को दोहराया है। ट्वायनबी की मुख्य स्थापना यह है कि रूस ने बाइजेन्तियम की विरासत पाकर यूरोप का शाश्वत बैर खरीद लिया है। किन्तु यह विरोध सहयोग में भी बदल सकता है; यह सम्भावना इन विचारकों के मस्तिष्क में नहीं आयी।

अनुच्छेद २—स्पेंगलर

१. **जीवन-परिचय**—ओसवाल्द स्पेंगलर (१८८०-१९३६) का जन्म २९ मई, १८८० को जर्मनी में हार्त्स प्रान्त के ब्लेंकनबर्ग नामक स्थान पर हुआ। उन्होंने हार्ले, बर्लिन और म्युनिख में शिक्षा प्राप्त की और गणित और विज्ञान का विशेष अध्ययन किया। साथ ही उन्होंने इतिहास, कला और दर्शन का भी गम्भीर अध्ययन किया। सात वर्ष तक द्युसलदोर्फ, हाम्बुर्ग और म्युनिख में शिक्षण-कार्य करने के बाद वे विद्यालय जीवन से अलग हो गये। फिर वैयक्तिक रीति से अध्यापन करते रहे। १९१८ में उन्होंने अपने महान् ग्रन्थ 'देयर उन्तेरंगाग देज़ आबन्तला-न्देज' (पश्चिमी जगत् का पतन) का प्रथम भाग प्रकाशित किया और १९२२ में

इसका दूसरा भाग प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ कि इसकी ९०,००० प्रतियां छपीं और बिक गयीं। इस ग्रन्थ ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में एक खलबली पैदा कर दी। विभिन्न विषयों के विद्वानों, दैवज्ञों, इतिहासज्ञों, वैज्ञानिकों और कला-समालोचकों ने इसके विषय में अपने-अपने मत प्रकट किये। मानफ्रेद श्रोयतर ने अपने ग्रन्थ 'देयर स्त्राइत उम स्पेंगलर' में इस विशाल आलोचनात्मक साहित्य का परिचय देते हुए स्पेंगलर के विषय में ४०० आलोचकों के मत उद्धृत किये हैं। १९२४ में प्रसिद्ध बयोवृद्ध इतिहासकार एडवर्ड मेयर ने, 'दायत्शे लितरा-तुरत्साइतुंग' नामक पत्र में स्पेंगलर पर एक महत्वपूर्ण लेख लिखा और अनेक विषयों पर उनसे मतभेद प्रकट करते हुए भी उनकी इस मौलिक स्थापना को मान लिया कि 'संस्कृति' (कल्चर) का एक शारीरिक और अवयवित्व-प्रधान संविधान होता है। इस ग्रन्थ में कठोर नियतिवाद और निराशावाद भरा पड़ा है। इसके अनुसार प्रत्येक संस्कृति एक जीवधारी प्राणी के समान पैदा होती है और नष्ट होती है। वर्तमान यूरोप की संस्कृति भी क्षय और विनाश की अवस्था में पहुँच चुकी है। जर्मनी में १९३३ में हिटलर के नेतृत्व में नात्सी दल की सफलता ने स्पेंगलर को मंत्रमुग्ध कर दिया। उन्होंने इस नवीन व्यवस्था का हार्दिक अभिनन्दन किया, किन्तु नात्सी दल उनके निराशाजनक और ह्रासप्रधान दर्शन पर बहुत क्षुब्ध था। अतः उनके ग्रन्थ को दबा दिया गया। इस पर १९३३ में उन्होंने 'यार देयर एन्त-शाइदुंग' (निर्णय का वर्ष) शीर्षक ग्रन्थ लिखा। इसकी प्रस्तावना में उन्होंने नात्सी नीति का स्वागत किया और इसमें जर्मन-प्रशन नेतृत्व में यूरोपियन संस्कृति के पुनरुज्जीवन और पुनरवतरण की आशा जाग्रत की। अपने दर्शन की घोर निराशा को दूर करते हुए और जर्मन उत्थान की आशा का दीप जलाते हुए उन्होंने जर्मन-रूसी एकता पर बल दिया। उनका यह सिद्धान्त जर्मन भू-राजनीति (जियोपोलिटिक्स) की अनेक स्थापनाओं से मेल खाता था। नात्सी राजनीति के कुछ पक्षों पर इसका काफी प्रभाव पड़ा। स्पेंगलर के अन्य ग्रन्थों में 'प्रयशन्तम उन्द सोजियलिजमस' (प्रशन शक्ति और समाजवाद) (१९२०) 'देयर मान्श-उन्द देयर तेकनीक' (मनुष्य और वैज्ञानिक पद्धति) (१९३१) तथा एक भाषणों का संग्रह (१९३७) उल्लेखनीय है। किन्तु उनकी ख्याति का मूल-स्रोत उनका बृहद् ग्रन्थ 'पश्चिमी जगत् का पतन' है।[२]

२. स्पेंगलर के 'देयर उन्तेरंगाग देज आबन्तलान्देज' का अंग्रेजी अनुवाद

२. **'प्रकृति' और 'इतिहास' 'हेतु' और 'नियति'**—स्पेंगलर मूलतः गणितज्ञ और वैज्ञानिक थे। अतः उनकी कृति में वर्गीकरण, विश्लेषण और नियम-निर्धारण की प्रवृत्तियों की प्रचुरता है। वे इतिहास का अध्ययन भी इसी दृष्टिकोण से करते हैं। किन्तु विज्ञान को वे दो भागों में बाँटते हैं—प्रकृति सम्बन्धित और इतिहास विषयक। वस्तुतः उनके दर्शन में समस्त विश्व के दो स्वरूप हैं—'प्रकृति' (नेचर) और 'इतिहास' (हिस्ट्री)। विश्व का जो स्थिर, दृश्य, मूर्त निर्मित रूप है वह 'प्रकृति-रूपी-विश्व' (वर्ल्ड ऐज़ नेचर) है, और इसका जो गतिमान्, प्रक्रियात्मक अमूर्त और निर्माण रूप है वह 'इतिहास-रूपी-विश्व' (वर्ल्ड ऐज़ हिस्ट्री) है। 'प्रकृति-रूपी-विश्व' 'देश' (स्पेस) के विस्तार में प्रसारित है और 'इतिहास-रूपी-विश्व' 'काल' (टाइम) के अन्तराल में व्याप्त है। 'देश' की प्रवृत्ति 'हेतुवाद' (काजेलिटी) है और 'काल' की प्रवृत्ति 'नियतिवाद' (डेस्टिनी) है। अतः प्रकृति में हम कार्यकारण की परम्परा को ढूंढ सकते हैं, किन्तु इतिहास में केवल गति और नियति तथा प्रक्रिया है। जीवन अपनी आन्तरिक प्रवृत्ति और मौलिक प्रेरणा से विकास और निर्माण की जिस प्रक्रिया में गतिमान् है उसी का नाम 'इतिहास' है। इसकी मौलिक गति को नियति कहते हैं। चलना और फिरना ही इसका काम है। इसे किसी अन्य या बाह्य कारण की अपेक्षा नहीं है। इसका स्वभाव ही इसकी गति

चार्ल्स फ्रांसिस एटकिन्सन ने १९२६ और १९२८ में दो भागों में प्रकाशित किया। यह अनुवाद मूल के समान सुन्दर और गम्भीर है। एडविन एफ० डेकिन ने 'टुडे एण्ड डेस्टीनी' शीर्षक रचना में स्पेंगलर के ग्रन्थों और लेखों के चुने हुए उद्धरण संगृहीत किये। ई० एच० गोडर्ड और पी० ए० गिबन्स की रचना, 'सिविलिजेशन एण्ड सिविलिजिशेन्स,' में स्पेंगलर के सिद्धांतों की विशद चर्चा मिलती है। एच० स्टुअर्ट ह्यूगस का ग्रन्थ, 'ओसवाल्ड स्पेंगलर, ए क्रिटिकल एसटीमेट (१९५२)' से स्पेंगलर के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन मिलता है। ए० एल० राउसे की 'दि यूस ऑव हिस्ट्री (१९४६)' में भी स्पेंगलर की सारगर्भित मीमांसा है। स्पेंगलर के जीवन-चरित्र के विषय में विल ड्यूरेन्ट की 'एडवेन्चर्स इन जीनियस' नामक कृति द्रष्टव्य है। 'ग्रेट मैन ऑव लिटरेचेर, के नाम से इसका नया संस्करण छपा है। पी० ए० सोरोकिन ने 'सोशल फिलो-सोफिज ऑव एन एज ऑव क्राइसिस' के पृ० ७२-११२ पर स्पेंगलर के विचारों की विस्तृत टीका की है।

का आधार है। उत्पत्ति, विकास, क्षय और विलय का क्रम इसकी नियति है। इसमें निश्चय, अटलता और अनिवार्यता है। अतः इसके अतीत और भविष्य सुनिश्चित और बोधगम्य हैं। संसार, समाज और संस्कृति भी जीवन की प्रक्रिया के अन्तर्गत होने के कारण ऐतिहासिक हैं। इनमें गति और नियति एवं काल है। अर्थात् इनका प्रत्येक पक्ष और क्षण अतीत और भविष्य की अपेक्षा रखता है। इनमें स्थिरता नहीं क्षणिकता है, निर्मिति नहीं निर्माण है, 'अस्ति' नहीं 'भवति' है। यही ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। इसे गेटे ने अपने काव्यों, नाटकों और वार्ताओं में अभिव्यक्त किया है।[3]

३. **इतिहास में संस्कृतियों का उत्थान-पतन**—स्पेंगलर के मतानुसार मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में पर्याप्त सादृश्य है। वे मानवविकास को एक अदम्य, असीम प्रवाह के रूप में देखते हैं।[4] "जल-राशि के अपार विस्तार पर अनन्त तरंग-मालाएँ क्रीड़ा करती हैं। इस पर जहाँ-तहाँ प्रकाश की तीखी किरणें झलकती है और तरंगों के शाश्वत नृत्य में अस्पष्ट और अदृश्य हो जाती हैं। इसी प्रकार जातियाँ, कबीले, पीढ़ियाँ, वंश, समाज आदि प्रकट होते हैं और अपनी क्षणिक प्रभा के पश्चात् मानवता के प्रवाह में विलीन हो जाते हैं।" "इस मानवप्रवाह के तल पर महान् संस्कृतियों (कल्चर) के तरंग-वृत्त चलते रहते हैं। वे शीघ्रता से और अकस्मात् आविर्भूत होते हैं, सुन्दर आकृतियों में ऊपर उठते हैं, फिर गिरने लगते हैं और विलीन हो जाते हैं तथा जल का तल मन्द और सुषुप्त हो जाता है।"[5] इस प्रकार मानव-इतिहास संस्कृतियों के जीवन का संग्रह है।

४. **'संस्कृति' (कल्चर)**—संस्कृति स्पेंगलर के मतानुसार इतिहास-दर्शन की केन्द्र-बिन्दु है। वे इसे एक शरीरी (ओर्गनिज्म) समझते हैं। इसकी अपनी आत्मा होती है जो अनेक प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त होती है। ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य, राजनीति, व्यवस्था, व्यवहार, आचार, भाषा, भूषा, सम्बन्ध, नियम आदि सब मानव-कार्यकलाप इसकी आत्मा के प्रतीक होते हैं। अतः मानव-कार्य और रचनाओं में एक मौलिक प्रतीकात्मक ऐक्य होता है। उदाहरण के लिए यंत्र-शक्ति,

३. दि डिक्लाइन आव दि वेस्ट, भाग १, पृ० २५।
४. वही, भाग १, पृ०, १०५।
५. वही, भाग १, पृ० १०६।

विद्युत-प्रयोग, तेल के रंगों द्वारा प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण, मुद्रण और प्रकाशन, साख, उधार और प्रतीकात्मक धन-संचार (करन्सी) की अर्थ-व्यवस्था, दोहरे लेखे का बही-खाता (डबल एण्ट्री बुककीपिंग), दूर तक वार करनेवाले प्रक्षेपणास्त्र, डिफरेंशियल केलकुलस का गणित, काउण्टरप्वाइंट का संगीत तथा सापेक्षता पर आधारित अमूर्त भौतिक विज्ञान एक प्रतीकात्मक सम्बन्ध में ग्रथित होकर एक ही आत्मा की विविध अभिव्यजनाएँ प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार नग्न मूर्ति, नगर-राज्य, मुद्रा पर आधारित धन-संचार, यूकलिद की मूर्त और मेय ज्यामिति, और दृश्य तथा प्रत्यक्ष जगत् की विशेष जागरूकता एक अन्य आत्मा की अभिव्यक्ति के प्रतीक हैं और इस दृष्टि से परस्पर सम्बन्धित हैं।[६]

५. **संस्कृति (कल्चर) का वृत्तात्मक जीवनक्रम**—संस्कृतियाँ उच्चतम जीवन के सार (सबलीमेटेड लाइफ एसेन्सेज) हैं। वनस्थली के पुष्पों की तरह उनकी उत्पत्ति निरुद्देश्य होती है। उनका यदि कोई उद्देश्य होता है तो अपने निश्चित जीवन-क्रम को पूरा करना। जन्तुओं और पादपों की भाँति वे गेटे की जीवित प्रकृति (लिविंग नेचर) की सदस्य हैं। न्यूटन की मृत प्रकृति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।[७] जिस प्रकार जन्तु और वनस्पति के विकास और विलय से प्रकृति का क्रम चलता है और मनुष्यों की उत्पत्ति और मृत्यु से मानवसंतति और पीढ़ी बनती है, उसी प्रकार संस्कृतियों की जीवन-लीला से इतिहास की प्रक्रिया चलती है। इतिहास अक्षुण्ण क्रमबद्ध प्रक्रिया नहीं है। समस्त इतिहास को प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन युगों में बाँटकर एकता के सूत्र में बाँधना भ्रामक है। सम्पूर्ण मानवता एक अमूर्त कल्पना है। गेटे ने लूदन से एक बार कहा था कि "मानवता? यह एक अमूर्त भाव है, यहाँ सदा से मानव, केवल मानव रहे हैं, और रहेंगे"। स्पेंगलर मानवता को एक जन्तुशास्त्रीय परिभाषा बतलाते हैं। वे इस रिक्त कल्पना के स्थान पर वास्तविक तथ्यों के दर्शन करते हैं, और अनेक विशाल संस्कृतियों के साक्षात्कार से तृप्ति प्राप्त करते हैं, जो अपनी-अपनी मातृभूमियों की मृत्तिका से प्राकृतिक वेग के साथ प्रादुर्भूत होकर उसी के क्रोड़ में अपने जीवन-वृत्त पूरा करती हैं और अपने-अपने मानव-समूहों को अपनी आकृति-प्रकृति प्रदान करती हैं। इन संस्कृतियों

६. वही, भाग १, पृ० ४७।
७. वही, भाग १, पृ० २१।

के अपने भाव, वासना, जीवन, इच्छा, कल्पना और अन्त होते हैं। उक्त इतिहास में एक शिल्प, एक चित्रकला, एक गणित और एक भौतिक विज्ञान नहीं है, वरन् अनेक शिल्प, चित्रकला, गणित और विज्ञान हैं जो विभिन्न संस्कृतियों से संश्लिष्ट हैं। एकता का सिद्धान्त असत्य है। स्पेंगलर के शब्दों में "विश्व-इतिहास अनन्त निर्माणों और पुनर्निर्माणों का और जीवित शरीरियों के अद्भुत उत्थान और पतन का चित्रपट है।"[८] इतिहास की प्रवृत्ति रेखात्मक नहीं है, वृत्तात्मक है। इस प्रकार स्पेंगलर इतिहास की यांत्रिक, भौगोलिक और शारीरिक व्याख्याओं का संगम प्रस्तुत करते हैं।

६. तोलेमेक और कोपरनिकन दृष्टिकोण—जिस प्रकार स्पेंगलर इतिहास के रेखात्मक और एकसूत्री दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए प्राचीन, मध्य और आधुनिक युगों की योजना को अस्वीकार करते हैं, उसी प्रकार वे इस धारणा के विरुद्ध हैं कि यूरोप इतिहास का केन्द्रस्थल है। वे इस धारणा को 'तोलेमेक' कहते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार यूनानी भौगोलिक तोलेमी ने यह अशुद्ध स्थापना प्रस्तुत की थी कि पृथ्वी ही सौरमण्डल का केन्द्रस्थल है, इसी प्रकार इतिहासकार इस भावना में परिबद्ध हैं कि यूरोप मानव-इतिहास का केन्द्रस्थल है। इसके विपरीत स्पेंगलर अपने सिद्धान्त को 'कोपरनिकन' कहते हैं। कोपर-निकस की धारणा थी कि सौरमण्डल वृत्ताकार क्षेत्रों का समूह है। इसी प्रकार स्पेंगलर मानते हैं कि इतिहास किसी एक संस्कृति की जीवन-लीला नहीं है, वरन् अनेक संस्कृतियों के जीवन-वृत्तों का क्रम है। वे इतिहास को गेटे की 'जीवित-प्रकृति' का पर्याय मानते हैं।[९] इसमें संस्कृतियों की उत्पत्ति और मृत्यु की सतत शाश्वत प्रक्रिया है, किसी अजर-अमर चिरन्तन तत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं है।

७. संस्कृति के जीवन की अवस्थाएँ—संस्कृति एक प्राणी है और इसका जीवन जन्म-जरा-मरण के क्रम से चलता है। संस्कृति की उत्पत्ति तब होती है जब एक महान् आत्मा 'बोलिश मानवता की आदिम आध्यात्मिकता' (देम उरजील-नहाफतन त्सुस्तान्दे) से जाग्रत होकर अपने पृथक् रूप में प्रकट होती है। यह एक निश्चित भूमि और क्षितिज में वनस्पति की तरह परिबद्ध रहती है। जब यह आत्मा जातियों, जनों, भाषाओं, विचारों, कलाओं, विज्ञानों और राष्ट्रों के रूप में अपने

८. वही, भाग १, पृ० २२।

जीवन की सब सम्भावनाओं को पल्लवित और प्रत्यक्ष कर चुकती है तो इसका अन्त हो जाता है और यह पुनः आदिम आध्यात्मिकता (प्रोटो सोल) में विलीन हो जाती है। इसके जीवन में अमूर्त, अपार, अरूप तत्त्वों का सतत संघर्ष चलता है। यह संघर्ष ऐसा ही है जैसा मनुष्य के जीवन में विद्यमान है। संस्कृति का जीवन मनुष्य के जीवन के समान है। इसके जीवन में बाल्यकाल, यौवन, प्रौढ़ता, वार्धक्य आते हैं। इन अवस्थाओं को हम ऋतुओं के क्रम रूपी प्रतीकों द्वारा भी व्यक्त कर सकते हैं। संस्कृति का बाल्यकाल वसन्त ऋतु जैसा होता है। इसमें उद्रेक, उत्पात, सौन्दर्य, लास्य और निरीहता होती है। प्राचीन जर्मन भवनों में गेटे के शब्दों में कलियों के खिलने का वातावरण है। प्राचीन होमर-कालीन दोरिक कला, प्रारम्भिक ईसाई कला, जो वस्तुतः प्रारम्भिक अरबी कला है, तथा मिस्र के चतुर्थ वंश से आगे की कला में ऐसी संस्कृतियों के बाल्यकाल मुखरित हो उठे हैं। इनमें शैली की धूमिलता, अस्पष्टता और अनिश्चय दिखाई देते है। किन्तु इसके पश्चात् संस्कृति यौवनावस्था में पदार्पण करती है जो ग्रीष्म ऋतु के समान है। इसमें सर्जन शक्ति विकसित और परिपक्व हो जाती है। शक्ति, निश्चय, विश्वास, दृढ़ता और परिपाक का भाव उत्पन्न हो जाता है। संस्कृति का व्यक्तित्व स्पष्टतः अभिव्यक्त होता है। यूरोप के काउण्टर रिफार्मेशन, पिसिसत्रेतिदे के युग के अथेन्स, जस्तीनियन के युग और मिस्र के प्रारम्भिक मध्य साम्राज्य में संस्कृतियों की इस अवस्था के दर्शन होते हैं। इसके बाद संस्कृति की प्रौढ़ावस्था आती है जो वर्षा ऋतु के समान है। हेजिया सोफिया के गुम्बज, तितियन के चित्र, अमेनेमहेत तृतीय की शीर्षाकृति, तरनाल की आकृति के महराबों पर अरबी शैली का शिल्प, मोजार्त का सगीत आदि इस अवस्था के प्रतीक हैं। अन्त में वार्धक्य की छाया पडने लगती है। आत्मा की क्रिया मन्द हो जाती है। यह शरद् के समान होती है। किन्तु इसमें संस्कृति अपनी समस्त शक्तियों को समेटकर एक नूतन सर्जन क्रिया में संलग्न हो जाती है जिसके लक्षण शीतलता, संतुलन और कृत्रिमता होते हैं। इस सर्जन-क्रिया को रीतिवाद (क्लासिसिज़्म) कहते हैं। यह सभी संस्कृतियों के जीवन के इस विशेष पक्ष की अभिव्यक्ति होती है। इस अवस्था के बाद जीर्णता का युग आता है जो हेमन्त ऋतु के समान होता है। इसमें संस्कृति व्याकुल होकर अपने बाल्यकाल की ओर प्रवृत्त होने की चेष्टा करती है क्योंकि उसे अपनी अवस्था से विरक्ति और अरुचि होने लगती है। इस मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति रोमान्तिकवाद (रोमान्टीसिज़्म) के द्वारा होती है। इसमें सुदूर अतीत को पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा सन्निहित रहती है। किन्तु यह प्रयत्न असफल

रहता है क्योंकि जीवन के क्रम को लौटाना असम्भव है। वृद्ध यदि बालकों की वेष-भूषा और हाव-भाव ग्रहण करे तब भी तो बालक नहीं बन सकता। इसके बाद शैथिल्य और क्षय की अवस्था आती है जो शिशिर के समान है। इसमें संस्कृति श्रान्त, क्लान्त, निश्चल और निष्क्रिय हो जाती है। इसकी जीवित रहने की इच्छा और शक्ति क्षीण हो जाती है। यह साम्राज्यकालीन रोम की भाँति प्रकाश से अन्धकार की ओर जाने की चेष्टा करती है, माता के गर्भ का आश्रय खोजती है। इस अवस्था में संस्कृति, 'द्वितीय धार्मिकता', (सेकेण्ड रिलिजसनेस) के कफन में लिपटकर शव-यात्रा के लिए तैयार होती है। यह 'द्वितीय धार्मिकता' अधिनायकशाही (सीज़रिज़्म) के समकक्ष होती है।[९] इसमें बुद्धिवाद असहाय हो जाता है और अशक्त श्रद्धा में बदल जाता है। हेरोदोतस ने मिस्र में इसी प्रकार की श्रद्धा के दर्शन किये। रोम के अन्त में जो प्राच्य धर्मों की प्रचुरता हुई वह इसी प्रवृत्ति की प्रतीक थी। इस अवस्था का विशेष लक्षण यह है कि संस्कृति अपने धर्मों के स्थान पर दूसरे धर्मों का आश्रय लेती है जो किसी देश से परिबद्ध न होकर सार्वजनिक होते हैं।[१०]

८. **संस्कृति (कल्चर) और सभ्यता (सिविलिज़ेशन)**—संस्कृति के जीवन का उपर्युक्त क्रम वनस्पति की जीवन-लीला के समान है जो ऋतुओं के परिवर्तन के अनुरूप चलती रहती है। इस क्रम की प्रथम तीन अवस्थाओं को स्पेंगलर ने 'संस्कृति' (कल्चर) का नाम दिया है और बाद की तीन अवस्थाओं को 'सभ्यता' (सिविलिज़ेशन) की संज्ञा प्रदान की है। स्पेंगलर की शब्दावली में 'सभ्यता' (सिविलिज़ेशन) का विशेष अभिप्राय पतन, ह्रास, क्षय, जड़ता की उस अवस्था से है जिसमें संस्कृति विकास और प्रौढ़ता प्राप्त करने के बाद प्रवेश करती है। दूसरे शब्दों में सभ्यता संस्कृति का वार्धक्य-काल है और उसके इतिहास का उपसंहार है। स्पेंगलर के शब्दों में सभ्यता एक 'परिसमाप्ति' है, निर्माण-क्रम के बाद की निर्मित वस्तु-स्थिति है, जीवन के बाद की मृत्यु है, प्रसार के बाद का जमाव है, 'डोरिक और गाथिक के आध्यात्मिक शैशव के बाद का जड़, पाषाण-निर्मित, बौद्धिकता-प्रधान सार्वजनिक नगर है।'[११] सभ्यता में कृत्रिमता, बौद्धिकता, शीतलता,

९. वही, भाग १ पृ० १०७-१०८।
१०. वही, भाग २ पृ० ३१०-३११।
११. वही, भाग १ पृ० ३१।

शान्ति, समानता, सार्वजनिकता, नागरिकता आदि के भाव प्रमुख होते हैं। स्पेंगलर की कृति का अधिकांश भाग 'सभ्यता' के लक्षणों और रूपों की चर्चा से सम्बन्धित है। 'सभ्यता' का एक विशेष लक्षण राष्ट्र और समाज का दो विभिन्न भागों में विभक्त होना होता है। ये दो भाग सार्वजनिक नगर (वर्ल्ड सिटी, अथवा मिगेलो-पोलिस) और प्रान्त (प्राविन्स) होते है।[१२] इनके आचार-विचार और रीति-नीति में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। नगर शोषक होते हैं तो प्रान्त शोषित। नगरों में अर्थ-प्रधान, ऐहिकता-परक, विश्वास-हीन, भोग-बहुल, संघर्ष-युक्त और प्रदर्शन-प्रिय जीवन का नग्न नृत्य होता है और प्रान्त में दरिद्र, दु:खी, अन्धविश्वासी, निरीह, निश्शब्द, निश्चेष्ट जनता पेड़-पौदों की तरह भूमि से चिपककर शोषण, संहार और आक्रमण को सहन करती है। स्पेंगलर ने इन जीवनचर्याओं और इनमें प्रतिविम्बित मन:स्थितियों का मार्मिक विवेचन किया है। उनकी चित्रमयी ज्वलन्त शैली में ये सामाजिक अवस्थाएँ साक्षात् अवतीर्ण हो गयी हैं।

९. संस्कृति (कल्चर) और सभ्यता (सिविलिजेशन) का विरोधाभास-- संस्कृति और सभ्यता का विरोधाभास स्पेंगलर के दर्शन का केन्द्रस्थल है। जीवन के प्रत्येक पक्ष में यह विरोध प्रकट होता है। संस्कृति की विकास-अवस्थाओं में समाज गाँवों और कसबों में बँटा होता है जिनमें कोई मौलिक भेद नहीं होता। समाज का नियत्रण एक अभिजात-वर्ग के हाथ में होता है जो अपनी मातृभूमि से पूर्णत: सन्नद्ध रहता है। इसके दृष्टिकोण में स्थानीयता के साथ-साथ प्रसरणशीलता भी होती है। इसकी कला में वैयक्तिकता और भावुकता व्याप्त रहती है। संस्कृति की आत्मा जीवन-चर्या के उपयुक्त प्रतीकों द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करती है। सभ्यता की अवस्था में समाज नगरों और प्रान्तों में बँट जाता है। प्रान्त के लोग जड़, अचेत और निष्क्रिय हो जाते हैं तो नगरों में जातीय सम्मिश्रण संस्कृति की वैयक्तिकता को समाप्त कर देता है। सार्वजनिकता की प्रवृत्ति की प्रेरणा से संस्कृति और मातृ-भूमि का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। संस्कृति का पोषक अभिजात-वर्ग नष्ट हो जाता है। जनतंत्र और समाजवाद, बुद्धिवादी दर्शन और रीति-प्रधान कला की प्रमुखता हो जाती है। आर्थिकता और यांत्रिकता की प्रवृत्ति बढ़ जाती है।

१२. वही, भाग १ पृ० ११७।

जीवन में आढ्यता और ऐश्वर्य अवश्य आ जाता है किन्तु इसमें कृत्रिमता और प्रदर्शन अधिक होता है। पाषाण के भव्य प्रासाद संस्कृति की जड़ता के प्रतीक होते है। सार्वभौमिकता और बुद्धिवाद ऐसा जल-प्लावन है जो संस्कृति की सरिता को आत्मसात् और विनिमज्जित कर लेता है। अतः स्पेंगलर इसे और सम्बन्धित प्रवृत्तियों को ह्रास और क्षय का लक्षण मानते हैं।[१३]

१०. **संस्कृतियों का जीवनकाल** — स्पेंगलर ने छः संस्कृतियों का विशेष अध्ययन किया है। ये संस्कृतियाँ मिस्री, हिन्दी, अरबी, चीनी, अपोलोनियन, (क्लासिकल), फाउसतियन (यूरोपियन) हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने दो और संस्कृतियों का उल्लेख किया है। वे हैं बाबुली और मेक्सिकन। उन्होंने एक नवी रूसी संस्कृति का भी संकेत किया है। इस प्रकार उनके मतानुसार कुल संस्कृतियाँ नौ हैं, यद्यपि उन्होंने विस्तृत चर्चा केवल उपर्युक्त छः की है। इनको स्पेंगलर वैज्ञानिक दृष्टि से, 'समसामयिक', (कनटेम्पेरेरी) कहते हैं। मिस्री संस्कृति थीनी युग में उत्पन्न हुई और प्राचीन वंशकाल (२९००-२४०० पू० ख्री०) में विकसित हुई। २१५० से १६८० तक इसकी प्रौढ़ावस्था रही। १६८० के निकट यह सभ्यता में परिणत हो गयी। धन, जनतंत्र, अधिनायकशाही, सार्वजनिकता आदि का क्रमशः विकास हुआ और फलतः यह लुप्त हो गयी। हिन्दी संस्कृति वैदिक युग (१५००-१२०० पू० ख्री०) में उत्पन्न हुई, ब्राह्मण-उपनिषद् काल (१२००-७०० ख्री० पू०) में परिपक्व हुई और गौतम बुद्ध के युग से पहले सोलह महाजनपदों के काल में सभ्यता में परिणत हो गयी। अरबी संस्कृति सन् १ ख्री० के लगभग प्रादुर्भूत हुई, ८०० ख्री० अर्थात् मुहम्मद और हारून-अल-रशीद के समय तक इसका परिपाक रहा, नवीं दसवीं शतियों में सुलतान वंशों के आगमन से यह सभ्यता में बदल गयी। चीनी संस्कृति आरम्भिक चू युग (१३००-८०० पू० ख्री०) में विकसित हुई, उत्तर चू युग (८०० से ५०० पू० ख्री०) में परिपक्व हुई और और ४८०-२३० से जब राज्यों का संघर्ष आरम्भ हुआ, सभ्यता में पदार्पण करने लगी। अपोलोनियन संस्कृति दोरिक-युग (१०००-६५० पू० ख्री०) में पनपी, आयोनिक युग (६५०-३०० पू० ख्री०) में समुन्नत हुई और ३००-१०० पू० ख्री० में सिकन्दर और हेलेनिज्म के समय से सभ्यता बन गयी। फाउसतियन (पश्चिमी यूरोपीय) संस्कृति गोथिक

१३. वही, भाग २ पृ० ४७६।

युग (९०८-१५०० ख्री०) में पकी और प्रौढ़ हुई और १८०० ख्री० से अर्थात् नेपोलियन के युग से सभ्यता के युग में प्रवेश कर चुकी है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति का निश्चित जीवन काल लगभग ८०० या १००० वर्ष है और इसके अनन्तर सभ्यता आ जाती है, जिसकी अवधि अनिश्चित है। हिन्दी, चीनी, अरबी संस्कृतियाँ सभ्यता के युग में पहुँचकर जड़ और मृत हो चुकीं किन्तु इनके मृत शरीर अब तक विद्यमान हैं। बहुत-से विशाल वृक्ष सूख जाते हैं और निर्जीव हो जाते हैं, किन्तु इनकी शाखाएँ आकाश की ओर उठी रह जाती है। यही दशा इन संस्कृतियों की भी है।[१४]

११. संस्कृतियों की अन्तरात्माएँ और व्यक्तित्व—स्पेंगलर के मतानुसार प्रत्येक संस्कृति की अपनी जीवन-विशेषता और वैयक्तिकता होती है। उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति की विशिष्ट शैली होती है जो आचार-विचार के प्रत्येक पक्ष में प्रतिबिम्बित होती है। इसके अनुरूप ज्ञान-विज्ञान का स्वरूप निश्चित होता है। वस्तुतः जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जीवन का प्रत्येक कार्य इस अन्तरात्मा का प्रतीक होता है। कुछ प्रतीक इतने व्यापक, गम्भीर और महत्त्वपूर्ण होते हैं कि इनकी छाप जीवन के सभी प्रतीकों और व्यंजनाओं पर परिलक्षित होती है। मिस्री संस्कृति की विशेषता अमरत्व और स्थायित्व की खोज है और इसका व्यापक प्रतीक (प्राइमरी सिम्बल) पाषाण और उससे निर्मित भवन और मूर्तियाँ हैं। हिन्दी संस्कृति की विशेषता अनन्त में विलीन होना है और इसका व्यापक प्रतीक शून्य, निर्वाण, मोक्ष और इनकी प्राप्ति के धर्म हैं। अरबी संस्कृति की विशेषता सत्य और असत्य, ज्योति और तमस् का द्वन्द्व है और इसका व्यापक प्रतीक विश्व की गुहात्मक व्यंजना है जो गोल गुम्बजों में प्रतिबिम्बित होती है। इस प्रतीक में यदि एक ओर 'तजल्ली' और 'करिश्मा' (चमत्कार) का रहस्यमय भाव मिलता है तो दूसरी ओर 'इजमा' और 'असबा' (सामूहिकता) का साक्षात्कार होता है। चीनी संस्कृति की विशेषता एक प्रकार का बहुसूत्रीय प्राकृतिक क्रम और विधि है जो 'ताओ' की भावना द्वारा व्यक्त होती है और इसका व्यापक प्रतीक प्राकृतिक दृश्यों का अनुकरण है जो उद्यान-कला और चित्र-कला और अजगरों की आकृतियों में, जो तूफान को व्यक्त करते हैं, दृष्टिगोचर होता है। अपोलोनियन संस्कृति की

१४. वही, भाग २, पृ० १९।

विशेषता मूर्त, दृश्य और शारीरिक रूप की सतर्कता है और इसका व्यापक प्रतीक मूतिकला, मानवचित्रण, ज्यामिति तथा सौन्दर्य-प्रेम है। फाउसनियन संस्कृति की विशेषता विकास और निर्माण की चेतना, गति, क्रिया और काल की सजगता तथा अनन्त, असीम और अमूर्त का भाव है और इसके व्यापक प्रतीक संगीत, दृश्य-चित्रण, विशाल गॉथिक गिरजे और उनके महान् त्रिकोणाकार गवाक्षों में जड़े हुए काच-पट्ट और उनसे चमकता हुआ क्षितिज तथा झरती हुई प्रकाश-किरणें हैं। रूसी संस्कृति का व्यापक प्रतीक असीम समतल है। उक्त संस्कृतियों की वैयक्तिक विशेषताएँ और व्यापक प्रतीक ऐसे ही हैं जैसे पौदों का अपना-अपना रूप-रंग-गन्ध-रूपी जीवन-परिधान (हेवीटस) होता है। संस्कृतियों के जीवन की प्रवृत्ति इन आन्तरिक विशेपताओं का प्रकटीकरण होती है। जब इनकी पूर्ण अभिव्यक्ति हो चुकती है तो संस्कृति ढलने लगती है और सभ्यता की अवस्था में पहुँचकर सार्वजनिक 'इतिहासहीन' (हिस्ट्रीलैस) मानव में विलीन हो जाती है।

१२. वर्तमान सभ्यता का पतन—इतिहास संस्कृतियों की जीवन-लीला है। यह एक प्रकार का जीवन-शास्त्र (बायोलोजी) है। इसके नियम अटल और अलंध्य हैं। मनुष्य उनमें कोई अदल-बदल नहीं कर सकता। जब संस्कृति सभ्यता की अवस्था में पहुँचकर ह्रास और क्षय के पथ पर चलती है तो मनुष्य अनायास इसका अनुसरण करने लगते हैं। वर्तमान पश्चिमी संस्कृति बहुत दिन हुए सभ्यता की अवस्था में पहुँच चुकी है। हम इसके भविष्य पर शोक प्रकट कर सकते हैं, किन्तु इसमे परिवर्तन नहीं कर सकते। संगीत, चित्रण और वास्तु कलाओं का युग बीत चुका है। वर्तमान संतति का कर्त्तव्य है कि वह समय की गति को पहचानकर कविता के स्थान पर यंत्रों पर ध्यान दे और ज्ञान-शास्त्र के बजाय राजनीति में दत्त-चित्त हो। अन्यथा उसके प्रयत्न विफल रहेंगे। उसका भविष्य निराशामय है।

हमने स्पेंगलर के इतिहास-दर्शन का संक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा की है। वैसे तो उन्होंने इतने विषयों की चर्चा की है कि उन सबका परिचय देने के लिए एक बड़ा ग्रन्थ चाहिए। यहाँ केवल कुछ बातों का उल्लेख किया जा सका है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि स्पेंगलर का दर्शन गेटे के जीवन-दर्शन पर आधारित है। बारम्बार उन्होंने इस महाकवि के विचारों को दुहराया है। उनका ग्रन्थ 'फाउस्ट' के उद्धरणों से भरा पड़ा है। स्पेंगलर से मिलते-जुलते विचार रूसी विचारक

दानिलेव्स्की ने १८६९ में व्यक्त किये थे।[15] किन्तु स्पेंगलर ने उनका उल्लेख तक नहीं किया है।

१३. स्पेंगलर का प्रभाव—स्पेंगलर के विचारों ने वर्तमान इतिहास-दर्शन को बहुत प्रभावित किया है। ट्वायनबी के सिद्धान्तों पर उनकी स्पष्ट छाप है।[16] उनकी यह मान्यता कि इतिहास एकसूत्रीय नहीं है और प्राचीन काल, मध्य काल और अर्वाचीन काल का विभाजन भ्रामक है, ट्वायनबी को स्वीकार है। वे भी स्पेंगलर की तरह यूरोपीय इतिहास को यूनानी-रोमन और अर्वाचीन यूरोपीय संस्कृतियों की जीवन-चर्या में विभक्त करते हैं। उनका सभ्यताओं का विभाजन स्पेंगलर की विचारधारा पर आधारित है। 'सभ्यता' (सिविलिजेशन) शब्द की परिभाषा के विषय में इन लेखकों में अवश्य मतभेद है, किन्तु इतिहास का संस्कृति-परक विभाजन दोनों को मान्य है। साथ ही साथ दोनों लेखक यह भी मानते हैं कि संस्कृति अथवा सभ्यता के जीवन में उत्थान-पतन होता है और अन्त में उनका क्षय हो जाता है। ट्वायनबी इतना संशोधन अवश्य करते हैं कि सभ्यता क्षीण होने पर दूसरी सभ्यता को जन्म देकर उसमें अवतीर्ण हो जाती है और इस प्रकार इतिहास का क्रम बना रहता है। जिन युगों में स्पेंगलर ने संस्कृति का पतन और ह्रास निश्चित किया है लगभग उन्हीं में ट्वायनबी ने इस प्रक्रिया का प्रारम्भ माना है। विशेष रूप से एकता, समानता और सार्वजनिकता के भाव को दोनों ने पतन का लक्षण माना है। यह सत्य है कि ट्वायनबी ने स्पेंगलर के अटल और कठोर नियतिवाद का तीव्र विरोध किया है, किन्तु जैसा हम आगे चलकर देखेंगे ट्वायनबी का विकास और क्षय की प्रक्रिया का सिद्धान्त भी नियमित रूप से नियतिवाद की ओर संकेत करता है। जिस प्रकार स्पेंगलर मानते हैं कि संस्कृति की जीर्णावस्था में एक प्रकार की धार्मिकता, जिसे वे द्वितीय धार्मिकता कहते हैं, उत्पन्न हो जाती है, इसी प्रकार ट्वायनबी भी मानते हैं कि सभ्यता के पतन और ह्रास की अवस्था में 'उच्च धर्मों' का आविर्भाव होता है। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म के विषय में

१५. एम शवार्त्स, 'स्पेंगलर उन्द दानिलेवस्की, सोव्रेमेन्निया, जापिस्की, भाग, १८। पृ० ४३६-४५६।

१६. ए० जे० ट्वायनबी, 'माई व्यू ऑव हिस्ट्री,' सिविलिजेशन आन ट्रायल, अध्याय १।

स्पेंगलर और ट्वायनबी के विचारों में पर्याप्त अन्तर है; स्पेंगलर ईसाइयत, महायान, कन्फ्यूशियसी, सूफी आदि धर्मो को पतन का प्रतीक समझते हैं और ट्वायनबी इनको सभ्यताओं का संगम और उद्भव मानते हैं, तथापि यह विचार कि ये धर्म सभ्यताओं की पतनावस्था में प्रादुर्भूत हुए, दोनों को मान्य हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्पेंगलर की विचारधारा का ट्वायनबी पर गहरा प्रभाव पड़ा है और इसने पाश्चात्य चिन्तन-पद्धति को नवीन दिशा प्रदान की है।

स्पेंगलर के विषय में यह आरोप लगाया जाता है कि उनके विचार प्रथम महायुद्ध में जर्मनी की पराजय के निराशाजनक वातावरण को प्रतिबिम्बित करते हैं। किन्तु स्पेंगलर ने स्वयं लिखा है कि १९११ में उनके विचार परिपक्व हो चुके थे।[७] उस समय जर्मन निराशा का कोई प्रश्न ही नहीं था। वस्तुतः उनकी कृति में नियतिवाद का जो वातावरण मिलता है वह पाश्चात्य संस्कृति की वर्तमान अवस्था की स्वाभाविक उपज है। टॉमस मान के उपन्यासों में भी इसकी झलक मिलती है। मार्क्सवादी दर्शन भी बहुत कुछ इससे ओत-प्रोत है। वस्तुतः मानव-विषयों को कठोर वैज्ञानिकता के दृष्टिकोण से देखने से ऐसी ही विचारधारा बन जाती है।

१४. स्पेंगलर के दर्शन की आलोचनात्मक समीक्षा— स्पेंगलर के बहुत से विचार और सिद्धान्त अत्यन्त सारगर्भित हैं। इतिहास की गति-प्रधान प्रक्रिया और विश्व की परिवर्तनशील चर्या के विषय में उनके विचार अतीव मार्मिक और तलस्पर्शी हैं। गेटे की 'जीवित प्रकृति' (लिविंग नेचर) के महत्त्वपूर्ण दर्शन को इतिहास-क्षेत्र में स्थानान्तरित करके स्पेगलर ने इतिहास के आन्तरिक स्वरूप का अनावरण किया है। किन्तु उनका संस्कृतियों के विभाजन का सिद्धान्त ट्वायनबी के विचार की तरह काल्पनिक है। इस प्रकार का विभाजन विचारक की इच्छा पर निर्भर होता है। संस्कृति को जीवित शरीरी मानना भी काल्पनिक है। यह सत्य है कि मनुष्यों के सामूहिक जीवन में यथार्थता है। जब मनुष्य किसी समूह में भाग लेता है तो वह अपने व्यक्तित्व को भूलकर उसका एक अंग बन जाता है। उत्तेजित भीड़ में सम्मिलित होकर मनुष्य उसकी सामूहिक भावना और चेतना में निमग्न हो जाता है। स्पेंगलर ने फ्रेंच क्रान्ति के दिनों की उत्तेजित भीड़ों का उल्लेख किया, जो 'आ ला लॉतर्न' के नारे पर क्षण भर में पेरिस की गलियों और सड़कों पर जमा

१७. 'दि डिक्लाइन आव दि वेस्ट' भाग १, पृ० ४६।

होकर क्रान्ति के कार्य में जुट जाया करती थी। इस प्रकार के समूहों की एक अलग चेतना और प्रवृत्ति हो जाती है। इसे स्पेंगलर ने जन-आत्मा (मास सोल) कहा है।[१८] इसकी चेतना का जोर बढ़ता घटता रहता है। किन्तु यह मान लेना कि इस आत्मा का शरीर भी होता है जो जन्म-मरण की प्रक्रिया के अधीन होता है, काल्पनिक है। स्पेंगलर संस्कृति को भी जन-आत्मा और चेतना की अभिव्यक्ति मानते हैं। बहुत अंशों में यह विचार सही है। किन्तु संस्कृति को अवयवी या शरीरी सिद्ध करने का प्रयास सफल नहीं होता। सामूहिक चेतना के होते हुए भी मनुष्य की वैयक्तिक चेतना अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। यद्यपि वैयक्तिक चेतना के निर्माण में सामूहिक चेतना का बड़ा भारी कार्य होता है, फिर भी इसकी एक विशिष्टता होती है जो इसी तक सीमित होती है। यह ठीक है कि बहुधा वैयक्तिक चेतना सामूहिक चेतना के प्रवाह में विलीन हो जाती है। परन्तु प्रायः यह अपनी विशिष्टता की अनुभूति द्वारा अपने निजत्व को प्रकट करती है। यह कहना गलत है कि जिस प्रकार कोशा शरीर का अभिन्न भाग होती है उसी प्रकार व्यक्ति समाज या संस्कृति का अंग होता है। वस्तुतः इतिहास की शारीरिक व्याख्या के प्रकरण में हमने इस मत की जो समीक्षा की है वह स्पेंगलर के विषय में भी लागू होती है। संस्कृति को वनस्पति या जन्तु मान लेना पूर्णतः भ्रामक है।

स्पेंगलर का नियतिवाद उनके उपर्युक्त संस्कृति-विषयक विचारों की उपज है। जीवन में निस्सन्देह नियति है। किन्तु जीवन की प्रत्येक क्रिया में अवयवित्व नहीं है। विशेषतः सामूहिक जीवन में एक ऐसे साहचर्य और समागम का भाव है जो अक्षुण्ण बना रहता है। इसमें संतति और प्रवाह है। मनुष्य देश-काल के अनुरूप इसमें भाग लेता है। जिस प्रकार जल का कोई रंग नहीं होता किन्तु रंग-बिरंगे पात्रों में पहुँचकर इसका वैसा ही रंग दीखने लगता है, इसी प्रकार सामूहिक जीवन का शाश्वत प्रवाह विभिन्न देशों और कालों में विविध रूप ग्रहण कर लेता है। सामाजिक और सांस्कृतिक भेद इसी प्रकार के रूप हैं। किन्तु इन सब के पीछे एकता है। स्पेंगलर का दर्शन इस दृष्टिकोण से अपूर्ण है।

स्पेंगलर की संस्कृति और सभ्यता के भेद की धारणा भी भ्रामक है। सार्वजनिकता को पतन का लक्षण मानना और नागरिकता को ह्रास की अवस्था कहना

१८. 'दि डिक्लाइन आव दि वेस्ट' भाग २ पृ० १८-१९ ।

अवैज्ञानिक है। यह ठीक है कि इन युगों में कुछ ऐसे संघर्ष उत्पन्न होते हैं, जो समाज की एकता पर प्रहार करके इसके स्वरूप में परिवर्तन करते हैं, किन्तु उनसे दुर्बलता नहीं आती वरन् शक्ति-संचय होता है। पुरातत्त्वविशारदों ने सिद्ध किया है कि संस्कृति का जन्म ही नागरिकता (अरबेनिटी) और साक्षरता (लिट्रेसी) की प्रवृत्तियों द्वारा हुआ।[19] यदि इन प्रवृत्तियों को पतन कहा जाय तो इतिहास में सिवाय पतन के और क्या रह जायगा? जिसे स्पेंगलर विकास कहते हैं वह तो नगण्य-सा ही है।

स्पेंगलर ने कला के विषय में सुन्दर विचार प्रकट किये हैं। प्रत्येक कला अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि को अभिव्यक्त करती है। उसकी अपनी विशिष्टता होती है, किन्तु साथ ही इसमें एक सार्वजनिक रसानुभूति भी होती है जो देश-काल की सीमाओं का उल्लंघन करती है। यदि ऐसा न होता तो चीन के चित्रों, मथुरा की मूर्तियों, गॉथिक युग के गिरजों और अब्बासी मस्जिदों की नक्काशी को आज कौन पसंद करता? स्पेंगलर प्रादेशिकता के भाव से इतने अभिभूत हुए हैं कि उन्होंने मानव-एकता की प्रवृत्ति की सतत अवहेलना की है। यहाँ तक कि मानवता (ह्यमे-निटी) को तो उन्होंने काल्पनिक और स्वप्निल बताया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने गेटे का यह कथन उद्धृत किया है—"मानवता? यह एक अमूर्त भाव है। यहाँ पर मानव, केवल मानव, रहे हैं, हैं और रहेंगे"।[20] किन्तु संस्कृति की भावना में तो मानव का व्यक्तित्व भी तिरोहित कर दिया गया है। यदि मानव के ऊपर संस्कृति का जीवन है तो संस्कृति से ऊपर मानवता का जीवन क्यों नहीं है?

उपर्युक्त न्यूनताओं के रहते हुए भी स्पेंगलर की कृति विचार-वर्धक और भावोत्तेजक है। इसकी भाषा, शैली और अभिव्यक्ति अद्वितीय है।

अनुच्छेद ३—ट्वायनबी

१. जीवन-परिचय—आर्नोल्ड जोजफ ट्वायनबी का जन्म १८८९ में लन्दन में हुआ। इनका परिवार बड़ा संस्कृत और समृद्ध था। हेरी वालपी ट्वायनबी इनके पिता थे और सारा एडिथ ट्वायनबी इनकी माता थी। इनकी माता को

१९. वी० गोर्डन चाइल्ड, 'सोशल इवोलूशन', हेनरी फ्रेंकफोर्ट, 'दि बर्थ आव सिविलिजेशन इन दि नियर ईस्ट'।

२०. 'दि डिक्लाईन ऑव दि वेस्ट', पृ० २१।

इतिहास का बड़ा ज्ञान था। उन्होंने 'ट्रूस्टोरीज़ फ्राम स्काटिश हिस्ट्री' (स्काटलैण्ड के इतिहास के वास्तविक कथानक) शीर्षक ग्रन्थ इस उद्देश्य से लिखा कि उसकी आय से बालक ट्वायनबी के लिए पाँचवे वर्ष भी धाय रख सके। इसके पश्चात् उन्होंने स्वयं उनका लालन-पालन किया। रात्रि में सुलाते समय वे उन्हें ब्रिटेन का इतिहास सुनाया करती थीं। इस प्रकार ब्रिटेन में सीजर के आगमन से वाटरलू के युद्ध तक का इतिहास उन्होंने बाल्यावस्था में ही बालक के मनः-पटल पर अंकित कर दिया। किन्तु पहले विन्चेस्टर और फिर बेलिओल के विद्यालयों में ट्वायनबी ने यूनानी और लातीनी साहित्य की 'पुराने ढंग की शिक्षा' प्राप्त की, जिसका उन्हें सदा गर्व रहा। १८९६ से १९११ तक उन्होंने निरन्तर प्राचीन यूनानी-रोमन संस्कृति और इतिहास में अवगाहन किया। इससे उनका दृष्टिकोण बहुत विस्तृत हुआ और उन्हें इस तथ्य का साक्षात्कार हुआ कि वर्तमान संस्कृति के अतिरिक्त विश्व में अन्य संस्कृतियाँ भी रही हैं जो उत्पत्ति, विकास और क्षय के वृत्त को पूरा कर चुकी हैं। इसी काल में, विशेषतः १९०८-९ में यूरोपीय इतिहास की जटिल और परस्पराश्रित घटनाओं ने उनके इस दृष्टिकोण में युगान्तरकारी परिवर्तन किया। वे यह समझ गये कि कोई राजनीतिक या राष्ट्रीय इकाई वस्तुतः ऐतिहासिक इकाई नहीं हो सकती। इंग्लैण्ड एक स्वतंत्र राष्ट्र होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से यूरोप का एक अंग है। उन दिनों एल० बी० नेमियर-जैसे विद्यार्थी इस प्रकार की चर्चा करते थे कि गेलिसिया में आस्त्रिया की सेनाओं की तैयारियां इंग्लैण्ड के लिए भी विशेष महत्त्व रखती हैं। १९११ में अपनी शिक्षा समाप्त करके ट्वायनबी एक वर्ष के लिए अंग्रेजी पुरातत्त्व-विद्यालयों की ओर से एथेन्स और रोम की पुरातन सामग्री का अध्ययन करने के लिए यूनान गये। वहाँ उन्होंने एक वर्ष तक पैदल यात्रा की। वहाँ ग्राम्य भोजनालयों में उन्होंने सर एडवर्ड ग्रे की विदेश-नीति की चर्चा सुनी, जिससे उनकी यूरोपीय इतिहास की मौलिक एकता की भावना और भी दृढ़ हो गयी। १९१२ में इंग्लैण्ड वापस आकर वे बेलिओल में अध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ उन्होंने यूनानी इतिहास और विशेषतः थूसीदाइदीस पर व्याख्यान दिये। १९१४ में प्रथम विश्व-युद्ध भभक उठा। इस परिस्थिति में थूसीदाइदीस द्वारा वर्णित एथेन्स और स्पार्ता के युद्ध के अध्ययन से उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी हुई और उन्हें इस तथ्य का साक्षात्कार हुआ कि इस महान् यूनानी इतिहासकार ने जिस ऐतिहासिक संकट का चित्रण किया था वैसा ही मानवजाति के सामने फिर उपस्थित हुआ है। १९१५ में ट्वायनबी विदेश-मंत्रालय के राजनीतिक अनुसंधान विभाग

में तुर्की मामलों का अध्ययन करने के लिए नियुक्त हुए। १९१९ में पेरिस के संधि-सम्मेलन में अंग्रेजी शिष्टमण्डल की विदेशी शाखा के तुर्की विभाग के सचिव के रूप में उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनका प्राच्य यूरोप और उसमानी राज्य सम्बन्धी ज्ञान अद्वितीय था। १९१९ से १९२४ तक ट्वायनबी लन्दन विश्वविद्यालय के किंग्स् कॉलेज में वर्तमान यूनानी भाषा और बाइजेन्ताइन् विषयों के प्राध्यापक रहे। इस बीच में एक वर्ष तक उन्होंने 'मन्चेस्टर गार्जियन' नामक पत्र के संवाददाता के रूप में यूनान की यात्रा की। १९२५ में वे 'रॉयल इन्स्टीट्यूट ऑव इण्टरनेशनल अफेयर्स' के संचालक नियुक्त हुए। १९३९ से ४६ तक फिर वे विदेश-मंत्रालय के अनुसंधान विभाग के संचालक बने। अब वे 'रॉयल इन्स्टीट्यूट ऑव इण्टरनेशनल अफेयर्स' के संचालक हैं और अपनी विदुषी पत्नी वेरोनीका एम० बूलटर (अब वेरोनीका एम० ट्वायनबी) के साथ इस संस्थान के गम्भीर अनुसंधान कार्य में दत्तचित्त हैं।

ट्वायनबी ने कई बार विश्व-भ्रमण किया है। उनके नेत्रों ने इतिहास के वैभव और पराभव के अनेक चित्र देखे हैं। प्राचीन स्थलों और भवनों के दर्शन ने इनकी इतिहास-दृष्टि को सजगता, सचित्रता और सर्वांगीणता प्रदान की है। क्रीट के पूर्वी तट पर केन्दीदा के वेनिसी गवर्नरों के भवनों के भग्नावशेषों ने तथा फारसालुस के दुर्ग की खण्डित चोटी ने, जहाँ से साइनीसेफाले के ढलानों में पेलियोन, ओसा और ओलिम्पस की पहाड़ियाँ दिखाई देती हैं, उनके मनः-पटल पर पतन की प्रक्रिया की अमिट छाप डाली है जो उनकी रचनाओं में सर्वत्र व्याप्त है। इसके अतिरिक्त उनका यूनानी, लातीनी और पश्चिमी यूरोपीय भाषाओं का मौलिक अध्ययन गम्भीर और विशाल है और साथ ही उन्हें प्राच्य भाषाओं से भी अनन्य प्रेम है। १९०२ से १९०७ तक जब वे विन्चेस्टर की पाठशाला में पढ़ते थे तभी से उनकी इच्छा अरबी, तुर्की और फारसी सीखने की थी। १९१५ और १९२४ में दो बार उन्होंने तुर्की सीखना आरम्भ भी किया और १९१९ के बाद अरबी की शिक्षा भी ग्रहण करनी चाही, किन्तु कार्यभार की अधिकता से वे उसे पूरा न कर पाये। तथापि उनका निश्चय है कि वे इन भाषाओं का अध्ययन अवश्य करेंगे। उनके ग्रन्थों में इस्लाम-धर्म, संस्कृति और इतिहास का सूक्ष्म, मार्मिक और मौलिक अध्ययन परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त अन्य देशों, धर्मों और जातियों के इतिहास की प्रामाणिक कृतियों का उन्होंने पूर्ण अवगाहन किया है। फलतः विश्व-इतिहास के समस्त ज्ञात तथ्य उनके लिए हस्तामलकवत् हैं। इतिहास की सूक्ष्म दृष्टि जैसी

उनके लेखों में मिलती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। विविध विषयों पर उनके उद्गार और विचार आश्चर्यजनक गम्भीरता और आह्लादकारी नवीनता से ओतप्रोत है।

ट्वायनबी की प्रमुख कृतियों में 'ग्रीक हिस्टॉरिकल थाट' (यूनानी इतिहास-चिंतन), 'दि वेस्टर्न क्वश्चन इन टर्की एण्ड ग्रीस' (तुर्की और यूनान में पश्चिमी प्रश्न), 'ए जर्नी टु चाइना' (चीन की यात्रा), 'ए स्टडी ऑव हिस्ट्री' (इतिहास का अध्ययन), 'वार एण्ड सिविलिजेशन (युद्ध और सभ्यता), 'सिविलिजेशन ऑन ट्रायल' (सभ्यता की परीक्षा), 'ए हिस्टोरियन्स एप्रोच टु रिलिजन' (धर्म के प्रति इतिहासकार की दृष्टि), 'डेमोक्रेसी इन एन एटोमिक एज' (अणुयुग में जनतंत्र), 'ईस्ट एण्ड वेस्ट', 'ए जर्नी राउण्ड दि वर्ल्ड' (पूर्व और पश्चिम की विश्व-यात्रा) तथा १९२४ से लगातार वार्षिक 'सर्वे ऑव इण्टरनेशनल अफेसर्स' (अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकलाप का पर्यालोचन) है। यद्यपि इन सभी ग्रन्थों में लेखक के अद्भुत पाण्डित्य, मार्मिक विवेचन तथा अप्रतिम लेखन चातुर्य का परिचय मिलता है। उनकी ख्याति उनके १२ भागों और १० जिल्दों में प्रकाशित बृहदाकार 'ए स्टडी ऑव हिस्ट्री' (इतिहास का अध्ययन) पर आधारित है। यह ग्रन्थ इतिहास का विश्वकोश तो है ही साथ ही बीसवीं शती की महनीय कृतियों में से एक है। इतिहास-दर्शन पर ऐसा अन्य ग्रन्थ दुर्लभ है। १९२१ में लेखक ने इसकी रूपरेखा तैयार की थी, १९२७ से इसकी सामग्री एकत्रित करना आरम्भ किया था और १९३० से इसके प्रणयन का श्रीगणेश किया था। इसके पहले तीन भाग १९३४ में, दूसरे तीन १९३९ में और शेष भाग १९५४ में प्रकाशित हुए। इसमें सम्पूर्ण मानव-इतिहास को एक नवीन दार्शनिक और समन्वित दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। प्रस्तुत समीक्षा में इस अध्ययन का संक्षिप्त विवेचन अभीष्ट है।

२. सभ्यताओं (सिविलिजेशन) का क्रम—ट्वायनबी के युग की प्रमुख घटना राष्ट्रीय राज्य की भावना का उच्छेद और उसके स्थान पर विस्तृत संघों का आविर्भाव है। पश्चिमी यूरोप में उन्नीसवीं शती में भाषा, जाति, धर्म, संस्कृति, भूगोल आदि की एकता पर आधारित राष्ट्रों को राजनीतिक इकाई मान लिया गया था। १९१८ तक यह व्यवस्था सर्वमान्य रही। किन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के बाद विश्व की राजनीतिक एकता का पक्ष सामने आया। 'लीग ऑव नेशन्स' की सृष्टि हुई। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् तो राष्ट्रीय राज्यों की व्यवस्था नितान्त अस्त-व्यस्त हो गयी। अमेरिका और रूस विश्व की महान् शक्तियाँ बन गये और ये दोनों ही जातीय राष्ट्रीयता के आदर्श पर आधारित न होकर संघीय सहयोग के सिद्धान्त

से अनुप्राणित हैं। फलतः एटलान्टिक पेक्ट, इस्लामी आन्दोलन आदि के रूप में राजनीतिक विस्तार की बहुत-सी योजनाएँ अग्रसर हुईं। 'राष्ट्रवाद' के स्थान पर एक प्रकार के 'महाद्वीपवाद' का प्रसार हुआ।[२१] इस वातावरण के प्रतिबिम्बस्वरूप ट्वायनवी ने इतिहास की इकाई राष्ट्र को न मानकर एक अधिक विस्तृत क्षेत्र को माना है और उसका नाम सिविलिजेशन (सभ्यता) रखा है। यद्यपि ट्वायनबी के साहित्य में इस परिभाषा की स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती, उन्होंने अपने एक लेख में इसके आशय को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने लिखा है कि 'सभ्यता से मेरा अभिप्राय; ऐतिहासिक अध्ययन का वह लघुतम भाग है जिस पर अपने देश के इतिहास को समझने की चेष्टा करते समय मनुष्य की दृष्टि पहुँचती है।'[२२] उदाहरण के लिए 'अमेरिकन संयुक्त राष्ट्र' के इतिहास को जानने के लिए और उसके मुख्य लक्षणों—संघीय राज्य, प्रतिनिधि राज्य, जनतंत्र, उद्योगवाद एकपत्नी विवाह, ईसाइयत आदि को समझने के लिए अमेरिकी परिधि के पार पश्चिमी यूरोप और उसके उपनिवेशों के इतिहास को हृदयंगम करना आवश्यक है, किन्तु प्राच्य यूरोप, इस्लामी जगत्, चीन और भारत आदि की जीवन शैलियों को जानना अनिवार्य नहीं है। अतः पश्चिमी यूरोप ऐतिहासिक अध्ययन की इकाई है। किन्तु अमेरिका या पश्चिमी यूरोप की जीवन-शैली को समझने के लिए प्राच्य यूरोप अथवा रूस पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता नहीं है। यह इतिहास के अध्ययन की एक अन्य इकाई है। इस प्रकार ट्वायनवी ने वर्तमान जगत् को पाँच सभ्यताओं में विभक्त किया है—पश्चिमी यूरोप अथवा पश्चिमी ईसाइयत, पूर्वी यूरोप अथवा बाइजेन्ताइन अथवा पूर्वी ईसाइयत, इस्लाम, भारत (हिन्दू) और सुदूर पूर्वी जगत्। इन सभ्यताओं के पीछे क्रमशः यूनानी-रोमी (हेलेनिक), सीरियाई, हिन्दी (इण्डिक) और चीनी (सीनिक) सभ्यताएँ प्रच्छन्न हैं। ये प्राचीन सभ्यताएँ भी क्रमशः मिनोअन, बेबीलोनियन, हिट्टी सभ्यताओं पर आधारित हैं। हिन्दी और चीनी सभ्यताएँ स्वयम्भू हैं। इनके अतिरिक्त प्राचीनतम सभ्यताएँ मिस्री और सुमेरी हैं। अमेरिका में यूकेटिक और मेक्सिक सभ्यताएँ मिलती हैं। ये मायन सभ्यता से सम्बन्धित

२१. इस शब्दावली का प्रयोग प्रस्तुत लेखक ने अपने एक लेख में किया है। बुद्ध—प्रकाश, 'कोन्टीनेन्टलिज़्म इन वर्ल्ड पोलिटिक्स,' माडर्न रिव्यू (१९४७)।

२२. 'सिविलिज़ेशन आन ट्रायल', पृ० २२२-२२३।

हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ एक और इण्डियन सभ्यता के चिह्न मिलते हैं। इस प्रकार इतिहास में ये १८ सभ्यताएँ पायी जाती हैं। उपर्युक्त सभ्यताओं में तीन के दो-दो उपभेद हो गये हैं। इस्लामी सभ्यता अरबी और ईरानी सभ्यताओं में विभक्त हो गयी है। प्राच्य ईसाई सभ्यता अनातोलिया और रूस की सभ्यताओं में बँट गयी है। सुदूरपूर्वी सभ्यता चीन और जापान की सभ्यताओं के रूप में सामने आती है। इस प्रकार सभ्यताओं की संख्या २१ हो जाती है। इनके अतिरिक्त तीन भग्न सभ्यताएँ हैं—सुदूरपूर्वी ईसाइयत, सुदूरपश्चिमी ईसाइयत तथा स्केन्दीनेवियन। इनके प्रसवकाल में ही इन्हें परिस्थितियों की इतनी कठोर चुनौती सहन करनी पड़ी कि इनका पूर्ण प्रकटीकरण अवरुद्ध हो गया। पाँच सभ्यताएँ ऐसी हुई कि उनका आविर्भाव तो हो गया, किन्तु परिस्थितियों ने उनकी प्रगति को रोक दिया। ये सभ्यताएँ पोलीनेसियन, एस्किमो, घुमक्कड़, स्पार्तन और ओसमानली हैं। इस प्रकार कुल सभ्यताओं की संख्या २९ है। इनमें से कुछ सभ्यताओं के नाम तो भौगोलिक है और कुछ के धार्मिक। कुछ सभ्यताओं की तीन-तीन पीढ़ियाँ मिलती हैं; जैसे मिनोअन, यूनानी-रोमन, पाश्चात्य और प्राच्य ईसाइयत। कुछ की दो पीढ़ियाँ मिलती है; जैसे हिन्दी और हिन्दू, चीनी और सुदूर-पूर्वी, मायन और मेक्सिक, सीरियाई और इस्लामी। कुछ एक ही पीढ़ी पर समाप्त हुई; जैसे मिस्री और एण्डियन। ट्वायनबी स्पेंगलर की तरह सभ्यताओं की विशेषताओं का निर्णय करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु केवल तीन संस्कृतियों की विशेपताएं निश्चित कर पाते हैं। यूनानी सभ्यता रस-प्रधान है, भारतीय सभ्यता धर्मप्रधान है और पाश्चात्य सभ्यता विज्ञानयंत्र-प्रधान है।

३. सभ्यताओं के वर्गीकरण की अप्राकृतिकता—ट्वायनबी का उपर्युक्त सिद्धान्त मनःकल्पित माना गया है। अर्नेस्ट बारकर ने इसे 'लिन्नेनिजम'[२३] कहा है। जिस प्रकार कोई वनस्पति-शास्त्री अपनी परीक्षा की वस्तुओं को अपने इच्छानुसार विभक्त करता है और छाँटता है, उसी प्रकार ट्वायनबी ने अपने इच्छानुसार मानव-इतिहास की प्रक्रिया को विभक्त किया है। बहुत-से तथ्यों के सम्बन्ध में तो ट्वायनबी की योजना अप्राकृतिक प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए यूरोप के

२३. अर्नेस्ट बारकर, 'डा० ट्वायनबीज स्टडी आव हिस्ट्री', इन्टरनेशनल अफेयर्स, जनवरी, १९५५।

इतिहास में तो यूनानी-रोमी संस्कृति और जीवन-शैली के क्षय तथा आधुनिक यूरोप की संस्कृति और जीवनशैली के आविर्भाव की विचार-पद्धति ठीक बैठती है। इन दोनों संस्कृतियों को पृथक् करने वाला एक मध्य-युग बीच में आ जाता है। किन्तु अन्य समाजों के विषय में यह स्थापना युक्तिसंगत नहीं जॅचती। यह कहा जाता है कि हिन्दी सभ्यता सिन्धु सभ्यता से १३७५ पू० ख्री० के लगभग उत्पन्न हुई और ७२५ पू० ख्री० के लगभग क्षीण होने लगी, ७७५ ख्री० में इसके विलय के पश्चात् हिन्दू सभ्यता का आविर्भाव हुआ, जो ११७५ ख्री० के निकट पतन के पथ पर चलने लगी। किन्तु आठवीं शती ख्रीस्तीय में भारतीय समाज और धर्म में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं दिखाई देता जैसा यूनानी-रोमी जगत् में प्रकृति-पूजा (पेगेनिज्म) के पतन और ईसाइयत के प्रचलन के रूप में प्रकट हुआ। नव हिन्दू-धर्म-दर्शन के प्रतीक शंकराचार्य यदि एक ओर उपनिषद् के तत्त्वचिन्तन पर आरूढ़ हैं तो दूसरी ओर माध्यमिक विचारधारा में निमग्न हैं। इसी प्रकार ४७५ ख्री० के लगभग चीनी जगत् में कोई ऐसा युगान्तरकारी परिवर्तन नहीं हुआ। हान युग में चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार अवश्य आरम्भ हुआ, किन्तु यह बौद्धिक वर्ग की उत्सुकता का पात्र बना रहा। ४०५ से ५०० तक इसका क्षेत्र अधिक विस्तृत हुआ किन्तु फिट्सगेरल्ड के शब्दों में इसने प्राचीन चीनी धर्मों से अपना सम्बन्ध बनाये रखा। 'चिन' सम्प्रदाय ने 'ताओ' धर्म की मान्यताओं को स्वीकार किया तो 'त्यान-ताइ' सम्प्रदाय ने कन्फ्यूसियस के सिद्धान्तों को आत्मसात् किया। ग्यारहवीं और बारहवीं शतियों में बुद्धिवादी दर्शन ने बौद्धधर्म को पूर्णतः अभिभूत कर लिया।[२४] इस प्रक्रिया में ऐसा कोई भेद प्रकट नहीं होता जैसा यूरोप में पेगेनिज्म के ह्रास और ईसाइयत के प्रचलन से उत्पन्न हुआ। जहाँ तक मध्यपूर्व की सभ्यता का सम्बन्ध है, इसमें सन्देह नहीं कि इस्लाम के आगमन से इस प्रदेश के इतिहास में नवीन युग का अभ्युदय हुआ था, किन्तु सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं की अक्षुण्णता में कोई व्यवधान नहीं पड़ा। ट्वायनबी स्वयं मानते हैं कि अखामनि साम्राज्य अब्बासी खिलाफत के रूप में प्रकट हुआ। एक अन्य तालिका में ट्वायनबी ने १२७५ ख्री० के लगभग अरबी और ईरानी सभ्यताओं के आविर्भाव का काल निश्चित किया है और १५११-१६ के आसपास उनका पतन दिखलाया है।[२५] किन्तु यह मंगोल आक्रमणों का काल था।

२४. सी० पी० फिट्सगेरल्ड, 'चाइना, ए शोर्ट कल्चरल हिस्ट्री' पृ० २८०-१

२५. 'ए स्टडी आव हिस्ट्री', भाग ९ तालिका ५ पृ० ७५८।

इस्लाम की सत्ता जीर्ण-शीर्ण हो गयी थी। खलीफा अल-मामून के बाद खिलाफत क्षीण होने लगी थी। याकूब बिन लैस अल सक्कार (८६७-७८) ने इसे एक छाया मात्र बना दिया था।[२६] यह इस्लामी जगत् का अन्धकार-युग था, इसके बाद इस संस्कृति का निरन्तर पतन हुआ जो अब तक चल रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ट्वायनबी ने विश्व-इतिहास पर यूरोप के इतिहास की प्रवृत्ति को थोपने की चेष्टा की है, जो सफल नहीं हो पायी।

४. 'चुनौती' (चैलेंज) और प्रतिक्रिया (रेस्पोंस)—ट्वायनबी की सभ्यता की परिभाषा धुँधली है। सभ्यता और आदिम समाज के बीच उन्होंने जो अन्तर बताया है वह स्पष्ट नहीं है। क्रिस्टोफर डॉसन ने सिद्ध किया है कि आदिम समाजों की अधिक संख्या और सभ्यताओं की कम संख्या से इनमें कोई मौलिक भेद सिद्ध नहीं होता। संख्यात्मक भेद गुणात्मक भेद का परिचायक नहीं है। ट्वायनबी ने स्वयं इस भेद की असंगति का उल्लेख किया है। उनकी धारणा है कि किसी 'चुनौती' (चैलेंज) की 'प्रतिक्रिया' (रेस्पोंस) के फलस्वरूप समाज स्थिरता और जड़ता (यिन) को छोड़कर प्रगतिशीलता और चैतन्य (याङ) की प्रवृत्ति ग्रहण करता है। इसके लिए उन्होंने गेटे के फाउस्ट, युग के मनोविज्ञान तथा अनेक प्राचीन कथानकों का आश्रय लिया है। किन्तु यह चुनौती और प्रतिक्रिया की प्रक्रिया तो इतनी सार्वजनिक और सर्वविदित है कि इसे इतिहास पर विशेष रूप से लागू करने में कोई मौलिकता प्रतीत नहीं होती। जब आदिम समाज पशुता और वन्य अवस्था से उठकर उन्नति की ओर चले तो क्या उन्होंने चुनौती की प्रतिक्रिया को प्रकट नहीं किया था? वस्तुतः आदिम समाज और सभ्यता के अन्तर को इस चुनौती-प्रतिक्रिया के सिद्धान्त द्वारा समझाना काल्पनिक-सा है। अनेक स्थलों पर ट्वायनबी के नियम लागू नहीं होते। जिन परिस्थितियों में मिस्र और सुमेर की सभ्यताएँ उत्पन्न हुई उन में अन्यत्र किसी सभ्यता का जन्म नहीं हुआ। वस्तुतः ट्वायनबी अपने सिद्धान्त की सीमाओं

२६. पी० के० हिट्टी, 'हिस्ट्री आव दि अरब्स्', (पाँचवाँ संस्करण) पृ० ४८४-४८६।

२७. क्रिस्टोफर डासन, 'ट्वायनबीज, स्ट्डी आव हिस्ट्री', इण्टरनेशनल अफेयर्स (अप्रैल, १९५५) पृ० १५७-१५८ ट्वायनबी ने स्वयं इस स्थिति की दुर्बलता को पहचाना है, 'ए स्टडी आव हिस्ट्री,' भाग ९ पृ० १८८-१८९।

को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि 'कोई ऐसा अज्ञात तत्त्व इतिहास में काम करता है जो योद्धाओं और अभिनेताओं के ज्ञान के बाहर होता है।. . .यह तत्त्व कार्यकर्ताओं पर परीक्षा की प्रतिक्रिया है,. . .यह मनोवैज्ञानिक स्थिति नाप-तोल के योग्य नहीं होती, अतः वैज्ञानिक दृष्टि से पहले से नहीं बतायी जा।'[२८] सकती इस प्रकार ट्वायनबी यह मानते हैं कि सभ्यता के उद्गम और विकास की प्रक्रिया रहस्यमयी है।

५. **सर्जनात्मक व्यक्तित्व और वर्ग**—ट्वायनबी के मतानुसार कठोर दुर्गम भूमि, नये देश, आघात, दबाव और दण्ड की यातना से मनुष्य में चुनौतियों की प्रतिक्रिया की शक्ति उत्पन्न होती है। इस शक्ति के द्वारा मनुष्य चुनौती का उत्तर तो देता ही है, साथ ही एक नयी चुनौती को अपने सामने खड़ा कर लेता है। जिस प्रतिक्रिया और उत्तर से एक चुनौती समाप्त होती है उसी से दूसरी चुनौती उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य को फिर उस दूसरी चुनौती का उतर देना पड़ता है। चुनौतियों के इस प्रकार क्रमशः सफल उत्तर देने की प्रवृत्ति का नाम 'विकास' (ग्रोथ) है। चुनौती का सफल उत्तर देने के लिए मनुष्य को अपने भीतर एक आन्तरिक संतुलन स्थापित करना पड़ता है। इसका नाम आत्म-नियमन (सेल्फ डिटरमीनेशन) है।[२९] इस 'आत्म-नियमन' की प्रवृत्ति का बाह्य रूप एक कम जटिल और अधिक समुन्नत जीवन-शैली का आविर्भाव होता है। इस प्रवृत्ति को सूक्ष्मीकरण (इथी-रियलाइजेशन) कहते हैं।[३०] सभ्यता का विकास सर्जनात्मक व्यक्तियों और वर्गों (क्रियेटिव पर्सनेलिटीज् एण्ड माइनोरिटीज़) का कार्य है, जो जनता के सामान्य स्तरों को अपनी प्रतिभा के आकर्षण द्वारा अपनी ओर खीच लेते हैं। 'ये सर्जनात्मक व्यक्तित्व और वर्ग' 'निर्गमन', (विदड्राअल) और 'प्रत्यागमन' (रिटर्न) की प्रक्रिया द्वारा कार्य करते हैं। ये कुछ समय के लिए संसार से अलग हो जाते हैं और शक्ति का संचय करते हैं और फिर संसार में वापस आकर अपूर्व वेग से सर्जन कार्य में सलग्न हो जाते हैं। ट्वायनबी ने इस प्रक्रिया के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। यह प्रक्रिया बुद्ध-जैसे महात्माओं पर तो लागू हो सकती है, किन्तु थूसीदाइदीस, दाँते और मेकियावली पर लागू नहीं होती, क्योंकि उनका तथाकथित 'निर्गमन' उनकी

२८. **ए स्ट्डी आव हिस्ट्री, भाग १ पृ० ३००-३०१ ।**
२९. **ए स्ट्डी आव हिस्ट्री, भाग ३ पृ० २१६ ।**
३०. **ए स्ट्डी ऑव हिस्ट्री, भाग ३, पृ० १७४।**

इच्छा के प्रतिकूल था और उन्हें इसका बहुत खेद भी रहा। इस वर्ग में कान्त और शेक्सपियर को शामिल करना तो नितान्त ही असंगत है, क्योंकि कान्त तो अपने 'कोइनिग्सबर्ग' के निवास से वापस नहीं आये और शेक्सपियर ने 'निर्गमन' काल में किसी विशेष शक्ति का संचय नहीं किया। राफेल, वोन्दल, लुई १४, फिलिप दी गुड और चार्ल्स पंचम पर तो यह नियम बिलकुल लागू नहीं होता। यह कहा जाता है कि तेरहवी से पन्द्रहवीं शती तक इटली ने विशेष उन्नति नहीं की और यह सुषुप्तावस्था में रहा फलतः शक्ति संचित होने पर इसने अभूतपूर्व प्रगति प्रकट की, किन्तु इसी काल में अन्य राज्यों की प्रगति भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं रही। जिसे स्विटजरलैण्ड, हालैण्ड और इंग्लैण्ड का 'निर्गमन-काल' कहा जाता है उसमें ये कदापि संसार से विच्छिन्न नही रहे। विशेष रूप से १४२९ और १९१४ के बीच इंग्लैण्ड यूरोपीय महाद्वीप के घटनाचक्र से अलग नहीं हुआ, वरन् इसने वहाँ के राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्य-कलाप में प्रमुख भाग लिया। इस प्रकार ट्वायनबी का उपर्युक्त सिद्धान्त एकपक्षीय है।[३१]

ट्वायनबी का 'सर्जनात्मक व्यक्तित्व' का सिद्धान्त कारलाइल, विलियम जेम्स, डब्ल्यु० एच० डेविस आदि के 'वीर-पूजा' के सिद्धान्त की प्रतिलिपि मात्र है। इसके भीतर एक सूक्ष्म शक्ति-संचय का दर्शन सन्निहित है जो नीत्शे की विचारधारा का आधार बना और वर्तमान-कालीन अधिनायकशाही और राज्यवाद (एतातिज्म) का स्तम्भ सिद्ध हुआ। इसमें इतिहास के सामाजिक आधार की अवहेलना की गयी है जिसको व्यक्त करते हुए मोरिस आर० कोहन ने लिखा है कि 'महापुरुष महान् सामाजिक शक्तियों के संगम-बिन्दु होते हैं।[३२]

६. सभ्यता का विकास और ह्रास—ट्वायनबी के मतानुसार 'सर्जनात्मक व्यक्तियों' की प्रतिभा जब जनता को आकृष्ट करने में असफल होती है तो वे तुरन्त 'ओरफियस की दिव्य वीणा' को छोड़कर 'प्रशियन सम्राट् फ्रेडरिक विलियम की भर्त्सनापूर्ण वाणी' द्वारा उसका नियंत्रण करना आरम्भ कर देते हैं।[३३] उसी समय

३१. पी० गेल, 'ट्वायनबीज सिस्टम आव सिविलिजेशन्स,' 'जर्नल आव दि हिस्ट्री आव आइडियाज,' भाग ९, अंक १ (१९४८)। पृ० १०६-१०७।

३२. मोरिस आर० कोहन, 'दि मीनिंग ऑव ह्यूमन हिस्ट्री', पृ० २२०-२२१।

३३. ए स्टडी ऑव हिस्ट्री, भाग ४ पृ० १२३–१२४

सभ्यता का विकास रुक जाता है। जब व्यक्तित्वों और वर्गों की सर्जनशक्ति क्षीण हो जाती है तो जनता उनसे अपना सहयोग हटा लेती है और समाज की एकता लुप्त हो जाती है।[३४] सर्जनात्मक व्यक्तित्वों और जनता के सम्बन्ध की प्रक्रिया में आकर्षण के वजाय विवशता अधिक कार्य करती है और प्रेरणा (इन्सपीरेशन) की अपेक्षा वल (ड्रिल) का अधिक योग रहता है। अतः आरम्भ से ही सभ्यता के विकास में ह्रास की प्रक्रिया प्रच्छन्न होती है। ट्वायनबी के शब्दों में 'विकास-शील सभ्यता का क्रम एक संकटपूर्ण प्रक्रिया है। यह संकट निरन्तर और गम्भीर है क्योंकि यह उस पथ की वास्तविक प्रकृति में सन्निहित है जिस पर प्रत्येक सभ्यता को चलना है।'[३५] इस प्रकार प्रत्येक सभ्यता क्षीण और नष्ट होने के लिए ही उत्पन्न होती है और लगभग ८०० वर्ष के ह्रास और पतन के जीवन[३६] के उपरान्त निश्चित रूप से अतीत के अन्धकार में विलीन हो जाती है। अतः ट्वायनबी का 'सर्जनात्मक व्यक्तित्वों का सिद्धान्त' उन्हें एक अटल नियतिवाद और उच्छेदवाद की ओर ले जाता है यद्यपि वे इससे वचने का भगीरथ प्रयत्न करते हैं।

७. संघटन (रैली) और विघटन (राउट)—विकास की अवस्था के बाद, जो ह्रास और पतन की अवस्था के मुकाबले में बहुत छोटी और अत्यन्त अस्थायी तथा परिवर्तनशील होती है, सभ्यता का क्षय शुरू हो जाता है। इस ह्रास और क्षय की प्रक्रिया से संघटन (रैली) और विघटन (राउट) का क्रम चलता रहता है। कभी सभ्यता कुछ सँभल जाती है, फिर गिरने लगती है, फिर कुछ सँभल जाती है और अन्त में जब इसकी शक्ति नष्ट हो जाती है तो गिरकर नहीं उठती। यदि विकास-काल (एज ऑव ग्रोथ) को संघटन (रैली) मान लिया जाय तो इसके अनन्तर जो विघटन (राउट) होता है वह 'संकट काल' (टाइम ऑव ट्रबुल्स) में अभिव्यक्त होता है। इस 'संकट-काल' के बाद फिर ,एक संघटन (रैली) आता है जिसका नाम 'सार्वभौमिक राज्य' (यूनीवर्सल स्टेट) है। किन्तु इस सँभाल के बाद फिर विघटन (राउट) होने लगता है। इसे 'व्यवधान-काल' (इण्टर रेगूनम) कहते हैं। इसके बाद सभ्यता का जीवन समाप्त हो जाता है। किन्तु इन कालों

३४. ए स्टडी ऑव हिस्ट्री। भाग ४ पृ० ६
३५. ए स्टडी ऑव हिस्ट्री। भाग ४, पृ० १२२
३६. ए स्टडी ऑव हिस्ट्री। भाग ९ पृ० २८९

में से प्रत्येक में संघटन-विघटन क्रम चलता रहता है। 'संकट काल' में संघटन के बाद विघटन होता है और 'सार्वभौमिक राज्य' में विघटन के बाद संघटन होता है। अतः ह्रास और पतन का सामान्य क्रम इस प्रकार है--विघटन, संघटन-विघटन, संघटन-विघटन-संघटन-विघटन। इसमें उपर्युक्त क्रम की साढ़े तीन आवृत्तियाँ होती हैं। इस ह्रास और पतन की प्रक्रिया की प्रमुख प्रवृत्ति 'एकता का भाव' (सेन्स ऑव यूनिटी') होती है जो विकास-काल की प्रमुख प्रवृत्ति 'विविधता के भाव' (सेन्स ऑव डाइवर्सिटी) से भिन्न होती है।[३७] 'सार्वजनिक भाषा' (लिंग्वा फ्रका) का प्रचार 'धार्मिक समन्वय' (सिन्क्रीटिज्म ऑव रिलिजन) का प्रचलन, कला और साहित्य की 'मिश्रित शैलियाँ' (कम्पोजिट स्टाइल्स), रीति-रिवाजों का 'संकर' (एमेलगेमेशन) और 'सार्वभौमिक राज्य' (यूनीवर्सल स्टेट) की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था का आगमन उस एकता के भाव के परिचायक होते हैं जो ह्रास और पतन के काल में सभ्यता को आवृत कर लेता है[३८]।

८. एकता की प्रवृत्ति और सार्वभौमिक राज्य--ट्वायनबी द्वारा प्रतिपादित एकता की प्रवृत्ति और पतन की प्रवृत्ति का समीकरण उनके दर्शन की सबसे बड़ी दुर्बलता है। वस्तुतः राष्ट्र और समाज के विकास की प्रत्येक अवस्था में एकता और समानता की निरन्तर प्रवृत्ति सदैव कार्य-शील रहती है। प्राच्य सभ्यताओं में तो एकता, अवयवित्व और सामूहिक जीवन का भाव विशेषतः कार्यशील रहा है। प्राचीन मिस्र में 'मात' का भाव, सुमेर और बाबुल में 'मितलुकु' और 'पुहरूम' की भावना, इस्लाम में 'इज्मा' और 'असबियत' की मनोवृत्ति, भारत में 'ऋत' और 'धर्म' की मान्यता, ईरान में 'अश' की विचारधारा, चीन में 'प्यान' और 'ताओ' सम्बन्धी विश्वास और मंगोलिया में 'यस्साक' की व्यवस्था आरम्भ से ही सभ्य जीवन को अनुप्राणित करते रहे हैं। अतः अनादि काल से प्राच्य संस्थाओं का विकास सामूहिकता और एकस्तरता (स्टेण्डर्डाइज़ेशन) की प्रवृत्तियों से ओतप्रोत रहा है। वहाँ सामाजिक और सांस्कृतिक उत्कर्ष की चरम सीमा सार्वभौमिक राज्यों में अभिव्यक्त हुई है। मौर्य और गुप्त, हान और थाङ्, अखामनी और सासानी, उमैया और अब्बासी, हयूङ-नू, जुवान-जुवान और मंगोल साम्राज्य प्राच्य इतिहास

३७. ए स्टडी ऑव हिस्ट्री, भाग ५, पृ० ३८२।
३८. ए स्टडी ऑव हिस्ट्री, भाग ५, पृ० ३८१।

के महत्तम उत्कर्ष-स्थल रहे हैं। यूरोप में भी बहुत प्राचीन काल से यूनानी विचारकों का ध्यान एकता पर केन्द्रित रहा है। अतः इस समूचे इतिहास को और इसमें विद्यमान एकता की प्रवृत्ति को पतन कह देना युक्तिसंगत नहीं है। यदि यह सब पतन है तो फिर विकास क्या होगा ?

बहुत से सार्वभौमिक राज्य युद्ध, हिंसा, जिघृक्षा और पशुता की संहारलीला से उत्पन्न हुए। ट्वायनबी युद्ध और हिंसा को ह्रास और पतन के लक्षण समझते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनके इन विचारों में बहुत सार है। किन्तु समाज का हिंसा-पक्ष और एकता-पक्ष विरोधी प्रवृतियाँ हैं। यह सत्य है कि बहुत-से सार्वभौमिक राज्यों का जन्म भीषण नर-संहार द्वारा हुआ। किन्तु इन राज्यों ने उस संहार-लीला को रोकने की अनेक सफल चेष्टाएँ भी कीं। अतः ये राज्य ह्रास और पतन को रोकने में बहुत कुछ सफल हुए। इनकी एकता की प्रवृत्ति को पतनका चिह्न मान बैठना भ्रान्तिमूलक है।

९. जीर्णावस्था (ब्रेकडाउन) और विकीर्णावस्था (डिसइन्टीग्रेशन)-- ट्वायनबी के मतानुसार ह्रास और पतन के युग के दो पक्ष होते है; जीर्णावस्था और विकीर्णावस्था। प्रथम पक्ष में जो अधोमुखी प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं दूसरे पक्ष में वे विकसित हो जाती हैं। इन प्रवृत्तियों के विकास का सबसे प्रमुख रूप सामाजिक व्यवस्था का दो पक्षों में विभाजन होता है—'अधिकारी वर्ग' (डोमिनेण्ट माइनोरिटी)और 'दलित वर्ग' (प्रोलीटेरियट)। दलित वर्ग के भी दो भाग होते हैं—समाज के अन्दर का दलित वर्ग (इन्टरनल प्रोलीटेरियट) और समाज के बाहर का दलित वर्ग (एक्सटरनल प्रोलीटेरियट), जो उस सभ्यता का ही एक अंग होता है और जिसमें सीमावर्ती घुमक्कड़ या बर्बर जातियाँ सम्मिलित होती हैं। यह सामाजिक व्यवस्था का विभाजन (शिज्म इन दि बोडी सोशल) एक आन्तरिक आत्मा के विभाजन (शिज्म इन दि सोल) का बाह्य प्रतीक होता है। यह आध्यात्मिक विभाजन विरोधी व्यवहार और विचार-पद्धतियों में परिलक्षित होता है—आत्म-नियंत्रण (सेल्फ कण्ट्रोल) और आत्म-विसर्जन (अबण्डन), बलिदान (मर्टिरडम) और पलायनवाद (ट्रएन्सी), पाप-चेतना (सेन्स ऑव सिन) और क्षरण-भावना (सेन्स ऑव ड्रिफ्ट), निष्पक्षता (डिटैचमेंट) और आध्यात्मिक परिवर्तन (ट्रांसफिगरेशन), पुराणपन्थिता (आर्केइज्म) और भविष्यवाद (फ़्यूचरिज्म), अव्यवस्था और संकर की भावना (सेन्स ऑव प्रोमिसकुइटी) और ग्राम्यता (वल्गराइज़ेशन)। किन्तु इन मानसिक और आध्यात्मिक अवस्थाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि किसी

न किसी रूप में ये इतिहास के प्रत्येक युग में विद्यमान रहती हैं। जैसा कि बितरिम ए० सोरोकिन ने सिद्ध किया है, इतिहास के आवर्तन-परिवर्तन में भावनाप्रधान (आइडिएशनल) और गोचरताप्रधान (सेन्सेट) प्रवृत्तियों का क्रम दोलायमान रहता है।[३९] जब तक जनता का दृष्टिकोण सर्जनात्मक रहता है इन दोनों प्रवृत्तियों में संतुलन बना रहता है, किन्तु जब जन-समाज निष्क्रिय और निश्चेष्ट होने लगता है तो इनका एकपक्षीय प्राधान्य हो जाता है। ट्वायनबी द्वारा वर्णित मानसिक अवस्थाएँ इन्हीं दो प्रवृत्तियों के विभिन्न रूप हैं।

१०. **'उच्च दर्शन', 'उच्च धर्म' और 'वीरकाव्य'**—अधिकारी वर्ग (डोमिनेंट माइनोरिटी), 'उच्च दर्शन' (हायर फिलोसोफी) की सृष्टि करता है, आन्तरिक दलित वर्ग (इन्टरनल प्रोलीटेरियट) 'उच्च धर्म' (हायर रिलिजन) को जन्म देता है और बाह्य दलित वर्ग (एक्सटरनल प्रोलीटेरियट) 'वीर काव्य' (हीरोइक एपिक) द्वारा अपनी प्रतिभा अभिव्यक्त करता है। ये तीनों तत्त्व नवीन सभ्यता की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। वास्तव में 'उच्च दर्शन' और 'उच्च धर्म' का भेद इतना स्पष्ट नहीं है जितना ट्वायनबी ने मान लिया है। विशेषतः प्राच्य देशों में दर्शन और धर्म के बीच कोई खाई नहीं रही। बुद्ध, महावीर, शंकर, रामानुज, काङ-फयू-त्जे, लाओ-त्से, अल-गज्जाली और अल-फाराबी और मन्सूर दार्शनिक विभूतियाँ होने के साथ-साथ धर्म-प्रवर्तक भी थे। इनके विचारों द्वारा धर्म और दर्शन का समान विकास हुआ। अतः ट्वायनबी का वर्गीकरण इन संस्कृतियों और धर्मों पर लागू नहीं होता।

११. **सभ्यताओं के सम्पर्क**—जब कोई सभ्यता विकीर्णावस्था (डिसइन्टीग्रेशन) में पहुँचती है तो समसामयिक सभ्यताओं से इसका सम्पर्क और सम्मिलन हो जाता है। 'सांस्कृतिक पतन की अवस्था सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अनुकूल होती है। जब दोनों मिलनेवाली सभ्यताएँ पतन की समान अवस्था में होती हैं तो उनके आदान-प्रदान की परिस्थिति सबसे अधिक उपयुक्त होती है।'[४०] एक सभ्यता का आर्थिक तत्त्व बहुत सरलता से दूसरी सभ्यता में संक्रान्त हो जाता है। इसके बाद राजनीतिक तत्त्व पहुँचता है और फिर बौद्धिक, भाषात्मक और कलात्मक

३९. पी० ए० सोरोकिन, 'सोशल एण्ड कल्चरल डाइनेमिक्स', ४ भाग।
४०. ए स्टडी ऑव हिस्ट्री, भाग ८, पृ० ५०७।

तत्त्व पहुँचते हैं और अन्त में धार्मिक तत्त्व रह जाता है जो बहुत कठिनता से एक सभ्यता से दूसरी सभ्यता में जाता है। जब दो सभ्यताओं का सम्मिलन होता है तो अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ सामने आती हैं—(१) सैनिक शक्ति का सैनिक शक्ति द्वारा उत्तर, (२) एक नवीन सर्जन-शक्ति का उद्रेक, (३) बड़ी मात्रा में राजनीतिक संगठन, (४) आर्थिक अवसरों और साधनों के उपयोग में विशेष क्षमता, (५) सैनिक शक्ति का सांस्कृतिक बल द्वारा निरोध, (६) उच्च धर्म की सृष्टि।[४१] इन प्रतिक्रियाओं को कट्टरता और उदारता (जीलोटिज्म एण्ड हेरोडियनिज्म) नामक को प्रवृत्तियों में विभक्त किया गया है। जहाँ सभ्यताएँ आकर एक-दूसरी से मिलती हैं वहीं 'उच्च धर्मों' की जन्मस्थली बनती है। इस दृष्टि से सीरिया की भूमि सदा से 'उच्च धर्मों' की जन्मदात्री रही है। इन सभ्यताओं के सम्मिलन के सिद्धान्त से ट्वायनबी के इस प्रारम्भिक सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है कि प्रत्येक सभ्यता इतिहास के अध्ययन की एक स्वतन्त्र इकाई है। यद्यपि सभ्यताओं के सम्मिलन का अध्ययन ट्वायनबी की कृति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है और विद्वत्ता तथा सूक्ष्मता की दृष्टि से अद्वितीय है, तथापि उनके मौलिक सभ्यताओं के सिद्धान्त के कारण इसमें अनेक दोष आ गये हैं। यह मान्यता कि दो सभ्यताओं का सम्पर्क दो विभिन्न तत्त्वों का सम्मिलन है, भ्रामक है, क्योंकि वस्तुतः यह मानवता के दो खण्डों का स्वाभाविक सम्बन्ध है और इसमें ऐतिहासिक अक्षुण्णता है। दूसरे यह कि सभ्यताओं का पारस्परिक आदान-प्रदान केवल पतनकालीन प्रक्रिया है; युक्तिसंगत नहीं है। वास्तव में विकास काल में तो विशेष रूप से सभ्यता और संस्कृति अपने पड़ोसियों से बहुत-सी बातें सीखती हैं।

१२. **पुनर्जन्म**—जैसा सभ्यताओं का पारस्परिक सम्पर्क देश की परिधि में चलता है ऐसा ही काल की परिधि में भी होता है। दूसरे प्रकार के सम्पर्क से 'पुनर्जन्म' (रिनेसांस) की प्रक्रिया चलती है। पुनर्जन्म (रिनेसांस) का अर्थ मृत सभ्यता के प्रेत को जाग्रत करना है।[४२] सामान्यतः एक जीवित सामयिक सभ्यता की चुनौती के फलस्वरूप दूसरी सभ्यता मृत सभ्यता के प्रेत को जाग्रत करती है, किन्तु कभी कभी यह प्रेत उस सभ्यता से ऐसा चिपटता है कि उसका पीछा नहीं छोड़ता। इस

४१. ए स्टडी ऑव हिस्ट्री, भाग ८, पृ० ४७४-४७५।

४२. ए स्टडी आव हिस्ट्री, भाग ९ पृ० ६।

पुनर्जन्म से या तो सभ्यता प्रगति करने लगती है अथवा निष्क्रिय हो जाती है। इस प्रगति को ट्वायनबी ने 'एण्टीयस की कूद' (एण्टियन रिबाडण्ड) और निष्क्रियता को 'एटलाण्टस की मूर्च्छा' (एटलाण्टियन स्टान्स) की संज्ञाएँ दी हैं।[४३] ट्वायनबी के अध्ययन का यह भाग यूनानी दृष्टान्तों और उपमा-उत्प्रेक्षाओं से भरपूर है। यहां भी सभ्यता को आत्म-केन्द्रित स्वतंत्र इकाई मानने की भ्रान्ति से बहुत सी गड़-बड़ी हो गयी है। प्रत्येक पुनर्जन्म इतिहास की अक्षुण्णता का परिचायक है। वास्तव में अतीत और वर्तमान का अन्तःसम्बन्ध इतिहास की प्रक्रिया का केन्द्रबिन्दु है। कभी यह अतीत का प्रभाव कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता है कभी कम, किन्तु यह अवश्य सदैव विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त जब किसी अतीत के युग का प्रभाव वर्तमान पर पड़ता है तो इसके साथ अनेक अन्य तत्त्व सम्मिलित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए यूरोप में यूनानी सभ्यता का जो पुनरुत्थान हुआ उसमें अरबी तत्त्वों की भी प्रमुखता थी, जैसा कि मूर शैली के भवनों से प्रकट होता है। वर्तमान भारत में प्राचीन कला-शैलियों के पुनरुत्थान के साथ-साथ यूरोपियन कला-शैलियों का भी पर्याप्त प्रचलन हो रहा है। इन युगों में अतीत एक प्रेत के रूप में उपस्थित नहीं होता, वरन् एक जीवित प्रेरणा का कार्य करता है।

१३. सभ्यता और धर्म—सभ्यताओं के सम्पर्क से उच्च धर्मों का जन्म होता है। ट्वायनबी के मतानुसार सभ्यता का उद्देश्य ही यह है कि धर्म को जन्म देने के लिए वह विशीर्ण हो जाय। अतः सभ्यता का विघटन एक दिव्य क्षण होता है क्योंकि तब धर्म जन्म लेता है। यदि सभ्यताओं के विकास एवं विलय और उत्थान एवं पतन को पहिए मान लें तो इनकी गति के फलस्वरूप जो रथ आगे बढ़ता है वह धर्म है। धर्म का प्रशासनिक और संस्थापरक रूप संघ (चर्च) होता है, जिसके ऊपर सार्वभौमिक राज्य की अमिट छाप पड़ती है। वस्तुतः धर्मसंघ का शासन सार्वभौमिक राज्य का प्रतिबिम्ब मात्र होता है। 'व्यवधान-काल' (इन्टररेगूनम) में जब सामाजिक व्यवस्था नष्ट हो जाती है तो धर्म-संघ (चर्च) शान्ति और शासन की उन संस्थाओं को सुरक्षित रखता है जिन्हें वह सार्वभौमिक राज्य से ग्रहण करता है। इस प्रसंग में ट्वायनबी यूरोपीय निदर्शन से परिबद्ध हो जाते हैं और एशिया की स्थिति को भूल-से जाते हैं। यूरोप में निस्सन्देह रोम के पतन के बाद रोमनकैथोलिक चर्च ने

४३. ए स्टडी आव हिस्ट्री, भाग ९ पृ० १४०।

विभाग का संकट-काल १३७८ ख्री० से १७९७ ख्री० तक और इसका सार्वभौमिक राज्य १७९७ से १८१४ तक का नेपोलियन का साम्राज्य निश्चित किये हैं। और इसके पूर्वी विभाग का संकट काल ११२६ ख्री० से १५२३ ख्री० तक और सार्वभौमिक राज्य १५२८ से १९२८ तक का देन्यूबी साम्राज्य निश्चित किये हैं।[४५] उनके मतानुसार सोलहवीं शती के धर्म-सम्बन्धी युद्ध इस सभ्यता के ह्रास की जीर्णावस्था के स्पष्ट प्रतीक हैं। किन्तु ट्वायनबी बाद में इस स्थापना से हट गये हैं और यह मान बैठे हैं कि इस सभ्यता का संकटकाल अभी चल रहा है और इसका सार्वभौमिक राज्य भविष्य के गर्भ में है और हमें केवल यह देखना है कि इस राज्य का आविर्भाव युद्ध और हिंसा से होता है या सहयोग और स्वेच्छा से। इसके अतिरिक्त ट्वायनबी यह मानते हैं कि धर्म के जन्म के लिए सभ्यता का विघटन अनिवार्य है। इस दृष्टि से वर्तमान सभ्यता का क्षय भी अवश्यम्भावी है। किन्तु इस स्थल पर समस्त ऐतिहासिक कालक्रम को गड़बड़ करके ट्वायनबी यह कह बैठते हैं कि ईसा मसीह का क्रास पर निधन एक अर्वाचीन घटना है,क्योंकि समय के विशाल मानदण्ड पर बीस शताब्दियाँ एक आँख की झपकी से अधिक लम्बी नहीं होतीं। यहाँ ट्वायनबी अपने सारे दर्शन को उलट-पुलट देते हैं।

१५. पश्चिमी सभ्यता का ह्रास—वास्तव में वर्तमान काल की प्रमुख घटना पूर्वी सभ्यता द्वारा पश्चिम यूरोपीय सभ्यता का पराभव है। व्यक्तिवाद पर आधारित यह सभ्यता अब सामूहिकता पर निर्भर प्राच्य सभ्यता के सामने घुटने टेक रही है। प्रत्येक देश में पश्चिमी ढंग की राष्ट्रीयता, अर्थनीति और जनतंत्र का ह्रास हो रहा है। अतः पश्चिमी जनता इस क्रान्ति से किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गयी है। ट्वायनबी ने उसे साहस, सान्त्वना और प्रेरणा देने की चेष्टा की है। जिस प्रकार सन्त ऑगस्तीन ने लौकिक साम्राज्य के पतन की चुनौती का आध्यात्मिक उत्तर दिया था उसी प्रकार ट्वायनबी पाश्चात्य सभ्यता के ह्रास की चुनौती की ईसाई प्रतिक्रिया प्रस्तुत करते हैं। अतः हेनरी एमर बार्नस ने उनके इतिहास-दर्शन को 'नव ऑगस्तीन वाद' नाम से अभिहित किया है।[४६] किन्तु अपने एक बाद के लेख में अपने दृष्टिकोण

४५. ए स्टडी ऑव हिस्ट्री, भाग ६, पृ० ३२७, तालिका १।

४६. हेनरी एमर बार्नस, 'आर्नोल्ड जोजफ ट्वायनबी; ओरोसियस एण्ड ऑगस्तीन इन माडर्न ड्रेस', इण्ट्रोडक्शन टु दि हिस्ट्री ऑव सोशियोलोजी (१९५०), पृ० ७१८–७३१।

को स्पष्ट करते हुए ट्वायनबीने लिख दिया है कि "यहूदी परम्परा पर आश्रित ईसाई धर्म को वे विश्व की आशा का केन्द्र नहीं समझते, बल्कि भारतीय समन्वय पर आधारित हिन्दू और बौद्ध धर्मों में मानव समृद्धि और परित्राण की सम्भावना का दर्शन करते हैं।" उन्होंने इसी भारतीय दृष्टिकोण से अपने 'इतिहास के अध्ययन' के अन्तिम चार भागों का प्रणयन किया है।[४७]

१६. ट्वायनबी का महत्त्व—ट्वायनबी के सिद्धान्तों और विचारों के उपर्युक्त विवेचन से उनके इतिहास-दर्शन पर कुछ प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः ट्वायनबी का दर्शन इतना जटिल और विस्तृत है कि उसके सर्वांगीण पर्यवेक्षण के लिए एक स्वतंत्र ग्रन्थ अपेक्षित है। प्रस्तुत अध्ययन में तो एक हलकी-सी आलोचनात्मक रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है और उनके दर्शन के प्रमुख विषयों की कुछ चर्चा की गयी है। इस से इतना तो स्पष्ट है कि ट्वायनबी का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और उनकी विद्वत्ता सर्वग्राहिणी है। उन्होंने राजनीति को प्रमुखता न देकर संस्कृति और धर्म को प्रधानता दी है और उनका ध्यान विशाल सामाजिक आन्दोलनों और परिवर्तनों की ओर आकृष्ट हुआ है। उनकी यह मान्यता कि किसी समाज का विकास और ह्रास उसकी आन्तरिक शक्ति और दुर्बलता के कारण होता है, नितान्त सारगर्भित और गम्भीर है। उनका यह विचार भी बहुत ठीक है कि विश्व-इतिहास का ढाँचा सभ्यताओं और समाजों के सम्पर्कों से निर्मित हुआ है। वर्तमान स्थिति का अध्ययन करते हुए वे मानते हैं कि समस्त विश्व का एकीकरण, धर्मों का समन्वय और आर्थिक विषमताओं का निराकरण इतिहास की मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। तथ्यात्मक दृष्टि से तो उनकी कृति अद्वितीय है।

अनुच्छेद ४—सोरोकिन

१. जीवनपरिचय—पितरिम एलेग्जेन्द्रोविच सोरोकिन का जन्म तूरिया में १८८९ में हुआ। उन्होंने सन्त पीतर्सबर्ग विश्व-विद्यालय में अध्ययन किया और १९२२ में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। १९१४ से १९१६ तक उन्होंने वहाँ के मनोवैज्ञानिक संस्थान (साईको-न्यूरोलोजिकल इंस्टीट्यूट) में शिक्षण

४७. आर्नोल्ड जे० ट्वायनबी, 'ए स्टडी ऑव हिस्ट्री, व्हाट आई एम ट्राइंग टु डू,' इन्टरनेशनल अफेयर्स, जनवरी, १९५५, पृ० ४।

कार्य किया और १९१७ से १९२२ तक वे सन्त पीतर्सबर्ग विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रहे। साथ ही उन्होंने कृषि अकादमी में भी अध्यापन कार्य किया। १९१७ में उन्होंने 'बोलिया नरोदा' शीर्षक एक मध्यम प्रगतिशील पत्र का सम्पादन प्रारम्भ किया। वे अखिल रूसी कृषक संघ और रूसी गणतन्त्र की परिषद के भी सदस्य रहे। १९१७ में उन्होंने रूसी क्रान्ति को निकट से देखा। इस क्रान्ति के अनेक सूक्ष्म तथ्यों का आकर्षक वर्णन उनके 'लीव्ज फ्राम ए रशियन डायरी १९१७-१९२२' (१९१७-से १९२२ तक की डायरी के पन्ने) शीर्षक ग्रन्थ में मिलता है। इस क्रान्ति ने उनके विचारों को बड़ी ठेस पहुँचायी और उनके मानव-समानता के सिद्धान्तों को बिलकुल बदल दिया। १९२० में उन्होंने 'सिस्टम ऑव सोशियोलोजी' (समाजशास्त्र) शीर्षक ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित किया। मार्क्सवादी आलोचकों ने इस ग्रन्थ की बड़ी बुराई की। विशेषत: उन्होंने लेखक के सामाजिक असमानता के मनोवैज्ञानिक आधार, यहूदी जाति की अपरिवर्तनीय मनोवृत्ति तथा सामाजिक और राजनीतिक एकता के लिए जातीय एकता की आवश्यकता के सिद्धान्तों की खरी आलोचना की। फलत: बोलशेविक अधिकारियों ने १९२२ में उन्हें मृत्युदण्ड दिया। किन्तु उनके शिष्यों के हस्तक्षेप से मृत्युदण्ड देश-निर्वासन में परिवर्तित कर दिया गया। अत: १९२३ में सोरोकिन अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में पहुँच गये। १९२४ से १९३० तक वे मिन्नेसोटा विश्व-विद्यालय में समाजशास्त्र के अध्यापक रहे और तब से हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्रशिक्षण कार्य कर रहे हैं।

सोरोकिन ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। 'दि सोशियोलोजी ऑव रेवोलूशन' (क्रान्ति का समाजशास्त्र), 'मैन एण्ड सोसायटी इन केलेमिटी' (आपत्तिकाल में मनुष्य और समाज), 'सोशल मोबिलिटी' (सामाजिक गतिशीलता), 'रशिया एण्ड दि यूनाइटेड स्टेट्स' (रूस और संयुक्त राज्य), 'सोर्स बुक ऑव रूरल सोशियोलोजी' (ग्राम्य समाजशास्त्र का स्रोत-ग्रन्थ),[४८] 'प्रिंसिपल्स ऑव रूरल-अरबन सोशियोलोजी' (नागरिक और ग्रामीण समाज-शास्त्र के सिद्धान्त),[४९] 'सोशल एण्ड कल्चरल डाइनेमिक्स' (सामाजिक और

४८. इस ग्रन्थ को सोरोकिन ने सिमरमैन और गेल्पिन के साथ मिलकर लिखा।

४९. इस ग्रन्थ को सोरोकिन ने सिमरमैन के साथ मिलकर लिखा।

(सांस्कृतिक गति), 'सोशल फिलॉसॉफीज इन ऐन एज ऑव क्राइसिस' (संकट-कालीन सामाजिक दर्शन), 'कन्टेम्पोरेरी सोशलॉजिकल थियरीज़' (सामयिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त), 'दि रीकन्सट्रक्शन ऑव ह्यूमेनिटी' (मानवता का पुन-र्निर्माण), 'दि क्राइसिस ऑव अवर एज' (हमारे युग का संकट), 'सोशियोकल्चरल काज़ेलिटी, स्पेस, टाइम' (सामाजिक-सांस्कृतिक हेतुवाद, देश और काल) आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक निबन्ध और लेख प्रकाशित किये हैं। उनके इतिहास-दर्शन के लिए उनकी 'सोशल एण्ड कल्चरल डाइनेमिक्स, ४ भाग, 'सोशल फिलॉसॉफीज इन ऐन एज ऑव क्राइसिस' तथा 'सोसायटी, कल्चर, पर्सनेलिटी, देयर स्ट्रक्चर एण्ड डाइनेमिक्स' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उनकेग्रन्थों और विचारों पर अनेक टिप्पणियाँ और आलोचनाएँ हो चुकी हैं। इनमें एफ० आर० कोवल की 'हिस्ट्री, सिविलिजेशन एण्ड कल्चर', 'एन इण्ट्रोडक्शन' टु दि हिस्टोरिकल एण्ड सोशल फिलॉसॉफी ऑव पितरिम ए० सोरोकिन' (इतिहास, संस्कृति और सभ्यता, पितरिम ए० सोरोकिन के सामाजिक दर्शन की भूमिका) (टेम्स एण्ड हडसन लंदन १९५२) विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

२. **कोपरनिकन दृष्टिकोण**—सोरोकिन के विचार सामयिक इतिहास विचा-रकों के दर्शन के समान इतिहास के सूक्ष्म तथ्यात्मक विवेचन पर आधारित हैं। वे स्पेंगलर और ट्वायनबी के समान इतिहास के 'कोपरनीकन', दृष्टिकोण को ग्रहण करते हुए यह मानते हैं कि वर्तमान काल को समस्त मानव-इतिहास का चरमोत्कर्ष मानना भ्रान्तिमूलक है और इसकी प्रवृत्ति को रेखात्मक रूप में प्रस्तुत करना असंगत है। जिस प्रकार पाश्चात्य यूरोपीय संस्कृति में प्राचीन, मध्य और अर्वाचीन काल आये हैं उसी प्रकार अन्य संस्कृतियों में भी आते रहे हैं। उक्त लेखकों की तरह सोरोकिन यह भी स्वीकार करते हैं कि इतिहास का विषय राजनीतिक या सामरिक घटनाओं का परिगणन नहीं है, प्रत्युत सांस्कृतिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण है।

३. **सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ**—सोरोकिन के मतानुसार 'संस्कृति उन मूल्यों, आदर्शों और स्थापनाओं का समूह है जिनके अनुसार मनुष्य अपने जीवन की रीति और शैली का निर्माण करते हैं। मनुष्य अपने जीवन में जिन तत्थों को सत्य, शिव और सुन्दर मानते हैं उनसे संस्कृति का स्वरूप निर्मित होता है। अतः यह एक मानसिक विकास की प्रक्रिया है। चूंकि समाज में रहकर ही मनुष्य इस विकास में अग्रसर होता है, अतः संस्कृति सामाजिकता में घुलमिल जाती है। फलतः

सोरोकिन ने 'सामाजिक-सांस्कृतिक' (सोशियो-कल्चरल) परिभाषा का प्रयोग किया है। मनुष्यों के विशिष्ट समूहों के कुछ निजी आदर्श और मूल्य होते हैं जिनकी छाप उनकी कला, वास्तुशैली, साहित्य, अर्थव्यवस्था, नीति, धर्म, दर्शन, न्याय और दैनिक जीवन-पद्धति को एक वैयक्तिक स्वरूप प्रदान करती है। प्रत्येक संस्कृति में आन्तरिक एकता है। इसके समस्त अंग एक दूसरे से समन्वित होते हैं। प्रायः इतिहासकार इस आन्तरिक एकता की अवहेलना करते हुए सस्कृतियों के समूहों (कोंजरीज़) को सभ्यता मान बैठते हैं। सोरोकिन ने इस दृष्टि से स्पेंगलर, ट्वायनबी आदि की खरी आलोचना की है। उनके द्वारा प्रतिपादित यूनानी और पाश्चात्य यूरोपीय संस्कृतियां सोरोकिन के मतानुसार अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्थाओं (सोशियो-कल्चरल सुपर-सिस्टम) के समूह हैं। इन व्यवस्थाओं में भी विधि और विभिन्न सांस्कृतिक सूत्र जुड़े रहते हैं, किन्तु ये उनको एक सामयिक समन्वय प्रदान करती है। ये सामाजिक-सास्कृतिक व्यवस्थाएं तीन प्रकार की होती हैं—(१) भावना-प्रधान (आइडिएशनल), (२) गोचरता-प्रधान (सेन्सेट) और (३) आदर्श-समन्वय-प्रधान (आइडियलिस्टिक, इक्लेटिक्स)। ये व्यवस्थाएँ प्रत्येक देश और जाति के इतिहास में समय-समय पर प्रकट होती है और सांस्कृतिक तत्वों तथा सूत्रों को समन्वित और संगठित कर एकता की शृंखला में बाँध देती हैं। इनके विषय में दानिलेव्स्की, स्पेंगलर और ट्वायनबी द्वारा प्रतिपादित जन्म-जरा-मरण का क्रम चरितार्थ नहीं होता। न ही इनका वर्गीकरण शारीरिक अथवा अवयवी दृष्टिकोण से सम्भव है। वे तो सामाजिक-सांस्कृतिक धाराओं के संगमस्थल है जो प्रवाह की न्यूनता-अधिकता आदि के फलस्वरूप बदलते रहते हैं। इनकी अवधि निश्चित करना असम्भव है।

४. भावना-प्रधान सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था—सोरोकिन के मतानुसार भावना-प्रधान (आइडिएशनल) सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था श्रद्धा पर आधारित होती है। इसके दृष्टिकोण से सत्य अगोचर, अभौतिक, शाश्वत, आध्यात्मिक तत्त्व का नाम है। प्रत्यक्ष-इन्द्रिय-जन्य ज्ञान सर्प-रज्जुवत् भ्रामक माना जाता है। सांसारिक लोभ, लिप्सा और भोग-विलास पाप-मूलक समझे जाते हैं। संन्यास, मोक्ष और निर्वाण जीवन के लक्ष्य हो जाते हैं। कला की शैली प्रतीकात्मक हो जाती है। कलाकृतियाँ आन्तरिक अमूर्त भावों की अभिव्यक्ति के साधन बन जाती हैं। संगीत में भावों का प्रवाह उमड़ता है। वाद्यों की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। साहित्य प्रधानतः धार्मिक आख्यानों और कथानकों से परिपूर्ण रहता है। साहित्य,

धर्म, नीति, लोक-मंगल और समाज-सुधार को प्रेरणा देता है। दर्शन निर्गुण और इन्द्रियातीत परब्रह्म के विवेचन से सम्बन्धित रहता है। पुण्य, पाप, आत्मा, जीव, देवता, मोक्ष, अमरत्व, स्वर्ग, नरक, आदि की मीमांसा इसका लक्ष्य होता है। बुद्धि का क्षेत्र सीमित माना जाता है। अन्तश्चक्षु द्वारा चरम तत्त्व का साक्षात्कार वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि का साधन समझा जाता है। रहस्यवाद, मायावाद, परब्रह्मवाद और शाश्वतवाद चिन्तन के मुख्य रूप होते हैं। सब पदार्थ परमतत्त्व से निकले हुए माने जाते हैं। हेतुवाद का रूप ब्रह्मवाद हो जाता है। काल को भी परलोक का सम्पूर्ण समय (एबसोल्यूट टाइम) कहा जाता है। जीवन को स्वतः प्रसूत माना जाता है और प्रकाश को नेत्रों की प्रक्रिया (विज्वल-रे थियरी) समझा जाता है। नीति का लक्ष्य मनुष्य को परब्रह्म की ओर ले जाना होता है और इसके नियम अलंघ्य माने जाते हैं। ईश्वर की इच्छा या आज्ञा इसका आधार होती है। प्रेम और भ्रातृत्व इसके प्रमुख भाव होते हैं। इन भावनाओं को आघात पहुँचाना अपराध समझा जाता है। फलतः कानून भी धार्मिक रंग से रँग जाता है। सामाजिक व्यवस्था पारिवारिक भावों से ओतप्रोत रहती है। इसमें एक अटलता और अक्षुण्णता का आदर्श सन्निहित रहता है। यह व्यक्ति को अपने भीतर छिपाये और दबाये रहती है। राजनीति धर्म-राज्य (थियोक्रेसी) के सिद्धान्त पर चलती है। स्वतन्त्रता का अर्थ यही होता है कि मनुष्य शान्ति और संतोष से अपने भाग्य की सराहना करता हुआ परलोक के सुखों की प्राप्ति का प्रयत्न करे। आर्थिक सम्पन्नता और समृद्धि का स्तर नीचा होता है, किन्तु विप्लव और विद्रोह भी नहीं के बराबर होता है। सामाजिक दर्शन दैव-प्रधान, परलोकपरक और वृत्त-मूलक होता है। मनुष्य यह समझते हैं कि संसार-चक्र ईश्वरेच्छा से संचालित है। सारांश यह है कि भावना-प्रधान सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में जीवन का प्रत्येक पक्ष और रूप इन्द्रियातीत चरम तत्त्व और परम सत्य की आध्यात्मिक भावधारा में निमग्न और निष्णात होता है।

५. गोचरता-प्रधान सामाजिक सांस्कृतिक-व्यवस्था—गोचरताप्रधान (सेन्सेट) सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था का स्वरूप भावना-प्रधान (आइडिएशनल) व्यवस्था से नितान्त भिन्न होता है। यह तर्क, विज्ञान और परीक्षण पर आधारित होती है। इसके दृष्टिकोण से सत्य गोचर, भौतिक, इन्द्रियग्राह्य, परिवर्तनशील और सापेक्ष होता है। प्रत्यक्ष इन्द्रिय जन्य परीक्षणात्मक ज्ञान वास्तविक माना जाता है। सांसारिक लोभ, लिप्सा और भोग-विलास जीवन के चरम लक्ष्य समझे जाते हैं।

संन्यास, मोक्ष और निर्वाण व्यर्थ के गल्प या ढकोसले माने जाते हैं। 'खाओ, पियो और आनन्द करो' जीवन का मूलमंत्र बन जाता है। संगीत, सुरा, सुन्दरी, जीवन की ललाट-लिपि हो जाते हैं। कला की शैली प्रतीकात्मक न रहकर अनुकरणात्मक हो जाती है। प्रकृति का यथावत् चित्रण करना इसका लक्ष्य बन जाता है। यथार्थवाद इसकी प्रमुख प्रवृत्ति हो जाती है। गोचरता-प्रधान कला में कामासक्त युवकों और युवतियों का चित्रण मिलता है। इस चित्रण में वैयक्तिकता का भाव प्रधान होता है। प्राकृतिक दृश्यों की भी भरमार होती है। दैनिक जीवन आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। 'कला कला के लिए' यह कलाकार का मन्तव्य बन जाता है। सौन्दर्य-सृष्टि भावनाओं और वासनाओं को उत्तेजित और तृप्त करने के लिए की जाती है। संगीत, नाटकीय स्वरध्वनि-प्रधान, रोचक और आकर्षक बन जाता है। इसके लिए वाद्य सामग्री और गायक-वादक-मण्डलों की आवश्यकता होती है। प्रदर्शन और प्रचार इसके मुख्य लक्षण हो जाते हैं। व्यावसायिक और नियमित प्रदर्शन बहुत बढ़ जाते हैं। साहित्य यथार्थवादी होकर जन-जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत करने लगता है। हास्य, व्यंग्य, शृंगारिकता, आलंकारिकता आदि की इसमें प्रधानता हो जाती है। 'साहित्य साहित्य के लिए' यह साहित्यकार का उद्देश्य बन जाता है। साहित्य और धर्म तथा नीति का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। इसके विपरीत राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज-विज्ञान आदि से इसका नाता जुड़ जाता है। दर्शन संसार और इन्द्रिगोचर तत्त्वों के विवेचन से सम्बन्धित हो जाता है। व्यवहार, तर्क ज्ञान आदि का अध्ययन प्रमुख हो जाता है। अगोचर तत्त्वों के प्रति संदेह या विरक्ति का भाव उत्पन्न हो जाता है। इससे संशयवाद (स्केप्टिसिजम) या अज्ञेयवाद (एगनोस्टीसिज्म) का जन्म होता है। बुद्धि का क्षेत्र असीम माना जाता है, जो कुछ बुद्धि के परे है उसे असत्य या काल्पनिक कहा जाता है। बुद्धिवाद, वस्तुवाद, उपयोगितावाद, अर्थवाद चिन्तन के मुख्य रूप होते हैं। सब पदार्थ इन्द्रिय-गोचर और बुद्धिगम्य प्रकृति से निकले हुए माने जाते हैं। हेतुवाद प्रकृति की प्रक्रिया को चरितार्थ करता है। काल को घटिकाओं द्वारा प्रदर्शित समय कहा जाता है। जीवन को भौतिक तत्त्वों का विकसित रूप कहा जाता है। प्रकाश का कोपोसिक्यूलर सिद्धान्त, जिसके अनुसार वस्तुओं की सतह से कणों का उड़कर आँख तक पहुँचना प्रकाश का कारण माना जाता है, ग्राह्य हो जाता है। वैज्ञानिक आविष्कारों की धूम मच जाती है। नीति का लक्ष्य मनुष्य को सुखी बनाना (हिडोनिज्म) होता है और इसके नियम सापेक्ष समझे जाते हैं। सामाजिक व्यवस्था का स्थायित्व इसका आधार

होता है। सांसारिक सुख और व्यक्तिपरक व्यवस्था तथा उदात्त स्वार्थ (एनलाइटेण्ड सेल्फ इन्टरेस्ट) इसके प्रमुख भाव होते हैं। सामाजिक व्यवस्था को भंग करना तथा व्यक्ति और सम्पत्ति पर आघात करना अपराध समझा जाता है। सामाजिक व्यवस्था मुहादों पर आधारित होती है। इसमें तरलता और प्रगतिशीलता विद्यमान रहती है। यह व्यक्ति को प्रमुखता देती है। राजनीति व्यक्तिवाद, जनतंत्र, वैधानिकता आदि के सिद्धान्तों पर चलती है। स्वतन्त्रता का अर्थ यह होता है कि मनुष्य को अपनी योग्यता, अध्यवसाय और साधनों के अनुसार उन्नति करने और सुख भोगने का पूरा अवसर मिले। आर्थिक सम्पन्नता और समृद्धि का स्तर ऊँचा होता है और साथ ही विप्लव और विद्रोह का भाव कुछ बढ़ जाता है। आर्थिक शोषण, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद युद्ध और हिंसा के द्वार खोल देते हैं। छीना-झपटी और लूट-खसोट बढ़ जाती है। क्रान्ति फैल जाती है। सामाजिक दर्शन प्रगतिप्रधान, उन्नतिवादी और रेखात्मक हो जाता है। मनुष्य यह समझते हैं कि संसार का विकास रेखात्मक रूप से मनुष्य को प्रगति की ओर ले जा रहा है। सारांश यह है कि गोचरता-प्रधान सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था में जीवन का प्रत्येक पक्ष और रूप इन्द्रियगम्य ऐहिक और भौतिक तत्त्वों के आलोक में चमक उठता है।

६. **आदर्श-समन्वय-प्रधान सामाजिक-सांस्कृतिक-व्यवस्था**—आदर्श-समन्वय-प्रधान सामाजिक-सांस्कृतिक-व्यवस्था (इकलेक्टिक सोशियो-कल्चरल सुपर सिस्टम) जिसे सोरोकिन ने आदर्शप्रधान या आइडियलिस्टिक भी कहा है, उपर्युक्त दोनों व्यवस्थाओं की संगमस्थली होती है और इसमें इन दोनों के प्रमुख तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है। इसमें मानव मस्तिष्क तर्क और दर्शन के क्षेत्र में अपनी सर्जन-शक्ति के चरमोत्कर्ष को अभिव्यक्त करता है और साथ की कला और साहित्य में अभूतपूर्व चैतन्य और स्पन्दन का परिचय देता है। यद्यपि इस युग में आध्यात्मिक और भौतिक मूल्यों का सुन्दर सामञ्जस्य हो जाता है, फिर भी आध्यात्मिक प्रेरणा की प्रबलता रहती है। इसमें संसार को माया नहीं समझा जाता, प्रत्युत मानव आत्मा को गोचर जगत् में अनूदित करने का भगीरथ प्रयत्न किया जाता है। इसकी कला में गोचर तत्त्वों और तथ्यों को आदर्शों में परिणत किया जाता है तथापि कला के विषय भद्दे, गँवारू, अनैतिक या वासनामय नहीं होते। पतन, मरण, शिथिलता, अपूर्णता इनसे कोसों दूर रहती है। इसका उद्देश्य इसकी निष्पत्ति होता है और यह धर्म, नीति और समाज के आदर्शों को परिपुष्ट करती है। साहित्य में अन्योक्ति

और रूपक (एलेग्री) की शैली प्रधान हो जाती है। साहित्यक समालोचना का भी श्रीगणेश हो जाता है। दर्शन में वस्तुवाद और आध्यात्मिकता का समन्वय हो जाता है। चरमतत्त्व को ज्ञेय समझा जाता है और तर्कशक्ति द्वारा इसे प्राप्य माना जाता है। नीति और न्याय में एक ओर दैवी शक्ति के अलंध्य शासन को स्वीकार किया जाता है और दूसरी ओर बुद्धि के प्रभाव और प्रेरणा को भी गौण रूप से माना जाता है। इस नीति को सोरोकिन ने 'यूडेमोनिज्म' का नाम दिया है। दण्ड विधान कठोर हो जाता है। पारिवारिक सम्बन्धों के साथ मुहादों का भी जोर हो जाता है। राजनीति में एकतंत्र का भाव जाग्रत हो जाता है। धर्म से इसका सम्बन्ध टूट जाता है। आर्थिक स्तर और वैज्ञानिक शोध बढ़ने लगते हैं। वैयक्तिक सम्पत्ति का महत्त्व भी बढ़ जाता है। इस युग में युद्ध, विप्लव और विद्रोह बहुत बढ़ जाते हैं। सामान्यतः यह युग क्रान्तियों का युग होता है। इसमें परिवर्तन की गति तीव्र हो जाती है।

७. **सामाजिक-सांस्कृतिक-व्यवस्थाओं का प्रत्यावर्तन**—सोरोकिन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सोशल एण्ड कल्चरल डाइनेमिक्स', में उपर्युक्त दृष्टिकोण से यूनानी, रोमन और पाश्चात्य यूरोपीय संस्कृति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। यदा कदा उन्होंने मिस्री, हिन्दू और चीनी संस्कृतियों का भी जिक्र किया है, किन्तु इनका विवेचन विस्तृत और सर्वांगीण नहीं है। सोरोकिन प्राचीन पाषाण-युग को गोचरता-प्रधान और अर्वाचीन पाषाण-युग को भावना-प्रधान मानते हैं। उनका निष्कर्ष कला-सम्बन्धी साक्ष्य पर निर्भर है। इसके बाद मिस्र में संस्कृति की किरण फूटती है। २७०० पू० ख्री० तक भावनाप्रधान व्यवस्था रही, २४०० पू० ख्री० से १६०० पू० ख्री० तक गोचरता-प्रधान युग रहा, १६०० पू० ख्री० से १३६२ पू० ख्री० तक समन्वय-प्रधान संस्कृति रही। १३६० के लगभग तुतन्खामेन के काल में फिर गोचरता-प्रधान-व्यवस्था की लहर आयी। किन्तु फिर भावना-प्रधान-व्यवस्था की प्रबलता होने लगी। चीन में ताओवाद और बौद्ध धर्म भावनाप्रधान व्यवस्था के प्रतीक रहे और कन्फयूशियस का धर्म समन्यवयप्रधान व्यवस्था का चिह्न रहा। साथ-साथ गोचरता-प्रधान मनोवृत्ति का छोटा सा स्रोत भी चलता रहा। हान् और थाङ युगों में भावनाप्रधान व्यवस्था की प्रमुखता रही। थाङ वंश के मध्य से गोचरता-प्रधान मनोवृत्ति बढ़ने लगी। भावनाप्रधान कला अल्पसंख्यक वर्ग में बनी रही। उत्तरी सुंग (९६०-११२ ख्री०) काल में इस मनोवृत्ति का उदय हुआ। हिन्दू संस्कृति मुख्यतः भावना-प्रधान रही। रोम सागर के तटवर्ती प्रदेश में सोलहवीं

शती पू० ख्री० में क्रीट और माइसीनिया की संस्कृति का जन्म हुआ। यह नवीं शती पू० ख्री० तक फैली-फूली। यह गोचरता-प्रधान रही। नवीं शती में इस प्रदेश पर यूनानियों का अधिकार हो गया। ९०० पू० ख्री० से ५०० पू० ख्री० तक यूनानी संस्कृति और कला का पुरातन युग (आर्केइक एज) रहा। यह भावनाप्रधान व्यवस्था थी। पाँचवीं शती में समन्वय-प्रधान व्यवस्था आरम्भ हुई। चौथी शती पू० ख्री० में फिर गोचरता-प्रधान व्यवस्था आरम्भ हो गयी। प्रथम शती पू० ख्री० से चौथी शती ख्री० तक इस गोचरताप्रधान यूनानी संस्कृति का रोम पर आधिपत्य रहा। चौथी शती ख्री० से भावना-प्रधान ईसाई सांस्कृतिक व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ जो नवीं शती ख्री० तक रही। नवी शती ख्री० में पाश्चात्य यूरोप में केरोलिंजियन पुनरुत्थान के फलस्वरूप बाइजेन्तियम का प्रभाव प्रमुख हो गया और भावना प्रधान संस्कृति में गोचरता-प्रधान तत्त्व सम्मिलित हो गये। किन्तु बारहवीं शती तक भावनाप्रधान संस्कृति ही प्रबल रही। तेरहवीं और चौदहवीं शतियों में समन्वय-प्रधान व्यवस्था प्रमुख हुई। इसकी अभिव्यक्ति गॉथिक कला में हुई। पन्द्रहवीं शती से फिर गोचरताप्रधान संस्कृति का आगमन हुआ। अब बीसवीं शती में इस गोचरता-प्रधान युग की प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी है और एक नये समन्वय-प्रधान युग का आगमन हो रहा है। इस प्रकार यूरोप में ३५०० वर्ष के लम्बे इतिहास में तीन बार गोचरताप्रधान व्यवस्था रही, दो बार भावनाप्रधान व्यवस्था रही और दो बार समन्वयप्रधान व्यवस्था रही। सोरोकिन ने यूरोप की संस्कृति के सम्पूर्ण इतिहास को इस तालिका में परिबद्ध करने का यत्न किया है। उन्होंने जीवन के प्रत्येक पक्ष को उपर्युक्त सांस्कृतिक कालक्रम में उपनिबद्ध किया है। उनका यह महान् प्रयत्न उनके बृहद् ग्रन्थ 'सोशल एण्ड कल्चरल डाइनेमिक्स' में उपलब्ध है। यहां स्थान के अभाव से इसका पूर्ण परिचय देना असम्भव है। कुछ स्थूल तथ्य अधो-लिखित तालिका में दे देना पर्याप्त है।

८. यूरोप के समाज और संस्कृति का सिंहावलोकन—१. १२वीं -९वीं-शती पू० ख्री० क्रीट, माइसीनिया का गोचरताप्रधान युग; पतली, सुन्दर, कामासक्त युवतियों का चित्रण। प्राकृतिक दृश्यों का अंकन, भौतिक सुख की खोज।

२. आठवीं—छठी शती पू० ख्री०—पुरातन यूनानी भावनाप्रधान युग; सादे ज्यामिति जैसे नमूने और आकार, रेखात्मक, पात्र-चित्रण (वेस पेन्टिंग) दोरिक वास्तु-कला। धार्मिक संगीत, नोम, दिथिरेम्ब, पीयम, प्रोजोदी, थेनोदी आदि। होमर के काव्य, ईलियद और ओदेसी। पिथागोरस, हेरेक्लीतस और एलियातिक

सम्प्रदाय का दर्शन। होमर और हीसियद का विचार कि गोचर जगत् की घटनाएँ दैवी शक्तियों द्वारा नियन्त्रित होती हैं। राजा और पुरोहित के पदों का एकीकरण। प्रसार सम्बन्धी युद्धों में धर्म की पुट।

३. छठीं-चौथी शती पू० ख्री०—यूनानी समन्वय प्रधान युग; देवताओं, वीरों और विजय, नियति-जैसे अमूर्त भावों के चित्रण, फिनियस (४९०-४१७ पू० ख्री०) पोलीक्लेतस (४५२-४०५ पू० ख्री०), एगोरीक्रीतस, अल्केमेनीस, कोलोतीस केली-मेकस आदि की कलाकृतियां। मानव और दैवी आकृतियों का एकीकरण। आदर्श और यथार्थ का संगम, मानव शरीर के सौन्दर्य की सम्पूर्णता। आयोनिक वास्तु-कला; पार्थिनोन का मन्दिर। पिन्दार, एस्काइलस, सोफोक्लीस, यूरोपिदीस। आरिस्तोफेन्स, एगेथोक्लीस, मेलानिप्पिदीस, दामोन आदि के नाटक। अपलातूँ और अरिस्तू का सिद्धान्त कि साहित्य धर्म और नीति का पोषक होता है। अफलातूँ जेनोक्रेतस आदि का परमतत्त्ववाद और रहस्यवाद। सुक्रतु, अरिस्तू आदि का बुद्धिवाद। अफलातूँ द्वारा, 'फेदो' और 'तिमयस' में इन्द्रियातीत तत्त्वों और विचारों द्वारा प्रत्यक्ष जगत् के अनावरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन और अरिस्तू द्वारा रूपात्मक क्रियात्मक, भौतिक और अन्तिम कारणों की स्थापना। लयसिपस और देमोक्राइतस का परमाणुवाद। अफलातूँ के 'दार्शनिक-सम्राट्' का सिद्धान्त और थ्रेसीमेकस द्वारा इसका विरोध। आर्थिक संघर्ष। सामाजिक क्रान्तियाँ। यूनानी राष्ट्रों के वैमनस्य। उपनिवेशवाद। आर्थिक सुधार। उत्पादन की वृद्धि।

४. चौथी शती पू० ख्री०—यूनानी रोमन गोचरताप्रधान युग; सैनिक जीवन का यथार्थ चित्रण, उदाहरणार्थ तितियस और सेवेरस के महराब, त्राजन का स्तम्भ, विशाल भवन और मूर्तियों और पोम्पेआई आदि के चित्र, (ऑगस्तस के युग की दिखावटी समन्वयप्रधान कला इस गोचरताप्रधान जल-प्लावन में विलीन हो गयी), जूपीटर का मन्दिर और कारासेला और दायोक्लीसियन के स्नानागार। कैली-मेक्स, एपोलोनियस, थियोक्राइतस, विर्जिल, लाइकोफ्रोन, होरेस, लुक्रेशियस, सेनेका, साल्लुस्त, जुवेनाल, मार्सियल आदि के काव्य और लेख। आलंकारिक साहित्य और भाष्यों की प्रचुरता। 'पोन्तीफेक्स मेक्सीमस' के पद का ह्रास और कोन्सुल और सीजरों के युग का आगमन। मेरियस और जूलियस सीजर द्वारा शक्ति-संचय की नीति का अवलम्बन। आर्थिक उन्नति और वैज्ञानिक उत्कर्ष। विलासिता का वातावरण। जिघृक्षा और जिघांसा की वृद्धि। साम्राज्यशाही युद्ध-प्रसार और साम्राज्य।

५. ४-६ शती ख्री०—गोचरता-प्रधान युग की प्रतिक्रिया। चौथी शती में कला का क्षय, उदाहरणार्थ स्पष्ट मूर्तियों के स्थान पर अस्पष्ट पाषाण ठूंठों का प्रचलन। कला से वैयक्तिकता का लोप। प्लोतीनस और नव-अफलातूनी दर्शन। सन्त एम्ब्रोज का विचार कि लौकिक शासन धार्मिक शासन के अधीन है। घोर सामाजिक विप्लव। दासों के भयंकर विद्रोह। आर्थिक अव्यवस्था। नगरों की बर्बादी और उनके क्षेत्रफलों की कमी।

६. ६-१२ शती ख्री०—भावना-प्रधान ईसाई युग, ईसाई जमीनदोज कब्रों और मठों (केटेकोम्ब) की कला। चिड़िया, जैतून की डाली, मछली, क्रास, चरवाहा आदि प्रतीकों के द्वारा धार्मिक भावों और विश्वासोंका चित्रण। नवीं शती की, 'बुक ऑव केल्स', की चित्रकला। (नवीं शती में केरोलिंजियन पुनरुत्थान में बाइजेन्तियम के प्रभाव के कारण कला में फिर से गोचरताप्रधान तत्त्वों का प्रवेश हुआ, किन्तु फिर वही भावनाप्रधान प्रवृत्ति चल पड़ी)। रावेन्ना का सन्त विताल का गिरजा, बोथियस की संगीत की परिभाषा और सन्त ग्रिगोरी के युग की सात गायकों की प्रथा। बियोबुल्फ और हिल्देब्रान्तस्लीद आदि वीरकाव्य, बीदी, ओरोसियस, बोथियस सन्त ग्रिगोरी आदि के सन्तचरित। दान्ते की 'डिवाइन कोमेडी'। यह विचार कि ईश्वर ही समस्त विश्व का मौलिक कारण है। सन्त फ्रांसिस की प्रेमनीति। चर्च, परिवार, श्रेणी (गिल्ड) निगम आदि संस्थाएं और 'फिदेलितास' (वफादारी) की भावना। होली रोमन साम्राज्य और पोपों का उत्कर्ष। धर्मविषयक युद्ध।

७. १२-१४ शती ख्री०—पाश्चात्य समन्वयप्रधान युग; युग नम्बर ३ की पुनरावृत्ति, गाथिक गिरजों का निर्माण और उनमें रखी भव्य मूर्तियों की सृष्टि, बाइबिल को पाषाण में अनूदित करने की चेष्टा। नोयोन, सन्त देनिस, सां, सेनलिस का नोत्र दाम, शार्त्रे, रह्में, आमियाँ, बोवे, केन्टरबरी और सालिस-बरी के गॉथिक गिरजे। पेलेस्त्रीना, वित्तोरिया, ओरेलेन्दो-दि-लासो का संगीत। 'रोमॉ द् ला रोज' और 'केण्टरबरी टेल्स' और वाइक्लिफ का साहित्य। शेक्सपियर के नाटक। बनयन, मिल्टन, फोक्स, टेलर, बेक्सटर की रचनाएँ। एरीगेना, मेक्सीमस कोन्फेसर आदि का परमतत्त्ववाद और रहस्यवाद। थियरी, गिलबर्त, रोजर बेकन, एलबर्तस मेगनस और सन्त टॉमस एक्वीनास द्वारा यूनानी समन्वयप्रधान दर्शन का पुनरुद्धार। बाथ निवासी आदलार्द और कोन्वेस-निवासी विलियम द्वारा परमाणुवाद का प्रचार, पोपों और सम्राटों का संघर्ष। मेगनाकार्ता (१२१५ ख्री०)

और स्वाधीनता की मांग। आर्थिक प्रसार, श्रमिकों और कारीगरों के जीवनस्तर में उन्नति।

८. १४-२० शती ख्री०—पाश्चात्य गोचरता-प्रधान युग; पुनरुत्थान-कालीन कला, बारोक और रोकोको शैलियों का प्रचलन; बोतोसेली, रीफेल, माइकेल एंजेलो, रेम्ब्रान्त, बर्नीनी, रयुबेन्स आदि की कलाकृतियां। फान आइक्स का फ्लेमिश सम्प्रदाय, देलाक्रोआ, दामिए, कोरो, मेरिस बन्धुओं आदि का रोमान्तिक सम्प्रदाय। माने, मीने, रन्वार आदि की संवेदनात्मक कला (इम्प्रेशनिस्टिक आर्ट) का सम्प्रदाय। वर्तमान अभिव्यंजनावाद (एक्सप्रेशनिन्जम) भविष्यवाद (फ़्यूचरिज्म), प्रतीकवाद (सिम्बोलिज्म), ज्यामितिवाद (क्यूबिज्म) आदि। त्स्व.इंगर प्रासाद (१७११) और वर्तमान नभचुम्बी शिखररूपी भवन। रिचार्ड बेगनर का ध्वनिप्रधान संगीत। मोन्त वर्दी, बाख, मोजार्त् आदि की धुनें। बोकेचियो, पेत्रार्क, राबले, मोलिएर, दिदरो, जोला, फ्लावेर, फ्रांस आदि का साहित्य। ह्यम, कान्त, आदि का आलोचनावाद। कोपर्निकस, गेलिलियो, न्यूटन, केप्लर, पास्कल, गासेन्दी, देकार्त आदि की खोज के फलस्वरूप, बुद्धिवाद और भौतिकवाद की स्थापना। प्वाँकारे, माख, पियरसन कूरनो, क्लर्कमेक्सवेल, पाग्तो, प्लांक और आइन्सताइन द्वारा गणितात्मक दृष्टि-कोण का प्रतिपादन। व्हाइटहेड और रसल की 'प्रिंसिपिया मेथेमेटिका'। फ्रान्सिस वेकन, लाव्वाज़िए, दाल्तन और गेल्साक द्वारा परमाणु-विज्ञान का चरमोत्कर्ष। सुखी-जीवन के आदर्श पर केन्द्रित नीति। ओस्कर वाइल्ड के हीरो 'डोरियन ग्रे' का आदर्श। सामाजिक सम्बन्धों में मुहादों का आधिपत्य। धर्म और राज्य का पृथक्करण। विशुद्ध ऐहिक और लौकिक एवं धर्म-निरपेक्ष राज्य। स्वाधीनता के संग्राम। अमेरिका और फ्रांस की क्रान्तियाँ। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद। अर्थप्रधान युद्ध और हिंसा। सामाजिक विप्लव और विद्रोह।

९. **वर्तमान पाश्चात्य यूरोपियन संस्कृति का पतन**—उपर्युक्त तालिका से सोरोकिन के सूक्ष्म और विस्तृत विचारों का हलका-सा आभास मिलता है। अब हमें देखना है कि वर्तमान सांस्कृतिक अवस्था के विषय में और भविष्य की दिशाओं के सम्बन्ध में उनकी क्या धारणा है। दानिलेव्स्की, स्पेंगलर, ट्वायनबी, वेर्दिएफ शुवार्त, श्वाइत्जर, क्रोइबर नोथ्राप आदि आधुनिक सामाजिक विचारकों की तरह सोरोकिन की भी निश्चित धारणा यही है कि वर्तमान सांस्कृतिक व्यवस्था संकट और संक्रान्ति की अवस्था में पहुँच गयी है और इसका अन्त बिलकुल निकट आ गया है। सोरोकिन आधुनिक पाश्चात्य यूरोपियन सांस्कृतिक व्यवस्था को गोचरताप्रधान

(सेन्सेट) अवस्था के क्षय और ह्रास का स्तर समझते हैं। उनके मतानुसार सुदूर क्षितिज से भावनाप्रधान सांस्कृतिक व्यवस्था के अरुणोदय की किरणें फूट रही हैं और गोचरताप्रधान व्यवस्था के ढलते तिमिर से संघर्ष करती हुई विश्व को उद्भासित कर रही है।

सोरोकिन ने वर्तमान पाश्चात्य गोचरताप्रधान सांस्कृतिक व्यवस्था के क्षय और विनाश का चित्र इस प्रकार खींचा है; आधुनिक वैज्ञानिक दर्शन ने सकल विश्व को परमाणुओं और विद्युत्तरंगों में परिवर्तित कर दिया है। मनुष्य एक अशक्त यंत्र के समान इसके अमूर्त जाल में फँस कर विकल हो गया है। विश्व की नैतिक चेतना लुप्त हो रही है और शोषक तथा अत्याचारी वर्गों की कृत्रिम भ्रान्त नीति प्रबल हो रही है। अतः जनतंत्र, पूंजीवाद, वैयक्तिक सम्पत्ति और स्वतन्त्र मनुष्यों का स्वतंत्र समाज विनाश की ओर जा रहा है। शक्तिशाली अल्पसंख्यक वर्ग अनर्गल स्वच्छन्दता से दमन और शोषण में व्यस्त है और अपनी क्रूरता तथा जिघृक्षा को मनुष्य के अधिकारों की घोषणाओं के आकर्षक आवरणों में छिपा रहे हैं। शक्ति ही सत्य बन गयी है। युद्ध, क्रान्ति, विप्लव और विद्रोह का बोलबाला है। राज्यों के नृशस तंत्र मनुष्य को स्वतन्त्रता के स्थान पर मृत्यु और न्याय के स्थान पर हिंसा का प्रसाद दे रहे हैं। परिवार खण्डित हो रहे हैं। विवाह-विच्छेदों ने विधिवत् विवाहों और उच्छृंखल यौन-सम्बन्धों की सीमा को नष्ट कर दिया है। सर्जनात्मक भाव और चेतना समाप्त हो रही है। गेलिलियो, न्यूटन, लाइपनित्स, दार्विन, कान्त, हेगल, बाख, बिठोवन, शेक्सपियर, दान्ते, राफेल, रेम्ब्रान्त जैसी प्रतिभाएं अब उत्पन्न नहीं होतीं। उनके स्थान पर साधारण और गँवारू विचारकों और कलाकारों की भीड़ जमा हो रही है। ईसाइयत मुरझा रही है और इसका स्थान विज्ञान के खण्ड, दर्शन के अंश, और अन्धविश्वास ले रहे हैं। विज्ञान रचनात्मक न रहकर ध्वंसात्मक हो गया है। मनुष्य परिणाम को गुण से अच्छा समझने लगे हैं। सस्ते उपन्यास, सनसनी उत्पन्न करने वाली सूचनाएँ, चमचमाते प्रदर्शन, उत्कृष्ट साहित्य से अधिक लोकप्रिय हो गये हैं। विचार के स्थान पर समाचार, बुद्धिमत्ता के स्थान पर चतुरता, महत्ता के स्थान पर प्रवंचना की प्रमुखता हो गयी है। सांस्कृतिक मूल्य और आदर्श घटिया सजावट के समान बन गये हैं। माइकेल एंजोले और रेम्ब्रान्त की कृतियां साबुन के डिब्बों और शराब की बोतलों के लेबिलों पर उतारी जा रही हैं। बाख और बिठोवन की धुनें तम्बाखू, ताड़ी, दवा और बिस्कुटों के विज्ञापन के लिए प्रयुक्त की जा रही हैं तथापि उत्पादन और सम्पत्ति और सम्पन्नता का ह्रास हो रहा है।

नैतिक, मानसिक और सामाजिक अराजकता के कारण आर्थिक अवनति बढ़ती जा रही है। जीवन की सुरक्षा और स्थायित्व नष्ट हो रहे हैं। अतः मानसिक शान्ति और सुख समाप्त हुए जा रहे हैं। अपराध, आत्महत्या, मानसिक विक्षेप समाज पर छा रहे हैं। जनता किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर भौतिक सुखों में तल्लीन हो गयी है और सत्ताधारी वर्ग के हाथों की कठपुतली बन गयी है। उसे समाज और संस्कृति के संकट का कोई ध्यान नहीं है। सोरोकिन, नात्सी, फाशिस्त और साम्यवादी व्यवस्थाओं को पतन और क्षय की चरमसीमा समझते हैं। इनमें समाज अपनी सांस्कृतिक उत्कृष्टता, एकता, शालीनता और समन्वय को खोकर एक प्रकार का बाजार बन गया है जहाँ इधर उधर के भग्न सांस्कृतिक खण्डों के ढेर जमा हो रहे हैं। ज्ञान-विज्ञान में सारी अव्यवस्था फैल रही है। सर विलियम ब्रेग के शब्दों में हम सोमवार, बुधवार और शुक्रवार को प्रकाश के तरंग-सिद्धान्त की बात करते हैं तो मंगलवार, बृहस्पतिवार और शनिवार को कण-सिद्धान्त (कोर्पोस्क्यूलर थियरी) मानने लगते हैं। कलाओं के स्तर का परिचय होनेग्गर के रेल और वायुवान विषयक संगीत, मोलोतोफ की फैक्ट्री विषयक धुनों, एलगर की 'लन्दन के शोर', विषयक रचना और शोस्ताखोविचकी में फर्स्ट सिम्फोनी' और स्त्राविस्की के गानों से मिल जाता है। इस प्रकार वर्तमान सांस्कृतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही है।

१०. भविष्य की आशा, सामञ्जस्य रूपी सत्य—सोरोकिन का यह भीषण सांस्कृतिक चित्र १९४१ में छपा था और निश्चय ही उससे काफी पहले तैयार किया गया होगा। बाद की घटनाओं ने इन सभी तथ्यों की पर्याप्त पुष्टि की है। किन्तु सोरोकिन निराशावादी नहीं है। उनको मानवता के उज्ज्वल भविष्य में पूर्ण श्रद्धा और आस्था है। उनका विचार है कि आगामी भावनाप्रधान युग में अथवा समन्वयप्रधान व्यवस्था में संसार की समस्त समस्याओं का समाधान हो जायगा। सोरोकिन उपर्युक्त सामाजिक-सांस्कृतिक-व्यवस्थाओं के अनुरूप श्रद्धा, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा गृहीत सत्य का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु उनके 'सोशल एण्ड कल्चरल डाइनेमिक्स' के चौथे भाग में इन चारों दृष्टियों का समन्वय हो गया है। वे तीनों प्रकार के सत्य का सम्मिश्रण करके सामञ्जस्य रूपी सत्य (इन्टीग्रल ट्रुथ) की स्थापना करते हैं और उससे भी परे सम्पूर्ण सत्य (एबसोल्यूट ट्रुथ) का निरूपण करते हैं जो ईश्वर के लिए प्रयुक्त होता है। सामञ्जस्य सत्य त्रिपक्षीय (थ्री डाइमेन्शनल) है अर्थात साक्षात्कार, ज्ञान और इन्द्रियानुभूति

तीनों मिलकर इसका निर्माण करते हैं।[५०] सोरोकिन का (इण्टीग्रल ट्रुथ) 'सामंजस्य-सत्य' कार्ल मानहाइम के (सिन्थीटिक ट्रुथ) समन्वय-सत्य का समकक्ष है। वे स्पेंगलर, बेदिएर्फ, शुबार्त और नोथ्रोप के अनुसार यह मानते हैं कि बौद्धिक और गोचर ज्ञान के अतिरिक्त एक सीधा रसात्मक, रागात्मक, रहस्यप्रधान और अनुभूतिमय ज्ञान भी है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का एकीकरण हो जाता है। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग, वसुबन्ध, नागार्जुन, ईश्वरसेन, धर्मकीर्ति आदि ने इसी समन्वयात्मक दृष्टिकोण और सामंजस्य सत्य (इण्टीग्रल ट्रुथ) को ग्रहण किया है। सोरोकिन इस दृष्टिकोण में विश्व के कल्याण की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। इसका व्यावहारिक रूप श्वाइत्जर द्वारा प्रतिपादित विश्व-प्रेम और जीवन आस्था पर आधारित नैतिक पुनरुत्थान है। उन्होंने यह विश्वास प्रकट किया है कि व्यक्ति, संस्था, समाज और संस्कृति को परोपकारिता के सांचे में ढालने (अलट्रुइजेशन) से भावी युद्ध और हिसा को टाला जा सकता है। इस उद्देश्य से उन्होंने हार्वर्ड विश्वविद्यालय के तत्त्वाधान में 'परोपकारी सामञ्जस्य और सर्जनात्मकता के अनुसंधान का केन्द्र' (हार्वर्ड रिसर्च सेण्टर इन अलट्रुइस्टिक इण्ट्रीगेशन एण्ड क्रिएटिबिटी) स्थापित किया है।

११. परिवर्तन की प्रक्रिया—सोरोकिन के मतानुसार सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ अपने आन्तरिक स्वभाव के कारण बदलती हैं। वे इस परिवर्तन को आन्तरिक और स्वाभावगत (इमेनेण्ट) मानते हैं। बाह्य तत्त्व इसको प्रेरणा अवश्य देते हैं, किन्तु इसके मूलकारण नहीं है। यह परिवर्तन इसलिए होता है कि प्रत्येक व्यवस्था की उपयोगिता सीमित होती है। जब कोई व्यवस्था अपनी उपयोगिता की सीमा अतिक्रमण करती है तो अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से वह परिवर्तन की ओर चलने लगती है। सोरोकिन इसे सीमा-नियम (ला ऑव लिमिट) कहते हैं। साथ ही वे यह भी मानते हैं कि उक्त सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के परिवर्तन किसी अटल और अलंघ्य नियम के अधीन नहीं होते। इनमें व्यक्तिगत विविधता व्याप्त रहती है। उदाहरण के लिए कुछ बच्चे पहले चलना सीखते हैं और फिर बोलना सीखते हैं और कुछ बच्चे पहले बोलना सीखते हैं और फिर चलना।

५०. सोशल एण्ड कल्चरल डाइनेमिक्स, भाग ४, पृ० ७६३।

१२. आलोचनात्मक समीक्षा—सोरोकिन यह मानते हैं कि उनका सिद्धान्त सार्वभौम नहीं है। वे केवल पाश्चात्य यूरोपीय संस्कृति में इसके क्रम का दर्शन करते हैं। उनके मतानुसार यह मिस्री, हिन्दू और चीनी इतिहास में कुछ-कुछ लागू होता है। किन्तु इन संस्कृतियों का उन्होंने पूर्ण विवेचन नहीं किया। हिन्दू संस्कृति के समूचे इतिहास को भावना-प्रधान बता देना और इसके गोचरता-प्रधान पक्षों की अवलेहना करना उनके दर्शन की कमी है। मथुरा कला की नग्न यक्ष और यक्षियों की मूर्तियों और अजन्ता के चित्रों को तो वे भूल से गये हैं। इसी प्रकार उनका चीनी संस्कृति का अध्ययन अस्पष्ट और सम्भ्रान्त है। यूरोप की संस्कृति में भी उन्होंने जो युगपरक सांस्कृतिक क्रम निश्चित किया है वह अनेक दृष्टियों से सार्थक नहीं बैठता। दर्शन, अर्थव्यवस्था, युद्ध और क्रान्ति आदि के विवेचन में वे बहुधा गड़बड़ा जाते हैं। समन्वयप्रधान युगों का उन्होंने जो निरूपण किया है उसकी रेखाएँ और सीमाएँ नितान्त अस्पष्ट हैं। वस्तुतः प्रत्येक युग में भावनाप्रधान प्रवृत्तियां परिलक्षित होती हैं और कोई भी अवस्था गोचरता-प्रधान तत्त्वों से रहित नहीं होती। सोरोकिन को बारम्बार अपने सिद्धान्त की इन अपूर्णताओं को स्वीकार करना पड़ता है तथापि उनका प्रयत्न गम्भीर ऐतिहासिक अनुसंधान पर आधारित है। उनके ग्रन्थ पाश्चात्य यूरोपीय इतिहास विषयक विद्वत्ता के विश्वकोश है। ऐसी गम्भीरता और सर्वांगीणता अन्यत्र दुर्लभ ही है। साथ ही उनका वर्तमान संस्कृति का विवेचन और भावी समाज का आशाजनक रूपांकन अत्यन्त श्लाघनीय है।

अनुच्छेद ५—टर्नर

१. जीवन-परिचय—रेल्फ टर्नर अमेरिका के उदीयमान इतिहासकार हैं। इनकी प्रधान कृति 'दि ग्रेट कल्चरल ट्रेडीशन्स' (महान् सांस्कृतिक परम्पराएँ) मेकग्रा हिल बुक कम्पनी न्यू यार्क से १९४१ में दो भागों में प्रकाशित हुई। हेनरी एमर बार्नस ने इस ग्रन्थ की बड़ी प्रशंसा की है। इसमें प्राचीन इतिहास का एक तथ्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया गया है और सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को यथेप्ट महत्त्व दिया गया है। साथ ही इसमें इतिहास का एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है जिसका बड़ा महत्व है।

२. इतिहास की परिभाषा और आवश्यकता—टर्नर के मतानुसार इतिहास एक सामाजिक स्मृति (सोशल मेमोरी) है जो वर्तमान जीवन को अतीत के साथ

सम्बन्धित करती है और इस प्रकार वर्तमान को बोधगम्य बनाती है। इसका कार्य समाज की अक्षुण्णता को सुरक्षित रखना है जो इसकी व्यवस्था का आधार-स्तम्भ होती है। अतः मनुष्य इतिहास के बिना नहीं रह सकता। यदि उसके पास इतिहास नहीं होता तो वह इसकी कल्पना और आविष्कार कर लेता है। इस तरह आख्यानों की सृष्टि होती है। ये आख्यान असत्य हो सकते हैं, किन्तु सामाजिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने का अपना कार्य तो करते ही हैं।'[५१]

३. **विधान और प्रक्रिया**—टर्नर ने अपने ग्रन्थ के द्वितीय भाग में इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन करने की चेष्टा की है। इस प्रकार के अध्ययन के लिए, 'विधान' (स्ट्रक्चर) और 'प्रक्रिया' (प्रोसेस) के दृष्टिकोण से मानव कार्य-कलाप को समझना आवश्यक है। विधान (स्ट्रक्चर) का तात्पर्य यह है कि वस्तु निश्चित भागों के समूह से बनी हुई है जो मिलकर एक साथ काम करते हैं। 'प्रक्रिया', (प्रोसेस) का अर्थ यह है कि विधान (स्ट्रक्चर) अपनी शक्ति से या बाह्य तत्त्वों की क्रिया से इस प्रकार कार्य करता है कि इसके अन्दर परिवर्तन होता है। 'विधान' और 'प्रक्रिया' वस्तु के स्थायी और गतिशील पक्षों के द्योतक हैं। ये दोनों पक्ष परस्पराश्रित और एक दूसरे के पूरक है। इन दृष्टियों से मानव कार्य-कलाप और व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव होता है।[५२]

४. **संस्कृति का जन्म**—जब मनुष्य प्राग्मानव अवस्था से मानव अवस्था में प्रविष्ट हुआ, उसकी वाक्शक्ति विकसित हुई और हाथों की क्रिया स्वतंत्र हुई तभी से उसमें सामाजिक संगठन, संघर्ष और समन्वय की सामाजिक प्रक्रियाओं से संस्कृति का जन्म हुआ। मनुष्य की मनोवृत्ति और बुद्धिमत्ता सांस्कृतिक विकास के प्रतिबिम्ब हैं।

चूंकि आरम्भ से ही विभिन्न मानव-समूह और समाज विद्यमान थे, अतः उनसे विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रादुर्भाव हुआ। प्रत्येक सांस्कृतिक परम्परा के तीन तत्त्व होते हैं—(१) उपकरण, (२) संस्था और (३) बौद्धिक-कार्य। ये तीनों एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। आदिम मानव ने शिकारी संस्कृति का विकास किया। इसके लक्षण 'शिविर समाज' (केम्प साइट कॉम्युनिटी)

५१. 'दि ग्रेट कल्चरल ट्रेडीशन्स,' भाग १, प्रस्तावना।
५२. 'वही' भाग २, पृ० १२३७-३८।

और 'भूत-प्रेत-प्रधान भावना' (डेमोनिक कन्सेप्ट) थे। इसके बाद घुमन्तू समाज (नोमेडिक सोसायटी) और कृषक-ग्रामीण-समाज (पेजेण्ट विलेज कॉम्युनिटी) का विकास हुआ और फिर नागरिक समाज (अरबन कॉम्युनिटी) का आविर्भाव हुआ। विज्ञान, कला, दर्शन और धर्म नागरिक जीवन की उपज थे। नगर से ही राज्य का जन्म हुआ।[५३] भौतिक परिस्थितियों की विविधता के अनुरूप इन नागरिक समाजों के भेद उत्पन्न हुए जो इनके कला, विज्ञान, धर्म, दर्शन आदि में भी प्रतिबिम्बित हुए। किन्तु इनके इतिहास का क्रम बहुत कुछ समान रहा।

५. नागरिक संस्कृतियों का विकास और ह्रास—नागरिक संस्कृतियाँ कुछ निश्चित प्रवृत्तियों के अनुसार अपना जीवन बिताकर काल-कवलित हो गयीं और आगामी सांस्कृतिक परम्पराओं में संक्रान्त हो गयी। इनके मूल में उपकरणात्मक, संस्थात्मक और बौद्धिक विकास की नूतन प्रक्रिया थी। अर्थात् इन्होंने मानव और प्रकृति, मानव और मानव और मानव और अज्ञात शक्तियों में नवीन सामञ्जस्य स्थापित किये। मानव और प्रकृति का सामञ्जस्य नवीन उपकरणों के आविष्कार में प्रतिफलित हुआ। भूमि पर श्रम का प्रयोग धनोपार्जन का प्रधान साधन था। सीरिया और अफ्रीका में सिंचाई के साधनों की उन्नति हुई और भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेश में वर्षा ही कृषि का आधार रही। तरह-तरह के अन्नों और फलों का उत्पादन प्रमुख रूप से बढ़ा। साथ ही खानों से धातुएँ निकाली और शोधी जाने लगीं। भूमध्यसागरीय प्रदेश में इस उद्योग की विशेष उन्नति हुई। ताँबा, काँसा और लोहा क्रमशः प्रमुख रहे। कृषि के बाद धातुओं का उत्खनन और उद्योग नागरिक समाजों के मुख्य धन्धे रहे। इनसे अच्छे उपकरण और आयुध तैयार होने लगे जो एक ओर तो उत्पादन की प्रक्रिया को तीव्र करते थे और दूसरी ओर शक्ति के संगठन के साधन होते थे। इनके साथ-साथ अनेक उद्योग-धन्धों और व्यवसायों का प्रचलन हुआ। सुन्दर आराम की वस्तुएँ और मामूली प्रयोग के पदार्थ बड़ी मात्रा में तैयार किये जाने लगे। कारीगरों ने अपने-अपने धन्धों में अद्भुत कुशलता प्राप्त की।

५३. वही, भाग २, पृ० १२४४ पर उद्धृत कॉल किकोनी का 'दि प्रोब्लम ऑव दि सिटी' शीर्षक लेख जो, 'साइन्टिफिक मन्थली,' भाग ४५ (१९३७), पृ० ५४७ पर प्रकाशित हुआ।

नागरिक समाज अतिरिक्त उत्पादन के सिद्धान्त पर आधारित थे। ग्राम्य प्रदेश की अतिरिक्त उपज जो वहाँ की आवश्यकताओं को पूरी करने के बाद बचती थी नगरों में आजाती थी और वहाँ से उपकरण बन कर कृषि के लिए ग्रामों में पहुँच जाती थी। जिन वर्गों और व्यक्तियों के पास इस अतिरिक्त सम्पत्ति का संचय हो जाता था वे शक्तिशाली बन जाते थे। किन्तु धीरे-धीरे उत्पादन की प्रक्रिया में मन्दता आने लगी। वर्षा और वाष्प के सन्तुलन (हाइड्रोलोजिक सर्किल) के बिगड़ने से भूमि का उत्पादन कम होने लगा। भूमि की उर्वरता भी कम होने लगी। फलतः नागरिक समाजों के केन्द्र सीमा-प्रान्तों की ओर खिसकने लगे। इधर खानों में पदार्थों की कमी होने लगी और कार्यालयों में अयोग्य दासों की भरमार से उद्योगों का स्तर गिरने लगा। अतः उत्पादन की अवनति के साथ-साथ संस्कृति का ह्रास होने लगा।

संस्कृति के उपकरणात्मक पक्ष के उत्थान-पतन के साथ-साथ संस्थात्मक पक्ष का भी उतार-चढ़ाव हुआ। ये समाज दो भागों में बँटे हुए थे। एक ग्रामीण जो भूमि के साथ चिपटा हुआ था तथा प्राचीन रूढ़ियों से सन्नद्ध था और दूसरा नागरिक जो उद्योगप्रिय, प्रगतिशील और भावुक था और जिसमे नित्य नये आन्दोलन चलते रहते थे। समाज के शिखर पर अभिजात वर्ग था जो राज-परिवार और सामन्तों में बँटा हुआ था। इसके साथ एक पुरोहित वर्ग था जो बौद्धिक उन्नति का केन्द्र था। इसकी सामान्य मान्यता यह थी कि प्राचीन काल में धर्म और सत्य का राज्य था, उस समय की संस्थाएँ आज तक चल रही हैं जिनके प्रति सम्मान प्रकट करना मनुष्य का कर्तव्य है, अभिजात वर्गों में विशेष नैतिक और आध्यात्मिक गुण है और इनका अपमान तथा पराभव करना एक अपराध है जिसका दण्ड इस जीवन में और आगामी जीवन में निश्चित रूप से भुगतना पड़ेगा। इस प्रकार सामन्त और पुरोहित एक दूसरे के पूरक थे। इनके नीचे व्यापारियों और उद्योग-पतियों का वर्ग था जो धीरे-धीरे शक्ति प्राप्त कर रहा था। नगर के औद्योगिक श्रमिक और ग्राम-जगत् के कृषक इनसे नीचे थे। इनमें कुछ स्वतन्त्र भूमिपति थे, कुछ अधिवासी थे जो कर देने पर कृषि के अधिकार रखते थे, कुछ कर्मकर (सर्फ) थे जो भूमि से परिबद्ध थे और अपने स्वामियों की सेवा के लिए बाध्य थे, किन्तु फिर भी उत्पादन-वितरण आदि के कार्यों में कुछ स्वाधीन थे और कुछ दास (स्लेव) थे जिनका भूमि की उपज में कोई अधिकार नहीं होता था। भूमि की उर्वरता कम होने पर इस श्रम-व्यवस्था में बड़े परिवर्तन हुए। रोमन और चीनी साम्राज्यों में आर्थिक

बढ़ रही थी। सामान की तैयारी उसकी खपत और जरूरत से ज्यादा हो रही थी। मुनाफे कम हो चले थे। गरीब लोग करजों से दब रहे थे। सूद की दरें तेजी से बढ़ रही थीं। शोषण और व्याकुलता का बोल-बाला था। किन्तु धनवानों की आमदनी भी कम होने लगी थी और व्यापारियों के मुनाफे जाते रहे थे। अतः लोग दासों को छोड़ने लगे थे। ये बेकार और भूखे दास और कारीगर उपद्रव करने लगे थे। इस आर्थिक अशान्ति के फलस्वरूप राजनीतिक क्षेत्र भी अव्यवस्थित हो चला था। सामन्त और अधिकारी आपस में लड़ने-मरने लगे थे। इस अशान्त वातावरण में बाह्य जातियों के आक्रमण भी होते रहते थे। फलतः नगरों का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। लोग मजबूर होकर फिर गाँव की ओर चल पड़े। नगरों की दशा बिगड़ने लगी। उनकी स्वच्छता समाप्त हो गयी। एक प्राचीन सुमेरी मान्यता के अनुसार ज्वर का दानव नगरों के चौराहों पर निवास करने लगा। यह मान्यता दूसरी शती में कुछ सत्य-सी सिद्ध हुई, जब कृष्ण सागर से चीन तक महामारी फैल गयी। नगरों की जन-संख्या घटने लगी और इनकी संस्कृति समाप्त हो गयी।

६. **टर्नर के सिद्धान्त का महत्त्व**—हमने उपर्युक्त अनुच्छेदों में टर्नर के विचारों की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उनके सिद्धान्त अत्यन्त सारगर्भ और विचारपूर्ण हैं। उन्होंने प्राचीन संस्कृतियों का तथ्यात्मक अध्ययन किया है। उनके दर्शन में भौतिक विचारधारा को मौलिक रूप से स्वीकार किया गया है। जीवन की आर्थिक परिस्थिति के अनुरूप ही राजनीति, धर्म, कला, साहित्य और शिल्प का स्वरूप बनता है। विचार, विश्वास और मान्यता भौतिक वातावरण को प्रतिबिम्बित करते हैं। किन्तु साथ ही साथ ये भी भौतिक परिस्थिति के निर्माण में सहायक होते हैं। वस्तुतः विचार और अनुभूति एवं अर्थ की प्रक्रियाएँ परस्पराश्रित होती हैं। इस दृष्टि से टर्नर का प्राचीन इतिहास का अध्ययन अत्यन्त मार्मिक और महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह मानव इतिहास के एक पक्ष का अध्ययन है। प्राचीन नगरों के विनाश के बाद दूसरे नगरों का आविर्भाव हुआ जिनमें उनकी सांस्कृतिक परम्पराएँ संक्रान्त हो गयीं। इन नगरों के पतन का मुख्य कारण संस्कृति के उपकरणात्मक पक्ष की उन्नति का गतिरोध था। समाज की आवश्यकताएँ, समस्याएँ और संस्थाएँ तो बढ़ीं किन्तु इनके उपरकण और विज्ञान का उतनी तेजी से विकास नहीं हुआ। फलतः उत्पादन की प्रक्रिया उपभोग की आवश्यकता के साथ नहीं चल सकी। किन्तु उपकरणों की उन्नति और विकास से और संस्थाओं के परिवर्तन तथा परिवर्धन से इस गतिरोध को दूर किया जा सकता है। अतः इतिहास निराशा का शास्त्र नहीं है। इसमें पतन

और ह्रास का क्रन्दन ही नहीं है, उत्थान और विकास का संगीत भी है। यदि टर्नर अपनी कृति को प्राचीन साम्राज्यों पर समाप्त न करके और आगे ले चलते तो उन्हें यह संगीत अवश्य सुनाई देता। स्पेंगलर की तरह पतन की प्रक्रिया में ही वे अटक कर न रह जाते।

अनुच्छेद ६—शुबार्त

१. **जीवन-परिचय**—वाल्तर शुबार्त जर्मन दार्शनिक और इतिहासज्ञ हैं। उन्होंने अपना बहुत-सा समय रूस में व्यतीत किया। वे रूसी दर्शन, साहित्य, इतिहास और संस्कृति के मर्मज्ञ हैं। १९३८ में स्विटजरलैण्ड में उनका 'योरोपा उन्द जीले देज ओस्तेन्स' (यूरोप और पूर्व की आत्मा) शीर्षक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। कुछ वर्ष बाद इसका संक्षिप्त रूसी अनुवाद प्रकाशित हुआ और हाल में ही फ्रेंच और अंग्रेजी अनुवाद छपे। १९३९ में उनका 'दोस्ताइएव्स्की उन्द नीत्शे' और १९४० में 'गाइस्तगे वान्तलुंग' शीर्षक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। शुबार्त ने दानिलेव्स्की और स्पेंगलर की तरह पूर्व और पश्चिम के विरोध और तनाव की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया। अतः उनकी रचनाओं ने सार्वजनिक ध्यान आकर्षित किया और वे शीघ्र लोकप्रिय हो गयीं।

२. **इतिहास के चार पक्ष**—शुबार्त की मुख्य स्थापना यह है कि इतिहास की प्रक्रिया वृत्तवत् चलती है। इतिहास में चार पक्ष बारी-बारी से आते हैं। ये चार पक्ष हैं; (१) संतुलित पक्ष, जिसमें मनुष्य प्रकृति में एक शान्त संतुलन और स्थिरता के दर्शन करता है और गति, क्रम, विकास, परिवर्तन पर ध्यान नहीं देता। वह समझता है कि इतिहास का उद्देश्य पूर्णतः सिद्ध हो चुका है और कुछ करना शेष नहीं रह गया है। होमरकालीन यूनानी, कन्फ्यूशियसयुगीन चीनी और गाथिक ईसाई इस ऐतिहासिक पक्ष के निदर्शन हैं। (२) वीर-पक्ष, जिसमें मनुष्य प्रकृति में एक अशान्त विप्लव और गति के दर्शन करता है और स्थिरता, संतति, अमरत्व और शाश्वत-तत्त्व पर ध्यान नहीं देता। वह समझता है कि इतिहास का उद्देश्य भविष्य के गर्भ में है और इसे प्राप्त करने के लिए उसे भगीरथ प्रयत्न करना है। वह अपनी शक्ति से प्रकृति को बदलने की चेष्टा करता है। वह स्वाभिमान, आत्मचेतना और शक्तिसंचय की पिपासा से परिपूर्ण होता है और भगवान् से हटकर संसार की ओर ध्यान देता है। अपने उत्कर्ष के शिखर पर पहुँचा हुआ रोमन समाज और सोलहवीं शती के बाद का जर्मन-रोमन यूरोप इस ऐतिहासिक पक्ष के उदाहरण हैं।

संन्यास-पक्ष, जिसमें मनुष्य प्रकृति के प्रत्यक्ष रूपों में भ्रान्ति, माया और संमोह के दर्शन करता और इससे हटकर परमतत्त्व और चरमसत्य के रहस्यमय लोक में पहुँचने की चेष्टा में लगा रहता है। उसे संसार के सुधार की न आशा होती है, न अभिलाषा। वह इसे बदलने का कोई प्रयास नहीं करता। हिन्दू, बौद्ध और नव-अफलातूनी संस्कृति इस ऐतिहासिक पक्ष के उदाहरण हैं। (४) मसीही-पक्ष, जिसमें मनुष्य प्रकृति में दैवी व्यवस्था को स्थापित करने की सम्भावना के दर्शन करता है और समझता है कि वह अपने प्रयास से भूमि पर स्वर्ग को उतार कर इसे दैवी सम्पन्नता और समृद्धि से परिपूर्ण कर सकता है। वीर-पक्ष के मनुष्य की तरह वह भी संसार में परिवर्तन करना चाहता है, किन्तु अपनी इच्छा के अनुसार नहीं, प्रत्युत अपने भीतर प्रकट होने वाली दैवी इच्छा के अनुसार। वह वीर-पक्ष के मनुष्य की तरह शक्ति के लोभ से प्रेरित नहीं होता, वरन् प्रेम और समन्वय के भाव से अनुप्राणित रहता होता है। वह राज्य करने के लिए भेद उत्पन्न नहीं करता, भिन्न वस्तुओं को एकता के सूत्र में बांधने का यत्न करता है। उसके लिए संसार में सब भाई होते हैं, कोई शत्रु नहीं होता। उसका उत्साह, शक्ति और कर्मण्यता लोक-मंगल के लिए प्रयुक्त होते हैं। प्राचीन ईसाई और आधुनिक स्लाव इस ऐतिहासिक पक्ष के उदाहरण हैं। इस प्रकार उपर्युक्त चार ऐतिहासिक पक्षों के लक्ष्य क्रमशः संसार से समन्वय, संसार का प्रभुत्व, संसार से विरक्ति और संसार का परित्राण होते हैं। शुवार्त ने इन पक्षों को 'प्रोटो-टाइप' कहा है। इनमें से प्रत्येक पक्ष अपने पूर्ववर्ती और उत्तरवर्त्ती पक्षों से संघर्ष करता है और इस संघर्ष से इतिहास की प्रमुख घटनाएँ, युद्ध, तनाव-खिंचाव आदि उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक ऐतिहासिक पक्ष (प्रोटोटाइप) देश और जाति की सीमाओं को पार कर जाता है। जब एक पक्ष समाप्त होकर दूसरा पक्ष इसका स्थान ग्रहण करता है तो सर्जन-शक्ति की अभूतपूर्व अभिव्यक्ति होती है। ऐतिहासिक पक्षों के इस परिवर्तन में कोई अज्ञात नियम कार्य करता है।

३. ऐतिहासिक पक्षों का परिवर्तन; यूरोप के गॉथिक संतुलित पक्ष और प्रोमिथियन वीरपक्ष—जब ऐतिहासिक पक्ष का क्षय होता है और इसके स्थान पर दूसरे पक्ष का आगमन होता है तो समाज में विप्लव मच जाता है। व्यवस्था और शासन छिन्न-भिन्न होने लगते हैं। और संसार का अन्त निकट प्रतीत होता है। बीसवीं शती ऐसा ही एक संधिकाल है। इसमें एक ऐतिहासिक पक्ष का विघटन और दूसरे का आविर्भाव हो रहा है। फलतः संसार में अशान्ति, अव्यवस्था और अस्थिरता व्याप्त है। प्रत्येक मनुष्य यह समझता है कि सामाजिक व्यवस्था भग्न

हो रही है। मेरेकोव्स्की के अनुसार पोस्ट एटलान्टेस मानवता, उनामुनों के अनुसार ईसाइयत, स्पेंगलर के अनुसार एक हजार वर्ष पुरानी पाश्चात्य सस्कृति, मार्नस के अनुसार पूँजीवाद व्यवस्था और बेरदीएफ के अनुसार पुनरुत्थान-युग (इपॉक आव रिनेसांस) समाप्त हो रहे हैं। पिछले हजार वर्षों में यूरोप की भूमि पर दो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पक्ष (प्रोटोटाइप) पल्लवित हुए। गॉथिक संतुलित पक्ष और प्रोमिथियन वीरपक्ष। गॉथिक पक्ष ग्यारहवीं शती में उत्पन्न हुआ और सोलहवीं शती तक रहा। १४५० से १५५० के बीच में गॉथिक पक्ष प्रोमिथियन वीरपक्ष में परिवर्तित हो गया है। प्रोमिथियन पाश्चात्य मनुष्य को ईश्वर और आत्मा में श्रद्धा नहीं थी। वह भौतिक जगत् के आधिपत्य में दत्तचित्त था। उसने प्रकृति पर बहुत-सी महत्त्वपूर्ण विजय प्राप्त करके अपने जीवन की परिस्थिति में बड़ा सुधार किया। किन्तु ५०० वर्ष की उन्नति के पश्चात् इसकी सर्जन-शक्ति समाप्त हो गयी और वह दुर्बल और क्षीण हो गया। अब उसका अन्त निकट है। इस ऐतिहासिक पक्ष के स्थान पर अब नया योहानी-मसीही पक्ष आ रहा है। इस नवीन पक्ष के नेता और वाहन स्लाव है। अब तक पाश्चात्य यूरोप के लोग रूस और पूर्वी जगत् की अवहेलना करते रहे हैं, हालांकि उसके प्रमुख विचारकों ने विशेषतः गेटे, लाइपनित्स, शोपनहावर, हेरदर, बॉन बादर, फोन हुम्बोल्त, फोव हार्तमान, रयुकार्त, नयमान आदि ने पूर्व के महत्त्व पर बहुत जोर दिया है। किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद की युगान्तरकारी घटनाओं ने यह स्वप्न भंग कर दिया और यूरोप ने पूर्व की शक्ति को पहचानना आरम्भ कर दिया। वैसे रूस के विरुद्ध यूरोप का अभियान १८१२ से चल रहा है। नेपोलियन ने रूस को परास्त करने का भगीरथ प्रयत्न किया। तदनन्तर १८५४ (क्रीमियन युद्ध) और १९१४ में यूरोप के बहुत से राष्ट्र रूस पर टूट पड़े। १९१८ में फिर उन्होंने रूस की क्रान्ति को घोटने की चेष्टा की। इसमें सफल न होकर उन्होंने फाशिस्त, नात्सी आदि रूस-विरोधी शक्तियों का संगठन किया। इनका लक्ष्य रूस को निर्मूल करना था। यद्यपि शुबार्त का ग्रन्थ १९३८ में समाप्त हो गया, किन्तु उनकी यह भविष्यवाणी सिद्ध हुई कि इन शक्तियों का वास्तविक उद्देश्य रूस को नष्ट करना था। किन्तु जैसा कि उन्होंने लिखा है, १९१४ से प्रारम्भ होने वाले इस शत-वर्षीय युद्ध का अन्त रूस की विजय होगी।

४. रूस की आत्मा और मानवता का भविष्य—रूस की आत्मा में संतुलन व्याप्त है। इसका सारा दर्शन, साहित्य और व्यवस्था 'मिर', 'ओब्शीना', 'ब्रातस्त्वा'

(शान्ति, संघ और भ्रातृत्व) पर आधारित है। पुश्किन का काव्य गेटे से सैकड़ों गुना अधिक संतुलित है। यह सत्य है कि रूस की आत्मा को बाइजेन्तियम के प्रभाव, मंगोलों के आतंक, तेरहवीं शती के जर्मन-नॉर्मन आक्रमणों, पीतर महान् के पाश्चात्यकरण की प्रक्रिया और साम्यवाद और भौतिकवाद के दर्शनों ने क्रमशः अभिभूत किया, किन्तु फिर भी वह आत्मा जाग्रत होकर विश्व का नियंत्रण अवश्य करेगी। रूस के जीवन में प्रेम, समन्वय और पारस्परिकता का जो अमृत है वह गोगोल, दोस्तोइएव्स्की, तोल्स्तोय, आन्द्रेइएफ, गोर्की, चेखफ आदि के साहित्य और स्कोवोरोदा, सोलोविएफ, बेर्दीएफ, बुलगाकोफ, लोस्की आदि के दर्शन और तत्त्वज्ञान में उमड़ आया है। शुबार्त के शब्दों में यही विश्व की आशा है। उन्होंने लिखा है—

"प्रोमीथियन पश्चिमी जगत् ने मानवता को यंत्रशास्त्र, राष्ट्रवाद और परिवहन के सर्वाधिक पूर्ण उपकरणों द्वारा सम्पन्न किया, किन्तु इसने मानव जाति की आत्मा छीन ली। रूस का उद्देश्य यह है कि मानवता को फिर से उसकी आत्मा-वापिस करे. . .आने वाला रूस वह सुरा है जो वर्तमान मानवता की शुष्क जीवन-सरिता को पुनः स्फूर्ति प्रदान करेगी।[५४]"

५. आलोचनात्मक समीक्षा—शुबार्त के इतिहास-सम्बन्धी विचार अत्यन्त सारगर्भ हैं, किन्तु ये विशुद्ध वैयक्तिक रुचि पर निर्भर हैं। इसका एक पुष्ट प्रमाण यह भी है कि स्पेंगलर, ट्वायानबी और दानिलेव्स्की का वर्गीकरण इससे भिन्न है। वस्तुतः कोई भी संस्कृति ऐसी नहीं है जिसमें न्यूनाधिक मात्रा में शुर्बात द्वारा वर्णित सारे ऐतिहासिक पक्ष प्रस्तुत न हों। यदि रूसी संस्कृति मसीही है तो बौद्ध संस्कृति और इस्लाम को इस श्रेणी में क्यों न रखा जाय? क्या हिन्दू संस्कृति इतनी संन्यास-प्रधान है कि उसमें वीर-पक्ष का कोई भी लक्षण नहीं मिलता? इस्लाम तो इस पक्ष का ज्वलन्त निदर्शन है। तब फिर रूस ही को मसीही होने का श्रेय क्यों दिया जाय? वस्तुतः शुबार्त की सारी योजना कल्पना-प्रसूत है जैसा कि इस प्रकार के अन्य विचारकों की है।

शुबार्त की समस्त विचारधारा यूरोप और रूस के द्वन्द्व पर आधारित है।

५४. वाल्तर शुबार्त, 'योरोपा उन्द दी जीले देज ओस्तन्स' (१९३८), पृ० ३७–३८; ३१३-३१८।

वस्तुतः इसकी जड़ें काफी पुरानी हैं। ट्वायनबी के मतानुसार यह बाइजेन्तियम के प्रभाव की उपज है। ताल्स्ताय, आक्साकोफ और दोस्तोइयेव्यस्की के लेखों में इसकी पुष्टि मिलती है। दोस्तोइयेव्सकी के कारोमाजोफ बन्धु में नायक एक जगह कहता है कि "मैं पश्चिमी यूरोप में इस तरह जा रहा हूँ जैसा कि कोई श्मशान भूमि में जा रहा हो।" रूसी कवि तुतचेफ ने लिखा है कि "यूरोप दो बातों से संत्रस्त है, वे हैं क्रान्ति और रूस।" इस मत के अनुसार फ्रेंच क्रान्ति की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना सोलहवें लुई की हत्या नहीं थी, प्रत्युत मोस्को का भस्मीकरण और स्लाव चेतना की जाग्रति थी। यद्यपि रूस का अभ्युदय आधुनिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है, किन्तु रूसी आतमा और संस्कृति को मसीही कहना शुबार्त की वैयक्तिक अभिरुचि की अभिव्यक्ति मात्र है। यह एक विश्वास का विषय है, विज्ञान का नहीं।

अनुच्छेद ७—बेर्दिएफ

१. **जीवन-परिचय**—निकोलाई बेर्दिएफ का जन्म रूस में १८७४ में हुआ और उनका निधन फ्रांस में १९४८ में हुआ। उन्होंने किएफ विश्वविद्यालय से स्नातक की पदवी प्राप्त की और हाइदलबर्ग विश्वविद्यालय में भी अध्ययन किया। वे रूस के प्रथम मार्क्सवादियों में थे। अतः जार की सरकार ने उन्हें वन्दी बनाकर बोलोग्दा प्रान्त में भेज दिया। कालान्तर में उन्होंने मार्क्सवाद को तिलाञ्जलि दी और एक स्वतंत्र विचारक बन गये। उन्होंने रूस की धर्म-दर्शन सभा की नींव रखी और मोस्को विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र का अध्यापन किया। १९२२ में सोवियत शासन ने उन्हें बन्दी बनाया और रूस से निकाल दिया।

बेर्दिएफ ने दर्शन, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और नीति पर कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। 'दि मीनिंग ऑव क्रिएटिवनेस' (१९१६) (सर्जनात्मकता का अर्थ), 'दि मीनिंग ऑव हिस्ट्री' (इतिहास का अर्थ) (१९२३), 'फिलॉसॉफी ऑव इन-इक्वालिटी' (१९२२) (असमानता का दर्शन), 'दि न्यू मिडिल एजेज' (१९२४) (नवीन मध्य काल), 'क्रिश्चियनिटी ऐण्ड क्लास स्ट्रगिल' (१९३१) (ईसाइयत और वर्ग-संघर्ष) आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

२. **इतिहास का स्वरूप**[५५]—बेर्दिएफ के मतानुसार केवल व्यक्तियों, घटनाओं

५५. बेर्दिएफ, 'स्मिस्ल इस्तोरिइ' (बर्लिन १९२३) अंग्रेजी अनुवाद 'दि मीनिंग ऑव हिस्ट्री, (लन्दन १९३६) द्रष्टव्य है।

और वस्तुओं की तालिका इतिहास का मृत रूप प्रस्तुत करती है। इतिहास का कर्त्तव्य मनुष्य जाति की आत्मा और आन्तरिक जीवन की खोज करना है। इसका उद्देश्य व्यक्तियों और घटनाओं का कारण, प्रवृत्ति और आशय ढूँढना है। इस दृष्टिकोण से इतिहासकार को इतिहास की वास्तविक अनुभूति होनी चाहिए। उसे अपने अन्तश्चक्षु द्वारा अतीत के साक्षात् दर्शन करने चाहिए।

३. **इतिहास का वृत्तात्मक क्रम**—बेर्दिएफ इतिहास की रेखात्मक प्रगति को नहीं मानते। उनके मतानुसार संस्कृतियों का जीवन वृत्तवत् चलता है। किन्तु संस्कृतियों में नश्वर तत्त्वों के साथ-साथ शाश्वत तत्त्व भी होते हैं। ये नश्वर-तत्त्व तो काल-क्रम से समाप्त हो जाते हैं, किन्तु शाश्वत-तत्त्व सदा मानव जीवन को समृद्ध करते रहते हैं। यूनानी-रोमी संस्कृति नष्ट हो गयी, किन्तु यूनानी कला और दर्शन एवं रोमन न्याय और व्यवस्था अन्य संस्कृतियों में संक्रान्त होकर मानव इतिहास के अभिन्न अंग बन गये।

४. **संस्कृति में आदर्श और उपयोगिता**—बेर्दिएफ ने संस्कृति के विघटन और विनाश की जटिल समस्या को सुलझाने का अपने ढंग का अलग प्रयत्न किया है। उनके विचार से संस्कृति किसी नवीन जीवन का प्रत्यक्षीकरण नहीं है, प्रत्युत नवीन आदर्शो का प्रत्यक्षीकरण है। संस्कृति के उत्थान-युग में जो सर्जन कार्य होता है वह भौतिक जीवन के सुधार या उपयोगिता की दृष्टि से नहीं होता वरन् आदर्शो और मूल्यों की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से होता है। उस युग में सत्य सत्य के लिए, सुन्दर सौन्दर्य के लिए और शिव शिव के लिए होता है। संस्कृत-जीवन का लक्ष्य आदर्शों का निर्माण होता है। इसमें एक प्रकार की अनासक्ति का भाव होता है। किन्तु जब ये आदर्श परिपक्व हो जाते हैं तो निश्चित रूप से उनका उपयोग जीवन की परिस्थिति को सुधारने के लिए होता है। अतः संस्कृति में उपयोगिता-वाद घुस जाता है। मनुष्य भौतिक समृद्धि को जीवन का लक्ष्य समझने लगते हैं। बेर्दिएफ के शब्दों में जीवन की बुभुक्षा (ग्लटनी ऑव लाइफ) बहुत बढ़ जाती है। सत्य, शिव, सुन्दर वाह्य और भौतिक जीवन के उपकरण बन जाते हैं। कला और विज्ञान का परिपाक, विचारों की सूक्ष्मता और गम्भीरता, सौन्दर्य की उच्चतम अभिव्यक्ति, ईश्वर के साम्राज्य का चिन्तन, स्वतः केन्द्रित आदर्श नहीं रहते, वरन् ऐहिक जीवन के आभूषण बन जाते हैं। प्रत्येक वस्तु का मूल्य रुपये, आने, पाई में आँका जाता है। यह संस्कृति के पतन की अवस्था है और स्पेंगलर के दर्शन की

'सभ्यता' (सिविलिजेशन) से मिलती-जुलती होती है। इसमें सर्जनशक्ति क्षीण और नष्ट हो जाती है।

५. **संस्कृति की उन्नति-अवनति**—बेर्दिएफ के मतानुसार सांस्कृतिक उन्नति और भौतिक उत्कर्ष का विरोध है। जिस युग में संस्कृति पल्लवित होती है उसमें भौतिक जीवन दरिद्र रहता है। उदाहरण के लिए अठारहवीं शती के अन्त और उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में जर्मनी में सांस्कृतिक अभ्युत्थान हुआ, लैसिंग, हेरदर, गेटे, शीलर, कान्त, फिश्ते, हेगल, शीलिंग, श्लाइएरमाखेर, शोपनहावर, नोवालिस, मोजार्त, हान्दल, हेइन्द, बीथोवन जैसी विभूतियाँ उत्पन्न हुई, किन्तु भौतिक जीवन दुखी और दरिद्र रहा। इसी प्रकार पुनरुत्थानकाल में इटली का जीवन बहुत अवनत था, किन्तु वहाँ ल्योनार्दो दा विंची और माइकेल एज़ेलो-जैसे महापुरुष उपजे। वास्तव में जिसे हम संस्कृति कहते हैं उसका जीवन की वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। संस्कृति तो निस्संग और निष्काम आदर्शो का सर्जन है। इसे जीवन की उपयोगिता के लिए प्रयुक्त करना ही पतन के पथ पर ले जाना है।

बेर्दिएफ के मतानुसार उपर्युक्त प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए संस्कृति विनाश के गर्त में भी जा सकती है और मोक्ष के स्वर्ग में भी पहुँच सकती है। गिरती हुई यूनानी रोमन संस्कृति ने ईसाइयत को जन्म दिया और मोक्ष का मार्ग अपनाया, किन्तु कालान्तर में ईसाइयत भौतिक उपयोगिता में बदल गयी।

६. **संस्कृति की अवस्थाएँ**—बेर्दिएफ के विचार से प्रत्येक संस्कृति बर्बरकाल, मध्य धार्मिक काल, अर्वाचीन मानवतापरक-ऐहिक काल से गुजरती है। यूरोपीय संस्कृति का मध्य-धार्मिक काल तेरहवीं शती में समाप्त हो गया। इसके बाद मानवतापरक-ऐहिक काल आया जो बीसवीं शती में समाप्त हो रहा है। इसके बाद एक नया-मध्य-धार्मिक काल आने वाला है जिसके अगुआ शायद रूस के स्लाव होंगे।

७. **मध्य धार्मिक काल, अर्वाचीन मानवता-प्रधान युग और नव-मध्य-काल**—धार्मिक काल में मनुष्य का उद्देश्य आध्यात्मिक शक्ति और विकास प्राप्त करना था। सन्त (मौंक) और सामन्त (नाइट) इस उद्देश्य से अनुप्राणित थे। ये दोनों संयम, संतुलन और आध्यात्मिकता के प्रतीक थे। इस युग में आध्यात्मिक शक्ति का अपूर्व संचय हुआ। किन्तु उस शक्ति के प्रयोग के साधन नहीं मिल सके। अतः वह तेरहवीं शती के ईसाई रहस्यवादी पुनरुत्थान में समाप्त हो गयी। फलोरिस के जाओकिम, असीसी के सन्त फ्रांसिस, दान्ते, गियोती, सन्त तोमस

एक्वीनास इस काल के चरमोत्कर्ष के प्रतीक हैं। इसके बाद ईसाई-विरोधी, मानववादी और ऐहिक युग आया। इसमें मनुष्य भगवान् और आध्यात्मिकता को भूलकर मानव और भौतिकता में उलझ गया। उन्नीसवीं शती में यंत्रों के प्रयोग और प्रचलन से मनुष्य का महत्त्व बहुत घट गया। मनुष्य को भी एक यंत्र मान लिया गया। मानव के पराभव का परिचायक नीत्शे का यह वाक्य है, 'मनुष्य लज्जा और अपमान का सूचक है, मनुष्य को दबाना और हटाना पड़ेगा।' मार्क्स ने सामूहिकता की बलिवेदी पर मानव का बलिदान कर दिया। कान्त, कोम्ते, स्पेंसर, हर्सल आदि के दर्शन भी मानवविरोधी थे। अतः यह मानववादी युग समाप्त हो रहा है और इसके स्थान पर नवीन मध्यकाल का आगमन हो रहा है। यह सम्भव है कि यह सांस्कृतिक पतन और परिवर्तन एक नये मोक्ष-मार्ग का उद्घाटन करे। बेर्दिएफ के मतानुसार रूस इस नव-मध्यकाल का नेतृत्व करने के लिए उपयुक्त है। किन्तु वे रूस के विषय में इतने आशावादी नहीं है जितने दानिलेव्स्की और शुबार्त हैं। वे मानते हैं कि रूस की आत्मा बाह्य तत्त्वों से दबी हुई है, किन्तु फिर भी उसमें धार्मिक तत्त्व छिपे हुए हैं जिनका विकास सम्भव है।

८. **आलोचनात्मक समीक्षा**—बेर्दिएफ का यह विचार बहुत उपयुक्त है कि संस्कृति में नश्वर तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ शाश्वत तत्त्व भी होते हैं, जो सदा मानव जीवन को समृद्ध करते रहते हैं। इस दृष्टि से उनके विचार स्पेंगलर, ट्वायनबी आदि के विचारों से अधिक समुन्नत हैं। किन्तु उनकी यह धारणा कि संस्कृति की सर्जन-शक्ति जब निष्काम भाव से प्रेरित होती है तो इसका उत्थान होता है और जब इसका प्रयोग जीवन में भौतिक उपयोगिता की दृष्टि से होता है तो इसका पतन होता है, नितान्त काल्पनिक है। यह तो सत्य है कि पतनावस्था में प्रत्येक वस्तु का मूल्य आर्थिक और भौतिक दृष्टि से आंका जाता है, किन्तु यह भी सत्य है कि संस्कृति, कला, धर्म और नीति कभी जीवन से पृथक् नहीं रह सकती। इनका वास्तविक उद्देश्य जीवन का परिष्कार और समृद्धि है। बेर्दिएफ का संस्कृति और जीवन को एक दूसरे से अलग करने का प्रयत्न भ्रान्तिमूलक है।

अनुच्छेद ८—क्रोएबर

१. **जीवन-परिचय**—एलफ्रेड एल० क्रोएबर का जन्म न्यू जरसी राज्य के होबोकिन नामक नगर में १८७६ में हुआ। उन्होंने कोलम्बिया विश्वविद्यालय में पी० एच० डी० तक अध्ययन किया और येल विश्वविद्यालय से डी० एस-सी० की

उपाधि प्राप्त की। पहले वे कोलम्बिया विश्वविद्यालय में अंग्रेजी और पुरा-मानवशास्त्र पढ़ाते रहे और फिर केलिफोर्निया विश्वविद्यालय में पुरामानव-विभाग के अध्यक्ष हो गये। उनकी कृतियों में 'जूनी किन एण्ड क्लेन' (१९१७), (जूनी-किन और कबीले), 'पिपुल्स ऑव दि फिलीपाइन्स' (१९१९) (फिलीपाइन्स की जातियाँ) 'एन्थ्रोपोलोजी' (१९२३) (पुरामानवशास्त्र), 'हैण्ड बुक ऑव दि इण्डियन्स आव केलिफोर्निया' (१९२५) (केलिफोर्निया के हिन्दियों की परिचय-पुस्तक), 'कल्चरल एण्ड नेचुरल एरियाज़ ऑव नेटिव नॉर्थ अमेरिका' (१९३९) (उत्तरी अमेरिका के सांस्कृतिक और प्राकृतिक क्षेत्र), 'पीरूवियन आर्क्योलोजी इन १९४२' (१९४४) (१९४२ में पीरू का पुरातत्त्व) और 'कोन्फीगरेशन्स ऑव कल्चर ग्रोथ' (१९४४) (सांस्कृतिक उत्थान के रूप) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अन्तिम ग्रन्थ में उन्होंने अपना इतिहास-दर्शन प्रतिपादित किया है।

२. सांस्कृतिक उत्थान और सर्जनात्मक व्यक्तियों की संख्या—सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के उत्थान-पतन को नापने के लिए क्रोएबर ने सर्जनात्मक प्रतिभा के व्यवितयों की संख्या को अपना मानदण्ड बनाया है। जिस युग में ऐसे व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है वह सांस्कृतिक उत्थान का युग होता है और जिसमें कम होती है उसे सांस्कृतिक पतन काल कहते हैं। किन्तु क्रोएबर ने इन व्यक्तियों को वैयक्तिक महत्त्व नहीं दिया है. वरन इन्हें संस्कृति के समन्वित विकास का प्रतीक माना है। सर्जनप्रतिभा वाले व्यक्तियों की संख्या के मानदण्ड से उन्होंने दर्शन, विज्ञान, शिल्प, चित्रकला, नाटक, साहित्य और संगीत के उत्थान-पतन को नापने का प्रयास किया है।

३. उत्थान-पतन के वृत्त—उपर्युक्त दृष्टिकोण से यूनानी दर्शन का अध्ययन करके क्रोएबर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ५८५ पू० ख्री० से २७० पू० ख्री० तक इसका सर्जनकाल रहा और उसके अनन्तर ५२९ तक जब जस्तीनियन ने एथेन्स के अन्तिम दर्शन-विद्यालय को बन्द कर दिया एक ऊसर काल चला। इसी दृष्टि से उन्होंने ईसाई, अरब-मुस्लिम, भारतीय, चीनी और पाश्चात्य, (जर्मन, फ्रेंच, इटेलियन, अंग्रेजी, डच) दर्शन का अध्ययन किया जिसका सार यह है कि दर्शन के क्षेत्र में उत्थान-पतन के दो-दो वृत्त चलते हैं। यूनानी और चीनी दर्शन में पहले वृत्त में अधिक विकास हुआ तो अरबी और पाश्चात्य दर्शन में दूसरे वृत्त में अधिक अभिवृद्धि हुई। कुछ संस्कृतियों में दर्शन धर्म के साथ लगकर बढ़ा तो कुछ उससे अलग रहकर उठा। अरब जगत् में दर्शन और विज्ञान का साहचर्य रहा तो पाश्चात्य

जगत् में इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। सर्जन और उत्थान का युग कहीं ३०० वर्ष तक रहा तो कहीं ४०० वर्ष तक और कहीं १५० वर्ष तक। ६०० पू० ख्री० के आसपास सभ्य जगत् में दार्शनिक उत्थान की लहर सब जगह उमड़ी और १०५० से १२०० तक नव-कन्फयूशियसी, ईसाई और अरबी दर्शन का उत्थान समानान्तर चला। यह उत्थान-पतन क्यों हुआ, इस प्रश्न का क्रोएबर कोई निश्चत उत्तर नहीं दे सके और यह कहकर चुप हो गये कि यह सांस्कृतिक शक्ति की उन्नति-अवनति का स्वाभाविक परिणाम है। इसी प्रकार कला, विज्ञान, साहित्य आदि के क्षेत्र में भी उत्थान-पतन का क्रम दृष्टिगोचर होता है जिसका क्रोएबर ने विस्तृत अध्ययन किया है।

४. उच्चस्तरीय सांस्कृतिक व्यवस्था—क्रोएबर संस्कृति (कल्चर) शब्द के स्थान पर, उच्चस्तरीय-सांस्कृतिक-व्यवस्था, (हाई वेल्यु कल्चर पैटर्न) शब्द का प्रयोग करते हैं। उनके मतानुसार प्रत्येक सभ्य जाति में उत्थान-पतन के कई-कई वृत्त चलते हैं। मिस्र और जापान में चार-बार उत्थान-पतन हुआ तो भारत और चीन में दो बार, फ्रांस और इंग्लैण्ड में तीन बार और अरब जगत् में एक बार। यह प्रत्येक संस्कृति की अपनी वैयक्तिक शक्ति पर निर्भर है। इसके विषय में कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। जब किसी संस्कृति की समस्त शक्ति व्यय हो जाती है और इसके सारे अवसर और सम्भावनाएँ क्षीण हो जाती हैं तो इसका अन्त हो जाता है।

कोई भी संस्कृति अपने आप में परिपूर्ण नहीं होती। मिस्र, शाम, रोम, जापान की संस्कृतियाँ दर्शन में दुर्बल रहीं, अरबी संस्कृति मूर्तिकला से विहीन रही, रोम, मध्यकालीन यूरोप और जापान विज्ञान में पिछड़े रहे। इन कमियों को दूर करने के लिए जब दूसरी समृद्ध संस्कृतियाँ मैदान में आयीं तो पिछली संस्कृतियाँ लुप्त हो गयीं।

५. वर्तमान यूरोपियन संस्कृति—वर्तमान यूरोपियन संस्कृति में श्रान्ति और पतन के लक्षण प्रकट हो गये हैं। १८८० या १९०० से सांस्कृतिक विघटन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिबिम्बित हो रहा है। संगीत के बेसुरे राग, काव्य के मात्रा-हीन पद्य, कथानक-हीन उपन्यास, शिल्प और चित्रण की रहस्यमयी शैलियाँ इस विघटन का साक्ष्य दे रही हैं। विज्ञान और अर्थ के क्षेत्र में यह विघटन अभी रुका हुआ है। जैसे ही इस क्षेत्र में भी यह प्रक्रिया चल पड़ेगी वैसे ही यह संस्कृति लुप्त हो जायगी।

६. संस्कृति का विकास-क्रम—क्रोएवर के मतानुसार संस्कृति के विकास क्रम में पहले धर्म की उन्नति होती है, फिर कला की ओर उसके बाद विज्ञान की। कला और विज्ञान जब तक धर्म से बँधे रहते है तब तक वे इतनी उन्नति नहीं कर पाते। जब वे इससे अलग होकर अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करने लगते हैं तो इनकी अभूतपूर्व उन्नति होती है, किन्तु जब वे इससे पूर्णतः अलग हो जाते हैं तो फिर उनका पतन होने लगता है।

७. आलोचनात्मक समीक्षा- —क्रोएवर के दर्शन की सबसे बड़ी कमी यह है कि उन्होंने कहीं 'उच्चस्तरीय सांस्कृतिक व्यवस्था' की व्याख्या नहीं की है। जहाँ तक उनके सर्जनात्मक प्रतिभा के व्यक्तियों की संख्या के मानदण्ड का प्रश्न है यह सर्वमान्य नहीं है क्योंकि बहुत-सी संस्कृतियाँ तो व्यक्तिवाद की भावना से इतनी घृणा करती है कि उन्होंने व्यक्तियों के नामों को बिलकुल भुला दिया है। उदाहरण के लिए भारतीय संस्कृति व्यक्ति के प्रति उदासीन है। षड्दर्शन के रचयिताओं का नाम, ग्राम कुछ नहीं मिलता। इसी प्रकार गॉथिक गिरजाघरों के बनाने वालों का कुछ पता नहीं चलता। जैसा कि सोरोकिन ने सिद्ध किया है प्रत्येक संस्कृति के भावनामूलक युग (आइडिएशनल) में व्यवित के प्रति उदासीनता रहती है। केवल गोचरता-प्रधान युग (सेन्सेट एज) में व्यक्ति की प्रधानता बढ़ती है और तभी इनके कार्य-कलाप के पूर्ण विवरण सुरक्षित रखने की चिन्ता होती है। अतः क्रोएवर के बिचार केवल इन गोचरता-प्रधान युगों (सेन्सेट एज़ेज) पर लागू होते हैं। क़िन्तु फिर भी उनका तथ्यात्मक दृष्टिकोण और वैज्ञानिक भाव श्लाघनीय है। उनकी नियमों के पाश से बचने की प्रवृति ने उन्हें बहुत-से झंझटों से बचा लिया है। यह बात कि संस्कृति से उत्थान-पतन के अनेक क्रम चलते रहते हैं उनकी स्थापनाओं को एक वैज्ञानिक रूप प्रदान करती है।

अनुच्छेद ९—श्वाइत्ज़र

१. जीवन-परिचय—एलबर्त श्वाइत्जर का जन्म अलसास प्रान्त के काइज़ेर-वर्ग नामक स्थान पर १८७५ में हुआ। उन्होंने स्त्रासबुर्ग, पेरिस और बर्लिन के विश्वविद्यालयों में शिक्षा पायी। १९१३ से पहले वे स्त्रासबुर्ग में सन्त निकोलस के क्यूरेट थे। फिर उन्होंने बर्सिलोना में 'ओर्फ्यो केताला' में वाद्य संगीत प्रस्तुत करने का कार्य आरम्भ किया और कई विश्वविद्यालयों में भाषण दिये। वे एक विख्यात धर्मज्ञ, दार्शनिक, नीतिकार और समाज-विचारक हैं। बाख के संगीत के वे

महान् मर्मज्ञ माने जाते हैं। संगीत में तो उनकी प्रतिभा अलौकिक है। १९१३ में उन्होंने यूरोप को छोड़कर अफ्रीका में लाम्बारीन नामक स्थान पर एक चिकित्सालय खोला और तब से वहीं चिकित्सक, प्रचारक, दार्शनिक, विचारक और नेता का कार्य कर रहे हैं। उनके ग्रन्थों में 'दि फिलॉसॉफी ऑव सिविलिजेशन' (१९१२) (सभ्यता का दर्शन), 'दि क्वेस्ट ऑव दि हिस्टॉरिकल जीसस' (अंग्रेजी अनुवाद, १९२६) (ऐतिहासिक ईसु की खोज), जे० एस० बाख (अंग्रेजी अनुवाद १९३८), 'इण्डियन थॉट एण्ट इट्स डेवलपमेंट' (अंग्रेज़ी अनुवाद १९३६) (भारतीय विचारधारा और इसका विकास) उल्लेखनीय हैं। श्वाइत्ज़र को विश्वविश्रुत नोबल-पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। इतिहास-दर्शन की दृष्टि से उनका 'सभ्यता का दर्शन' शीर्षक ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है।[५६]

२. **संस्कृति नैतिकता की अभिव्यक्ति**—श्वाइत्ज़र संस्कृति और सभ्यता को विशुद्ध नैतिक मानते हैं। सभ्यता के दो पक्ष हैं। यह बुद्धि के प्रभुत्व में प्रकट होकर एक तो प्रकृति की शक्तियों की विजय के रूप में अभिव्यक्ति होती है और दूसरे मनुष्य की प्रवृत्तियों के दमन के रूप में परिलक्षित होती है। मनुष्य की प्रवृत्तियों का नियंत्रण प्रकृति की शक्तियों की विजय से अधिक मह्त्त्वपूर्ण है। मनुष्य के आत्म-नियंत्रण और आत्मानुशासन का अर्थ यह है कि मनुष्य समस्त मानव-जाति और प्राणीमात्र के भौतिक और आध्यात्मिक मंगल और कल्याण के लिए प्रयत्नशील हो। यही नैतिक उत्कर्ष का सार है। श्वाइत्ज़र के शब्दों में जीवन के प्रति प्रेम और आस्था नैतिकता की अन्तरात्मा है। यही सभ्यता का केन्द्र-बिन्दु है। सभ्यता के विकास का अर्थ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सर्जनात्मक कार्यों की प्रगति है जो मनुष्य और समाज को नैतिक उत्कर्ष की ओर ले जाय। जब-जब सभ्यता जीवन के प्रति प्रेम और आस्था के आदर्श की ओर अग्रसर होती है तब-तब इसका उत्थान होता है और जब-जब यह इस आदर्श से विचलित होती है तब तब इसका पराभव और ह्रास होता है। ताओ-धर्म, कन्फयूशियसी धर्म, हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म ने पूर्व में और कुछ यूनानी और यूरोपीय दर्शनों ने पश्चिम में इस आदर्श की सिद्धि की

५६. एलबर्ट श्वाइत्जर, 'दि फिलॉसॉफी ऑव सिविलिज़ेशन,' भाग ९; 'दि डिके ऐण्ड दि रेस्टोरेशन ऑव सिविलिजेशन,' भाग २; 'सिविलिजेशन ऐण्ड एथिक्स' (आदम एण्ड चार्लस ब्लैक, लन्दन)।

कुछ चेष्टा की। स्तोइक दर्शन और अठारहवीं शती के बुद्धिवादी और वस्तुवादी दर्शन ने इस आदर्श की प्राप्ति में कुछ अधिक सफलता प्राप्त की। किन्तु यह युग अधिक समय तक न चल सका। कान्त, गेटे, शीलर, फिश्ते, हेगल आदि ने इसे कुछ संबल देने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें सफलता न मिल सकी। फलतः उन्नी-सवीं शती के मध्य से पाश्चात्य संस्कृति इस जीवन के प्रति प्रेम और आस्था के आदश से गिरने लगी और अब यह घोर अधःपतन के गर्त में पहुँच चुकी है। पहले जब तक सभ्यता का ह्रास हुआ तो एक क्षेत्र या देश में इसका पतन होने पर भी अन्य क्षेत्रों या देशों में इसकी प्रगति चलती रही। फलतः एक उन्नतिशील क्षेत्र ने दूसरे पतनोन्मुख देश को प्रेरणा देकर सभ्यता को सँभाल लिया। परन्तु अब जो पतन हो रहा है वह विश्व-व्यापी है। अब संसार के किसी भी क्षेत्र में सर्जनशक्ति शेष नहीं रह गयी है। विश्व भर में पाश्चात्य संस्कृति का आधिपत्य है। फलतः समस्त संसार में पतन की लहर दौड़ रही है। इस दृष्टि से यह सांस्कृतिक पतन अत्यन्त दयनीय और शोचनीय हो गया है।

३. वर्तमान पाश्चात्य संस्कृति का अधःपतन—वर्तमान पाश्चात्य सांस्कृतिक पतन के निम्नलिखित कारण हैं—वर्तमान मनुष्य की अवरुद्ध आर्थिक अवस्था, उसकी शक्ति से अधिक कार्य करने की आवश्यकता और फलतः आत्म-संयम तथा शान्ति का अभाव और मन को केन्द्रित एवं ध्यानावस्थित करने की अयोग्यता, सर्जनात्मक चिन्तन की कमी और समाचार पत्र आदि जनमत के निर्माण करने वाले तत्त्वों द्वारा कृत्रिम समूह-चेतना (मोब-माइण्डेडनेस) की अभिवृद्धि, मानवता की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की कमी, नैतिक शून्यवाद का विकास, भौतिकता की उन्नति और यंत्रवाद का उत्कर्ष। इस प्रकार पाश्चात्य सभ्यता का पतन बढ़ता जा रहा है।

४. जीवन के प्रति प्रेम और आस्था का पुनरुत्थान—श्वाइत्जर के मतानुसार प्राचीन दर्शनों की असफलता का मुख्य कारण यह था कि ये संसार-दृष्टि और जीवन-दृष्टि के द्वन्द्व पर आधारित थे। इनके विचार और आचार, आदर्श और यथार्थ में अन्तर था। इन्होंने अपने नैतिक मूल्यों और प्रेरणाओं को बाह्य जगत् की विविध प्रक्रियाओं पर आधारित किया था। किन्तु श्वाइत्जर जगत् की सतर्कता के स्थान पर जीवन की चेतना पर अपने दर्शन और नीति को स्थापित करते हैं। उनके मतानुसार जीवन चेतना और इच्छा से प्रादुर्भूत ज्ञान-विज्ञान द्वारा उपस्थापित

बाह्य जगत् और प्रकृति के अध्ययन से अधिक लाभप्रद है। उनके अधोलिखित वाक्य महत्त्वपूर्ण हैं—

"जीवन के प्रति प्रेम और आस्था का अर्थ यह है कि मनुष्य उस असीम, अज्ञेय, अग्रगामी इच्छाशक्ति के क्रोड में प्रवेश करे जिस पर समस्त अस्तित्व स्थित है। यह वस्तुविज्ञान से परे है। यह उस परम तत्त्व तक ले जाता है जिसके असीम रूप विश्व में व्याप्त हैं।"

श्वाइत्जर पाश्चात्य जगत् और सकल मानवता के कायाकल्प के समर्थक हैं। उनका विश्वास है कि यह पुनर्जन्म उनकी नीति और उनके दर्शन के अनुसरण से सम्भव है। इसका उपाय मनुष्य का नैतिक पुनरुद्धार और जीवन की आस्था का प्रचार है। श्वाइत्जर की साधना उनकी धारणा को पूर्णतः चरितार्थ करती है।

५. आलोचनात्मक समीक्षा—श्वाइत्जर का यह विचार कि नैतिक पतन सभ्यता के ह्रास का सूचक है, अक्षरशः सत्य है। किन्तु वे यह मान बैठे हैं कि नीति अन्य सांस्कृतिक कार्य-कलाप से स्वतन्त्र होती है। वस्तुतः नीति और न्याय, कला, विज्ञान, साहित्य, दर्शन, सामाजिक व्यवस्था आदि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। नैतिक आदर्श सामाजिक पृष्ठभूमि को प्रतिबिम्बित करते हैं। अतः इन सम्बन्धों को भूलकर श्वाइत्जर सभ्यता के उत्थान-पतन के वास्तविक रूप और रहस्य की व्याख्या करने में असफल रहते हैं। साथ ही वे विज्ञान के महत्त्व के प्रति उदासीन हैं और शिव को सत्य से भिन्न समझते हैं। वे यह भी भूल जाते हैं कि विज्ञान नीति का अनिवार्य उपकरण है। चिकित्साशास्त्र में जीवन और स्वास्थ्य का संरक्षण प्रमुख आदर्श है, किन्तु इसकी उपलब्धि के लिए विज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। श्वाइत्जर द्वारा प्रतिपादित जीवन-आस्था को संसार में प्रचलित और प्रसारित करने के लिए वैज्ञानिक साधनों की अपेक्षा है। इसे भूलकर वे यह बताने में असमर्थ रहते हैं कि नैतिक क्रान्ति को सामाजिक धरातल पर किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में वे नीति और समाज के सम्बन्ध की पूर्ण गवेषणा नहीं कर पाते। उनके आदर्श अत्यन्त उदात्त और उत्कृष्ट हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उन्हें किस प्रकार जीवन और जगत् में संचारित किया जा सकता है; यह उनके दर्शन में एक पहेली बनकर रह गया है।

अनुच्छेद १०—नोथ्रोप

१. जीवन-परिचय—एफ० एस० सी० नोथ्रोप जोजफ नोथ्रोप के वंशज हैं

जिन्होंने १६३८ में न्यू हेवन में पदार्पण किया और अगले वर्ष मिलफोर्ड की स्थापना की। उनका जन्म १८९३ में विस्कोंसिन में हुआ। उन्होंने १९१५ में बेलिओट कॉलेज से स्नातक की उपाधि और १९२४ में हार्वर्ड से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। इसके अतिरिक्त उन्होंने जर्मनी के फ्राइबर्ग विश्वविद्यालय, केम्ब्रिज के ट्रीनीटी कॉलेज और लन्दन के विज्ञान तथा तकनीक के इम्पीरियल कॉलेज में भी शिक्षा प्राप्त की और चीन, मेक्सिको, ब्रिटेन और यूरोप में विस्तृत यात्राएँ कीं। प्रथम महायुद्ध में उन्होंने सेना में कार्य किया। उसके बाद १९२३ से उन्होंने फिर शिक्षण-कार्य प्रारम्भ कर दिया और अन्त में वे येल विश्वविद्यालय में दर्शन और न्याय के प्राध्यापक हो गये। उनके ग्रन्थों में 'साइन्स एण्ड फर्स्ट प्रिंसिपल्स' (१९३१) (विज्ञान के प्राथमिक सिद्धान्त), 'दि लोजिक ऑव दि साइन्सेज़ एण्ड ह्यूमेनिटीज़' (१९४७) (विज्ञान और कलाओं की पद्धति) और 'दि मीटिंग ऑव ईस्ट एण्ड वेस्ट' (१९४६) (पूर्व और पश्चिम का संगम) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने 'आइडियोलोजिकल डिफ्रेन्सेज एण्ड वर्ल्ड आर्डर' (विचारात्मक भेद और विश्व-व्यवस्था) शीर्षक संग्रह का १९४९ में सम्पादन भी किया।

२. **संस्कृतियों का संगम**—नोथ्र ोप का ग्रन्थ 'दि मीटिंग ऑव ईस्ट ऐण्ड वेस्ट' उनके इतिहास-दर्शन विषयक विचारों का कोश है। उनके मतानुसार संस्कृतियाँ विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित होती हैं। वे सिद्धान्त उनके राजनीतिक, आर्थिक, कलात्मक और धार्मिक आदर्शों का रूप निर्धारित करते हैं। ये दार्शनिक सिद्धान्त वैज्ञानिक विचारों और व्यवस्थाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं।

नोथ्रोप के मतानुसार कुछ देशों के जन-जीवन में अनेक संस्कृतियाँ मिली रहती हैं। उदाहरण के लिए मेक्सिको के जीवन में प्राचीन आजतेक, उपनिवेशवादी, स्पेनिश, उन्नीसवीं शती की वस्तुवादी फ्रेंच, अर्थप्रधान एंग्लो-अमेरिकी और समसामयिक मेक्सिकी; इन पाँच संस्कृतियों का समावेश मिलता है। इसी प्रकार संयुक्त राज्य में एंग्लो-अमेरिकी संस्कृतियों का संगम मिलता है। यह जान लॉक के दर्शन पर आधारित है जो गेलिलियो और न्यूटन के विज्ञान का प्रतिबिम्ब है। इसके अतिरिक्त वहाँ प्राग्-उपनिवेशी इण्डियन संस्कृति, अरस्तू और सन्त टामस एक्वीनास के दर्शन पर आधारित कैथोलिक संस्कृति भी सम्मिलित हो गयी है। इंग्लैण्ड लॉक की अपेक्षा हुकर के दर्शन में अधिक विश्वास करता है। रूस की आधारशिला मार्क्स का दर्शन है। नोथ्रोप ने रोमनकैथोलिक चर्च की संस्कृति का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि यह सन्त टामस एक्वीनास द्वारा कृत

अरस्तू के विज्ञान और दर्शन की नूतन व्याख्या पर निर्भर है। जितनी सुन्दरता से सन्त टामस ने अरस्तू की व्याख्या की उतनी सुन्दरता और सम्पूर्णता से जान लॉक न्यूटन के विज्ञान का दार्शनिक आधार प्रस्तुत नहीं कर सके। इससे पाश्चात्य यूरोपियन संस्कृति में बड़ी जटिलताएँ और कठिनताएँ उत्पन्न हुई। अब फिर रावर्ट हचिन्स आदि विचारकों द्वारा यूरोप और अमेरिका में सन्त टामस एक्वीनास के दर्शन और नव-स्कोलास्ती विचारधाराओं का पुनः प्रचार हो रहा है। यही यूरोप के लिए मंगलकारी दर्शन है।

३. **वैज्ञानिक और रसात्मक संस्कृतियाँ**—उक्त सांस्कृतिक व्यवस्थाओं को नोथ्रोप दो प्रमुख भागों में बाँटते हैं। एक को वे 'वैज्ञानिक' (साइण्टिफिक) और 'सैद्धान्तिक' (थियोरोटिक) और दूसरी को 'रसात्मक' (ईस्थीटिक) और 'अनुभूति-प्रधान' (इन्टयूश्नल) कहते हैं। पश्चिम की संस्कृतियाँ प्रथम वर्ग की हैं और पूर्व की दूसरे वर्ग की। पश्चिम की संस्कृतियाँ विचार, तर्क, युक्ति और निष्कर्ष पर आधारित हैं और पूर्व की संस्कृतियाँ अनुभूति, साक्षात्कार, सम्पर्क और अभिज्ञा पर निर्भर हैं। इन दोनों दृष्टिकोणों का सामञ्जस्य इन दोनों सांस्कृतिक वर्गों की अभिवृद्धि के लिए अनिवार्य है। यह सामञ्जस्य 'अभिज्ञानात्मक समन्वय' (एपिस्टेमिक कोरिलेशन) द्वारा सम्भव है। इससे रूस और अमेरिका तथा यूरोप और साम्यवाद तथा व्यक्तिवाद का भेद दूर हो सकता है।[५७]

४. **आलोचनात्मक समीक्षा**—इसमें सन्देह नहीं कि नोर्थ्रोप की पूर्व और पश्चिम के सांस्कृतिक संगम की स्थापना बड़ी विचारवर्धक है। उनकी कृति में रडयार्ड किपलिंग के इस विचार का खण्डन मिलता है कि पूर्व और पश्चिम इतने विभिन्न हैं कि उनका मिलन सम्भव नहीं है। किन्तु पूर्व और पश्चिम के विरोध की भावना मौलिक रूप से अशुद्ध है। जैसा हमने टर्नर के दर्शन-विवेचन में देखा है, संस्कृति का क्रम पूर्व और पश्चिम में एक जैसा रहा। यह ठीक है कि प्रत्येक समाज और देश में संस्कृति की कुछ वैयक्तिक विशेषताएँ रहीं। किन्तु इसकी प्रवृत्ति और क्रम समान दिशाओं में रहे। आरम्भ से ही संस्कृतियों में आदान-प्रदान रहा और मानव की एकता किसी न किसी रूप में बनी रही। अतः पूर्व और पश्चिम को दो विरोधी और विभिन्न इकाइयाँ मान लेना समीचीन नहीं है।

५७. 'दि मीटिंग ऑव ईस्ट एण्ड वेस्ट', अध्याय ७-१२, पृ० ४४२-४३।

इसके अतिरिक्त नोर्थ्रोप का 'ईस्थीटिक कोरिलेशन' का सिद्धान्त ऐसा दुरूह और गूढ़ हो गया है कि इसका व्यावहारिक पक्ष देखने में नहीं आता। यह धारणा कि विज्ञान पश्चिम की बपौती रही और कला पूर्व की, ऐतिहासिक दृष्टि से असत्य है। वर्तमान सहस्राव्दी के प्रारम्भ तक चीन और इस्लामी प्रदेश विज्ञान में सर्वोपरि रहे। अरबों के प्रभाव से यूरोप में बुद्धिवाद और वैज्ञानिक चिन्तन की लहर दौड़ी। इसी प्रकार पश्चिम भी रसानुभूति में पूर्व से कुछ कम नहीं रहा। वास्तु, चित्र, काव्य, संगीत में यूरोप के अनेक देश उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचे, अतः नोर्थ्रोप की धारणा भ्रामक है।

अनुच्छेद ११—पोपर

१. जीवन-परिचय—अब तक हमने जिन इतिहास-विचारकों के दर्शनों का पर्यवेक्षण किया, वे सब इतिहास में स्वर, क्रम, वृत्त, प्रवृत्ति, प्रक्रिया और नियमों का साक्षात्कार करते हैं। अब हम ऐसे सम्प्रदाय पर विचार करते हैं जिसके अनुसार इतिहास इन सब वस्तुओं और व्याख्याओं से परे है। आधुनिक युग में इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिनिधि कार्ल रेमण्ड पोपर हैं। वे १९४६ से 'लन्दन स्कूल ऑव इकोनोमिक्स' में प्राध्यापक रहे हैं और १९४९ से लन्दन विश्वविद्यालय में तर्कशास्त्र और वैज्ञानिक पद्धति के प्रशिक्षण का कार्य कर रहे हैं। उनके ग्रन्थों में दि ओपिन सोसायटी एण्ड इत्स एनीमीज़' (१९४५) (खुला हुआ समाज और उसके शत्रु), 'दि लोजिक ऑव साइण्टिफिक डिस्कवरी' (१९५७) (वैज्ञानिक अनुसंधान की तर्क-पद्धति) और 'दि पावर्टी ऑव हिस्टोरिसिज्म' (१९५७) (इतिहासवाद की दरिद्रता) प्रमुख हैं। उनका एक संग्रह 'कन्जेक्चर्स एण्ड रिफ्यूटेशन्स' (अनुमान और खण्डन) नाम से प्रकाशित होने वाला है।

१९१९-२० में पोपर की यह धारणा बनी कि ऐतिहासिक नियति में विश्वास करना एक भ्रान्ति है और वैज्ञानिक अथवा तार्किक पद्धति से मानव-इतिहास के आगामी क्रम की भविष्यवाणी करना निरर्थक है। १९३५-३६ में लेखक के विचार परिपुष्ट हुए और उन्होंने इन्हें ब्रुसेल्स की एक गोष्ठी में भाषण के रूप में प्रस्तुत किया। उस गोष्ठी में उनके एक शिष्य कार्ल हिलफेरदिंग ने कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये। किन्तु उसके कुछ समय बाद हिलफेरदिंग जर्मन गेस्तापो और तृतीय राइश के ऐतिहासिक अन्धविश्वासों की भेंट हो गये। इससे ऐतिहासिक नियतिवाद के प्रति उनकी अश्रद्धा और भी अधिक तीव्र हो गयी और उन्होंने इस विषय के अपने

लेखों को 'इकोनोमिका' पत्रिका में प्रकाशित किया जो बाद में ग्रन्थाकार रूप में प्रकाशित हुए।

२. **इतिहासवाद का खण्डन**—इतिहासवाद (हिस्टोरिसिज्म) से पोपर का अभिप्राय सामाजिक विज्ञान के उस दृष्टिकोण से है जिसके अनुसार इतिहास के आगामी क्रम की भविष्यवाणी की जाती है और इस आशय से इतिहास के विकास के नियमों, प्रवृत्तियों, स्वरों और शृंखलाओं की गवेषणा की जाती है। वे इस दृष्टिकोण को भ्रामक समझते हैं क्योंकि मानव-इतिहास के क्रम पर मानव-बुद्धि और ज्ञान के विकास का गहरा प्रभाव पड़ता है। ज्ञान का क्षेत्र अपार है और इसकी सम्भावनाएँ असीम हैं। अतः ज्ञान के विकास के भावी स्वरूप का साक्षात्कार करना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। इतिहास के विकास की सम्भावनाओं को भी भविष्यवाणी की परिधि में परिबद्ध करना कठिन है, क्योंकि इतिहास का विकास ज्ञान की वृद्धि के समानान्तर चलता है। जब मनुष्य अपने ज्ञान द्वारा अपने भविष्य का निर्माण करने में स्वतन्त्र है तो अतीत के आधार पर उसके निरूपण और निर्धारण का प्रयत्न कैसे सफल हो सकता है। कहीं-कहीं तो भविष्यवाणी का बिल्कुल उलटा प्रभाव पड़ता है। पोपर उदाहरण देते हैं कि मान लो कोई यह भविष्यवाणी करे कि बाजार में तीन दिन तक किसी कम्पनी के हिस्सों के दाम बढ़ जायँगे और फिर गिरने लगेंगे। स्वभावतः तीसरे दिन सब लोग अपने-अपने हिस्से बेचने लगेंगे। अतः तीसरे ही दिन हिस्सों के दाम गिर जायँगे और भविष्यवाणी असत्य हो जायगी।[५८] इसी प्रकार इतिहास सम्बन्धी सब भविष्यवाणियाँ असत्य सिद्ध हो सकती हैं।

३. **नियम-निर्धारण की प्रवृत्ति का विरोध**—पोपर के मतानुसार मानव-कार्य-कलाप में सामान्य नियम निर्धारित नहीं किये जा सकते। क्योंकि मनुष्य की चेतना और बुद्धि नित्य नवीन प्रगति करती रहती है। यह नवीनता का तत्त्व इतना प्रमुख होता है कि पुनरावृत्ति असम्भव हो जाती है। अतः 'इतिहास अपने आपको दोहराता है' यह उक्ति अयथार्थ है।[५९] इसके अतिरिक्त सामाजिक कार्य-कलाप में अत्यन्त जटिलता होती है। इसमें असंख्य तत्त्व कार्यशील रहते हैं। उन सबका सम्यक् मूल्यांकन सम्भव नहीं होता। अतः इतिहास की भविष्यवाणियाँ वैज्ञानिक

५८. 'दि पोवर्टी ऑव हिस्टोरिसिज्म', पृ० १३।

५९. वही, पृ० १०।

दृष्टि से शुद्ध और युक्तिसंगत नहीं होतीं। पोपर मार्क्स के विचारों का आश्रय लेते हुए लिखते हैं कि यद्यपि मार्क्स इतिहास के प्राकृतिक क्रम को अटल मानते हैं, फिर भी वे स्वीकार करते हैं कि मनुष्य अपने प्रयत्न से नवीन-समाज की जन्म-यातना को कम और छोटी कर सकता है। उनका मानव-प्रयत्न की क्षमता में विश्वास करना उनके ऐतिहासिक नियमों की अटलता का खण्डन मात्र हो जाता है।[६०]

४. **समग्रवाद, योजनावाद और अधिनायकशाही**—पोपर के मतानुसार 'भविष्यवादियों' (यूटोपियन') और 'समग्रवादियों' (होलिस्ट) का गहरा नाता है। ये मानते हैं कि सामाजिक योजना (प्लानिंग) के इतिहास के प्रवाह को समुचित दिशा में मोड़ा जा सकता है। अफलातून का विचार था कि परिवर्तन क्षय है। अतः उनका भविष्य-चित्र इस परिवर्तन को रोकने के लिए बनाया गया था। वे स्थायित्व के उपासक थे। इसके विपरीत मार्क्स का विचार था कि परिवर्तन प्रगति है। अतः उनका भविष्य-चित्र इस परिवर्तन को तीव्र करने के लिए बनाया गया था। वे प्रगति के भक्त थे। कार्ल मानहाइम ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मैन एण्ड सोसायटी इन एन एज ऑव रिकन्सट्रक्शन' (पुनर्निर्माण-युग में मनुष्य और समाज) में इस दृष्टिकोण का सुन्दर प्रतिपादन किया है। वे मानव-विचार-धारा के विकास में तीन प्रवृत्तियों का निरूपण करते हैं—(१) आकस्मिक खोज, (२) आविष्कार और (३) योजना। अब चूँकि योजना का युग है अतः मनुष्य सुनिश्चित प्रयत्न से अपने भविष्य का निर्माण करने की क्षमता रखता है। आकस्मिकता का युग समाप्त हो चुका है। पोपर ने इस मत का खण्डन किया है। वे 'होलिज्म' (समग्रवाद) के पूरे दर्शन का विरोध करते हैं। उनका विचार है कि हम कभी भी किसी वस्तु के समग्र रूप को नहीं जान सकते। हमें उसके विभाग करके उनमें निर्वाचन करना पड़ता है और फिर उन निर्वाचित तत्त्वों की गवेषणा द्वारा हम उस समग्र रूप की अनुभूति कर सकते हैं। मनुष्य की चिन्तन पद्धति सदा वैयक्तिक तत्त्वों पर अवलम्बित रहती है। इसके अतिरिक्त यह समग्रवाद मनुष्य को सामूहिकता (कलेक्टिविज्म), एकतंत्र (टोटेलीटेरियनिज्म) और अधिनायकशाही (डिक्टेटरशिप), की ले जाता है। इसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सर्जनात्मक प्रतिभा के लिए स्थान नहीं

६०. ३ वही, पृ० ५१।

है।[६१] नात्सी, फाशिश्त और साम्यवादी समाजों में इस दर्शन की ताण्डव-क्रीडा देखने को मिलती है।

५. वैयक्तिक घटनाओं का अनुसंधान—पोपर के मतानुसार इतिहास वास्तविक, विशेष, वैयक्तिक घटनाओं से सम्बन्धित है। नियमों और सामान्य स्थापनाओं से इसका कोई लगाव नहीं है। क्यों और कैसे, यह प्रश्न सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक दृष्टि से असंगत है। पोपर इस दृष्टिकोण के विरुद्ध हैं कि इतिहास केवल राजाओं और सेनापतियों का इतिवृत्त है। वे तॉल्सताय के इस मत का समर्थन करते हैं कि १८१२ की रूस की घटनाओं में नेपोलियन, एलेग्जेन्दर और कुतुजोफ का इतना हाथ नहीं था जितना उन असंख्य अज्ञात व्यक्तियों का था जिन्होंने मास्को को जलाया और अनेक युद्धों में भाग लिया। किन्तु पोपर का विचार है कि सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन भी वैयक्तिक दृष्टिकोण से किया जा सकता है। कार्य-कारण-वाद का ऐतिहासिक प्रयोग काल्पनिक है, क्योंकि प्रत्येक कार्य के इतने विभिन्न कारण होते हैं कि उनमें से बहुत-से तो मनुष्य की दृष्टि में भी नहीं आते। अतः उनका पूर्ण अनुसंधान असम्भव है। फलतः कार्य-कारण-वाद या हेतुवाद का दृष्टिकोण व्यर्थ है।

६. आलोचनात्मक समीक्षा—पोपर का यह विचार तो पूर्णतः युक्तिसंगत है कि इतिहास के नियम भौतिक जगत् के नियमों की तरह अटल नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें मनुष्य की सर्जनशक्ति सन्निहित रहती है जिसकी सीमाएँ और सम्भावनाएँ बड़ी विस्तीर्ण होती हैं। उनकी यह धारणा भी सारगर्भित है कि भविष्य का पूर्णतः निश्चित निरूपण असम्भव है क्योंकि मनुष्य को अपने ज्ञान, बुद्धि और प्रतिभा के बल पर उसका निर्माण करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। किन्तु उनका यह सिद्धान्त समीचीन नहीं है कि इतिहासकार का वर्णन व्याख्या-विहीन हो सकता है अथवा घटनाओं के निरूपण में कार्य-कारण शृंखला के अनुसंधान की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने अपना ग्रन्थ 'दि पोवर्टी ऑव हिस्टोरिसिज्म' सब जातियों और धर्मों के उन असंख्य स्त्री-पुरुषों को समर्पित किया है जो फाशिश्तों और साम्यवादियों द्वारा स्वीकृत ऐतिहासिक नियति के अलंघ्य नियमों की भेंट चढ़ गये। इस समर्पण में ही उन नियमों और प्रवृत्तियों एवं व्याख्याओं तथा कार्य-कारण-परम्पराओं के दर्शन होते हैं जिनका प्रतिवाद करने के लिए पोपर महोदय ने अपना ग्रन्थ लिखा

६१. वही, पृ० ९०।

है। यह बात कि "ऐतिहासिक नियति के अलंघ्य नियमों" के विश्वास ने फाशिश्त और साम्यवादी समाज-व्यवस्था के अत्याचारों को जन्म दिया; एक व्याख्या, प्रवृत्ति और कार्य-कारण-परम्परा पर निर्भर है। यह धारणा कि समग्रवाद (होलिज्म) और भविष्य-निर्माण-वाद (यूटोपियनिज्म) एकतंत्रीय अधिनायकशाही में संक्रान्त हो जाते हैं, एक नियम नहीं तो और क्या है? यदि इतिहास प्रवृत्तिमूलक नहीं है तो पोपर ने यह क्यों लिखा है कि उनके शिष्य कार्ल हिलफेरदिंग के जर्मन गेस्तापो द्वारा मारे जाने से इनकी इतिहासवाद-विरोधी स्थापनाओं को बल मिला। उनको तो चाहिए था कि केवल घटनाओं का उल्लेख करके चुप हो जाते। उन्हें इनके क्रम को बताने की अथवा इनमें कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता नही थी। किन्तु वे प्रयत्न करके भी ऐसा करने में असमर्थ रहे। इससे ज्ञात होता है कि पोपर एक अव्यावहारिक और भ्रामक धारणा को लेकर चले हैं। उनके विषय में वही आलोचना चरितार्थ हो सकती है जो ट्वायनबी ने फिशर के विपय में की है और जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

अनुच्छेद १२—लवज्वाय

१. जीवन-परिचय—आर्थर ओ० लवज्वाय का जन्म १८७३ में हुआ। १० अक्टूबर, १९४८ को इनकी पचहत्तरवीं वर्षगाँठ बड़ी धूमधाम से मनायी गयी। उनकी गिनती अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिकों में है। विशेष रूप से दार्शनिक इतिहास को उनकी बड़ी देन है। उनकी कृतियों में 'दि ग्रेट चेन ऑव बीग' (अस्तित्व की महान् शृंखला), 'दि रिवोल्ट अगेंस्ट डुवलिज्म' (द्वैतवाद का विरोध) और 'स्टडीज़ इन दि हिस्ट्री ऑव आइडियाज' (विचारों के इतिहास-सम्बन्धी-अध्ययन) उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त उनके अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं। यद्यपि लवज्वाय इतिहासकार नहीं हैं, तो भी उन्होंने इतिहास के तार्किक और बौद्धिक पक्ष पर महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं।

२. कलात्मक यथार्थवाद—लवज्वाय ने अपने दर्शन को 'कलातमक यथार्थवाद' (टेम्पोरलिस्टिक रियलिज्म) का नाम दिया है। उनके मतानुकूल सब अनुभूति सामयिक है। साथ ही यह बहुपक्षीय भी है। सत्य समय के अनुसार होता है और इसके अनेक पक्ष होते हैं। सत्य की अनुभूति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि यह इन्द्रियगोचर अथवा प्रत्यक्ष ही हो। ज्ञान की क्रिया अनुभव से पृथक् है। अतः यद्यपि हम अतीत का अनुभव नहीं करते हम इसको समझ अवश्य सकते हैं। इस

विषय में यह आपत्ति की जाती है कि अतीत का ज्ञान अपूर्ण है क्योंकि इसके सब पक्षों का पता नहीं चल सकता। किन्तु लवज्वाय का उत्तर है कि सभी ज्ञान सामयिक होने के कारण अपूर्ण है। दूसरी आपत्ति यह है कि वर्तमान के दृष्टिकोण से जब अतीत का अध्ययन किया जाता है तो इसके कुछ पक्ष उसके वास्तविक और सम्पूर्ण सन्दर्भ से पृथक् हो जाते हैं और उनका असली रूप विकृत हो जाता है। लवज्वाय का उत्तर है कि प्रत्येक वस्तु, घटना या माप के अनेक पक्ष होते हैं और अनेक सन्दर्भ होते हैं। यदि इसका एक सन्दर्भ ढीला हो जाता है तो दूसरा बना रहता है। यह कहना ठीक नहीं है कि किसी एक सन्दर्भ से अलग हो जाने पर यह एकदम अपने असली रूप को छोड़ देती है। लवज्वाय का बहुपक्षवाद (प्लुरलिज्म) इस प्रसंग में बहुत स्पष्ट हो उठता है।

३. इतिहास और सामान्य नियम—लवज्वाय के मतानुसार प्रत्येक इतिहासकार घटनाओं की कार्यकारण-शृंखला को समझने का प्रयास करता है। प्रकृति में समान क्रम और गति होती है। इसके आधार पर सामान्य नियम बनाये जाते हैं। ये सब नियम हेतु-विषयक स्थापनाएँ होते हैं। ये स्थापनाएँ वर्तमान, अतीत और भविष्य सबके लिए सम्भव होती हैं। अतः इतिहास का व्याख्यापरक या प्रवृत्तिमूलक अध्ययन युक्तिसंगत होता है। मनुष्य एक मननशील और चिन्तनप्रधान प्राणी है। अतः उसकी विचारपद्धति स्वभावतः व्याख्या और निर्णय से ओतप्रोत होती है।

४. बहुपक्षवाद—लवज्वाय के मतानुसार इतिहास के अनेक पक्ष होते हैं। इसमें कोई एक सर्वव्यापी योजना नहीं होती। वरन् अनेक योजनाएँ मिलती हैं। इन योजनाओं में उत्थान-पतन की क्रिया होती रहती है इतिहास के बहुसंख्यक सूत्र आपस में उलझते-सुलझते रहते हैं और उनके योग से एक ऐसा जटिल जाल बन जाता है जिसके वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए सूत्रों के मिलन और सम्पर्क पर ध्यान देना आवश्यक होता है। इतिहास के नियमों में लचक होती है। यह विचार लवज्वाय के बहुपक्षवाद (प्लूरलिज्म) का द्योतक है।

५. सापेक्षवाद—लवज्वाय के मतानुसार मनुष्य की बौद्धिक विरासत प्रत्येक पीढ़ी के साथ बढ़ती और बदलती है। कोई परिभाषा अथवा मान्यता स्थायी नहीं रहती यद्यपि उसके द्योतक शब्द एक-जैसे बने रहते हैं। अपने 'विचारों के इतिहास विषयक निबन्धों' में (एसेज इन दि हिस्ट्री ऑव आइडियाज़) में उन्होंने काल के साथ बदलती हुई 'प्रकृति' (नेचर) शब्द की साठ परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। इसी

प्रकार उन्होंने 'रोमान्तिकवाद' शब्द के अनेक अर्थों का विशेष अध्ययन किया है। उनके विचार से रोमान्तिकवाद एक नहीं अनेक हैं। इस शब्द की प्रत्येक व्यंजना के भीतर विभिन्न भावभूमियाँ और विचारधाराएँ संगृहीत हैं। जोजफ वारटन का रोमान्तिकवाद जर्मन कलावादियों के रोमान्तिकवाद से नितान्त भिन्न था। यद्यपि यह शब्द ऐसा ही दोनों के विषय में व्यवहृत हुआ। यह दृष्टिकोण एकदम ऐतिहासिक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लवज्वाय ने इतिहास के दर्शन को दृढ़ संबल प्रदान किया है।[६२]

अनुच्छेद १३—आधुनिक इतिहास-दर्शन की सामान्य प्रवृत्तियाँ

१. कला, संस्कृति और इतिहास—वर्तमान काल में कला के इतिहास का गम्भीर अध्ययन हुआ है और अनेक विशेषज्ञों ने कला की शैली और विषय के विकास की प्रवृत्तियों का निर्देश किया है। यह विवेचन आधुनिक इतिहास-दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यहाँ कुछ प्रमुख विचारधाराओं का संक्षिप्त सा संकेत अभीष्ट है।

सर फ्लिन्दर्स पेत्री ने अपने ग्रन्थ 'दि रेवोलूशन्स ऑव सिविलिज़ेशन' (सभ्यता के परिवर्तन) में यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि संस्कृति के इतिहास की प्रवृत्ति पुरातन (आर्केक) से स्वतन्त्र (फ्री) की ओर रहती है। इसके अनुरूप संस्कृति के आरम्भिक काल में वास्तु-कला और मूर्तिकला का विकास होता है, फिर चित्रकला का, फिर साहित्य, संगीत का, फिर यंत्रशास्त्र और सैद्धान्तिक विज्ञान का और अन्त में धन की उन्नति होती है।[६३] उनके मतानुसार १२४० के लगभग यूरोपीय वास्तुकला और मूर्तिकला का विकास हुआ, १४०० के लगभग चित्रकला का, १६०० के लगभग साहित्य का, १७९० के लगभग संगीत का, १८९० के लगभग यंत्रशास्त्र का, १९१० के लगभग विज्ञान का, और उसके बाद धन का।

६२. आर्थर ओ० लवज्वाय, 'एसेज़ इन दि हिस्ट्री ऑव आइडियाज़' (जोन होपकिन्स प्रेस, बालटीमोर, १९४८)। लवज्वाय के दर्शन के विषय में मोरिस मेण्डलबाउम का 'आर्थर लवज्वाय एण्ड दि थियरो आव हिस्टोरियोग्राफी' लेख जो 'जर्नल ऑव दि हिस्ट्री ऑव आइडियाज' अक्टूबर, १९४८, भाग ९, अंक ४, पृ० ४१२-४२३ पर प्रकाशित हुआ है, विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

६३. दि रेवोलूशन्स आव सिविलिज़ेशन, पृ० ९७

पॉल लिगेती ने अपने ग्रन्थ 'देयर वेक आउस देम केओस' (गड़बड़ी से बाहर निकलने का मार्ग) में यह विचार प्रकट किया है कि संस्कृति के इतिहास में सबसे पहले वास्तुकला का विकास होता है और उसके बाद मूर्तिकला का और जब संस्कृति पतन की ओर चलने लगती है तो चित्रकला की उन्नति होती है। इस प्रकार विकास और मूर्ति-कला एवं पतन और चित्रकला समानान्तर हैं। पाश्चात्य संस्कृति के इतिहास में इस क्रम के सात वृत्त दृष्टिगोचर होते हैं। इसके अतिरिक्त लिगेती के मतानुसार संस्कृतियों का वर्गीकरण प्रमुख कला-शैलियों के अनुरूप किया जा सकता है। मिस्री संस्कृति वास्तुप्रधान है, यूनानी-रोमन मूर्तिप्रधान (प्लास्टिक) है और वर्तमान यूरोपीय संस्कृति राग-रंग-प्रधान (मालेरिश) है।

वी द् लाप्राद ने अपने ग्रन्थ 'ल् साँतिमाँ द् ला नात्युर आवाँ ल् क्रिस्तियानिज्म' (ईसाइयत से पहले का प्रकृति-चिंतन) और 'ल् साँतिमाँ द् ला नात्युर शे ले मोदर्न' (वर्तमान कालीन प्रकृति चिन्तन) में यह मत प्रस्तुत किया है कि पूर्वी-संस्कृतियाँ (भारत, मिस्र, चीन, ईरान) मुख्यतः वास्तुप्रधान हैं, यूनानी और रोमन संस्कृतियाँ मूर्तिप्रधान हैं, मध्यकालीन ईसाइयत राग-रंग प्रधान (मालेरिश) है और वर्तमान संस्कृति संगीत-प्रधान है। वास्तुकला भगवान् की प्रतीक है, मूर्तिकला और चित्र-कला आदर्श या यथार्थ मनुष्य की प्रतीक है और संगीतकला बाह्य गोचर जगत् की प्रतीक है।

हेगल ने अपने 'ईस्थीटिक' (रसशास्त्र) में कला के विकास को आत्मा की अभि-व्यक्ति की प्रक्रिया बताया है। उनके मतानुसार कला के तीन स्तर (हाउप्तस्तू-फन) हैं—प्रतीकवादी (सिम्बोलिक), रीतिवादी (क्लासिकल) और रोमान्तिक। उनके मतानुसार पूर्व की कला मुख्यतः प्रतीकवादी है तो यूनानी-रोमन जगत् की कला रीतिवादी।

कोंबारियु ने अपने ग्रन्थ 'इस्त्वार द् ला म्युजिक' (संगीत का इतिहास) में यह मत प्रकट किया है कि संगीत का विकास सब कलाओं के उत्कर्ष के बाद होता है।

वाल्देमार दिओना ने तीन भागों के अपने विशाल ग्रन्थ 'लारशेओलोजी, मा वालर, से मेथोद' (पुरातत्व-शास्त्र, उसके मूल्य और तरीके) में मूर्तिकला और चित्रकला को पुरा-पाषाण-युगीन, नवपाषाण-युगीन, यूनानी-रोमन-युगीन और ईसाईयुगीन इन चार भागों में बाँटा है। प्रत्येक युग की कला प्रारम्भिक (आर्केक), रीतिप्रधान (क्लासिक) और पतनोन्मुख (डिकेडेण्ट) इन तीनों अवस्थाओं से

गुजरी है। अतः एक युग की एक अवस्था की कला दूसरे युग की उसी अवस्था की कला से मिलती-जुलती होती है।

फ्रेंक चैम्बर्स ने अपने ग्रन्थ 'साईकिल्स ऑव टेस्ट' (रुचि के वृत्त) और 'हिस्ट्री ऑव टेस्ट' (रुचि का इतिहास) में साहित्य और साहित्य-समालोचना के विकास का अध्ययन किया है। उनका विचार है कि पहली अवस्था में सौन्दर्य का भाव अलंकार-रहित होता है। यूनान में चौथी शती पू० ख्री० तक और पाश्चात्य यूरोप में पुनरुत्थान काल तक यह अवस्था रही। दूसरी अवस्था में सौन्दर्य का भाव अलंकारप्रधान हो जाता है। उदाहरण के लिए पहली अवस्था में लोग सूर्य को देवता समझकर उसकी उपासना करते थे तो दूसरी अवस्था के लोग सूर्य के भौतिक सौन्दर्य की प्रशंसा करते थे। कला की ये अवस्थाएँ वृत्तवत् चलती हैं।

बोवे ने अपने ग्रन्थ 'लिरिज्म, एपोप, द्रामः युन लोवा द् लिस्त्वार लितरेर एक्स्प्लीके पार लेवोल्युसियों जेनेराल' (गीतिकाव्य, महाकाव्य और नाटक; सामान्य विकास द्वारा निर्देशित साहित्यिक इतिहास का नियम) में विक्तर ह्यूगो के सिद्धान्त को दुहराते हुए यह सिचार प्रस्तुत किया है कि आदि काल में साहित्य का रूप गीतात्मक था, प्राचीन काल में महाकाव्य-प्रधान था और आजकल नाटकीय है। चार्ल्स लालो ने 'एस्क्विस द्युन एसथतीक म्युजिकाल स्यांतिफिक' (वैज्ञानिक संगीत कला की रूपरेखा) में प्रत्येक युग की संगीतकला के इतिहास में विकास, उत्कर्ष और ह्रास की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया है। इस प्रक्रिया को उन्होंने प्राग्रीतिकालीन (प्रीक्लासिकल), रीतिकालीन (क्लासिकल), कृत्रिम रीतिकालीन (स्यूडोक्लासिकल) और उत्तर-रीतिकालीन (पोस्ट-क्लासिकल) अवस्थाओं में विभक्त किया है।

मेक्स फेरवोर्न की धारणा है कि प्रत्येक देश और जाति की कला भौतिक (फिजियोप्लास्टिक) अवस्था से भावप्रधान (आइडियोप्लास्टिक) अवस्था तक पहुँचती है। शेफर, रीगल और श्मारसोव का विचार है कि प्रत्येक देश और जाति की कला अभिव्यंजनात्मक (एक्सप्रेशनिस्टिक) अवस्था से संवेदनात्मक (इम्प्रेशनिस्टिक) अवस्था तक पहुँचती है।

सोरोकिन की धारणा है कि प्रत्येक देश और जाति की कला भावनाप्रधान, समन्वयप्रधान और गोचरताप्रधान युगों से गुजरती है। इसकी चर्चा पहले हो चुकी है।

३. सामान्य और समान प्रवृत्तियाँ—इस परिच्छेद में हमने आधुनिक इति-

हास-विचारकों के प्रमुख सिद्धान्तो की जो चर्चा की है उसमें व्यक्तिगत भेद होते हुए भी निम्नलिखित समानताएँ हैं—

१. इन विचारकों की धारणा है कि संस्कृति एक प्रकार की इकाई है जो व्यक्तियों से परे है। इतिहास का वास्तविक अध्ययन संस्कृति का अध्ययन है। संस्कृति की गति के अनुरूप व्यक्तियों का निर्माण होता है।

२. संस्कृतियों की संख्या बहुत कम है। अधिक से अधिक ट्वायनबी द्वारा निर्दिष्ट सख्या २१ या २३ या २९ है। अतः इनके विकास और ह्रास के सम्बन्ध में जो नियम निर्धारित किये जाते हैं उनका मूल्य सीमित और सापेक्ष है। प्राकृतिक और भौतिक नियमों की तरह उन्हें अटल और अलंध्य नहीं कहा जा सकता। तथापि उनके द्वारा निर्देशित प्रवृत्तियाँ निश्चित हैं।

३. संस्कृतियाँ एक-दूसरी से भिन्न हैं। यद्यपि इनके उत्थान-पतन के क्रम में समानता है, फिर भी इनकी अन्तरात्मा या मौलिक दृष्टिकोण भिन्न हैं। कोई संस्कृति किसी विषय में उन्नति करती है तो कोई दूसरे विषय में; किसी में कला की प्रधानता होती है, किसी में विज्ञान की किसी में धर्म की, और किसी में अर्थव्यवस्था एवं व्यापार की।

४. प्रत्येक संस्कृति का अपना जीवन है। यह समय पूरा होने पर क्षीण होती है। इसके सब अंग-प्रत्यंग अवयवित्व के सूत्र में बँधे होते हैं। उन सब पर इसके विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप होती है। इसका उत्थान-पतन उन सबके विकास-ह्रास में प्रतिबिम्बित होता है।

५. सांस्कृतिक इतिहास का क्रम रेखात्मक नहीं होता वरन् वृत्तात्मक होता है। यूनानी काल से आज तक के इतिहास को प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन भागों में बाँटना भ्रामक है। यह दीर्घ काल कई संस्कृतियों के जीवनकाल से बना है। प्रत्येक संस्कृति के अपने-अपने अलग प्राचीन, मध्य और अर्वाचीन काल रहे हैं। जब एक संस्कृति अपना वृत्त पूरा कर लेती है तो इसके स्थान पर अन्य नवीन संस्कृति का आविर्भाव होता है। इस प्रकार मानव-इतिहास सांस्कृतिक वृत्तों का समूह है। जैसे आकाश में सौरमण्डल और सौरमण्डल में ग्रह घूमते रहते हैं, इसी तरह मानव-इतिहास में संस्कृतियों का चक्रवत् उत्थान, भ्रमण और पतन होता रहता है।

६. वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टियों से सब संस्कृतियाँ समान हैं। यह विचार कि पाश्चात्य यूरोपीय संस्कृति अन्य संस्कृतियों से उत्तम है, भ्रान्तिपूर्ण

है। कोपर्निकस की चिन्तन-क्रान्ति ने इतिहास के दृष्टिकोण को भी पूर्णतः बदल दिया है।

७. संस्कृति की अन्तरात्मा का सर्वोत्कृष्ट दर्पण कला है। इसमें संस्कृति का सीधा-सच्चा चित्र खिंच जाता है। चिन्तन की कृत्रिम पद्धति इसे दूषित नहीं कर पाती। अतः कला का उत्थान-पतन संस्कृति के विकास-ह्रास का श्रेष्ठ प्रतीक और प्रतिबिम्ब होता है।

८. आधुनिक पाश्चात्य यूरोपीय संस्कृति जिसका प्रभाव सारे भूमण्डल पर फैला हुआ है, घोर पतन और क्षय की अवस्था में पहुँच चुकी है। इसका अन्त सन्निकट है। किन्तु अभी इसे बचाया जा सकता है। इसके लिए नैतिक पुनरुत्थान की आवश्यकता है, जिसमें पश्चिम की बौद्धिकता और पूर्व की रसात्मकता एवं धार्मिकता का पूर्ण समन्वय हो।

अनुच्छेद १४—इतिहास-दर्शन की दिशाएँ

१. प्रमुख दिशाएँ—गत दशाब्दियों में इतिहास-दर्शन की काफी चर्चा हुई है। हम ऊपर कह आये है कि उन्नीसवीं शती में इतिहास और समाजशास्त्र के एकीकरण द्वारा इतिहास को विज्ञान-कक्ष में स्थान देने की चेष्टा की गयी थी। उक्त शती के अन्त में दिल्थी, विन्देलबान्त, रिकर्त, क्रोचे आदि ने इस विचारधारा का विरोध आरम्भ किया और वर्तमान शती में कोलिंगबुड और केसीरेर ने इस विरोध को जारी रखा। इन विचारकों की स्थापना यह थी कि इतिहास मूर्त और वैयक्तिक तथ्य के अध्ययन से सम्बन्धित है और विज्ञान सामान्य अमूर्त तथा समान तथ्यों के अध्ययन पर आधारित है। अतः इन दोनों की पद्धतियाँ विभिन्न हैं। गत दशाब्दियों में इस विरोध का खण्डन किया गया है और इस भेद को अस्वीकार किया गया है।[६४] किन्तु इस विवेचन में एक नवीन तथ्य 'स्मृति' का समावेश हो गया है। इतिहास को एक प्रकार की स्मृति मान लिया गया है।

६४. पी० गार्डिनर, 'दि नेचर आव हिस्टॉरिकल एक्सप्लेनेशन' (लन्दन १९५२); जे० डब्लू० एन० वाटकिन्स, 'आइडियल टाइम्स एण्ड हिस्टॉरिकल एक्सप्लेनेशन' ब्रिटिश जर्नल फार दि फिलोसोफी आव साइंस' (मई १९५२) पृ० २२-४३; कार्ल पोपर, 'दि पोवर्टी आव हिस्टोरिसिज्म', 'इकोनोमीका' (१९४४),

२. **इतिहास और स्मृति**—इतिहास और स्मृति की मीमांसा को क्रोचे और कोलिंगवुड के आदर्शवादी दर्शन तथा सार्त्र आदि के अस्तित्ववाद (एगजिस्टेन्शियलिज्म) से प्रेरणा मिली है।[६५] इस दृष्टिकोण से इतिहाकार उन्हीं तथ्यों का अध्ययन और वर्णन करता है जो उसके भीतर प्रतिध्वनित होते हैं, अर्थात् जिन्हें वह अपने वैयक्तिक और सामाजिक अनुभव का अंग बनाने में सफल होता है। दूसरे शब्दों में इतिहासकार जिस अतीत का अध्ययन करता है वह वर्तमान में उपस्थित रहता है और भविष्य के निर्माण में सहायक होता है। किन्तु आजकल के 'प्रकृतिवादी' (नेचरलिस्ट) अथवा 'वस्तुवादी' (पोजिटीविस्ट) विचारक इस दृष्टिकोण का सतत विरोध करते हैं।

३. **इतिहास और समाज**—गत शताब्दी से इतिहास का विषय और क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हो गया है। आजकल, इतिहास का अर्थ यह समझा जाता है कि इसका सम्बन्ध मानव के सम्पूर्ण अतीत से है। जो कुछ पीछे हो चुका है उस सबका अनुसंधान और वर्णन करना इतिहास का विषय है। या फिर इतिहास को विशेष प्रकार के सीमित अध्ययनों से सम्बन्धित किया जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जो कुछ इतिहासकार लिखें वही इतिहास का विषय है। किन्तु मेण्डलबाउम का विचार है कि अतीत की समस्त घटनाएँ इतिहासकार के क्षेत्र में नहीं आतीं। जातियों का उत्थान-पतन, किसी विशेष देश और काल की जीवन-शैली, आर्थिक और बौद्धिक परिवर्तन, समाज के जीवन को बदलने में संस्थाओं या व्यक्तियों का योग और कार्य आदि इतिहास के विषय रहे हैं। जिस कार्य या घटना ने समाज

पृ० ८६-१०३, ११९-१३७; 'दि ओपिन सोसायटी ऐण्ड इट्स एनीमीज' (लन्दन १९४५), भाग २, पृ० १६२-१६९; डब्लू० एच० वाल्श, 'एन इण्ट्रोडक्शन टु फिलॉसॉफी आव हिस्ट्री' (लन्दन, हचिन्सन, १९५१), पृ० ११६-११८; सी० जी० हेम्पल, 'दि फन्कशन आव जनरल लाज इन हिस्ट्री,' 'जर्नल आव फिलोसोफी' (जनवरी १९४२), पृ० ३५-४८।

६५. आर० नीबूर, 'फेथ ऐण्ड हिस्ट्री' (न्यूयार्क १९४९); जी० जे० रेनियर, 'हिस्ट्री, इट्स पर्पज एण्ड मेथेड' (बोस्टन १९५०); फ्रित्ज काउफमान, रियलिटी एण्ड ट्रुथ इन हिस्ट्री,' 'पर्सपेक्टिवज इन फिलॉसॉफी' (ओहियो, १९५३), पृ० ४३-४४।

के क्रम पर विशेष प्रभाव डाला हो वही इतिहासकार की गवेषणा का विषय होता है। यदि किसी प्राकृतिक घटना या वैयक्तिक विचार का सामाजिक गतिविधि से विशिष्ट और व्यापक सम्बन्ध है तो वह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। व्यक्तियों के कार्यकलाप या विचार-विमर्श तभी ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं जब वे समाज पर स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रभाव डालें अथवा समाज की भावनाओं को मुखरित करें। इतिहासकार का ध्यान प्रमुख रूप से समाज पर केन्द्रित रहता है।[६६] आजकल यही दृष्टिकोण प्रमुख है।

६६. मोरिस मेण्डलबाउम, 'रीसेण्ट ट्रेण्डस इन दि थियरी आव हिस्टोरियोग्राफी', 'जर्नल आव दि हिस्ट्री आव आइडियाज़', अक्तूबर, १९५५, पृ० ५०६ ५१६।

परिच्छेद १२

उपसंहार

अनुच्छेद १—आधुनिक इतिहास की प्रवृत्तियाँ

१. युग और इतिहासदर्शन—इस ग्रन्थ के उपर्युक्त अध्यायों में हमने विविध समाजों और संस्कृतियों के इतिहास-विषयक विचारों की समीक्षा की है। संस्कृति के उषःकाल से ही मनुष्य को अपने इतिहास में रुचि रही। उसने अतीत के आलोक में वर्तमान व्यवस्था को समझने और भविष्य की दिशाओं का निर्देश करने की चेष्टा की। धर्म, राजनीति, समाज, संस्कृति, अर्थ-व्यवस्था सभी उसके ऐतिहासिक दर्शन से अभिरंजित हुए। उपर्युक्त समीक्षा में प्राचीनतम काल से आज तक की मनुष्य की ऐतिहासिक चेतना, सतर्कता और जागरूकता का परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक समाज ने इतिहास के प्रति जो विशिष्ट दृष्टिकोण अपनाया उसे समझने के लिए उसके सांस्कृतिक व्यक्तित्व का दिग्दर्शन किया गया है। इस दृष्टि-कोण को व्यवस्थित रूप में व्यक्त करने का श्रेय जिन विचारकों को रहा है उनका संक्षिप्त जीवन-परिचय और उनके दर्शन का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करना इस अध्ययन का उद्देश्य रहा है। अतः इसमें अनेक इतिहासज्ञों के विचारों के दर्शन होते हैं और अनेक व्याख्याओं का परिचय मिलता है। इनके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास की गवेषणा के दो रूप रहे हैं—तथ्यों का निरूपण और उनकी व्याख्या। यद्यपि ये दो रूप पृथक् प्रतीत होते हैं तथापि इनमें आन्तरिक एकता है। प्रत्येक तथ्य के निरूपण में कोई न कोई प्रच्छन्न व्याख्या रहती है और प्रत्येक व्याख्या में तथ्यों का निरूपण निहित रहता है। वस्तुतः सामान्य और विशेष का भेद मानव-चिन्तन पद्धति के विपरीत है। फिशर और पोपर जैसे इतिहासकारों ने इतिहास के व्याख्यापरक पक्ष का निषेध किया है। ट्वायनबी ने इस प्रवृत्ति को "एण्टीनो-मियनिज्म" कहा है। किन्तु हम देख चुके हैं कि इनकी रचनाओं में भी व्याख्याएँ सन्निहित हो गयी हैं जो उनके निषेध करने पर भी स्थान-स्थान पर प्रस्फुटित हुई हैं। वस्तुतः इतिहास के प्रत्येक अध्ययन में कोई न कोई व्याख्या छिपी रहती है।

यह व्याख्या सामाजिक परिस्थिति पर अवलम्बित होती है। जैसे-जैसे समाज और संस्कृति में परिवर्तन होते हैं, मनुष्य के मानसिक क्षिजित बदलते हैं, चिंतन की दिशाएँ घूमती हैं और दृष्टि का क्षेत्र विस्तीर्ण होता है, वैसे-वैसे जीवन-दर्शन में भी तबदीली होती है और उसके अनुरूप इतिहास की व्याख्या भी नये रंग ग्रहण करती है और तदनुसार लिखे गये इतिहास भी नये रूप धारण करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक युग का इतिहास-दर्शन उसके सामान्य सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्तर को प्रतिबिम्वित करता है। उपर्युक्त विवेचन में हमने प्रत्येक युग के इतिहास-दर्शन को उसके सांस्कृतिक संदर्भ द्वारा स्पष्ट करगे की चेष्टा की है। अब हम वर्तमान काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में इसके विशिष्ठ इतिहास-दर्शन की ओर संकेत करते हैं।

२. पाँच सौ वर्ष पहले की संसार की सांस्कृतिक अवस्था; पश्चिमी यूरोप, पूर्वी यूरोप और रूस, इस्लामी जगत्, भारत और चीन की पृथक्ता एवं स्वाभिमान—यदि हम अपनी दृष्टि लगभग ५०० वर्ष पीछे घुमायें तो सांस्कृतिक दृष्टि से संसार के पाँच प्रमुख विभाग पायेंगे—१. पश्चिमी यूरोप, २. पूर्वी यूरोप और रूस, ३. इस्लामी जगत्, ४. भारत और इससे लगे हुए प्रदेश लंका, बर्मा आदि तथा ५. चीन और जापान। यद्यपि इन क्षेत्रों में भी अनेक भेदोपभेद थे तथापि कुछ बातों में ये एकता का अनुभव करते थे। इनमें से एक यह थी कि प्रत्येक क्षेत्र अपने को श्रेष्ठ और दूसरों को हेय समझता था। उन्नीसवीं शती तक इंग्लैण्ड के महाकवि अलफ्रेड टेनीसन ने "लोक्सले हाल" शीर्षक कविता में यूरोप की नैरन्तर प्रगति पर प्रकाश डालते हुए यह लिखा था कि "यूरोप के पचास वर्ष चीन (केथे) के समस्त इतिहास से अधिक मूल्यवान् हैं" [लेट दि ग्रेट वर्ल्ड स्पिन फोर एवर डाउन दि रिंगिग ग्रूवज़ ऑव चेंज। थ्रू दि शेडो ऑव दि ग्लोब वी स्वीप इण्टू दि यंगर डे। बेटर फिफ्टी इयर्स आव यूरोप देन ए साइकिल आंव कैथे][1] उधर चीन का दृष्टिकोण उस पत्र से प्रकट होता है जो मंचू सम्राट् च्यानलुंग (१७३५-९५) ने ब्रिटेन के सम्राट् जार्ज तृतीय के पत्र के उत्तर रूप में उनके प्रतिनिधि लार्ड मेकार्ट ने को प्रस्तुत किया था। इसमें चीनी देवपुत्र ने अंग्रेज सम्राट् के कूटनीतिक संबंध स्थापित करने

१. पोयम्स आव टेनीसन्, आक्स्फोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, १९२१, पृ० १७५। इस विषय में मेकॉले का 'इतिहास' शीर्षक लेख भी द्रष्टव्य है।

के प्रस्ताव का तिरस्कार करते हुए यह भाव प्रकट किया था कि चीन की सभ्यता इतनी ऊँची और उदात्त है कि अंग्रेज-जैसे लोग इससे संबंध स्थापित करके कुछ सीख ही नहीं सकते।[2] भारत की तो दशा ही विचित्र थी। ग्यारहवीं शती के सहृदय मुस्लिम पर्यवेक्षक अलबेरूनी ने लिखा था कि हिन्दू लोगों का यह विश्वास है कि संसार का कोई देश उनके देश के समान नहीं है।[3] सत्रहवीं शती के पण्डित ढुण्ढिराज (१६७५-१७१० ख्री०) ने छोटे बच्चों के अक्षरारम्भ की एक पाठ्य-पुस्तक "गीर्वाणपदमंजरी" में देशों और जातियों के दुराचारों की चर्चा की है। जहाँ बच्चों को शुरू से ही सिखाया जाय कि सब प्रान्त और देश पापों और दुराचारों से भरपूर हैं और केवल उन्हीं का देश और जाति पवित्र है; वहाँ सामान्य जनता की मनोवृत्ति का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।[4] मुसलमान तो शुरू से ही शेष जगत् को कुफ्र से परिपूर्ण मानते हैं। उन्हें छोड़कर सब अन्य धर्मावलम्बी काफिर हैं। पन्द्रहवीं शती में उनका स्वाभिमान बहुत काफी बढ़ गया, जब उसमानी सुल्तान मुहम्मद द्वितीय फातीह (१४५१-८१) ने कुस्तुनतुनिया, मोरिया, कारमान और त्रेवीजोन्द पर अधिकार कर लिया और क्रीमिया में काफा तथा ताना के जेनोवी उपनिवेशों को अपने अधीन कर लिया। १५२२ में उसमानी सेनाओं ने सन्त-जोन-नाइटों से रहोड्स को छीनकर सनसनी फैला दी और १५२६ में हंगरी को परास्त करके यूरोप में चकाचौध कर दिया। उधर मुसलमान मंगोलों ने रूस को पदाक्रान्त कर दिया। अतः इस्लामी जगत् अपने आपको अजेय समझने लगा। १७६८ में जब रूस अपने नाविक बेड़े को बाल्तिक से रोम सागर में लाकर तुर्की से लड़ने का विचार कर रहा था तो तुर्की सुल्तान (पोर्त) ने इस विचार को हँसी में उड़ा दिया। इसके बाद जब मिस्र के यूरोपीय समाज के नेता वेनिसी व्यापारी रोजेती ने ममलूक सेनापति मुराद बे को यह बताया कि यदि नेपोलियन ने माल्टा

२. ए० एफ० व्हाइट, चाइना एण्ड फॉरीन पावर्स, (लन्दन १९२७) परिशिष्ट पृ० ४१।

३. जाखाओ, अलबेरूनीज इण्डिया, भाग १, पृ० २२।

४. परशुराम कृष्ण गोडे, 'सम प्रोविंशियल सोशल कस्टम्स ऐण्ड मेनर्स मेन्शण्ड एज दुराचार्स बाइ ढुण्ढिराज, "ए महाराष्ट्र ब्राह्मण रेजीडेण्ट ऑव बनारस", न्यू इन्डियन एण्टीक्वेरी, भाग ७ (१९४४) पृ० १३६।

पर अधिकार कर लिया तो वह तुरन्त मिस्र पर आक्रमण करेगा, तो वह कहकहा लगाकर हँस पड़ा कि कहीं ऐसी असंभव बात भी हो सकती है।[५] इसी प्रकार जब नेपोलियन मिस्र पर उतरने वाला ही था तो नेल्सन की नौ-सेना के कुछ आदमियों ने सिकन्दरिया के राज्यपाल को सूचना और चेतावनी दी और उसकी सहायता करनी चाही, किन्तु मुस्लिम प्रशासक ने मुँह फेर लिया।[६] १७९८-१७९९ में जब नेपोलियन ने मिस्र को आक्रान्त कर रखा था तो वहां का प्रमुख इतिहासकार शेख अब्दुर्रहमान अल-जबर्ती यही सोच रहा था कि इस वर्ष की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना मिस्र से हिजाज़ के तीर्थस्थानों के लिए किस्वाह और सुर्राह का भेजना बन्द हो जाना है।[७] इन उदाहरणों से सिद्ध हो जाता है कि इस्लामी जगत् की यह धारणा थी कि पाश्चात्य यूरोप के बर्बर काफिर उनके सामने कुछ नहीं हैं। यही स्वाभिमान और आत्मश्लाघा का भाव रूस की मनोवृत्ति में उपलब्ध होता है। कुस्तुनतुनिया के पतन और पराभव के बाद रूस में यह धारणा फैल गयी थी कि उसका महत्त्व मास्को में स्थानान्तरित हो गया है, अतः मास्को ईसाइयत का वास्तविक केन्द्र और प्रतिनिधि है। यह भाव प्स्कोफ के मठ के पादरी फिलोथियस द्वारा ग्राण्ड ड्यूक वासिल तृतीय [१५०५-३३] को लिखे हुए एक पत्र से और १५८९ में मास्को के प्रथम पेत्रियार्क के नियुक्ति-पत्र से प्रकट होता है।[८] इसके बाद जब मास्को के पेत्रियार्क निकोन को पदच्युत कर दिया गया तो उनके अनुयायियों ने एक पुरातन विश्वासी संघ [ओल्ड बिलीवर्स सोसायटी] स्थापित किया, जिसका लक्ष्य "तृतीय रोम मास्को" के नारे को ऊँचा कर पाश्चात्य भावनाओं और प्रभावों का पूर्ण बहिष्कार करना था। ये लोग "मास्कोवाइट चर्च" से भी अलग हो गये थे।[९] बाद में यह विचारधारा "स्लावोफिल" आन्दोलन में संक्रान्त हो गयी और अब

५. ए० बी० क्लोत बे, आपरस्यु जेनेराल स्यूर लेजिप्त, भाग २।

६. अल-जबर्ती 'अजायब-अल-आसार फित्तराजिम वल अख़बार' (फ्रेंच-अनुवाद), भाग ६, पृ० ७५।

७. वही, भाग ६, पृ० १२१।

८. ज़रनोफ, 'दि रशियन्स ऐण्ड देयर चर्च', पृ० ५०, ७१।

९. बी० एच० समनर, 'पीटर दि ग्रेट ऐण्ड दि इमरजेन्स आव रशिया', पृ० १७।

बोल्शेविक दर्शन में अवतीर्ण हुई है। दोस्तोव्स्की के लेखों में इसका पूर्ण परिचय मिलता है[१०] और एलेग्जेन्द्र हेरजन-जैसे पाश्चात्य संस्कृति के भक्तों के हृदय में भी इसने रूस की नैसर्गिक महत्ता का भाव भर दिया है।[११] इस प्रकार हम देखते हैं कि पाँचों उपर्युक्त सांस्कृतिक क्षेत्र अपने आपको बड़ा और दूसरों को छोटा समझते थे। किन्तु उनका यह स्वप्न शीघ्र ही भंग होनेवाला था।

३. पन्द्रहवीं शती की जल और स्थल की यात्राएँ—पन्द्रहवीं शती में पश्चिमी यूरोप का भौगोलिक क्षितिज बहुत बढ़ने लगा। नाविकों ने समुद्री मार्गों की खोज करके स्थल-पथों के महत्त्व को कम कर दिया। पुर्तगाली नाविकों ने १४२० के लगभग मदीरा का पता लगाया, १४३२ में अजोरीस की खोज की, १४४५ में वर्द की खाड़ी का चक्कर लगाया, १४७१ में भूमध्यरेखा पार की, १४८७-८८ में "केप आव गुड होप" के द्वारा अफ्रीका महाद्वीप की परिक्रमा की, १४९८ में भारत के पश्चिमी तट पर कालीकट में पदार्पण किया, १५११ में मलक्का की खाड़ी पर अधिकार जमाया, १५१६ में प्रशान्त महासागर में प्रवेश करके केन्टन में ध्वजारोपण किया और १५४२-४३ में जापान में पैर रखा। उधर १४९२ में कोलम्बस ने एटलाण्टिक को पार करके अमेरिका का पता लगाया। दूसरी ओर रूस के जार इवान चतुर्थ ने १५५२ में काज़ान पर अधिकार किया और कज़ाकों ने पूर्व की ओर अभियान आरम्भ कर दिया। एरमाक तिमोफेविच के नेतृत्व में १५८१ में वे सिबिरकी रियासत में पहुँचे और १५८७ में उन्होंने तोबोल्स्क की स्थापना की। इसके बाद वे १६०४ में तोम्सक, १६५२ में इर्कुत्स्क, १६५८ में नरचिन्स्क, १८५८ में आमूर और १८६० में उसूरी पहुँचे और उन्होंने प्रशान्त महासागर के तट पर व्लादिवोस्तक की नींव रखी। इन महान् यात्राओं से उपर्युक्त पाँच संस्कृतियों की क्षेत्रीयता और संकीर्णता समाप्त हो गय। और वे क्रमशः पाश्चात्य यूरोपीय संस्कृति का लोहा मानने के लिए विवश हो गयीं।

४. पाश्चात्य यूरोप का सांस्कृतिक प्रसार—पाश्चात्य यूरोपीय संस्कृति के

१०. हांज कोन, 'दोस्तोव्स्कीज़ नेशनलिज़्म', जर्नल आव दि हिस्ट्री आव आइडियाज़ (१९४५), पृ० ३८५-४१४

११. एलेग्जेन्द्र हेरजन्, 'माइ पास्ट एण्ड थाट्स, कोसटेंस गारनट का अंग्रेजी अनुवाद, भाग ६ पृ० ६५, २११।

प्रसार का तत्त्व समुद्री शक्ति का विकास, वैज्ञानिक दर्शन की प्रगति, औद्योगिक साधनों की वृद्धि, नये व्यापारी मध्यम वर्ग का उत्कर्ष, साहस, संयम और जोखिम उठाने की भावना का उदय और सर्जनशक्ति का जागरण था। पुर्तगाल के बाद स्पेन, नीदरलैण्ड, इंग्लैण्ड और फ्रांस क्रमशः पाश्चात्य यूरोप के अगुवा बने। रोम सागर का महत्त्व एटलाण्टिक सागर में प्रतिष्ठित हो गया। धीरे-धीरे सब संस्कृतियाँ पाश्चात्य संस्कृति के सामने नतमस्तक होने लगीं।

५. रूस पर पाश्चात्य यूरोप का सांस्कृतिक आधिपत्य—रूस में यद्यपि तटस्थ स्वाभिमान का भाव कूट-कूटकर भरा था, किन्तु साथ-साथ पश्चिम की वैज्ञानिक उन्नति को आत्मसात् करने का भाव भी प्रबल हो रहा था। पितर महान् का पिता एलेक्सिस (१६४५-७६) पश्चिम के प्रभाव में इतना रँग गया था कि कट्टर "ओल्ड बिलीवर" दल के लोग उन्हें एण्टीक्राइस्ट "शैतान" कहने लगे थे। पितर ने पश्चिमी हवाओं के लिए रूस के द्वार पूरी तरह खोल दिये। वे अपनी राजधानी मास्को से हटाकर सेन्ट पीटर्सबर्ग (पैत्रोग्राद) के स्वतन्त्र वातावरण में ले गये। उन्होंने चर्च के प्रमुख पदों पर मस्कोवी कर्मचारियों के स्थान पर किएफ और यूक्रेन के पादरी नियुक्त किये और १७२१ में पैत्रियार्क के स्थान पर धर्म-सभा (साइनोद) नियुक्त की और उसके ऊपर एक राजकीय प्रशासक बैठा दिया। पितर की नीति अब लेनिन और स्तालिन की नीति में परिणत हो गयी है और इन्होंने पश्चिम के आयुधागार से मार्क्सवाद का शस्त्र ग्रहण करके ही पश्चिम का सामना करने की तैयारी की है।

६. यूनानी चर्च पर पश्चिमी यूरोप का सांस्कृतिक आधिपत्य—रूस की तरह यूनानी चर्च भी पश्चिम के प्रभाव में आने लगा। यद्यपि कट्टर यूनानी ईसाइयों ने सिरिल लूकारिस (१५७२-१६३८) और इवीनियोस बुलघारिस (१७१६-१८०६) की पाश्चात्य प्रवृत्तियों और सुधारों को ठुकरा दिया, किन्तु बुलघारिस के समसामयिक अधामन्दियोस कोराइस के सुधारों को उन्हें विवश होकर मानना पड़ा। क्रीट नवीन पाश्चात्य संस्कृति का केन्द्र बन गया। वहाँ घोमिनिकोस थियातोकोपूलस (१५४१-१६१४) और किरिलोस लूकारिस (१५७२-१६३८) जैसे सुधारक उत्पन्न हुए। वेनिस के धर्म-सहिष्णु लोगों और कुस्तुनतुनिया के कूटनीतिक वर्गों द्वारा यूनानी जगत् में पाश्चात्य प्रभाव बढ़ता गया। छियोस द्वीप के निवासियों में भी जाग्रति बढ़ रही थी। रूमेलिया के यूनानी और व्लाच समाज भी पाश्चात्य संस्कृति के अग्रदूत बनते जा रहे थे। फलतः इस प्रदेश में पाश्चात्य

राष्ट्रवाद की लहर दौड़ गयी। १८२१ में यूनान में राष्ट्रीय क्रान्ति भभक उठी और इस क्षेत्र में पाश्चात्य मनोवृत्ति स्वीकार कर ली गयी।

७. इस्लामी जगत् पर पाश्चात्य यूरोप का सांस्कृतिक आधिपत्य—इस्लामी जगत् की अजेयता का स्वप्न १५२९ में भंग होना शुरू हो गया, जब वियना से तुर्की उसमानी सेनाओं को मुँह की खाकर लौटना पड़ा। इसके बाद १५६९ में एक उसमानी सेना को वोल्गा-दोन पर रूसियों के सामने असफलता स्वीकार करनी पड़ी। १७७४ में रूसियों ने तुर्की को करारी मार दी और १७९८ में फ्रांसीसियों ने ममलूक प्रदेश का ढाँचा हिला दिया। अतः इस्लामी जगत् में पाश्चात्य नमूने की सेनाएँ और शस्त्र रखने की आवश्यकता बढ़ी। तभी से इस्लामी संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति को हृदयंगम करने लगी। सलीम तृतीय (१७८९-१८०७) ने १७९३ में "निजामेजदीद" नामक पाश्चात्य ढंग की सेना का संगठन किया और फ्रेंच अफसरों द्वारा नौ-सेना का कायाकल्प कराया। उसके बाद महमूद द्वितीय (१८०८-१८३९) ने तुर्की में और मुहम्मद अली (१८०५) और खुशरोपाशा ने मिस्र में जेनीसरी सेना को समाप्त करके पाश्चात्य शैली की सेनाओं का संयोजन किया। मुहम्मद अली ने मिस्री समाज को पूरी तरह पश्चिमी ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया, जिसका परिचय अल-जबर्ती की 'तारीख' में मिलता है। उन्नीसवीं शती में सुल्तान अब्दुल मजीद (१८३९-१८६१) और अब्दुल हमीद (१८७६) ने पाश्चात्य ढंग के वैधानिक सुधार (तंजीमात) भी किये। मुस्तफा मुहम्मद रशीद पाशा (१८०२-५९), मुहम्मद अमीन अली पाशा (१८१५-७१), फ़ुवाद पाशा (१८१५-६९) और मिजत पाशा (१८२२-८४) ने समस्त प्रशासन को सुधारने की चेष्टा की। यह कार्यक्रम मुस्तफा कमाल अतातुर्क ने पूरा किया। जुलाई, १९१९ में उन्होंने तुर्की के इस्लामी समाज को बदलना शुरू किया और इसे पाश्चात्य संस्कृति का चोला पहनाकर एक आधुनिक शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया। इसी प्रकार त्यूनिस के शेख खैरुद्दीन पाशा और असदाबाद के सैयद जमालुद्दीन अल अफगानी (१८३९-९०) और उनके शिष्य मुहम्मद अबदूह (१८४९-१९०५) ने और ईरान के रिजा शाह पहलवी ने इस्लामी संस्कृति को पाश्चात्य रूप प्रदान करने की कोशिशें कीं।

८. भारत पर पश्चिमी यूरोप का सांस्कृतिक आधिपत्य—भारत के हिन्दुओं का सांस्कृतिक स्वाभिमान असल में तो तभी समाप्त हो गया था जब उत्तर-पश्चिम के विधर्मी आक्रामकों ने उनकी पवित्रतम भावनाओं को पददलित किया। रही-सही तटस्थता तब जाती रही जब पश्चिमी यूरोप से आये हुए व्यापारी मराठों और

मुगलों को हराकर यहाँ शासकों के रूप में जम गये। १७५७ के बाद से ही बंगाल के हिन्दू यह समझने लगे कि पाश्चात्य संस्कृति को हृदयंगम करने से ही उनकी उन्नति हो सकती है। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि ने हिन्दुत्व के रोगग्रस्त शरीर को पाश्चात्य संस्कृति का पंचामृत दिया। लार्ड मेकॉले द्वारा अंग्रेजी के शिक्षा-माध्यम बनाये जाने के बाद वकीलों, प्राध्यापकों और प्रशासकों का एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ जो पूर्व और पश्चिम के सम्पर्क का प्रतीक सिद्ध हुआ। भारत के पुनरुत्थान में इस वर्ग का महत्त्वपूर्ण योगदान था। इधर डाक, तार, रेल, मोटर, बिजली, भाप यंत्र, उद्योग आदि के विकास के फलस्वरूप इस पिछड़े हुए देश ने नवीन बाना पहना। अन्त में पाश्चात्य आदर्शों से प्रेरित संसदीय लोकतंत्र की स्थापना से देश की जीवनधारा विश्व-संस्कृति के प्रवाह में सम्मिलित हो गयी।

९. **चीन और जापान पर पश्चिमी यूरोप का सांस्कृतिक आधिपत्य**—चीन का स्वाभिमान च्यान-लुंग के पत्र के लगभग ५० वर्ष बाद १८४२ में भंग हो गया, जब यूरोपीय सैनिकों ने तोपों और संगीनों के प्रहार से चीनियों के गले में अफीम उतारी। इससे बहुत पहले १५६५-७१ में स्पेनियों ने फिलिपाइन द्वीपों को जीत लिया था और १६२४ में डच लोगों ने फारमूसा पर अधिकार कर लिया था। चीन में प्रोटेस्टेण्ट ईसाई प्रचारक भी जोर से अपना कार्य कर रहे थे। फलतः चीन में पाश्चात्य संस्कृति के प्रति रुचि और जागरूकता बढ़ी। ताई-पिंग आन्दोलन पश्चिमी प्रभाव के प्रसार के लिए खड़ा हुआ था। इसके नेताओं का विचार था कि पाश्चात्य लोगों को समूचे देश में रहने का अवसर दिया जाय।

जापान में पाश्चात्य संस्कृति के प्रति कुछ अधिक आस्था रही। वहाँ जब पाश्चात्य नाविक और पादरी पहुँचे तो उनका बड़ा स्वागत किया गया। जब उन्होंने धार्मिक असहिष्णुता प्रकट की तो हिदोयोशी ने उनका बहिष्कार कर दिया। फिर भी पादरियों को छोड़कर अन्य यूरोपीय लोगों को जापान में रहने की स्वतन्त्रता थी। धीरे-धीरे उनके साहित्य और विज्ञान के प्रति उनकी रुचि बढ़ रही थी। १७२० में पश्चिमी साहित्य को जापानी भाषा में अनूदित करने पर से पाबन्दी उठा ली गयी थी। योनेजावा की रियासत में दैमयो यूयेसूगी ने कोमोदोर पेरी के आने से पचास वर्ष पहले ही पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र का प्रचार और अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था। १६८४ के लगभग जापान में पाश्चात्य गणित, ज्योतिष और भौगोलिक चित्रांकन के विषय में रुचि उत्पन्न हो गयी थी। तितसिंह नामक एक

व्यक्ति ने इस रुचि को तीव्र कर दिया था। उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध में येदो में पाश्चात्य विद्या सीखने के लिए गोष्ठियाँ बन चुकी थी।[१२] मेइजी क्रान्ति के द्वारा जापान ने पाश्चात्य विज्ञान और उद्योगों को पूर्णतः आत्मसात् करके इतनी शक्ति प्राप्त कर ली थी कि वह रूस और चीन दोनों को परास्त करने में सफल हो सका था।

१०. पश्चिमी यूरोप का पतन और पराभव—जिस प्रकार उक्त सांस्कृतिक क्षेत्रों का दर्प चूर्ण हो गया है, इसी प्रकार पश्चिमी यूरोप का स्वाभिमान भी नष्ट हो चुका है। विश्व में बड़ी-बड़ी शक्तियाँ उत्पन्न हो गयी हैं जिनके सामने पश्चिमी यूरोप छोटा-सा लगने लगा है। एशिया में भारत और चीन-जैसी शक्तियाँ उन्नति कर रही हैं। मध्य-एशिया का विशाल प्रदेश, जिसने चिंगिस और हुलाकू जैसे विजेताओं को जन्म दिया, रूस के नेतृत्व में अपने महान् भविष्य का निर्माण कर रहा है। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड की गणना भी बड़े देशों में की जाने लगी है। इस्लामी प्रदेश "संयुक्त-अरब-राष्ट्र" के संगठन द्वारा यूरोप के मुक़ाबले के लिए तैयार है। अफ्रीका में काफी सरगर्मी है। घाना, माली, सोंघे और इथियोपिया की प्राचीन संस्कृतियाँ फिर से सिर उठा रही हैं। केनिया में स्वशासन का बोलबाला है। यूरोप में बाल्कान, पोलैण्ड और पूर्वी जर्मनी से लगाकर रूस का सारा प्रदेश दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति कर रहा है। किसी समय ब्रिटिश साम्राज्य में सूरज नहीं छिपता था। अब रूसी सोवियत मण्डल में गर्मी की ऋतु में सूर्यास्त नहीं होता। लेनिनग्राद में जब शाम के सात बजते हैं तो कुरिल-द्वीप में अगले दिन सुबह के पाँच बज जाते हैं। उधर दक्षिणी अमेरिका में ब्राजील और अरजन्टाइन-जैसे विशाल देश है जिन्हें प्रकृति ने सब प्रकार से सम्पन्न बनाया है। उत्तरी अमेरिका में मेक्सिको, यूनाइटेड-स्टेट्स और कनाडा-जैसे विशाल भूखण्ड हैं जिनका प्रभाव पूरी तरह यूरोप पर छा गया है। यूरोप के प्रादेशिक राज्य इन शक्तियों की उन्नति से उसी तरह दब गये हैं जिस तरह प्राचीन काल में मकदूनियाँ, सीरिया और मिस्र के राज्यों और रोम तथा कार्थेज की विशाल व्यवस्थाओं से यूनान के नगर-राज्य घिर गये थे और मध्यकाल में इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन आदि राष्ट्रों के उत्थान से इटली के व्यापारिक नगर पिछड़ कर खात्मे की ओर चल पड़े थे।

१२. जे० मुर्दोक, हिस्ट्री आव जापान, भाग ३, पृ० ५४३, ५०७, ५६०; जी० बी० सेम्सन्, दि वेस्टर्न वर्ल्ड एण्ड जापान, पृ० २७३-८०।

११. हिटलर की ब्रिटेनपक्षीय नीति की अवहेलना—पश्चिमी यूरोप के पतन का एक और चिह्न इसकी आन्तरिक एकता का लोप है। इसी शती में दो महान् युद्धों ने यूरोप के वक्षस्थल को विदीर्ण कर दिया है। १९१४-१८ के महायुद्ध में जर्मनी के उत्थान को धक्का पहुँचा और साथ ही तुर्की, रूस और चीन में अभूतपूर्व उन्नति का श्रीगणेश हुआ। किन्तु इसके बाद जर्मनी ने फिर अपनी शक्ति को संगठित करके अद्वितीय प्रगति की। हिटलर के युग में जर्मन नेतृत्व में मध्य और पूर्वी यूरोप को एकता के सूत्र में बाँधने का महान् प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। जर्मन "जियो-पोलिटिक्स" का सम्प्रदाय इस नीति का प्रबल समर्थक था। किन्तु यह सम्प्रदाय जर्मन-रूस और जापान की मित्रता का प्रचारक था। इसके विपरीत हिटलर ब्रिटिश साम्राज्य का बड़ा प्रशंसक था। उसकी इच्छा कभी ब्रिटेन के साथ लड़ने की नहीं थी। युद्ध के बाद जो सामग्री प्रकाशित हुई है उससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि इंग्लैण्ड के साथ युद्ध की घोषणा के अनन्तर भी हिटलर की इच्छा उससे मित्रता स्थापित करने की रही। इस सामग्री से प्रतीत होता है कि डनकर्क से अंग्रेजी बेड़े और सेना का निकल भागना हिटलर की इच्छा और नीति के अनुकूल था। उसने अपने आज्ञापन द्वारा क्लाइस्त की सेना को नहर (एर-सन्तओमर-ग्रेवलाइन्स) की सीमा पर तीन दिन तक रोक दिया था। उस समय हिटलर ने शार्लेविल में रुन्दस्तेद से जो वार्तालाप किया, उसे ब्लूमनत्रित ने अपने कानों से सुना और बाद में औरों को बताया। ब्लूमनत्रित के कथनानुसार "हिटलर ने अंग्रेजी साम्राज्य की प्रशंसा करके और इसके अस्तित्व की और इसके द्वारा प्रसारित सभ्यता की आवश्यकता पर जोर देकर हम सबको आश्चर्य-चकित कर दिया। उसने कहा कि अंग्रेजी साम्राज्य की तुलना कैथलिक चर्च से की जा सकती है और दोनों विश्व के स्थायित्व के आवश्यक तत्त्व हैं। उसने यह भी कहा कि वह ब्रिटेन से केवल इतना चाहता है कि वह यूरोप के महाद्वीप पर जर्मनी की स्थिति को स्वीकार कर ले। जर्मनी के पुराने उपनिवेशों का वापस करना अच्छा तो है, पर आवश्यक नहीं है। उसने यहाँ तक कहा कि यदि इंग्लैण्ड किसी संकट में फँस जाय तो वह उसे सैनिक सहायता देने के लिए तैयार है।"[१३]

१३. बी-एच० लिडल हार्ट, "दि अदर साइड आव दि हिल" (केसल एण्ड कम्पनी लि० लन्दन १९५१), पृ० २०० पर उद्धृत।

हिटलर का यह भाषण उसकी बाद की नीति पर प्रकाश डालता है। ११ जुलाई, १९४० को उसने महानाविक रेदर के साथ बातचीत करते हुए भी यह कहा कि "आक्रमण तो ब्रिटेन को संधि करने पर मजबूर करने का अन्तिम उपाय होगा।" १९ जुलाई को राइस्ताक में फ्रांस पर विजय की घोषणा करते हुए उसने फिर ब्रिटेन से संधि और मित्रता की प्रार्थना की। २१ जुलाई को युद्ध परिषद में उसने फिर कहा कि स्तालिन ब्रिटेन को युद्ध में घसीटने के लिए उसके साथ अठखेलियाँ कर रहा है, क्योंकि उसे पता है कि जर्मनी और ब्रिटेन की संधि हो जाने से उसकी योजनाएं पूरी न हो सकेंगी। ३१ जुलाई को उसने बर्शतेसगादन में सेनाध्यक्षों के एक सम्मेलन में यहाँ तक कहा कि ब्रिटेन को अपने दृष्टिकोण के अनुकूल बनाने के लिए वह उसके मित्रों और सहारों उदाहरणार्थ रूस को समाप्त करेगा। दिसम्बर ४० में तो ब्रिटेन के आक्रमण का विचार सदा के लिए स्थगित कर दिया गया। ये सब तथ्य हमें हालदर की डायरी में मिलते हैं। इस नीति से बहुत-से जर्मन सेनापति अत्यत रुष्ट और खिन्न थे, जैसा कि उनके बाद के बयानों से स्पष्ट होता है। किन्तु ब्रिटेन की जनता और उसके नेता एवं विशेषतः विंस्टन चर्चिल हिटलर की योजना को समझने में असमर्थ रहे।[१४] उन्होंने रूस के साथ मिलकर जर्मनी को नष्ट करने का निश्चय किया। किन्तु उन्होंने यह नहीं समझा कि इसका परिणाम ब्रिटेन की उन्नति नहीं, प्रत्युत रूस का उत्थान होगा और जिन प्रदेशों पर हिटलर का आधिपत्य उनकी आँखों में मिर्चों की तरह खलता था वे ही प्रदेश रूस के साम्यवादी क्षेत्र में सम्मिलित होकर उनकी आँखों के शूल बन जायँगे। द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी की पराजय के साथ-साथ पश्चिमी यूरोप का भी पतन हो गया। रूस की शक्ति सबसे अधिक बढ़ गयी। चीन में साम्यवादी सरकार स्थापित हो गयी। यूरोप अमेरिका के अधीन हो गया। इसके साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गये। विश्व की राजनीति से यूरोप का महत्त्व ओझल हो गया। अब इसका वह स्वाभिमान का स्वप्न कहाँ चला गया, जिसकी चर्चा टेनीसन, किपलिंग और मेकॉले ने की थी।

१४. इस विषय में लिडिल हार्ट की उपर्युक्त पुस्तक, काउण्ट चियानो की डायरी और न्यूरनबर्ग के मुकद्दमों की कारवाई तथा जर्मन सेनापतियों के संस्मरण द्रष्टव्य हैं।

१२. विश्व का एकीकरण और विश्वसंस्कृति की मौलिक एकता—आधुनिक विश्व-इतिहास के उपर्युक्त संक्षिप्त पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी मुख्य प्रवृत्ति विश्व का एकीकरण है। आज स्थानीय भेदोपभेदों के होते हुए भी प्रत्येक देश और जाति एवं जलवायु का मनुष्य विश्व की सांस्कृतिक एकता का अनुभव करता है। अतः इतिहासकार की दृष्टि और क्षितिज भी सार्वभौमिक और विश्वव्यापी हो गये हैं। वह इतिहास को देश, जाति, धर्म अथवा संस्कृति के पृथक् भागों में विभक्त करना निरर्थक समझता है, क्योंकि उसके मौलिक जीवन-दर्शन में इनके लिए कोई स्थान नहीं है। आज का इतिहासकार सम्पूर्ण इतिहास को मानव-एकता के दृष्टिकोण से देखता है। जब से मनुष्य ने वन्य और आखेटक जीवन छोड़कर अपने परिश्रम से अपनी परिस्थिति सुधारने का प्रयत्न आरम्भ किया, तभी से मानव-संस्कृति के इतिहास का श्रीगणेश हुआ, और विभिन्न देशों, जातियों और युगों के परिवर्तनों तथा विषमताओं में से होता हुआ यह वर्तमान अवस्था तक पहुँचा है। इसमें उतार-चढ़ाव आये, उन्नति-अवनति हुई, विकास और ह्रास हुए, किन्तु इसका क्रम अक्षुण्ण रहा। एक युग के बाद दूसरा युग आया, एक रूप के बाद दूसरा रूप प्रकट हुआ, एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था बदली, किन्तु हर एक ने संस्कृति को समृद्ध और परिपुष्ट किया। प्राचीन मिस्र की भाषा, धर्म और जीवन-पद्धति लुप्त हो गयी और आज केवल पुरातत्त्वविदों के अन्वेषणों में ही वह उपलब्ध है, किन्तु उसकी बहुत-सी बातें आज भी हमारे दैनिक जीवन के अभिन्न अंग बनी हुई हैं। ३६५ दिनों का वर्ष, ऋतुओं का वर्गीकरण, सूरज की धूप द्वारा समय का माप, अंगुल, हाथ और पैर के नाप, दशमलव का गणित, "मात" की विचार-धारा, शैतान (मिस्री सेथ) की भावना—हमने मिस्र से सीखीं। इसिस, ओसीरीस आदि के धर्म मिस्र से यहूदी धर्म में आये और उसके द्वारा ईसाइयत में घुसे तथा वर्तमान धार्मिक और नैतिक भावनाओं में समा गये। इसी प्रकार मिस्र के दैवी राज्य-अधिकार के सिद्धान्त और एकतंत्र की भावना ने रोमन साम्राज्यशाही को प्रभावित किया और इस माध्यम से आधुनिक राजनीतिक मतवादों को प्रेरणा दी। इसी प्रकार ३६० दिनों का वर्ष, ७ दिनों का सप्ताह जिसमें इतवार (सब्बतु) छुट्टी का दिन है, बारह-बारह घण्टे के दिन और रात, ६० मिनट का घण्टा और ६० सेकण्ड का मिनट; यह सब सुमेर की देन है। आज तक हम सुमेरियों की तरह इनका प्रयोग करते हैं। यूनान और रोम तो बड़ी गहराई से हमारे जीवन में समा गये हैं। होमर, हीसियद, सोफोक्लीस, अरिस्तोफेन्स और उनका साहित्य, सुक्रतु,

अफलातू, अरस्तू और उनका दर्शन, जेनो, एपीक्यूरस आदि की बहुत-सी नैतिक विचार-परम्पराएँ, दोरिक, आयोनिक, कोरिन्थी आदि कलाशैलियाँ, एथेन्स का जनतन्त्र, स्पार्ता की सामूहिक राज्यवादी व्यवस्था, रोम का साम्राज्यशाही संविधान, कोर्पस जूरिस सिविलिस (जाब्ता दीवानी) और उसके अनेक कानून आज के जीवन में सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। चीन के सिल्क[15] (रूसी "शौल्क", प्राचीन स्वाली "शिल्क", लिथुआनी "स्जिल्काई", लातीनी "सैरिकुम", यूनानी "सेर", "सेरा" और "सेरेस", अरबी "सरक", फारसी "सरह्", कोरियाई "सिर", मंगोल "सिरकेक", मञ्चू "सर्जे", चीनी "से", प्राचीन चीनी "शू" "त्सू", संस्कृत "अंशुक", कागज[16] (अरबी "काघिद", फारसी "कागज" "कागिज", युइगुर "कागत" "कागस", बलूची "कागद", हिन्दी "कागद", उर्दू "कागज", तमिल "कागिदम", कन्नड "कागद", मलयालम "कायितम्", कोमानी "कागत", किरघीज, काराकिरघीज और तरंची "कागज", चीनी "कू-चिहं" [उच्चारण कोक-द्ज्] कागज के नोट (फारसी) "चाव", चीनी "चाओ"), चाय[17] (मंगोल, तुर्की, फारसी, हिन्दी, पुर्तगाली, रूसी, नवयूनानी "चाय", चीनी "चआ", तिब्बती "जा", अंग्रेजी "टी", फ्रेंच "थे", जर्मन "टे", कैथे, "खिताई" [चीन का मध्य कालीन नाम] गोला-बारूद, खुबानी, आडू (चीनानी) नाशपाती (संस्कृत "चीनराजपुत्र"); ये समस्त संस्कृत जगत् में प्रचलित हो गये। पतंग के खेल की डोर चीन से चल कर सारे संसार में फैल गयी। क्ष-किरणों (एक्स-रे) की सम्भावना भी सबसे पहले चीनी मस्तिष्कों में प्रकट हुई।[18]

१५. बुद्धप्रकाश, "शब्द और संस्कृति", नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६०, संवत् २०१२, पृ० २१०-२११।

१६. बर्थोल्ड लाउफर, साइनो-ईरानीका, पृ० ५५७, पी० के० गोडे; 'माइग्रेशन ऑव पेपर फ्राम चाइना टु इण्डिया', के०, बी० जोशी की पुस्तक "पेपर-मेकिंग" का परिशिष्ट" ई"।

१७. पी० के० गोडे "नोट्स ओन दि हिस्ट्री आव टी", जर्नल आव दि तंजोर संस्कृत लाइब्रेरी, भाग १, १९४०, पृ० ५-८। तुंग पावों (१९१६) पृ० ५०५, साइनो-ईरानीका, पृ० ५५३।

१८. बर्थोल्ड लाउफर, "दि प्रीहिस्ट्री आव एविएशन" (शिकागो १९२८), पृ० १४-२१।

इसी प्रकार अरबों द्वारा यूरोप में एशिया की बहुत-सी वस्तुएँ प्रचलित हुई; तम्बूरा (फ्रेंच "तांबूर", अरबी "तुम्बूर"), नक्कारा (फ्रेंच "नाकेर", अरबी "नक्कारा"), तिल (सीसेम, अरबी "सिमसिम") नीबू ("लेमन", अरबी "लैमून"), चावल (स्पेनिश "अर्रोज", अरबी "अलअरूज्ज") आड़ू (स्पेनिश "अलबेरचीगो", अरबी "फिरसीक"), खुबानी (स्पेनिश "अलबरीकोक", अंग्रेजी "एप्रीकोट", अरबी "अलबरकूक"), अनार (स्पेनिश "रोमानिया", अरबी "रूम्मान"), नारंगी (अंग्रेजी "औरेंज", अरबी "नारंज", फारसी "नारंग"), गन्ना (अंग्रेजी "केन", अरबी "कनाह"), शकर (अंग्रेजी "शुगर", अरबी "मुक्कर" "संस्कृत" "शर्करा" (बारहवीं शती से पहले यूरोप के लोग शहद से ही मीठी चीज बना सकते थे,[१९] गन्ने की चीनी का प्रयोग उन्होंने मुसलमानों से क्रूसेडों के समय सीखा]) अदरक (अंग्रेजी "जिंजर", अरबी "जंजबील"), रुई (स्पेनिश "अलगोदोन", पुरानी स्पेनिश "कोटोन", अंग्रेजी "कोटन", अरबी "अलकुत्म"), केसर (स्पेनिश "अजाफरान", फ्रेंच "जाफ्राँ", अंग्रेजी "सेफ्रन", अरबी "अल-जाफरान"), प्याज (शैलट, अरबी "अस्कलन"), फिलस्तीन के एक नगर का नाम)। विशेष रूप से अरबों ने पश्चिमी यूरोप को नाविक यात्राओं की प्रेरणा दी, जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। नक्षत्र और तारों के संकेत पर खुले समुद्र में यात्रा करने का रिवाज यूरोप के लोगों ने अरबों से सीखा।[२०] इसी प्रकार बादबानों का प्रयोग अरबों की देन थी।[२१] इन्हीं लोगों ने चीन के आविष्कार कुतुबनुमा को यूरोप तक पहुँचाया। वर्तमान यूरोपीय नाविक शब्दावली में अरबी शब्दों की भरमार से पता चला चलता, है कि इस क्षेत्र में अरबों की यूरोप को कितनी महत्त्वपूर्ण देन है। "एडमीरल", "आर्सनल", माल की चुंगी ("एवरेज", अरबी "अवारीयह"), "केबिल", छोटी किश्ती ("कोर्वत", स्पेनिश "कोर्बेता", अरबी "गुराब"), नौका ("शैलप", स्पेनिश "चलूपा", अरबी "जलबह", संस्कृत "जलबाह") आदि शब्द इस रोचक सम्पर्क का परिचय देते हैं।[२२] कोलम्बस की यात्रा से बहुत पहले

१९. वही, प्रस्तावना पृ० ११।

२०. ई० प्रेस्टेज, दि पोर्तुगीज पायोनियर्स, पृ० ३१५।

२१. जे० एच० पेरी, यरोप एण्ड ए वाइडर वर्ल्ड, पृ० २२-२४।

२२. फिलिप के० हिट्टी, 'हिस्ट्री आव दि अरब्स' (पाँचवाँ संस्करण) पृ० ५२९। रने गूसे, 'इस्त्वार दे क्रोवासाद', और 'दि सिविलिज़ेशन्स आव दि ईस्ट' भाग १। 'दि नियर एण्ड मिडिल ईस्ट' भी द्रष्टव्य हैं।

अल इद्रीसी ने उन आठ चचेरे भाइयों की कथा लिखी थी जो लिस्बन से एटलाण्टिक सागर (बहर-अल-जुलुभात, अन्धेरे समुद्र) में खोज के लिए निकल पड़े और ३५ दिन की यात्रा के बाद पश्चिम और दक्षिण के द्वीपों में जा पहुँचे। हाल ही में एक रूसी इतिहासकार ने यह सिद्ध कर दिया है कि पहले से ही कोलम्बस को वेस्ट-इण्डीज का पूरी तरह ज्ञान था और उसके पास पहले के स्पेनी मल्लाहों के नक्शे भी थे। इस इतिहासकार ने कोलम्बस द्वारा स्पेन की रानी इसाबेला को लिखा हुआ एक पत्र खोज निकाला है, जिसमें उसने वेस्ट इण्डीज की जल-यात्रा का उल्लेख करते हुए उसके महत्त्व पर प्रकाश डाला था। यह बात गलत है कि कोलम्बस पूर्वी देशों की खोज के लिए निकला और अकस्मात् अमेरिका पहुँच गया। यह बात स्पेनी दरबार से बाद में खर्च का औचित्य सिद्ध करने के लिए उड़ायी गयी थी। (हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, सोमवार १२ अक्तूबर, १९५९)। इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य संस्कृति के प्रसार का श्रीगणेश प्राच्य लोगों के हाथों से हुआ। वस्तुतः यूरोपीय पुनरुत्थान का श्रेय इन्हीं लोगों को है। कला, शिल्प, साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि के उद्धार में अरबों का बहुत बड़ा हाथ है। प्रत्येक क्षेत्र में उनकी भाषा के शब्दों का प्रचलन इस व्यापक प्रभाव का असंदिग्ध साक्ष्य प्रस्तुत करता है। यहाँ स्थानाभाव से इस विषय का पूर्ण विवेचन सम्भव नहीं है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि मानव-संस्कृति की धारा सदा एक रही है और सब स्थानीय सरिताएँ इसमें आकर मिलती रही हैं। आज जब लेक सक्सेज में यूरोप या अमेरिका का प्रतिनिधि प्याले में शकर डालकर चाय उड़ेलता है और इसे मिलाकर इसकी चुस्कियाँ लेता हुआ विश्व के कार्य-कलाप पर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करता है, तो वह अज्ञात रूप में चीनी, भारतीय और अरब संस्कृतियों के समन्वय को आत्मसात् करता हुआ इनकी एकता को एक राजनीतिक आवरण प्रदान करने की चेष्टा करता है।

ट्वायनबी ने "सभ्यता" की परिभाषा करते हुए लिखा है कि यह वह छोटे से छोटा क्षेत्र है जहाँ तक मनुष्य की दृष्टि पहुँचती है; जब वह अपने देश का इतिहास जानने की चेष्टा करता है। वे समझते हैं कि इंग्लैण्ड का इतिहास जानने के लिए पश्चिमी यूरोप का छठी शती से शुरू होनेवाला इतिहास पर्याप्त है और यह एक सभ्यता का क्षेत्र है। किन्तु सोरोकिन ने सिद्ध किया है कि इस प्रदेश का इतिहास जानने के लिए वस्तुतः ग्रेको-रोमन, बाइजेन्ताइन, रूसी, अरबी, एशियाई, अफ्रीकी और अमेरिकी जगत् का इतिहास जानना अनिवार्य है। इस प्रकार मानव-संस्कृति

एक अखण्ड और अद्वैत सत्य है। जब इसे देशीय, जातीय या धार्मिक विभागों में विभक्त करके इसकी आयु निश्चित करने का यत्न किया जाता है तो एकदम गड़-बड़ और मतभेद हो जाता है जैसा कि हम पिछले परिच्छेद में बारम्बार देख चुके हैं। मानव संस्कृति को एक अखण्ड अक्षुण्ण प्रगति और प्रक्रिया मानने से हम इस सब जंजाल से बच जाते हैं। आज का इतिहास-दर्शन मानव-संस्कृति की इस एकता पर आधारित हो गया है।

यद्यपि मानव-संस्कृति की अविरल अजस्र धारा अयुत वर्षों से समस्त संसार को आप्लावित कर रही है, तथापि विभिन्न देशों और जातियों में इसके विविध रूप और क्रम रहे हैं। उनका विस्तार पर्यंत्रेक्षक के दृष्टिकोण पर निर्भर है। वह एक नगर को लेकर भी संस्कृति का अध्ययन कर सकता है और एक प्रान्त, देश, द्वीप अथवा महाद्वीप को भी। किन्तु इसका अध्ययन और दृष्टिकोण निश्चित रूप से सापेक्ष रहेगा और जैसे-जैसे वह इसे विस्तृत करेगा वह देखेगा कि वह विश्व संस्कृति के अखण्ड प्रवाह में अवगाहन कर रहा है। रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि यदि विभिन्न रंगों के पात्रों में जल भरा जाय तो उसका रंग भी अलग-अलग हो जायगा, किन्तु यदि पात्र फूट जाय तो फिर सब जल एक-सा लगने लगेगा। इसी प्रकार जब इतिहासकार संस्कृति को देश-काल की परिधि में बन्द करेगा तो उसे उसमें एक विशिष्ट रंग-रूप मिलेगा, किन्तु जब वह इससे ऊपर उठकर उसपर दृष्टिपात करेगा तो उसे फिर इसमें विश्वैक्य का भाव दिखाई देगा। इस प्रकार आज इतिहास-दर्शन अद्वैतवाद पर आरूढ़ हो गया है। जीवन और जगत् की एकता का सिद्धान्त जो दर्शन से विज्ञान में संक्रान्त हुआ, आज इतिहास में अवतीर्ण-हो रहा है। आज का इतिहासकार ट्वायनबी के शब्दों में "कन्फ्यूशियस और लाओ-त्से और सुक्रतु, अफलातूं और प्लोतिन का वारिस है, गौतम बुद्ध दयतरों इसाइ-याह और ईसुमसीह का वारिस है, जरथ्रु'ट्र और मुहम्मद और एलीजाह और एलीशा और पीतर और पाल का वारिस है, शंकर और रामानुज और क्लीमेण्ट और ओरिजिन का वारिस है, कट्टर सम्प्रदाय के केपेदोची पादरियों का और अफ्रीकी आगस्तीन और उम्ब्री बेनेदिक्त का वारिस है, इब्न-खल्दून और बोसुए का वारिस है और लेनिन, गान्धी और सन-यात-सेन और क्रौमवेल, जॉर्ज वाशिंगटन और मेजीनी का वारिस है।"[२३]

२३. आर्नोल्ड जे० ट्वायनबी, 'सिविलिजेशन ऑन् ट्रायल' पृ० ९०

अनुच्छेद २—संस्कृति के उत्थान-पतन की प्रक्रिया

१. उतार-चढ़ाव का क्रम—यद्यपि मानव-संस्कृति की एक अखण्ड प्रक्रिया है, फिर भी विभिन्न देशों, जातियों और युगों में इसके अलग-अलग रूप रहे हैं! यदि इस प्रक्रिया को एक प्रवाह मान लिया जाय तो वे रूप तरंग-मालाओं के समान उठते-गिरते और इसे आगे चलाते रहे हैं। मानव-संस्कृति कोई स्थावर, जड़, निष्क्रिय तथ्य नहीं है, प्रत्युत वह एक जंगम, गतिशील, सक्रिय प्रक्रिया है। गति इसका प्राण है। गति का अर्थ है परिवर्तन। परिवर्तन में उन्नति-अवनति होती है। इसके दो पक्ष होते हैं—उतार और चढ़ाव। अतः विभिन्न देशों और युगों में संस्कृति के क्रम में भी ये पक्ष परिलक्षित होते हैं। इतिहास में ऐसे अनेक अवसर मिलते हैं जब किसी देश और युग के मनुष्य स्वयं मानने लगते हैं कि उनका पतन और क्षय हो रहा है। ऐसे कुछ उदाहरणों को लें।

२. प्राचीन मिस्र में पतन की चेतना—प्राचीन मिस्र में २२०० पू० खी० के लगभग एक सामाजिक क्रान्ति हुई। इस समय जो साहित्यिक प्रवृत्ति चली वह सामन्त युग में भी अक्षुण्ण रही। एक लेखक ने 'इपुवर के उपदेश" शीर्षक रचना में लिखा "इस युग के क्लेश पर मुझे दुःख है"। "वाग्मी कृषक" नामक एक अन्य रचना में लुटा-खुसा किसान सरकारी अफसरों के स्वार्थ, जिघृक्षा और निर्दयता की निन्दा करता है। ग्यारहवें वंश के "सारंगी बजाने वाले के गीत" का विषय है कि संसार की सब बात नाश की ओर जारही हैं तो हम क्यों न अपनी इच्छाओं के अनुसार अपने सांसारिक जीवन की दिशा बनायें। बारहवें वंश के काव्य "श्रान्त मनुष्य और उसकी आत्मा के संवाद" में कवि लिखता है—

"आज मृत्यु मेरी आँखों में समायी हुई है।
उस मनुष्य की इच्छा के समान जो घर जाने को तरस रहा है।
बहुत वर्ष बन्दीगृह में बिताते-बिताते।"

यह साहित्य गम्भीर ह्रास, क्लेश, पतन और परिवर्तन का संदेश देता है।[२४]

३. प्राचीन रोम में पतन की चेतना—तीसरी शती खीस्तीय में रोम के थेस्कीयस सेसीलियस साइप्रियानस नामक एक पेगेन विद्वान् ने जो बाद में ईसाई

२४. एडोल्फ एरमान, दि लिटरेचर आव दि एंशेएण्ट इजिप्शियन्स (१९२७)

होकर शहीद हो गया था अपने ग्रन्थ "अद देमेत्रियानम" के तीसरे अध्याय में अपने युग के विषय में लिखा था—

"आपको विदित होना चाहिए कि युग अब वृद्ध हो गया है। इसमें वह शक्ति नहीं रही जिसके कारण यह खड़ा था और न वह स्वास्थ्य और बल रहा जिससे यह सुदृढ़ था। संसार स्वयं अपने पतन की प्रक्रिया के बहुमुख मूर्त साक्ष्य द्वारा अपने क्षय की घोषणा कर रहा है। शरद्कालीन वर्षा में कमी हो गयी है जो पृथ्वी के कक्ष में बीज का पोषण करती थी और ग्रीष्मकालीन ताप मन्द हो गया है जो धान्य को परिपक्व करता था। बसन्त में ताजगी कम हो गयी है और शिशिर की उर्वरता लुप्त हो गयी है। पर्वतों में पत्थर कम हो गया है, खानों से रत्न जाते रहे हैं। खेतो में किसानों की कमी हो गयी है। सेनाओं में सैनिक नहीं रहे हैं। बाजारों से ईमानदारी चली गयी है। कचहरियों में न्याय नहीं रहा है। मित्रता में प्रेम नहीं मिलता। कलाओं में कौशल नहीं है। चरित्र में दृढ़ता नहीं है। ——वह वृक्ष जो कभी हरा-भरा था सूख गया है। इसकी शाखा मुरझा गयी है। वृद्धावस्था के कारण यह बुरा लगने लगा है।——जब कोई चीज बूढ़ी होती है तो क्या तुम समझते हो कि इसमें यौवन की शक्ति और दृढ़ता बनी रहेगी।"

यह लेख तात्कालिक यूनानी-रोमन सांस्कृतिक परिस्थिति का सुन्दर दर्पण है।

४. इस्लामी जगत् में पतन की चेतना—तेरहवीं-चौदहवीं शतियों में जब इस्लामी सूर्य पर मध्य-एशियाई घुमन्तू आक्रमणकारियों की धूल के बादल छा रहे थे तो भूगोलशास्त्री याकूत-अल-हमवी, इतिहासकार इब्न-अल-असीर, और समाजशास्त्री इब्न-खल्दून पतन का राग अलाप रहे थे।[२५] इब्न खल्दून ने

२५. याकूत अल हमवी ने अलेप्पी के राज-मन्त्री जमालुद्दीन-अल-किफ्ती को एक मार्मिक पत्र लिखा था। इसे इब्न खल्लिकान ने अपने "जीवन-चरित्रों" में उद्धृत किया है (देखिए)—द् स्लान का फ्रेन्च अनुवाद, भाग ४, पृ०। १२-२२ इब्न-ल-असीर के वर्णन को ई० जी० ब्राउन ने "ए लिटररी हिस्ट्री आव पर्शिया" भाग २, (फिरदौसी से सादी तक) पृ० ४३० पर उद्धृत किया है। इसमें इस्लामी जगत् के पतन और पराभव का आंखों देखा चित्र मिलता है। स्वयं इब्न खल्दून ने दारुस्सलाम के पतन पर घड़ों आंसू बहाये हैं। देखिए— द् स्लान, प्रोलेगोमेन द् इब्न खल्दून, भाग २, पृ० १३०।

सूफी इब्न अबी वातिल के सिद्धान्त का उल्लेख किया है जिसके अनुसार इतिहास में तीन युगों का वृत्त चलता रहता है--१. पहले युग में पैगम्बर का आगमन होता है, २. दूसरे युग में खिलाफत का अभ्युदय होता है, ३. तीसरे युग में झूठ (दजल) का राज्य और शैतान (दज्जाल) का आधिपत्य हो जाता है। इस क्रम के अनुसार खिलाफत के बाद दुनिया में झूठ और पाप का साम्राज्य छा गया था।[२६]

उधर स्पेन (अन्दूलस) में, १२५० के लगभग, रोन्दा के निवासी अबुल-बका ने अपनी रोचक शैली में निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी थीं--[२७]

"जैसे कोई आसक्त प्रेमी अपनी प्रेमिका के वियोग पर रोता है। वैसे ही इब्राहीम का प्रशस्त धर्म फूट-फूट कर रो रहा है उन वीरान प्रदेशों के विषय में जो इस्लाम से हटकर कुफ्र से भर गये हैं।

उनकी मस्जिदें गिरजों में बदल गयी हैं। उनमें घण्टों और क्रासों के अलावा और कुछ नहीं रहा है।

अतः निर्जीव होते हुए भी मिहराब रोते हैं और काठ के बने हुए मिम्बर भी शोक प्रकट करते हैं।

आह! कौन इस जाति की सहायता करेगा जो कभी शक्तिशाली थी, किन्तु अब दुर्बल है, कभी समृद्ध थी, पर अब विधर्मियों द्वारा आक्रान्त है।

कल अपने महलों में राजा थे, पर अब काफिर के देश के दास हैं। आप पर क्या गुजरे यदि आप उन्हें भयभीत देख लें जिनका कोई सहारा न हो और जो अपमान के वस्त्रों से ढके हों। यह दृश्य तुम्हें भयभीत और शोकाकुल कर देगा।

आह ! मां और बच्चे के बीच ऐसा विछोह होता है जैसे, आत्माएँ शरीर छोड़ रही हों

और अनेक युवती कुमारियाँ, नवोदित सूर्य के समान सुन्दर, लाल और मूँगों की तरह चमत्कृत, बर्बर उन्हें जोर से बलात्कार के लिए खींचते हैं। उनकी आँखों से पानी चलता है, उनका मस्तिष्क विभ्रान्त है।

२६. द् स्लान प्रोलेगोमेन द् इब्न-अल्दून, भाग २, पृ० १९२।

२७. आर० ए० निकलसन्, ट्रांसलेशन्स आव ईस्टर्न पोइट्री ऐण्ड प्रोज् पृ० १६८-९।

ऐसा दृश्य हृदय को खेद से पिघला देता है यदि हृदय में मुसलमान का भाव और श्रद्धा हो।"

संस्कृति के पतन का इससे अधिक हृदय-विदारक चित्र मिलना कठिन है।

५. पूर्वी जगत् में पतन की चेतना—पूर्वी जगत् में जापान के बौद्ध दार्शनिक निचिरेन (१२२२-८२) ने इतिहास को तीन भागों में बाँटा (१) शोबोयुग जो ९४७ से प्रारम्भ हुवा और जिसमें हीनयान का सच्चा धर्म प्रचलित था, (२) जोबो युग जो प्रथम युग से १००० वर्ष बाद आरम्भ हुआ और जिसमें महायान का मूर्ति-धर्म प्रचलित रहा, (३) माप्पो युग जो १०५३ से आरम्भ हुआ और जिसमें धर्म का लोप और सदाचार का ह्रास होने लगा।[२८] इस प्रकार इस विचारक ने अपने युग को ह्रास और पतन का युग बताया।

६. हिन्दू जगत् में पतन की चेतना—भारत में तो पुराणों में कलिकाल का जैसा भयंकर चित्र खींचा गया है वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है। प्रायः सभी लोग उससे परिचित हैं, अतः उसका विस्तृत वर्णन करना आवश्यक नहीं है। केवल महाभारत के वनपर्व के युग-क्षय का कुछ वर्णन प्रस्तुत करना पर्याप्त है।

"नरेश्वर ! ब्राम्हण, क्षत्रिय और वैश्यों का नाम भी न रह जायगा। युग-क्षय काल में सारा विश्व एक वर्ण का हो जायगा। पिता पुत्र के अपराध को क्षमा नहीं करेंगे। पुत्र भी पिता की बात नहीं सहेंगे। स्त्रियाँ अपने पतियों की सेवा छोड़ देंगी। उस समय सारा जगत् म्लेच्छ हो जायगा। मनुष्य श्राद्ध और यज्ञ-कर्मों द्वारा पितरों और देवताओं को सन्तुष्ट नहीं करेंगे। कोई किसी का उपदेश नहीं सुनेगा और न कोई किसी का गुरु ही होगा। सारा जगत् अज्ञानमय अन्धकार से आच्छादित हो जायगा।"[२९]

७. पाश्चात्य यूरोप में पतन की चेतना—पाश्चात्य जगत् में सर्वत्र आजकल पतन का स्वर अलापा जा रहा है। पिछले परिच्छेद में हमने जितने आधुनिक इतिहास-विचारकों के सिद्धान्तों की चर्चा की वे सब इस बात पर एक मत हैं कि यूरोप की संस्कृति का निरन्तर पतन हो रहा है। साहित्य में यह स्वर प्रमुख होता जा रहा है। नोबेल पुरस्कार विजेता टामस मान के उपन्यासों में उसी वार्धक्य

२८. सरचार्ल्स ईलियट, जापानीज बुद्धिज्म पृ० २७७-७८।

२९. महाभारत, वनपर्व, १९० अध्याय, श्लोक ४३, ४६, ४७, ५२।

और जीर्णावस्था का परिचय मिलता है जो स्पेंगलर आदि के इतिहास-दर्शन में परिलक्षित होती है। यह मनोवृत्ति हेमरस्मिथ के सन्त पाल गर्ल्स स्कूल की प्रधानाध्यापिका कुमारी ई० स्ट्रडविक के, प्रधानाध्यापिकाओं के लिवरपूल सम्मेलन में, १७ जून, १९३३ को दिये गये अध्यक्षीय भाषण से स्पष्ट हो जाती है जिसे ट्वाय-नबी ने विस्तार से उद्धृत किया है। इसके कुछ अंश बड़े रोचक हैं—

"विज्ञान के उन्नतिशील आश्चर्यजनक आविष्कारों के परे हमें अपने विचारों, अपनी अभिव्यंजना की शैलियों, अपनी कला, अपते संगीत और अपनी नीति में एक बालिशता आती हुई दिखाई देती है। हम सीमित शब्दावली के शब्दों द्वारा वार्तालाप करते हैं, हम निरर्थक 'नव-आदिमता' से भी परे के चित्र और मूर्तियाँ बनाते हैं। हम नृत्य में एक दूसरे को धकेलते हुए ऐसा नाचते हैं, जिसकी सफलता के लिए किसी मस्तिष्क, उत्साह और सक्रियता की आवश्यकता नहीं और साथ ही हब्शियों-जैसे गाने गुनगुनाते जाते हैं। हमारे भवनों की विशेषता यह रह गयी हैं कि इन्हें सरपट शुरू करके तुरत-फुरत पूरा किया जाय। हम डिब्बों-जैसी ईटों से बने सीधे और कुरूप मकानों की कतारों से गुजरती हुई ईटों की सीधी सड़कों पर पृथ्वी को चीरते से चलते हैं जिससे जल्दी से जल्दी कहीं पहुँच जायँ। इस बात का प्रश्न नहीं हे कि कहाँ पहुँचें। जिन उपन्यासों को हम आनन्द से पढ़ते हैं उनमें स्त्री-पुरुषों को बिगड़े हुए बच्चों की तरह चित्रित किया जाता है जिनका एक मात्र संबंध उस सबसे है जो उनमें और पशुओं में समान है। प्रौढ़ सभ्यता की बर्बर बालिशता के कार्य करने की प्रवृत्ति को मैं भयंकर समझती हूँ।"[३०]

८. उत्थान—पतन का क्रम; कर्मयुग, सुषुप्ति युग और जाग्रति युग—इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक समाज के मनस्वी द्रष्टाओं ने कभी-कभी यह अनुभव किया है कि उनका युग, पतन ह्रास और क्षय का समय है। उनकी मनोवृत्ति सामूहिक रूप से पतन की प्रक्रिया के प्रति जागरूक हो उठी है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य ने सदा से इतिहास में उत्थान-पतन के क्रम को अनुभव और स्वीकार किया है। किन्तु क्या यह उत्थान-पतन जन्म-मरण की क्रिया के समान

३०. मेन्चेस्टर गार्डियन, १९ जून, १९३३

आनेल्डि जे० ट्वायनबी, "ए स्टडी ऑव हिस्ट्री" भाग ९, पृ० ६११ पर उद्धृत।

है जैसा कि शारीरिक व्याख्या के प्रतिपादकों ने सिद्ध किया है? नहीं। क्योंकि मानव-संस्कृति और उसके इतिहास का क्रम अखण्ड और अक्षुण्ण है और उसमें कभी व्यवधान नहीं होता। एक प्रदेश में पतन होता है तो दूसरे में उत्थान होने लगता है और दोनों अपने पारस्परिक सम्पर्क से एक दूसरे की कमी को पूरा करके फिर आगे चलने लगते हैं। अतः उत्थान-पतन की प्रक्रिया को जन्म-जरा-मरण अथवा विकास-ह्रास-विघटन की शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त करना भ्रामक है। साथ ही समाज और संस्कृति की आयु निश्चित करने का प्रयास भी निरर्थक है क्योंकि इसके बहुत-से तत्त्व बहुत काल तक बने रहते हैं; जैसे, हिन्दू धर्म, यहूदी धर्म आदि और बहुत-से कुछ कम काल तक चलते हैं जैसे, प्राचीन मिस्री भाषा, सुमेरी, अक्कड़, बाबुली और कुछ इनसे भी कम समय तक प्रचलित रहते हैं जैसे, चन्द्रकान्ता संतति और फिल्मों के गीत। इसलिए इस विषय में सामान्य नियम निर्धारित करना कठिन है।

उत्थान-पतन की प्रक्रिया को यदि रूपक प्रधान और प्रतीकात्मक शब्दावली में व्यक्त करना अभीष्ट हो तो ऐतरेय ब्राम्हण में प्रयुक्त परिभाषाएँ अधिक उपयुक्त रहेंगी। इस ग्रन्थ में कृतयुग को संचरण का युग, त्रेता को उत्थान का युग, द्वापर को अंगड़ाई का युग और कलि को निद्रा का युग बताया गया है। इस दृष्टि से इतिहास का उत्थान-पतन कर्म-युग, सुषुप्ति-युग के क्रम द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। इस क्रम में मानव-संस्कृति की अखण्डता और अक्षुण्णता का भाव सुरक्षित रहता है।

९. **उक्त युगों के लक्षण**—कर्म-युग में जनता का प्रत्येक भाग सक्रिय रहता है। प्रत्येक क्षेत्र में चेतना और स्फूर्ति होती है। जो व्यक्ति उच्च पदों पर आसीन होते हैं वे जनता के हितों और आकांक्षाओं की अवहेलना नहीं कर पाते। राज्य का रूप एकतंत्र हो या गणतंत्र, किन्तु जनता शक्तिशाली होती है और राज्य के लिए उसका तिरस्कार करना सम्भव नहीं होता। जब तक जनता राज्य को सहारा देती है यह स्थिर रहता है और जब वह अपना समर्थन हटा लेती है तो राज्य पदच्युत हो जाता है। यह जन-शक्ति और जनसत्ता वस्तुतः जनतंत्र का आधार होती है।

कर्म-युग में जब समस्त जनता सक्रिय होती है तो सामाजिक संस्थाओं में विस्तार और लचक और संक्रमणशीलता पायी जाती है। व्यक्ति को अपनी विशिष्ट प्रतिभा के विकास और प्रसार का अवसर मिलता है। समाज का कर्तव्य और

उद्देश्य इस विकास के साधन और संस्थान प्रस्तुत करना होता है। किन्तु जब जनता निष्क्रिय हो जाती है तो सामाजिक संस्थाओं में संकीर्णता और कड़ापन आ जाता है। ये संस्थाएँ व्यक्ति के विकास को बढ़ावा देने के बजाय उसे रोकती हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक क्षितिज सिकुड़ कर छोटा हो जाता है। ज्ञान का द्वार बन्द हो जाता है।

कर्मयुग में जब समस्त जनता सक्रिय होती है तो दर्शन, विज्ञान, कला, साहित्य, यंत्र, सांस्कृतिक प्रसार और सामाजिक विकास में मौलिक प्रगति होती है। प्रत्येक क्षेत्र में मौलिक रचनाएँ और कृतियाँ सामने आती हैं। किन्तु जब जनता निष्क्रिय हो जाती हैं तो सर्जनात्मक और रचनात्मक प्रवृत्ति भी नष्ट हो जाती है। अतः अनुकरण और प्रदर्शन का भाव सर्वत्र व्याप्त हो जाता है।

कर्मयुग में जब समस्त जनता सक्रिय होती है तो उसमें एक गहरी श्रद्धा रहती है—वही जो उसे सृजनात्मक कार्यों की ओर प्रेरित करती है। जब वह निष्क्रिय हो जाती है तो श्रद्धा के स्थान पर उदासीनता बढ़ जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब जनता राज्य-कार्यों में सक्रिय सहयोग देना बन्द कर देती है, सामाजिक संस्थाएँ संकीर्ण, कठोर और शुष्क हो जाती हैं, जनता का दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है, कला और विज्ञान में सर्जनशक्ति नहीं रहती और धर्म पलायनवाद और निराशावाद का रूप धारण कर लेता है तो "कर्मयुग" सुषुप्ति-युग में परिवर्तित हो जाता है। और जब सामाजिक प्रक्रिया इसके वितरीप हो जाती है और जनता फिर से सक्रिय हो जाती है संस्थाओं में लचक आने लगती है कला और साहित्य सृजनात्मक होने लगते हैं और धर्म लोग-मंगल की भावना में श्रद्धा उत्पन्न करने लगता है तो "सुषुप्ति युग" "जाग्रति-युग" में बदल जाता है। इस प्रक्रिया में जन-साधारण की क्रिया-शक्ति का अत्यधिक महत्व है। राजनीतिक व्यक्ति गौण हो जाते हैं। वे जन-साधारण की इच्छाओं के प्रतीक या प्रतिनिधि के रूप में ही सामने आते हैं। फलतः इस दृष्टिकोण से इतिहास सामाजिक तथा सांस्कृतिक हो जाता है, राजनीतिक और सामरिक नहीं रहता और इतिहासकार टवायनबी के निम्न रखित वाक्यों को अपना मूल मन्त्र बना लेता है :

"कलाकारों और साहित्यकारों की कृतियाँ व्यापारियों, सैनिकों और राजनीतिज्ञों के कार्यों से अधिक दीर्घजीवी होती हैं। कवि और दार्शनिक इतिहासकारों से आगे निकल जाते हैं और सन्त और पैगम्बर उन सब के ऊपर आ जाते हैं। आग्रामेनोन और पेरीक्लीज आज होमर और थूसिदाइदिस के जादू भरे शब्दों की

कृपा से जीवित जगत् में संचरण करते हैं और यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है "कि जब होमर और थूसिदाइदिस की रचनाओं को कोई न पढ़ेगा तो ईसुमसीह और बुद्ध हमसे अचिन्त्य दूर की पीढ़ियों की स्मृति में भी विद्यमान रहेंगे।"[३१]

१०. मानव इतिहास में उक्त युगों का प्रत्यावर्तन—उपर्युक्त दृष्टिकोण से संस्कृति के इतिहास का अध्ययन करने पर निम्नांकित क्रम निश्चित किया जा सकता है। मिस्र में संस्कृति ५००० पू० खी० के लगभग उत्पन्न हुई। अखनातोन के समय तक इसका "कर्मयुग" चला, फिर सुषुप्ति युग आया। तोलेमी और ममलूको के युग में कुछ क्षणिक-सी स्फूर्ति आयी और अब मुहम्मद अली के समय से जाग्रति युग आ रहा है। मध्य-पूर्व में दजला-फरात की घाटी में मिस्र में, संस्कृति के जन्म के लगभग साथ-साथ सभ्यता की किरण फूटी। २२०० पू० खी० तक जब हम्मुराबी की मृत्यु हुई इसका "कर्मयुग" रहा। इसके बाद "सुषुप्ति युग" आया जो इस्लाम के अभ्युदय तक रहा। इस्लाम ने "जागृति-युग" का सूत्र-पात किया जो शीघ्र ही "कर्म-युग" में परिणत हो गया। बगदाद और दमिश्क बाबुल और निनेवेह के अवतार हो गये। यह "कर्म-युग" हारून-अल-रशीद (७६३ खी०–८०९ खी०) तक चलता रहा। किन्तु इसके बाद 'सुषुप्तियुग' का आगमन हुआ। ८२० खी० में जब खलीफा अल-मामूनने ताहिर-जुल-यामिनेन को खुरासान का स्थायी और पैतृक आधिपत्य दे दिया तो खिलाफत का विघटन आरम्भ हो गया और इस्लाम ने आँख मीचनी शुरू कर दी। उन्नीसवीं शती में नेपोलियन के मिस्र पर आक्रमण के बाद पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क से यह सुषुप्ति समाप्त हुई और "जागृति-युग" का अरुणोदय हुआ जो अब "कर्म-युग" में परिवर्तित हो रहा है। यूरोप में यूनान के प्रदेश में संस्कृति का प्रस्फुटन हुआ। ३१ पू० खी० में एक्तियम के युद्ध के बाद और १४ खी० में आगस्तस के निधन के अनन्तर कर्म-युग समाप्त हो गया और सुषुप्ति युग आ गया। पन्द्रहवीं शती में फिर जागृति-युग आ गया जो अठारवीं-उन्नीसवीं शतियों में कर्म-युग में परिणत हो गया। चीन में संस्कृति का "कर्म-युग" थाङ-वंश के राज्य काल के अन्त तक रहा। ९०७ खी० में "सुषुप्ति युग" आरम्भ हुआ जो उन्नीसवीं शती तक रहा। १९११ में सन-यात-सेन ने गणतंत्र की स्थापना करके फिर जागृति-युग का श्रीगणेश किया। भारत में आर्यों के आगमन

३१. सिविलिजेशन ऑन ट्रायल पृ० ५

के पश्चात् संस्कृति का "कर्म-युग" आरम्भ हुआ जो हर्ष की मृत्यु (६४७ ख्री०) तक रहा। इसके बाद सुषुप्ति युग आरम्भ हुआ। ११९८ में तरावड़ी के युद्ध में हिन्दुओं की स्वतंत्रता समाप्त हुई। मुसलमानों का युग आया। इसमें बराबर विदेशियों का राज्य रहा। हिन्दुस्तान के हिन्दू और मुसलमान दोनों की स्वतंत्रता लुप्त हो गयी जैसा कि प्रोफेसर मुहम्मद हबीब ने सिद्ध किया है।[३२] मुगल युग अपनी शानोशौकत के होते हुए भी पतन का युग था जैसा कि सर जदुनाथ सरकार-जैसे धुरन्धर विद्वानों का मत है।[३३] १७५७ में बंगाल में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद वहाँ के हिन्दुओं में जाग्रति उत्पन्न हुई। १८५७ के बाद यह जाग्रति सारे देश में फैली और एक सांस्कृतिक पुनरुत्थान प्रारम्भ हो गया। यह जाग्रति-युग जो अंग्रेजी राज में आया अब "कर्म-युग" में परिणत हो रहा है।

११. उक्त युगों की सापेक्षता और रेखात्मक और वृत्तात्मक क्रमों का संतुलन—ऊपर हमने संस्कृति के कुछ प्रादेशिक रूपों की जो रूपरेखा अंकित की है यह अपूर्ण-सी है। इस विषय का पूर्ण विवेचन करने के लिए एक पूरे ग्रन्थ की आवश्यकता है। यहाँ केवल इतना अभीष्ट है कि उपर्युक्त "कर्मयुग" "सुषुप्ति युग" और "जाग्रति युग" का क्रम संस्कृति के इतिहास में प्रादेशिक दृष्टि से लागू होता है।

इसी प्रकार यह क्रम प्रायः प्रत्येक आन्दोलन, संस्था, धर्म, समाज, ग्राम, नगर अथवा प्रान्त, द्वीप आदि के इतिहास पर लागू हो सकता है। इसका क्षेत्र और विस्तार इतिहासकार की दृष्टि पर निर्भर है। इसका प्रत्येक प्रयोग सापेक्ष है क्योंकि यह द्रष्टा की दृष्टि पर निर्भर है। किन्तु यह क्रम इतिहास के उत्थान-पतन की प्रक्रिया को अभिव्यक्त करता है। इससे यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि इतिहास के उत्थान-पतन पहिये की तरह चलते हैं। पहिया अपनी धुरी पर वृत्तवत् घूमता है, किन्तु साथ ही अपने ऊपर टिके हुए

३२. मुहम्दम हबीब "अध्यक्षीय अभिभाषण" प्रोसीडिंग्स आव दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस (बम्बई १९४७) पृ० ११

३३. जदुनाथ सरकार "सोसायटी ड्यूरिंग मुस्लिम पीरियड" दि हिन्दुस्थान स्टेण्डर्ड ४ नवम्बर १९५१

वाहन को रेखावत् आगे ले जाता है। इसी प्रकार इतिहास के उत्थान-पतन भी वृत्तवत् चलते हैं और साथ ही संस्कृति को आगे ले जाते हैं। इस तरह इतिहास की प्रवृत्ति वृत्तात्मक भी है और रेखात्मक भी है। इसमें वृत्त और रेखा की गतियों का समन्वय है।

अनुच्छेद ३––इतिहास का स्वरूप और सन्देश

१. भौतिक और आध्यात्मिक विकास का परस्पराश्रित क्रम––संस्कृति की रेखात्मक प्रगति का अर्थ मानव-जीवन की सुख-समृद्धि, सम्पन्नता और शाली नता का विकास है। जब से मनुष्य ने अपनी बुद्धि और अध्यवसाय से अपने जीवन की परिस्थिति को सुधारने का प्रयत्न प्रारम्भ किया तभी से संस्कृति का आविर्भाव हुआ। प्राचीन पाषाण-युग में पशुओं की तलाश में घूमते-घामते शिकारियों ने कभी धरती पर उगी हुई घास के महत्त्व को समझा। तभी से वे इस घास को काटने की तरकीब सोचने लगे। उन्होंने हड्डी के एक लम्बे टुकड़े में खांचे बनाये और उनमें पत्थर के बारीक टुकड़े फँसाये। घास काटने का एक औजार तैय्यार हो गया। दरांती का आविष्कार हो गया। फलस्तीन में माउण्ट कारमेल की गुफाओं में इन प्राचीनतम दरांतियों के अवशेष मिले हैं। धीरे-धीरे उन दरांतियों का रिवाज काफी दूर तक फैल गया। मिस्र में फ़ायूम के सबसे पुराने स्तरों में, ईराक में हसुन्ना के खण्डहरों में और वहाँ ही सियाक नामक स्थान पर ऐसी दरातियां मिली हैं। ये ईसु से ५००० वर्ष पूर्व की मानी गयी हैं। इन्हें संस्कृति के जन्म की प्रतीक कहा जा सकता है। तब से मनुष्य निरन्तर अपने प्रयत्न से प्राकृतिक परिस्थिति पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है।

बीसवीं शती के उत्तरार्ध में प्रवेश करते ही मनुष्य ने पृथ्वी के उच्चतम शिखरों और निम्नतम समुद्रों पर अधिकार कर लिया है। देश और काल के परिमाण उसके लिए नगण्य हो गये हैं। पन्द्रहवीं शती के नाविक अनुसंधानों और यात्राओं के फलस्वरूप जो मानसिक क्रान्ति हुई जिसे ट्वायनबी ने वास्को-दा-गामा के नाम से "दा-गामन क्रान्ति" का नाम दिया है वह अन्तरिक्ष तक पहुँचने वाले स्पुतनिकों और राकेटों द्वारा अधिक बढ़ गयी है। अब चन्द्रमा पर मानव-ध्वज फहराने का युग आ गया है। यह निरन्तर प्रगतिशील प्राकृतिक विजय मानव जीवन की समृद्धि आढ्यता और ऐश्वर्य का साधन बनती जा रही है। मानव कार्य-कलाप में सौन्दर्य, सुरुचि और परिष्कार बढ़ता जा रहा

है। उसके बहुत-से कार्य उसके द्वारा बनाए हुये यंत्र करने लगे हैं। किन्तु इस भौतिक उन्नति का रहस्य मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति है। आध्यात्मिक उन्नति का अर्थ सर्जनशक्ति, संतुलन और दृढ़ता की वृद्धि है। इससे मनुष्य अपने विचारों और भावों को इस प्रकार संयत करता है कि अपने साथियों के साथ मिल-जुल कर कार्य कर सके। यह मिल-जुल कर काम करने का भाव मन और आत्मा के बहुत बड़े विकास का परिणाम होता है। वैसे तो मिट्टी के ढेर पर रेंगती हुई चीटियों में भी पारस्परिकता होती है, छत्ते पर भिनभिनाती हुई मधुमक्खियों में भी सामूहिकता होती है, आकाश-मार्ग में उड़ती हुई पक्षियों की डार में भी सहयोग होता है, किन्तु यह सब सहजात और नैसर्गिक है, इसमें मन और बुद्धि का सक्रिय योग नहीं होता। इसके विपरीत मनुष्यों के सामाजिक संबंधों में स्वतन्त्र चिंतन और चेतन मन की क्रिया सन्निहित होती है। अतः वह स्वार्थ को परमार्थ में बदल कर ऐसा सर्जनात्मक समन्वय स्थापित कर सकता है जिससे उसे परिस्थिति पर मनोवांछित विजय प्राप्त हो सके। उदाहरणार्थ कार्य-विभाजन की व्यवस्था और शिफ्टों के विधान से बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियों में लगातार दिन रात काम होता रहता है। एक शिफ्ट जब थक जाती है तो दूसरी तुरन्त उसका काम सम्भाल लेती है। इस प्रकार फैक्ट्री से संबंध रखने वाले समाज में सुषुप्ति जाग्रति नहीं आती। उसका "कर्म-युग" सदैव अक्षुण्ण रहता है। वह मिस्री फारोवा माइसेरीनस के दिन-रात जागने के विचार को यथार्थ रूप देती है। किन्तु इस प्रक्रिया के अन्तस्तल में मनुष्यों का पारस्परिक संतुलन, संगठन और संविधान सन्निविष्ट है। वे पहले अपने संबंधों को ठीक करते हैं तब प्राकृतिक क्रम को तोड़ने में सफल होते हैं। इस प्रकार उनकी प्रकृति-विजय आत्म-विजय की अभिव्यक्ति होती है। भौतिक उन्नति आध्यात्मिक विकास को प्रतिबिम्बित करती है। अतः भौतिकता और आध्यात्मिकता का भेद भ्रामक है। भावना-जगत् और वस्तु-जगत् एक दूसरे के पूरक होते हैं। इन्हें एक दूसरे से भिन्न समझना इतिहास की दृष्टि से अग्राह्य है।

२. **मनुष्य द्वारा परिस्थितियों की विजय और संस्कृति की प्रगति**—ऊपर हमने यह चर्चा की है कि मनुष्य अपने यत्न से प्रकृति पर विजय पा सकता है। इसका अर्थ यह है कि वह परिस्थितियों के बन्धनों से मुक्त हो सकता है। धार्मिक शब्दावली में आत्मा भूत के बन्धनों से स्वतन्त्र हो सकती है। प्रश्न यह है कि मनुष्य की स्वतंत्रता और सक्रियता की क्या सीमाएँ हैं। गीता में मनुष्य की कर्म-विषयक-स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया गया है और फल को उसके अधिकार से बाहर

बताया गया है। इसका अर्थ यह है कि कर्म के फलीभूत होने में इतने तत्त्व कार्य करते हैं कि उसके बारे में निश्चित रूप से सफलता की आशा करना व्यर्थ रहता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कर्म का फल से कोई संबंध नहीं है। धीरे-धीरे कर्म में इतनी शक्ति आ सकती है कि वह सब परिस्थितियों को लांघ कर फलावाप्ति तक पहुंच जाय। एक उदाहरण लें। सोलहवीं-सत्रहवीं शती ख्री० तक यूरेशिया के इतिहास की मुख्य प्रवृत्ति यह रही कि मध्य-एशिया और उत्तर के बर्बर, असभ्य और घुमन्तू लोग स्थायी और संस्कृत समाजों पर आक्रमण करके उन्हें नष्ट-भ्रष्ट करते रहे और अपने क्षणिक राज्यों की छटा दिखा कर फिर समय के प्रवाह में विलीन होते रहे। स्थायी समाजों ने इन लोगों को काबू में रखने और इनके खतरे को दूर करने के अनेक प्रयत्न किये। दारा, हान-वू-ति ताय-त्सुंग, युङ-लो, तिमूर आदि ने इन पर भीषण आक्रमण किये, किन्तु उनका परिणाम क्षणिक रहा। सोलहवीं शती में हजारों वर्षों के विफल प्रयत्नों के पश्चात् इवान चतुर्थ [इवान दि टेरिबिल] ने पश्चिम में और काङ-ही ने पूर्व में तोपों की गड़गड़ाहट से घुमक्कड़ लोगों को ऐसा भगाया और मारा कि सदा के लिए उनका आंतक समाप्त हो गया। इसके बाद रूस के फैलते हुए साम्राज्य ने घुमन्तू और घुमक्कड़ लोगों को आत्मसात् करके स्थायी और संस्कृत जीवन की शिक्षा दी। अब तुर्क और मंगोल भी ईरान और चीन के समान स्थायी हो गये हैं। इस प्रकार मनुष्य ने एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नियम और प्रक्रिया पर भी विजय प्राप्त की। अतः यह सिद्ध होता है कि मनुष्य अपनी आध्यात्मिक उन्नति और आन्तरिक सुधार द्वारा पहले प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है और फिर इतिहास पर विजय प्राप्त करता है। अतः मानव प्रगति का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण है। इसकी सीमाएं असीम हैं। मनुष्य अतीत का बन्दी या इतिहास का अनुचर नहीं है। वह स्वतंत्र है। उसे कर्म की स्वतंत्रता है। कर्म में सामान्यतः फल सन्निविष्ट होता है। अतः कर्म की स्वतंत्रता का अभिप्राय फल की स्वतंत्रता भी है। धीरे-धीरे मनुष्य इतनी शक्ति प्राप्त कर रहा है कि वह अपने कर्म और उसके फल के संबंध को निश्चित कर सके। उसकी सब से बड़ी विजय आकस्मिक तत्त्वों का बहिष्कार है। यही इतिहास की प्रमुख प्रवृत्ति और संदेश है। फिशर के शब्दों में प्रगति इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर मोटे अक्षरों में अंकित है। इतिहास के खुलते हुए पृष्ठ उन्नति और प्रगति की कथा प्रस्तुत कर रहे हैं और साथ ही उसकी दिशाओं और प्रवृत्तियों को भी आलोकित कर रहे हैं।

३. इतिहास और विज्ञान का पारस्परिक महत्त्व और संदेश—इतिहास का महत्त्वपूर्ण उपयोग प्रगति के मार्ग का दिशा-बोधन करना है जिससे यात्री उसके मोड़-तोड़ को समझ सके, उतार-चढ़ाव का ध्यान रखे खड्डों के दचकों से बच सके और रपटन और फिसलन से सतर्क हो जाय। विज्ञान मनुष्य को प्रगति के साधन प्रदान करता है। इतिहास उनका समुचित उपयोग करने की शिक्षा देता है। विज्ञान सत्य का उपासक है, इतिहास शील का अनुयायी है। सत्य वैयक्तिक सम्पत्ति है, शील सामाजिक साधना है। सत्य के बिना शील निरर्थक हो जाता है, शील के बिना सत्य घातक बन जाता है। सत्य और शील का समन्वय ही मनुष्य को प्रगति की ओर ले जाता है। चीनी परिभाषाओं के अनुसार "चि" [उपकरण और साधन] और "ताओ" [जीवन-शैली] के संयोग से ही संस्कृति की उन्नति होती है।[३४] विज्ञान "चि" है तो इतिहास "ताओ" है। यह सर्व विदित है कि "चि" की अतीत में भी काफी उन्नति हुई। मिस्र के पिरामिड इसके प्रतीक हैं। किन्तु फिर भी यह उन्नति अवरुद्ध हो गयी। कारण यह है कि इस उन्नति के साथ सामाजिक संतुलन उन्नति नहीं कर सका। इतिहास यह सिखाता है कि सामाजिक और सांस्कृतिक संतुलन उन्नति का रहस्य है। इस प्रकार इतिहास विज्ञान के समुचित उपयोग और प्रयोग की शिक्षा देता है। अतः इसका महत्त्व अद्वितीय है और इसका संदेश उत्साहवर्धक, आशाजनक और प्रकाशपूर्ण है। यह मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य का सूचक है और उसकी निरन्तर प्रगति का निदर्शक है।

३४. हू-शिह, 'दि चाइनीज रिनेसांसॉं' पृ० ३४–३५ पर वाङ-ताओ के मत का उल्लेख।